# तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

## मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

## दूरस्थ शिक्षा

## एम.ए. (पूर्वार्ध) जैनोलॉजी

(प्रथम पत्र)

-विषय-

## जैनधर्म एवं संस्कृति का इतिहास

### इकाई (संवर्ग)

| | | |
|---|---|---|
| इकाई – 1 | -अनादिकालीन जैनधर्म का ऐतिहासिक स्वरूप | (कुल पाठ-4) |
| इकाई – 2 | -जैनागम में वर्णित त्रेसठ शलाका पुरुष | (कुल पाठ-5) |
| इकाई – 3 | -प्रमुख जैन तीर्थ एवं पर्व | (कुल पाठ-4) |
| इकाई – 4 | -भगवान महावीर शासन के प्रमुख प्राचीन आचार्य | (कुल पाठ-4) |
| इकाई – 5 | -जैन संस्कृति एवं पुरातत्त्व | (कुल पाठ-4) |

*-मंगल प्रेरणा-*

**पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)**

*-लेखन एवं संकलन-*

**प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)**

*-निर्देशन-*

**कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर**

*-संपादक-*

**प्रो. टीकम चन्द जैन**

(अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद)

**जीवन प्रकाश जैन (M.Sc. Maths), जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर**

संस्करण - **प्रथम संस्करण (सितम्बर 2014)**

मूल्य- **300/-रुपये**

**ISBN-978-93-84003-37-1**

*-प्रकाशक-*

**तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद**

**दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.**

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

**E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com**

# कुलाधिपति की कलम से.....

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. की मान्य डिग्री प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य को निखारने का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में "डी.लिट्." की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012, वैशाख कृ. दूज को माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में "पीएच.डी." की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. के कोर्स दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किये गये हैं अतः इनका स्टडी मैटेरियल पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने हमारे निवेदन पर अथक परिश्रमपूर्वक तैयार करके दिया है। यह सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में उच्च सफलता हासिल करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

**सुरेश जैन**
**(कुलाधिपति)**

# जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

## मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने इस विश्वविद्यालय में "जैन दर्शन विभाग" की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि आज तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के सर्टिफिकेट व डिप्लोमा कोर्स का भी शुभारंभ कर दिया गया है।

मेरे सान्निध्य में बी.ए. एवं एम.ए. जैनोलॉजी कोर्स की पुस्तकें मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती एवं प्रो. टीकमचंद जी ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ तैयार की हैं। जम्बूद्वीप के पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी का निर्देशन भी इसमें महत्वपूर्ण रहा है। उनके साथ ही संघस्थ बाल ब्र. जीवन प्रकाश ने भी सर्टीफिकेट डिप्लोमा एवं डिग्री कोर्स को संचालित करने में परिश्रम किया है। इन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है।

विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट व डिप्लोमा प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं हर्ष का परिचायक है।

अतः इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को मेरा कोटिशः आशीर्वाद है कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

**(गणिनी ज्ञानमती)**

# प्रस्तावना

-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-"कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः" अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है- तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में "महावीर डेन्टल कॉलेज" से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रहा है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये "प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह" में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके अतः त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स के पश्चात् स्नातकोत्तर अर्थात् एम.ए. में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के लिए दो वर्ष के दूरस्थ शिक्षा कोर्स में कुल 8 पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनमें प्रथम वर्ष (पूर्वार्ध) में 4 पुस्तकें और

द्वितीय वर्ष (उत्तरार्ध) में 4 पुस्तकें हैं। यहाँ पर प्रथम वर्ष की इस प्रथम पुस्तक में 5 इकाइयों के अन्तर्गत निम्न विषय प्रस्तुत किये गये हैं।

1. अनादिकालीन जैनधर्म का ऐतिहासिक स्वरूप
2. जैनागम में वर्णित त्रेसठ शलाका पुरुष
3. प्रमुख जैन तीर्थ एवं पर्व
4. भगवान महावीर शासन के प्रमुख प्राचीन आचार्य
5. जैन संस्कृति एवं पुरातत्त्व

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार द्वारा इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

उपर्युक्त पाँचों इकाइयाँ अलग-अलग पाठों में विभक्त हैं जिनके माध्यम से जैनदर्शन एवं संस्कृति के प्रायः समस्त पक्षों को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय के द्वारा संचालित "दूरस्थ शिक्षा" (Distance Education) में एम.ए. के प्रथम वर्ष की इस प्रथम पुस्तक के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शिता युक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय दूरस्थ शिक्षा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम. ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है।

**-सितम्बर 2014**

# विषयानुक्रमणिका


| पाठ | पृष्ठ संख्या |
|---|---|
| **इकाई 1 — अनादिकालीन जैनधर्म का ऐतिहासिक स्वरूप** | **1-38** |
| पाठ-1 जैनधर्म का मूल मंत्र-णमोकार महामंत्र | 1-11 |
| पाठ-2 जैनधर्म की ऐतिहासिकता | 12-22 |
| पाठ-3 जैनधर्म पूर्णतया आस्तिक धर्म है | 23-33 |
| पाठ-4 वैदिक एवं श्रमण संस्कृति : एक अनुशीलन | 34-38 |
| **इकाई 2 — जैनागम में वर्णित त्रेसठ शलाका पुरुष** | **39-127** |
| पाठ-1 भगवान ऋषभदेव | 39-60 |
| पाठ-2 श्री अजितनाथ से महावीर पर्यंत तीर्थंकर परम्परा | 61-82 |
| पाठ-3 बारह चक्रवर्ती | 83-101 |
| पाठ-4 भरत से भारत : कब, क्यों और कैसे ? | 102-110 |
| पाठ-5 बलभद्र-नारायण-प्रतिनारायण | 111-127 |
| **इकाई 3 — प्रमुख जैन तीर्थ एवं पर्व** | **128-181** |
| पाठ-1 तीर्थ का स्वरूप एवं महत्व | 128-136 |
| पाठ-2 तीर्थंकर पंचकल्याणक तीर्थ | 137-148 |
| पाठ-3 कतिपय ऐतिहासिक प्रमुख तीर्थ | 149-173 |
| पाठ-4 प्रमुख जैन पर्व, पर्व का अर्थ एवं महत्व | 174-181 |
| **इकाई 4 — भगवान महावीर शासन के प्रमुख प्राचीन आचार्य** | **182-248** |
| पाठ-1 गौतम गणधर आदि केवली-श्रुतकेवली परम्परा एवं मूलसंघ परम्परा | 182-198 |
| पाठ-2 जैनागम में सरस्वती की महिमा | 199-219 |
| पाठ-3 जैनशासन के प्रभावक आचार्य | 220-226 |
| पाठ-4 आर्ष परम्परा के संवाहक बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज | 227-248 |
| **इकाई 5 — जैन संस्कृति एवं पुरातत्त्व** | **249-290** |
| पाठ-1 जैन संस्कृति की विशेषताएँ | 249-253 |
| पाठ-2 जैन पुरातत्त्व और मूर्तिकला | 254-271 |
| पाठ-3 जैनदर्शन लोकतांत्रिक दर्शन है | 272-281 |
| पाठ-4 देश-विदेश में जैन पुरातत्त्व की प्रतीक महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ | 282-290 |

# इकाई–1 अनादिकालीन जैनधर्म का ऐतिहासिक स्वरूप

**इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-**

**(1) जैनधर्म का मूल मंत्र-णमोकार महामंत्र**

**(2) जैनधर्म की ऐतिहासिकता**

**(3) जैनधर्म पूर्णतया आस्तिक धर्म है**

**(4) वैदिक एवं श्रमण संस्कृति : एक अनुशीलन**

## पाठ-1 – जैनधर्म का मूल मंत्र-णमोकार महामंत्र

**णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।**
**णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।**

1.1 जैनधर्म में व्यक्ति पूजा का नहीं, गुण पूजा का महत्व है। गुणों की पूजा को भी प्रश्रय इसलिए दिया गया है, ताकि वे गुण हमें प्राप्त हो जाये। गुण पूजा का प्रतीक णमोकार महामंत्र है। यह मंत्र किसी ने बनाया नहीं है बल्कि सदा से इसी रूप में चला आ रहा है। इसलिए इसे अनादि कहा जाता है। इसी मंत्र से संसार के सब मंत्रों की उत्पत्ति हुई है और यह बीजाक्षरों का जन्मदाता है। इस मंत्र के १-१ पद का विरलन करें—

| क्र. | पद | अक्षर | मात्रा | स्वर | व्यंजन |
|---|---|---|---|---|---|
| 1 | णमो अरिहंताणं | 7 | 11 | 6 | 6 |
| 2 | णमो सिद्धाणं | 5 | 9 | 5 | 5 |
| 3 | णमो आइरियाणं | 7 | 11 | 7 | 5 |
| 4 | णमो उवज्झायाणं | 7 | 12 | 7 | 6 |
| 5 | णमो लोए सव्वसाहूणं | 9 | 15 | 9 | 8 |
| | योग | 35 | 58 | 34 | 30 |

यह मंत्र प्राकृत भाषा में है और इसकी रचना "आर्या" छन्द में है। इस मंत्र के अंतिम पद में "लोए" और "सव्व" शब्दों का उपयोग हुआ है। ये शब्द "अन्त्यदीपक" हैं। "अन्त्य" का अर्थ अन्त में और "दीपक" का अर्थ प्रकाशित करना होता है। जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक को अन्य वस्तुओं के अन्त में रख देने से वह दीपक पूर्व में रखी सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए अर्थात् इन शब्दों को सम्पूर्ण क्षेत्र में रहने वाले त्रिकालवर्ती अरिहन्त आदि देवताओं को नमस्कार करने के लिये उन्हें प्रत्येक पद के साथ जोड़ लेना चाहिए। इस प्रकार इस मंत्र का अर्थ निम्नानुसार होता है-

**लोक में सब अरिहन्तों को नमस्कार हो।**
**लोक में सब सिद्धों को नमस्कार हो।**
**लोक में सब आचार्यों को नमस्कार हो।**
**लोक में सब उपाध्यायों को नमस्कार हो।**
**लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो।**

णमोकार मंत्र का किसी भी अवस्था में कहीं भी स्मरण किया जा सकता है क्योंकि यह मंगलकारक है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है। फिर भी प्रातः जागते ही, रात्रि को सोने से पूर्व तथा मन्दिरजी में इसका पठन-स्मरण अवश्य

करना चाहिए। श्रावक की दिनचर्या में सबसे पहला कर्त्तव्य नमस्कार मंत्र का स्मरण करना बतलाया है-

**"ब्रह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत् परमेष्ठि-स्तुतिं पठेत्"**

अर्थात् प्रातः ब्रह्म-मुहूर्त में उठकर परम मंगल के लिये नमस्कार मंत्र का स्मरण करें। यात्रा शुरू करने, भोजन के प्रारम्भ करने व समाप्त करने आदि के समय भी प्रायः इस मंत्र का स्मरण किया जाता है। मुनि भी इस मंत्र का जाप करते हैं।

**नमन का वास्तविक भाव -**

केवल नमस्कार मंत्र को बोलना अथवा नमस्कार करना सही अर्थों में नमन नहीं है। पाँचों परमेष्ठियों के स्वरूप को समझकर उनके गुण चिन्तन करते हुए मन में जो समर्पण भाव उत्पन्न होता है वही वास्तविक नमन है। श्रद्धा इस मंत्र का मूल प्रवाह है। यह मंत्र "णमो" से शुरू होता है और "णमो" अहंकार का विसर्जन है। जो व्यक्ति नमस्कार करता है, समर्पण भाव रखता है, उसके अहंकार को कोई स्थान नहीं रहता है।

जो भी शब्द हम बोलते हैं उससे वातावरण में प्रकम्पन पैदा होता है और उसकी तरंगें हमें बहुत प्रभावित करती हैं। अतः साधक को मंत्र के शब्दों का सही चयन, अर्थ का बोध, शुद्ध उच्चारण और श्रद्धा भावना का योग करना होता है, तभी मंत्र का तदनुसार प्रकम्पन प्रभावशाली और लाभदायक होता है। नमस्कार मंत्र ऐसा मंत्र है जिसमें शब्दों का शक्तिशाली चयन है। इस मंत्र का निश्चित ध्वनि से एकाग्रतापूर्वक जप करने से यह अधिक प्रभावशाली हो सकता है और इसके चिन्तन से आत्मशुद्धि होती है। अतः इसका शुद्ध उच्चारण अपरिहार्य है।

## 1.2 अरिहंत को पहिले नमस्कार क्यों ?-

इस मंत्र में सर्वप्रथम "अरिहन्त" को नमस्कार किया गया है जबकि पंच परमेष्ठी में सबसे ऊँचा स्थान "सिद्धों" का है। इसका कारण यह है कि संसार सागर को पार करने का दिव्य उपदेश जीवों को अरिहन्त द्वारा ही दिया जाता है, "सिद्धों" द्वारा नहीं। चूँकि "अरिहन्त" की कृपा से ही हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है और जग का कल्याण होता है, अतः उनके उपकार के अनुरूप सर्वप्रथम "अरिहन्त" को नमस्कार करना युक्तिसंगत है।

इसके अतिरिक्त परमात्मा की दो अवस्थाएँ होती हैं-अरिहन्त और सिद्ध। अतः पहली अवस्था को पूर्व में और दूसरी अवस्था को बाद में नमस्कार किया गया है।

**णमोकार मंत्र के विभिन्न नाम-**

णमोकार मंत्र प्राकृत भाषा का मंत्र है। प्राकृत में इसे णमोकार मंत्र कहते हैं। संस्कृत में इसे नमस्कार मंत्र कहते हैं। हिन्दी में इसी का अपभ्रंश नाम नवकार मंत्र है।

इस मंत्र के अनेक नाम हैं। इनमें प्रमुख हैं-पंच नमस्कार मंत्र, महामंत्र, अपराजित मंत्र, मूलमंत्र, मंत्रराज, अनादिनिधन मंत्र, मंगल मंत्र आदि। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है-

**(1) पंच नमस्कार मंत्र**-जो परम पद (मोक्ष) प्राप्त कर चुके हैं अथवा उस मार्ग पर अग्रसर हैं, ऐसे पांच परमेष्ठियों को इस मंत्र में नमस्कार किया गया है, अतः इसे पंच नमस्कार मंत्र कहते हैं।

**(2) महामंत्र-अपराजित मंत्र**-तीनों लोकों में इस मंत्र के समान कोई मंत्र नहीं है। आचार्य उमास्वामी ने णमोकार मंत्र स्तोत्र में कहा है कि तराजू के एक पलड़े में णमोकार मंत्र और दूसरे में तीन लोक रख दें तो णमोकार मंत्र वाला पलड़ा ही भारी रहेगा। अतः इसे महामंत्र अथवा अपराजित मंत्र भी कहते हैं।

**(3) मूलमंत्र-मंत्रराज**-यह मंत्र संसार के सभी मंत्रों का जनक (मूल) है। इससे 84 लाख मंत्रों की उत्पत्ति हुई है। अतः इसे मूल मंत्र अथवा मंत्रराज भी कहते हैं।

**( 4 ) अनादि-निधन मंत्र**-पांचों परमेष्ठी अनन्त काल से होते आ रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त काल तक होते रहेंगे। इस प्रकार इनका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं है। इस मंत्र को किसी ने बनाया नहीं है और न यह कभी नष्ट होगा। अत: यह अनादि-निधन मंत्र कहलाता है। वर्तमान काल की अपेक्षा से आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त ने इस मंत्र को जैनधर्म के महान् ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' में सर्व प्रथम प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध किया।

**( 5 ) मंगल मंत्र**-यह मंत्र पापों का नाश करने वाला व मंगल करने वाला है।

## 1.3 णमोकार मंत्र का माहात्म्य-

**"एसो पंच णमोयारो सव्व-पावप्पणासणो।**
**मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ।।"**

यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और समस्त मंगलों में पहला मंगल है।

**मंत्र की विशेषताएँ-**

(1) इस मंत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी विशेष व्यक्ति या देवी-देवता को नमस्कार नहीं किया है। जिन्होंने तप-ध्यान करके अपनी आत्मा का कल्याण किया है और परमेष्ठी पद प्राप्त किया है अथवा इस हेतु प्रयासरत रहे हैं अथवा प्रयासरत हैं, ऐसे सभी महापुरुषों को नमस्कार किया गया है।

(2) यह मंत्र किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा जाति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता है। सभी प्राणी चाहे वे किसी भी जाति, संप्रदाय, धर्म, देश के हों अथवा गरीब हों, अमीर हों, इस मंत्र के द्वारा अपना कल्याण कर सकते हैं।

(3) इस मंत्र की एक विशेषता यह भी है कि इसमें किसी प्रकार की याचना नहीं की गई है। केवल नि:स्वार्थ भाव से पंच परमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। अन्य मंत्रों में कोई न कोई चाहना प्राय: की जाती है। जैसे "सर्वशांतिं कुरु-कुरु स्वाहा"। इसमें भी शांति की याचना की गई है। यद्यपि यह सार्वजनिक हित के लिये याचना है फिर भी याचना तो की ही गई है। मगर णमोकार मंत्र में किसी से भी किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष या परोक्ष याचना नहीं की गई है।

(4) णमोकार मंत्र को किसी भी स्थान व स्थिति आदि में जपा जा सकता है। चाहे वह स्थान पवित्र हो, अपवित्र हो, चाहे व्यक्ति गतिमान हो या स्थिर हो, खड़ा हो या बैठा हो, सभी स्थितियों में यह मंत्र जपा जा सकता है।

णमोकार मंत्र को पूर्ण श्रद्धा के साथ जपने से यह बहुत ही फलदायक है। अत: आवश्यकता इसी बात की है कि हमें इस मंत्र पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। राजकुमार जीवंधर ने मरणासन्न कुत्ते को यह मन्त्र सुनाया तो कुत्ते का जीव सुदर्शन नामक यक्षेन्द्र हुआ। पद्मरुचि सेठ ने मरणासन्न बैल को णमोकार मंत्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह वृषभध्वज राजकुमार बना। कुछ भव पश्चात् ये दोनों क्रमश: राम और सुग्रीव बने। जिनदत्त सेठ के वचनों को प्रमाणित मानकर अंजन चोर ने परोक्ष रूप से इस मंत्र पर श्रद्धान किया तो उसे आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई और अंजन से निरंजन बना।

इस मंत्र का कभी अपमान नहीं करना चाहिए। इस मंत्र का अपमान दु:खदायी होता है। सुभौम चक्रवर्ती ने अपने प्राणों की रक्षार्थ णमोकार मंत्र को समुद्र के पानी पर लिखकर अपने पैरों से मिटाकर अपमान किया तो व्यन्तर देव ने उसे लवण समुद्र में डुबो दिया और वह मरकर सातवें नरक में गया।

"आचार्यों ने द्वादशांग जिनवाणी का वर्णन करते हुए प्रत्येक की पदसंख्या तथा समस्त श्रुतज्ञान अक्षरों की संख्या का वर्णन किया है। इस महामंत्र में समस्त श्रुतज्ञान विद्यमान है क्योंकि पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ नहीं है। अत: यह महामंत्र समस्त द्वादशांग जिनवाणीरूप है।

## 1.4 महामंत्र के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्ष—

इस मंत्र में 5 पद और 35 अक्षर हैं। णमो अरिहंताणं=7 अक्षर, णमो सिद्धाणं=5, णमो आइरियाणं=7, णमो उवज्झायाणं=7, णमो लोए सव्वसाहूणं= 9 अक्षर, इस प्रकार इस मंत्र में कुल 35 अक्षर हैं। स्वर और व्यंजनों का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है—

यथा—

ण्+अ+म्+ओ+अ+र्+इ+ह्+अं+त्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+स्+इ+द्+ध्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+आ+इ+र्+इ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+उ+व्+अ+ज्+झ्+आ+य्+आ+ण्+अं।

ण्+अ+म्+ओ+ल्+ओ+ए+स्+अ+व्+व्+अ+स्+आ+ह्+ऊ+ण्+अं।

इस तरह प्रथम पद में 6 व्यंजन, 6 स्वर, द्वितीय पद में 6 व्यंजन, 5 स्वर, तृतीय पद में 5 व्यंजन, 7 स्वर, चतुर्थ पद में 6 व्यंजन, 7 स्वर, पंचम पद में 8 व्यंजन, 9 स्वर हैं। इस मंत्र में सभी वर्ण अजंत हैं, यहाँ हलन्त एक भी वर्ण नहीं है। अतः 35 अक्षरों में 35 स्वर और 30 व्यंजन होना चाहिए था किन्तु यहाँ स्वर 34 हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि 'णमो अरिहंताणं' इस पद में 6 ही स्वर माने जाते हैं। मंत्रशास्त्र के व्याकरण के अनुसार 'णमो अरिहंताणं' पद के 'अ' का लोप हो जाता है। यद्यपि प्राकृत में 'एङः'-नेत्यनुवर्तते। एङि त्येदोतौ। एदोतोः संस्कृतोक्तः संधिः प्राकृते तु न भवति। यथा देवो अहिणंदणो, अहो अच्चरिअं, इत्यादि। सूत्र के अनुसार संधि न होने से 'अ' का अस्तित्व ज्यों का त्यों रहता है। 'अ' का लोप या खंडाकार नहीं होता है, किन्तु मंत्रशास्त्र में 'बहुलम्' सूत्र की प्रवृत्ति मानकर 'स्वरयोरव्यवधाने प्रकृतिभावो लोपो वैकस्य।'[2] इस सूत्र के अनुसार 'अरिहंताणं' वाले पद के 'अ' का लोप विकल्प से हो जाता है अतः इस पद में 6 ही स्वर माने जाते हैं। अतः मंत्र में कुल 35 अक्षर होने पर भी 34 ही स्वर माने जाते हैं। इनमें जो द्धा, ज्झा, व्व से संयुक्ताक्षर हैं, उनमें से एक-एक व्यंजन लेने से 30 व्यंजन होते हैं। इस प्रकार से कुल स्वर और व्यंजनों की संख्या 34+30=64 है। मूल वर्णों की संख्या भी 64 ही है। प्राकृत भाषा के नियमानुसार अ, इ, उ और ए मूल स्वर तथा ज झ ण त द ध य र ल व स और ह ये मूल व्यंजन इस मंत्र में निहित हैं। अतएव 64 अनादि मूलवर्णों को लेकर समस्त श्रुत-ज्ञान के अक्षरों का प्रमाण निम्न प्रकार निकाला जा सकता है। गाथा सूत्र निम्न प्रकार है—

**चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाऊण संगुणं किच्चा।**
**रूऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति।।**

**अर्थ**—उक्त चौंसठ अक्षरों का विरलन करके प्रत्येक के ऊपर दो का अंक देकर परस्पर सम्पूर्ण दो के अंकों का गुणा करने से लब्ध राशि में एक घटा देने से जो प्रमाण रहता है, उतने ही श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं।

इस नियम से गुणाकार करने पर—

**एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।**
**सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणयं च।।**

अर्थात् एक आठ चार-चार-छह-सात-चार-चार-शून्य-सात-तीन-सात-शून्य-नौ-पाँच-पाँच-एक-छह-एक-पाँच, यह संख्या आती है। इस गाथा सूत्र के अनुसार 18446744073709551615 ये समस्त श्रुतज्ञान के अक्षर होते हैं।

इस प्रकार णमोकार मंत्र में समस्त श्रुतज्ञान के अक्षर निहित हैं, क्योंकि अनादिनिधन मूलाक्षरों पर से ही उक्त प्रमाण निकाला गया है अतः संक्षेप में समस्त जिनवाणीरूप यह मंत्र है। इसका पाठ या स्मरण करने से कितना महान्

पुण्य का बंध होता है तथा केवलज्ञान लक्ष्मी की प्राप्ति भी इस मंत्र की आराधना से होती है। ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य ने इस मंत्र की आराधना को बताते हुए लिखा है—

"इस लोक में जितने भी योगियों ने मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया है, उन सबने श्रुतज्ञानभूत इस महामंत्र की आराधना करके ही प्राप्त किया है। इस महामंत्र का प्रभाव योगियों के अगोचर है। फिर भी जो इसके महत्व से अनभिज्ञ होकर वर्णन करना चाहता है, मैं समझता हूँ कि वह वायुरोग से व्याप्त होकर ही बक रहा है। पापरूपी पंक से संयुत भी जीव यदि शुद्ध हुए हैं, तो इस मंत्र के प्रभाव से ही शुद्ध हुए हैं। मनीषीजन भी मंत्र के प्रभाव से ही संसार के क्लेश से छूटते हैं।"

इसलिए इस महामंत्र की महिमा को अचिन्त्य ही समझना चाहिए।

**अयं महामंत्रः मंगलाचरणरूपेणात्र संग्रहीतोऽपि अनादिनिधनः, न तु केनापि रचितो ग्रथितो वा।**

**उक्तं च णमोकारमंत्रकल्पे श्रीसकलकीर्तिभट्टारकैः—**

महापंचगुरोर्नाम, नमस्कारसुसम्भवम्।
महामंत्रं जगज्ज्येष्ठ-मनादिसिद्धमादिदम्।।63।।
महापंचगुरूणां, पंचत्रिंशदक्षरप्रमम्।
उच्छ्वासैस्त्रिभिरेकाग्र-चेतसा भवहानये।।68।।

**श्रीमदुमास्वामिनापि प्रोक्तम्—**

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनन्ता, उत्सर्पिणी-प्रभृतयः प्रययुर्विवर्ताः।
तेष्वप्ययं परतरः प्रथितप्रभावो, लब्ध्वामुमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः।।3।।

**अथवा द्रव्यार्थिकनयापेक्षयानादिप्रवाहरूपेणागतोऽयं महामंत्रोऽनादिः, पर्यायार्थिकनयापेक्षया हुंडावसर्पिणीकालदोषापेक्षया तृतीयकालस्यान्ते तीर्थंकरदिव्यध्वनिसमुद्गतः सादिश्चापि संभवति।**

यह मंत्र किसी के द्वारा रचित या गूँथा हुआ नहीं है। प्राकृतिक रूप से अनादिकाल से चला आ रहा है।

"णमोकार मंत्रकल्प" में श्री सकलकीर्ति भट्टारक ने कहा भी है—

**श्लोकार्थ**—नमस्कार मंत्र में रहने वाले पाँच महागुरुओं के नाम से निष्पन्न यह महामंत्र जगत् में ज्येष्ठ—सबसे बड़ा और महान है, अनादिसिद्ध है और आदि अर्थात् प्रथम है।।63।।

पाँच महागुरुओं के पैंतीस अक्षर प्रमाण मंत्र को तीन श्वासोच्छ्वासों में संसार भ्रमण के नाश हेतु एकाग्रचित्त होकर सभी भव्यजनों को जपना चाहिए अथवा ध्यान करना चाहिए।।68।।

श्रीमत् उमास्वामी आचार्य ने भी कहा है—

**श्लोकार्थ**—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। मैं संसार से बहिर्भूत (बाहर) मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ।।3।।

अथवा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि प्रवाहरूप से चला आ रहा यह महामंत्र अनादि है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा हुंडावसर्पिणी कालदोष के कारण तृतीय काल के अंत में तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से उत्पन्न होने के कारण यह सादि भी है।

## 1.5 पंच परमेष्ठी के मूलगुण—

जो परम अर्थात् इन्द्रों के द्वारा पूज्य, सबसे उत्तम पद में स्थित हैं, वे परमेष्ठी कहलाते हैं। वे पाँच होते हैं—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

## अरिहंत का स्वरूप

जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, जिनमें 46 गुण हैं और 18 दोष नहीं हैं, उन्हें अरिहंत परमेष्ठी कहते हैं।

दोहा— **चौंतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।**
**अनंतचतुष्टय गुण सहित, छियालीसों पाठ।।1।।**

34 अतिशय + 8 प्रातिहार्य और + 4 अनंतचतुष्टय ये अरिहंत के 46 मूलगुण हैं। उत्तरगुण अनन्त हैं।

सर्व साधारण प्राणियों में नहीं पायी जाने वाली अद्‌भुत या अनोखी बात को अतिशय कहते हैं। इन 34 अतिशयों में जन्म के 10, केवलज्ञान के 10 और देवकृत 14 होते हैं।

**जन्म के 10 अतिशय—**

**अतिशय रूप सुगंध तन, नाहिं पसेव निहार।**
**प्रियहित वचन अतुल्यबल, रुधिर श्वेत आकार।।**
**लक्षण सहसरु आठ तन, समचतुष्क संठान।**
**वज्रवृषभनाराचजुत ये जनमत दस जान।।**

अतिशय सुन्दर शरीर, अत्यन्त सुगंधित शरीर, पसीना रहित शरीर, मल-मूत्र रहित शरीर, हित-मित-प्रिय वचन, अतुल-बल, सफेद खून, शरीर में 1008 लक्षण, समचतुरस्र संस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन ये 10 अतिशय अरिहंत भगवान के जन्म से ही होते हैं।

**केवलज्ञान के 10 अतिशय—**

**योजन शत इक में सुभिख, गगन-गमन मुख चार।**
**नहिं अदया, उपसर्ग नहीं, नाहीं कवलाहार।।**
**सब विद्या ईश्वरपनो, नाहिं बढ़े नख-केश।**
**अनिमिष दृग छाया रहित, दश केवल के वेष।।**

भगवान के चारों ओर सौ-सौ योजन[1] तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, एक मुख होकर भी चार मुख दिखना, हिंसा न होना, उपसर्ग नहीं होना, ग्रास वाला आहार नहीं लेना, समस्त विद्याओं का स्वामीपना, नख केश नहीं बढ़ना, नेत्रों की पलकें नहीं लगना और शरीर की परछाई नहीं पड़ना। केवलज्ञान होने पर ये दश अतिशय होते हैं।

**देवकृत 14 अतिशय—**

**देव रचित हैं चार दश, अर्ध मागधी भाष।**
**आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश।।**
**होत फूल फल ऋतु सबै, पृथ्वी काँच समान।**
**चरण कमल तल कमल हैं, नभतैं जय-जय बान।।**
**मंद सुगंध बयार पुनि, गंधोदक की वृष्टि।**
**भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि।।**
**धर्मचक्र आगे रहे, पुनि वसु मंगल सार।**
**अतिशय श्री अरिहंत के, ये चौंतीस प्रकार।।**

भगवान की अर्ध-मागधी भाषा, जीवों में परस्पर मित्रता, दिशाओं की निर्मलता, आकाश की निर्मलता, छहों ऋतुओं के फल-फूलों का एक ही समय में फलना-फूलना, एक योजन तक पृथ्वी का दर्पण की तरह निर्मल होना, चलते समय भगवान् के चरणों के नीचे सुवर्ण कमल की रचना, आकाश में जय-जय शब्द, मंद सुगंधित पवन,

सुगंधमय जल की वर्षा, पवन कुमार देवों द्वारा भूमि की निष्कंटकता, समस्त प्राणियों को आनन्द, भगवान् के आगे धर्मचक्र का चलना और आठ मंगल द्रव्यों का साथ रहना ये 14 अतिशय देवों द्वारा किये जाने से देवकृत कहलाते हैं और केवलज्ञान होने पर होते हैं।

**आठ प्रातिहार्य—**

**तरु अशोक के निकट में, सिंहासन छविदार।**
**तीन छत्र शिर पर फिरें, भामंडल पिछवार।।**
**दिव्यध्वनी मुखते खिरें, पुष्पवृष्टि सुर होय।**
**ढोरें चौंसठ चमर जख, बाजें दुंदुभि जोय।।**

भगवान के पास अशोक वृक्ष, रत्नमय सिंहासन, भगवान के सिर पर तीन छत्र, पीठ पीछे भामंडल, दिव्यध्वनि, देवों द्वारा पुष्प वर्षा, यक्षदेवों द्वारा चौंसठ चंवर ढोरे जाना और दुंदुभि बाजे बजना ये आठ प्रातिहार्य हैं। विशेष शोभा की चीजों को प्रातिहार्य कहते हैं।

**अनन्त चतुष्टय—**

**ज्ञान अनन्त, अनन्त सुख, दरश अनंत प्रमान।**
**बल अनंत अरिहंत सो, इष्टदेव पहिचान।।**

अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय हैं अर्थात् भगवान के ये दर्शन-ज्ञानादि अन्त रहित होते हैं।

**अठारह दोषों के नाम—**

**जन्म जरा तिरखा क्षुधा, विस्मय आरत खेद।**
**रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद।।**
**राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष।**
**नाहिं होत अरिहंत के, सो छवि लायक मोष।।**

जन्म, बुढ़ापा, प्यास, भूख, आश्चर्य, पीड़ा, दुःख, रोग, शोक, गर्व, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष और मरण ये अठारह दोष अरिहंत भगवान में नहीं होते हैं।

## सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

जो आठों कर्मों का नाश हो जाने से नित्य, निरंजन, अशरीरी हैं, लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके आठ मूलगुण होते हैं, उत्तरगुण तो अनन्तानंत हैं।

सोरठा— **समकित दरसन ज्ञान, अगुरुलघू अवगाहना।**
**सूक्षम वीरज वान, निराबाध गुण सिद्ध के।।**

क्षायिक सम्यक्त्व, अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अनंतवीर्य और अव्याबाधत्व ये आठ मूल (मुख्य) गुण सिद्धों के हैं।

## आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

जो पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरे मुनियों से कराते हैं, मुनि संघ के अधिपति हैं और शिष्यों को दीक्षा व प्रायश्चित्त आदि देते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी हैं। इनके 36 मूलगुण होते हैं।

**छत्तीस मूलगुण—**

**द्वादश तप, दश धर्मजुत, पालें पंचाचार।**
**षट् आवश्यक, गुप्ति त्रय, आचारज गुणसार।।**

12 तप, 10 धर्म, 5 आचार, 6 आवश्यक और 3 गुप्ति ये आचार्य के 36 मूलगुण हैं। उत्तर गुण अनेक हैं।

**तप के नाम—**

**अनशन ऊनोदर करें, व्रत संख्या रस छोर।**
**विविक्त शयन आसन धरें, काय कलेश सुठोर।।**
**प्रायश्चित्त धर विनयजुत, वैयावृत स्वाध्याय।**
**पुनि उत्सर्ग विचारि के, धरैं ध्यान मन लाय।।**

अनशन (उपवास), ऊनोदर (भूख से कम खाना), व्रतपरिसंख्यान (आहार के समय अटपटा नियम), रसपरित्याग (नमक आदि रस त्याग), विविक्त शय्यासन (एकांत स्थान में सोना, बैठना), कायक्लेश (शरीर से गर्मी, सर्दी आदि सहन करना) ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त (दोष लगने पर दण्ड लेना), विनय (विनय करना), वैयावृत्य (रोगी आदि साधु की सेवा करना), स्वाध्याय (शास्त्र पढ़ना) व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना) और ध्यान (एकाग्र होकर आत्मचिन्तन करना) ये छह अंतरंग तप हैं।

**दस धर्म—**

**छिमा मारदव आरजव, सत्य वचन चित पाग।**
**संजम तप त्यागी सरब, आकिंचन तिय त्याग।।**

**उत्तम क्षमा**—क्रोध नहीं करना, **मार्दव**—मान नहीं करना, **आर्जव**—कपट नहीं करना, **सत्य**—झूठ नहीं बोलना, **शौच**—लोभ नहीं करना, **संयम**—छह काय के जीवों की दया पालना, पाँच इन्द्रिय और मन को वश करना, **तप**—बारह प्रकार के तप करना, **त्याग**—चार प्रकार का दान देना, **आकिंचन्य**—परिग्रह का त्याग करना और **ब्रह्मचर्य**—स्त्रीमात्र का त्याग करना।

**आचार तथा गुप्ति—**

**दर्शन ज्ञान चरित्र तप, वीरज पंचाचार।**
**गोपें मन वच काय को, गिन छत्तिस गुणसार।।**

**दर्शनाचार**—दोषरहित सम्यग्दर्शन, **ज्ञानाचार**—दोषरहित सम्यग्ज्ञान, **चारित्राचार**—निर्दोषचारित्र, **तपाचार**—निर्दोष तपश्चरण और **वीर्याचार**—अपने आत्मबल को प्रगट करना ये पाँच आचार हैं।

**मनोगुप्ति**—मन को वश में करना, **वचनगुप्ति**—वचन को वश में करना और **कायगुप्ति**—काय को वश में रखना ये तीन गुप्तियाँ हैं।

**छह आवश्यक—**

**समता धर वंदन करें, नानाथुती बनाय।**
**प्रतिक्रमण, स्वाध्यायजुत, कायोत्सर्ग लगाय।।**

**समता**—समस्त जीवों पर समता भाव और त्रिकाल सामायिक, **वंदना**—किसी एक तीर्थंकर को नमस्कार, **स्तुति**—चौबीस तीर्थंकर की स्तुति, **प्रतिक्रमण**—लगे हुए दोषों को दूर करना, **स्वाध्याय**—शास्त्रों को पढ़ना और **कायोत्सर्ग**—शरीर से ममत्व छोड़ना और ध्यान करना ये छह आवश्यक हैं। (मूलाचार आदि में स्वाध्याय की जगह 'प्रत्याख्यान' नामक क्रिया है, जिसका अर्थ है कि आगे होने वाले दोषों का, आहार-पानी आदि का त्याग करना) यहाँ तक आचार्य के 36 मूलगुण हुए।

## उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

जो मुनि 11 अंग और 14 पूर्व के ज्ञानी होते हैं अथवा तत्काल के सभी शास्त्रों के ज्ञानी होते हैं तथा जो संघ में

साधुओं को पढ़ाते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं। 11 अंग और 14 पूर्व को पढ़ना-पढ़ाना ही इनके 25 मूलगुण हैं।

**ग्यारह अंग—**

**प्रथमहिं आचारांग गनि, दूजो सूत्रकृतांग।**
**ठाण अङ्ग तीजो सुभग, चौथो समवायांग।।**
**व्याख्यापण्णति पांचमों, ज्ञातृकथा षट् जान।**
**पुनि उपासकाध्ययन है, अन्तःकृत् दश जान।।**
**अनुत्तरण उत्पाद दश, सूत्रविपाक पिछान।**
**बहुरि प्रश्न व्याकरण जुत, ग्यारह अंग प्रमाण।।**

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग और विपाकसूत्राँग ये 11 अंग हैं।

**चौदह पूर्वों के नाम—**

**उत्पादपूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।**
**अस्तिनास्तिपरवाद पुनि, पंचम ज्ञान प्रवाद।।**
**छट्ठो कर्मप्रवाद है, सत्प्रवाद पहिचान।**
**अष्टम आत्मप्रवाद पुनि, नवमों प्रत्याख्यान।।**
**विद्यानुवाद पूरब दशम, पूर्व कल्याण महंत।**
**प्राणवाद किरिया बहुल, लोकबिंदु है अन्त।।**

उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व, वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, सत्प्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणप्रवादपूर्व, प्राणानुवादपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिंदुपूर्व ये 14 पूर्व हैं।

## साधु परमेष्ठी का स्वरूप

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों से तथा आरंभ और परिग्रह से रहित होते हैं, ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं ऐसे दिगम्बर मुनि मोक्षमार्ग का साधन करने वाले होने से साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके 28 मूलगुण होते हैं।

***अट्ठाइस मूलगुणों के नाम —***

**पंच महाव्रत समिति पन, पंचेन्द्रिय का रोध।**
**षट् आवश्यक साधु गुण, सात शेष अवबोध।।**

5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियविजय, 6 आवश्यक और 7 शेष गुण, ये साधु के 28 मूलगुण हैं।

**पाँच महाव्रत—**

**हिंसा, अनृत, तस्करी, अब्रह्म, परिग्रह पाप।**
**मन वच तन तें त्यागवो, पंच महाव्रत थाप।।**

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का मन वचन काय से सर्वथा त्याग कर देना ये पाँच महाव्रत कहलाते हैं।

**पाँच समिति—**

**ईर्या भाषा एषणा, पुनि क्षेपण आदान।**
**प्रतिष्ठापना जुत क्रिया, पाँचों समिति निधान।।**

**ईर्यासमिति**—चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, **भाषा समिति**—हित-मित-प्रिय वचन बोलना, **एषणासमिति**—निर्दोष आहार लेना, **आदान निक्षेपण समिति**—पिच्छी से पुस्तक आदि को देख-शोधकर उठाना धरना, **प्रतिष्ठापना समिति**—जीव रहित भूमि में मलादि विसर्जित करना, ये पाँच समिति हैं।

**इन्द्रियविजय और शेष मूलगुण—**

**सपरस रसना नासिका, नयन श्रोत का रोध।**
**शेष सात मंजन तजन, शयन भूमि का शोध।।**
**वस्त्र त्याग कचलुंच अरु, लघु भोजन इक बार।**
**दाँतुन मुख में ना करें, ठाड़े लेहिं अहार।।**

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण—इन पाँचों इन्द्रियों को वश करना ये इन्द्रियविजय नामक पाँच मूलगुण हैं।

स्नान का त्याग, भूमि पर शयन, वस्त्र त्याग, केशों का लोच, दिन में एक बार लघु भोजन, दांतोन का त्याग और खड़े होकर आहारग्रहण ये 7 शेष गुण हैं। पाँचों परमेष्ठी के सब मिलकर 46+8+36+25+28=143 मूलगुण हो जाते हैं।

## 1.6 ॐ पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त रूप-

पंचपरमेष्ठी का सबसे छोटा रूप ॐ है। ॐ अर्थात् ओम् में पांचों परमेष्ठी के प्रथम अक्षर (अ, सि, आ, उ और म्) सम्मिलित हैं और इन पांचों अक्षरों से ही ॐ बना है। ओम् में (अ+अ+आ+उ+म्) होते है। इनसे अभिप्राय निम्न प्रकार है-

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| अ | + | अ | + | आ | + | उ | + | म् |
| अरिहन्त | | अशरीरी (सिद्ध) | | आचार्य | | उपाध्याय | | मुनि |

**चत्तारि-दण्डक-**

**चत्तारि मंगलं—अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।।**

लोक में चार पदार्थ मंगल स्वरूप हैं—अरिहन्त भगवान मंगल हैं, सिद्ध भगवान मंगल हैं। साधु (आचार्य, उपाध्याय और साधु) मंगल हैं तथा केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म मंगल है। मंगल का अर्थ है जो मल (मोह, राग, द्वेष आदि) को गलावे और सच्चा सुख उत्पन्न करे। उपरोक्त चारों मंगल स्वरूप हैं। इनमें भक्ति भाव होने से परम मंगल होता है।

लोक में चार पदार्थ उत्तम हैं—अरिहन्त भगवान उत्तम हैं, सिद्ध भगवान उत्तम हैं, साधु (आचार्य, उपाध्याय और मुनि) उत्तम हैं तथा केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म उत्तम है। लोगुत्तमा का अर्थ है-लोक में उत्तम (सर्वश्रेष्ठ)। लोक में उपरोक्त चारों उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

चार की शरण में जाता हूँ—अरिहन्तों की शरण में जाता हूँ, सिद्धों की शरण में जाता हूँ, साधुओं (आचार्य, उपाध्याय व साधु) की शरण में जाता हूँ और केवली भगवान द्वारा कहे गये धर्म की शरण में जाता हूँ। (शरण का अर्थ है सहारा और पव्वज्जामि का अर्थ है प्राप्त होता हूँ अर्थात् जाता हूँ। पंच परमेष्ठी द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा की शरण लेना ही पंच परमेष्ठी की शरण है।)

चत्तारि दण्डक में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहे गये धर्म को ही मंगल स्वरूप कहा गया है। ये चारों ही लोक में सर्व श्रेष्ठ बताये गये हैं और इन चारों को ही जीवों का सहारा (शरण) कहा गया है। इन चार के

अतिरिक्त लोक में अन्य कोई मंगल-उत्तम-शरण नहीं है। इस प्रकार इस चत्तारि दण्डक में पंच परमेष्ठियों के महत्त्व को दर्शाया गया है।

किन्तु इसमें अरिहन्त, सिद्ध और साधुओं का ही उल्लेख है, आचार्य व उपाध्याय का उल्लेख नहीं है। इसके कारण निम्न हैं-

(1) सभी आचार्य और उपाध्याय "साधु" शब्द में परोक्ष रूप से सम्मिलित है। आचार्य व उपाध्याय अपने मूलगुणों के अलावा साधुओं के 28 मूलगुणों को भी धारण करते हैं, अत: वे "साधु" परमेष्ठी में सम्मिलित है। उन्हें छोड़ा नहीं गया है अपितु गौण किया गया है।

(2) मोक्ष पद प्राप्त करने हेतु मात्र साधु होना आवश्यक है, आचार्य या उपाध्याय होना आवश्यक नहीं है।

(3) जब तक आचार्य पद का परिग्रह है, उन्हें केवलज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य पद छोड़ने पर ही केवलज्ञान होता है।

## 1.7 प्रश्नावली-

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-णमोकार मंत्र में कितने अक्षर हैं ?

(क) 45 ☐ (ख) 25 ☐ (ग) 35 ☐

**प्रश्न 2**-अरिहंत परमेष्ठी के कितने मूलगुण हैं?

(क) 46 ☐ (ख) 56 ☐ (ग) 36 ☐

**प्रश्न 3**-साधु परमेष्ठी के कितने मूलगुण होते हैं ?

(क) 38 ☐ (ख) 28 ☐ (ग) 18 ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-महामंत्र णमोकार में अरिहंत परमेष्ठी को पहले नमस्कार क्यों किया है ?

**प्रश्न 2**-णमोकार मंत्र को और किन-किन नामों से जाना जाता है ?

**प्रश्न 3**-णमोकार मंत्र का माहात्म्य बताइये ?

**प्रश्न 4**-परमेष्ठी किसे कहते हैं?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त रूप बताते हुए उसे बनाने की प्रक्रिया बताइये ?

## पाठ-2 – जैनधर्म की ऐतिहासिकता

**2.1** प्रत्येक देश और जाति का अपना एक सांस्कृतिक इतिहास होता है। इतिहास तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है, अपितु परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उत्थान और पतन, विकास और अवनति, जय और पराजय की पृष्ठभूमि और तथ्य संकलन इतिहास कहलाता है। देश और जाति के समान व्यक्ति और धर्म का भी इतिहास होता है। वस्तुतः धर्म का इतिहास भी व्यक्तियों का ही इतिहास होता है क्योंकि धर्म धार्मिकों के उच्च नैतिक आचार और आदर्शों में ही परिलक्षित होता है। धार्मिक परम्परा और उसके इतिहास का एकमात्र प्रयोजन वर्तमान और भावी पीढ़ी को प्रेरणा देना होता है, जिससे वह भी उन आचारों और आदर्शों को जीवन व्यवहार का अभिन्न अंग बनाकर अपने जीवन को उस उच्च भूमिका तक पहुँचा सके। इससे मनुष्य के निजी जीवन में तो शांति और संतोष का अनुभव होता ही है, उसके व्यवहार में जिन व्यक्तियों का सम्पर्क होता है, उन्हें भी शांति और संतोष की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती।

इतिहास लेखन की परम्परा अति प्राचीन काल से उपलब्ध होती है। किन्तु प्राचीन काल के महापुरुषों का चरित्र जिन ग्रंथों में गुम्फित किया गया है, उनका नाम इतिहास न होकर पुराण रखा गया है और इतिहास की सीमाङ्कित अवधि और उसके पश्चात्काल के महापुरुषों का चरित्रचित्रण जिन ग्रंथों में किया गया है अथवा किया जाता है, उसका नाम इतिहास, इतिवृत्त या ऐतिह्य कहलाता है। यद्यपि पुराण भी इतिहास ही होता है, किन्तु पुराण और इतिहास में कुछ मौलिक अन्तर भी होता है। इतिहास केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषों के जीवन में घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्रनिर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिहास में केवल सम-सामयिक घटनाओं का उल्लेख रहता है परन्तु पुराण में नायक के अतीत-अनागत भावों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिए कि जन साधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिए क्या-क्या त्याग और तपस्याएँ करनी पड़ती हैं। मनुष्य के जीवन निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जन-साधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्ण अक्षुण्ण है।

किसी धर्म का इतिहास, उसके उत्थान-पतन, प्रचार और ह्रास का इतिहास होता है। किन्तु उसका कोई स्वोक्त इतिहास नहीं होता। धर्म कोई मूर्तिमान स्थूल पदार्थ नहीं है, वह तो जीवन के उच्च नैतिक व्यवहार में परिलक्षित होता है। धर्मसंस्थापना के दो उपाय हैं—हृदय-परिवर्तन और दण्ड-भय। धर्मनायक प्रथम उपाय करते हैं, जबकि लोकनायक दूसरा उपाय काम में लाते हैं। जिन्होंने जीवन में धर्म का पूर्ण व्यवहार करके अपने जीवन को धर्ममय बना लिया है और दूसरों को उस धर्म का उपदेश देते हैं, वे धर्म-नायक होते हैं। मुख्य धर्मनायक तीर्थंकर होते हैं। वे जन्म-जन्मान्तरों की धर्म-साधना द्वारा तीर्थंकर जीवन में धर्म के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते हैं, क्योंकि उनके जीवन में किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता, मानसिक, आत्मिक और दैहिक दुर्बलता नहीं रहती, अतः वे कल्याण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों के जीवन को धर्ममय बनाने में सफल होते हैं। दूसरा उपाय है कि दण्ड द्वारा जीवन को अधर्म से विमुख करना-ऐसे व्यक्ति लोकनायक कहलाते हैं। इन लोकनायकों में प्रमुख चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र होते हैं। पहला उपाय सृजनात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहला उपाय है अधार्मिकों के जीवन में से अधर्म दूर करके, उन्हें धार्मिक बनाना अर्थात् हृदय-परिवर्तन द्वारा धर्म की स्थापना, जबकि दूसरा उपाय है—अधर्मियों और दुष्टों को दण्ड-भय द्वारा अधर्माचरण और दुष्टता से रोकना, न मानने पर उन्हें दण्डित करना। हृदय परिवर्तन का प्रभाव स्थाई होता है। प्राणी का कल्याण हृदय-परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है, जबकि दण्ड केवल भय उत्पन्न करके अस्थाईरूप से दुष्टता का निवारण कर सकता है, इसलिए धर्मनायक तीर्थंकरों की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है।

जैनधर्म में वैदिक धर्म की तरह पुराण और उपपुराणों का विभाग नहीं मिलता। जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा में पुराण साहित्य विपुल परिमाण में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत, अपभ्रंश और कन्नड़ भाषा में ज्ञात पुराणों की संख्या सौ से ऊपर है जिनमें श्री जिनसेनाचार्य का आदिपुराण, आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण, आचार्य जिनसेन का हरिवंशपुराण, आचार्य रविषेण का पद्मपुराण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कवि पंप का आदिपुराण (कन्नड़ में) महाकवि पुष्पदंत का महापुराण (अपभ्रंश में) कविवर रइधू का पद्मपुराण (अपभ्रंश में) और कवि स्वयंभू का पउमचरिय (अपभ्रंश में) भी साहित्य-जगत् में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

## 2.2 चार अनुयोग-

जैन वाङ्मय को चार भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें चार अनुयोग कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमें प्रथमानुयोग में पुराण, आख्यायिका, कथा और चरित्रग्रंथ सम्मिलित हैं। जैन साहित्य में प्रथमानुयोग संबंधी ग्रंथों की संख्या विपुल परिमाण में है। इन ग्रंथों में— विशेषत: पुराण ग्रंथों में प्राचीन राजवंशों और महापुरुषों का इतिहास सुरक्षित है। इसलिए यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के लिए जैन पुराणों और कथा ग्रंथों से बड़ी सहायता प्राप्त होती है। जैन पुराणों की अपनी विशिष्ट वर्णन शैली अवश्य है, किन्तु उसमें इतिहास का जो यथार्थ सुरक्षित है वह जैनेतर पुराणों में देखने को नहीं मिलता। जैन-पुराणों और कथा-ग्रंथों की एक विशेषता और है कि उनकी मूलकथावस्तु में विभिन्न लेखकों में कोई उल्लेखनीय मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि जैनेतर पुराणों में कथावस्तु में भारी अन्तर और मतभेद दिखाई पड़ते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि भगवान महावीर के पश्चात् आज तक आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा रही है। उन्होंने गुरु-मुख से जो सुना और अध्ययन किया, उसको उन्होंने अपनी रचना में ज्यों का त्यों गुम्फित कर दिया। इसलिए दिगम्बर पुराणों और आगमों के कथानकों में भी प्राय: एकरूपता मिलती है इसलिए उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। यहाँ उनकी विश्वसनीयता के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। जैनेतर पुराणों में हनुमान, नल, नील, जामवन्त, रावण आदि प्रसिद्ध पुरुषों को बानर, रीछ, राक्षस आदि लिखा है, जबकि जैनपुराणों ने उन्हें विद्याधर लिखा है और उनकी जाति का नाम वानर आदि दिया है। जैन पुराणों में वर्णित इन विद्याधर जातियों की सत्ता प्राचीन काल में थी, इस बात को नृवंश-विज्ञान और पुराविदों ने सिद्ध कर दिया है अत: कहा जा सकता है कि जैन पुराण कल्पना और किंवदन्तियों पर आधारित न होकर, पूर्वाचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त तथ्यों पर आधारित हैं।

## 2.3 महाराजा नाभिराज-

अत्यंत प्राचीन युग में, इस आर्यभूमि पर महाराजा नाभि राज्य करते थे। वे 14 कुलकरों में अंतिम कुलकर थे। अंतिम होते हुए भी दीर्घायु, समुन्नत शरीर, अप्रतिम रूप-सौन्दर्य, अपार बल-विक्रम और विपुल गुणों के कारण सब से अग्रिम थे। श्रीमद्भागवत में उन्हें आदिमनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत और प्रियव्रत के आग्नीध्र तथा आग्नीध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ माना है। महाराजा नाभि अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण और परमैश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे। सर्वप्रथम उन्होंने ही सद्य:उत्पन्न शिशुओं के नाभि-नाल को शस्त्र क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया। उनके नाभिराय नाम के पीछे भी यह रहस्य माना जाता है। उन्हें हुए कितना युग बीता, कहा नहीं जा सकता।

उनका युग एक संक्रान्तिकाल था। जब वे सिंहासन पर बैठे, भोगभूमि थी। कल्पवृक्ष फलते थे। अपराध-वृत्ति का अभाव था। सभी में पारस्परिक सद्भाव था। प्रत्येक का मनोवांछित फल कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाता था, तो असद्वृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। किन्तु उनके जीवनकाल में ही, भोगभूमि समाप्त हो गयी। कल्पवृक्ष नि:शेषप्राय हो गये। कर्मभूमि का प्रारंभ हुआ। नये प्रश्न थे, नये हल चाहिए थे। नाभिराय ने धैर्यपूर्वक उनका समाधान दिया। उन्हें क्षत्रिय कहा गया। आगे चलकर 'क्षत्रिय' शब्द नाभि अर्थ में रूढ़ हो गया। अमर कोषकार ने 'क्षत्रिये नाभि:' लिखकर

संतोष किया। आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा है। उन्होंने अपने पुरुषार्थ से सद्युग को जन्म दिया। प्रजा सुखी बनी और भोगभूमि के समान ही उसे सर्वविध सुविधाएँ प्राप्त हुईं। महाराज नाभिराय स्वयं कल्पवृक्ष के समान हो गये।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में लिखा है, "चन्द्र के समान वे अनेक कलाओं की आधारभूमि थे, सूर्य के समान तेजवान् थे, इन्द्र के समान वैभव सम्पन्न थे और कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फलों के प्रदाता थे। उन्होंने युगप्रवर्तन किया। काल की मोटी परतें भी उनके नाम को नामशेष नहीं कर सकीं। वे उसके कालज्ञ वृक्ष पर तप्तशलाका से स्पष्ट लिखते रहे-रजःकणों में अभ्रक पत्र से, दिशाओं में सूर्य से और आकाश में ध्रुव नक्षत्र से दमकते रहे। कोई मिटा न सका। वे जीवित हैं, केवल वैदिकों में नहीं, अपितु मुसलमानों में भी। अरबी का एक शब्द है 'नबी', जिसका अर्थ होता है—ईश्वर का दूत, पैगम्बर और 'रसूल'। वह शब्द संस्कृत के 'नाभि' और प्राकृत के 'णाभि' का ही रूपान्तर मात्र है। इसका अर्थ है कि उनका नाम बना ही नहीं रहा, अपितु 'ईश्वर के दूत' के रूप में और भी चमकीला बना।

## 2.4 आर्यखण्ड ही कभी अजनाभवर्ष कहलाता था-

महाराज नाभिराय के नाम पर ही इस आर्यखण्ड को नाभिखण्ड या अजनाभवर्ष कहा गया। नाभि को अजनाभ भी कहते थे। स्कन्दपुराण में, "हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम्" आया है। इस पंक्ति का विश्लेषण करते हुए डॉ. अवधबिहारी- लाल अवस्थी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप' में लिखा, "सात द्वीपों वाली पृथ्वी का जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु, स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो संन्यासी हो गये थे और सात पुत्रों ने सात महाद्वीपों में आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ पुत्र जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ में से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही नाभिखण्ड को अजनाभवर्ष भी कहा गया। 'मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन' के एक पाद टिप्पण में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभ के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश अजनाभवर्ष कहलाया। श्रीमद्भागवत में भी "अजनाभं नामैतद्वर्ष-भारतमितियद् आरभ्य व्यपदिशन्ति" लिखा है। इसका अर्थ है कि अजनाभवर्ष ही आगे चलकर 'भारतवर्ष' इस संज्ञा से अभिहित हुआ। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपुराण में, "कालसन्धि के समय, इसी जम्बूद्वीप में विजयार्धपर्वत से दक्षिण की ओर आर्यखण्ड में नाभिराज हुए और उनके नाम पर इस खण्ड को नाभिखण्ड कहा गया' ऐसा उल्लेख किया है।

भरत संबंधी उल्लेख मार्कण्डेयपुराण में भी उपलब्ध होता है। मार्कण्डेय ऋषि इसके रचयिता थे। शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रभाष्य में इसके दो श्लोकों का उद्धरण दिया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ 8वीं सदी से पूर्व का है। पश्चिमी विद्वान् भी इसे बहुत प्राचीन मानते है। पार्जिटर महोदय ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद किया था। इसके प्रारंभिक अध्याय जर्मन भाषा में भी अनूदित मिलते हैं। यह पुराण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका एक अंश 'दुर्गासप्तशती' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें 138 अध्याय और 9000 श्लोक हैं। इसमें लिखा है—

**आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् द्विजः।**
**ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः।।**
**सोऽभिषिच्यार्शभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।**
**तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम-संश्रयः।।**
**हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ।**
**तस्मात्तु भारतवर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः।।**(मार्कण्डेयपुराण)

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए। उनसे भरत का जन्म हुआ, जो अपने सौ भाइयों में अग्रज था। ऋषभ ने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की और पुलह आश्रम में उस महाभाग्यशाली ने तप किया। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश शासन के लिए दिया था अतः उस महात्मा भरत के नाम से इस प्रदेश का नाम भारतवर्ष हुआ।

ब्रह्माण्डपुराण 'भूगोल' विषय की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें जम्बूद्वीप आदि द्वीपों, नदियों, पर्वतों और नक्षत्रों आदि का रोचक वर्णन है। वायु ने व्यासजी को इस पुराण का उपदेश दिया था, इसलिए इसे 'वायवीय ब्रह्माण्ड पुराण' भी कहते हैं। ईसवी सन् 5वीं शती में इस पुराण को ब्राह्मण लोग जावा द्वीप ले गये थे, जहाँ उसका जावा की प्राचीन भाषा में अनुवाद प्राप्त होता है। इससे उसकी प्राचीनता सिद्ध ही है। इस ग्रंथ के तीसरे पाद में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रियवंशों का वर्णन आया है। एक स्थान पर भरत और भारत के संबंध में कथन है—

**नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।**
**रिषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।।**
**रिषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।**
**सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।।**
**हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।**
**तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।** (ब्रह्माण्डपुराण)

नाभि ने मरुदेवी में महाद्युतिवान् ऋषभ नामक पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव पार्थिवश्रेष्ठ और सर्वक्षत्रियों के पूर्वज थे। उनके सौ पुत्रों में वीर भरत अग्रज थे। ऋषभ ने उनका राज्याभिषेक कर महाप्रव्रज्या ग्रहण की। उन्होंने भरत को हिमवत् नाम का दक्षिणी भाग राज्य करने के लिए दिया था और वह प्रदेश आगे चलकर भरत के नाम पर ही भारतवर्ष कहलाया। वायुपुराण के पूर्वार्ध (30/50-53) में भी हुबहू ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

## 2.5 ऋषभ पुत्र भरत के नाम से भारत देश-

नारदपुराण में भी उन भरत को ऋषभदेव का ही पुत्र बतलाया है, जिनके नाम पर इस देश को भारतवर्ष कहते हैं। नारदपुराण से तात्पर्य 'बृहद्नारदीय' पुराण से है। यद्यपि डॉ. विलसन इसे 16वीं शती का मानते हैं, किन्तु वल्लालसेन (12वीं शताब्दी) ने अपने दानसागर नाम के ग्रंथ में इस पुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। अलबेरुनी (11वीं शताब्दी) ने भी अपने 'यात्रा विवरण' में इसका उल्लेख किया है अतः इन दोनों से प्राचीन तो है ही। यह पुराण विष्णुभक्ति का मुख्य ग्रंथ है। इसमें एक उद्धरण है—

**आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः।**
**आर्षभो यस्य नाम्नेदं भरतखण्डमुच्यते।।5।।**
**स राजा प्राप्तराज्यस्तु पितृपितामहः क्रमात्।**
**पालयामास धर्मेण पितृवदजनयन् प्रजाः।।6।।** (नारदपुराण, पूर्वखण्ड)

सूरदास के सूरसागर की ये पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं-

**बहुरो रिषभ बड़े जब भये। नाभि राज दे बन को गये।।**
**रिषभ राज परजा सुख पायो। जस ताको सब जग में छायो।।**
**रिषभ देव जब बन को गये। नवसुत नवौ खण्ड नृप भये।।**
**भरत सो भरत खण्ड को राव। करे सदा ही धर्म अरु न्याव।।** (सूरसागर, पंचम स्कंध)

शिवपुराण में शंकर से संबंधित महत्वपूर्ण मान्यताएँ स्थापित की गई हैं। जैसे, वह आर्य थे या अनार्य आदि दसवीं संहिता में मुनि-पत्नियों के कथानक से इस पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में 24000 श्लोक हैं। शैवदर्शन के तत्त्वों को भली भांति समझाया गया है। बीच-बीच में शिव और पार्वती से संबंधित नाना कथाओं की अवतारणा है। इस ग्रंथ में भरत से संबंधित एक स्थल है-

**नाभेः पुत्रश्च वृषभो, वृषभाद् भरतोऽभवत् ।**
**तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं, भारतं चेति कीर्त्यते।।** (शिवपुराण)

अर्थात् नाभि के पुत्र वृषभ और वृषभ के पुत्र भरत हुए। उनके नाम से इस वर्ष (देश) को भारतवर्ष कहते हैं।

'महापुराण' में भी वृषभ और भरत से संबद्ध अनेक उद्धरण मौजूद हैं। महापुराण भगवज्जिनसेनाचार्य का ख्यातिप्राप्त ग्रंथ है। इसकी रचना ईसवी सन् 9वीं शती में की गई थी। इसमें एक स्थान पर लिखा है-

**ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम्।**
**भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदम्।।**

अर्थात् इसके पश्चात् भगवान् वृषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का साम्राज्याभिषेक किया तथा भरत से शासित प्रदेश भारतवर्ष हो, ऐसी घोषणा की।

"सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियों में केवल योगमुद्रा में अवस्थित हैं, जो उस प्राचीन युग में सिंधु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती है, उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की मुद्रा भी प्रगट करते हैं और यह कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनकरूप से जैनों से संबंधित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदिपुराण सर्ग 18 में ऋषभ अथवा वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्त्व संग्रहालय में एक शिलाफलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ मिली हैं जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या 12 में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिस्री स्थापत्य कला में प्रतिमाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुईं हैं। यद्यपि ये मिस्री मूर्तियाँ प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है, जो सिंधु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिन्ह है।"

(माडर्न रिव्यू, अगस्त 1932, पृ. 155-160)

प्रो. चन्दा के इन विचारों का समर्थन डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने भी किया है। वे भी सिंधु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं इन विद्वानों ने सील नं. 449 पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। इस संबंध में खोजकारों की मान्यता है कि सभी ध्यानस्थ प्रतिमाएँ जो सिंधु घाटी में मिली है, जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष और नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताएँ हैं। विशेषतः कायोत्सर्गासन जैन श्रमणों द्वारा ध्यान के लिए प्रयुक्त होता है।

सिंधु-सभ्यता अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत सभ्यता थी। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सिंधु सभ्यता का जो मूल्याकंन किया है, उसके बड़े रोचक निष्कर्ष निकले हैं। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं—मुहर के फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल भी बना है। संभव है, यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिंधु सभ्यता तक चला जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामधारी सिंह दिनकर इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—मोहन-जोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैनमार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे-कालान्तर में वह शिव के साथ संबंधित थी। इस दृष्टि से कई जैन

विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व के हैं।

इसी संदर्भ में डॉ. एम.एल. शर्मा लिखते हैं मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है वह भगवान ऋषभदेव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग-साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैनधर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे। सिंधु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की भी पूजा करते थे। इन सब बातों से यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है कि जैनधर्म की संस्कृति सबसे प्राचीनतम है। जैनधर्म के सिद्धान्त सार्वभौमिक है और जैनधर्म अनादि-निधन है।

## 2.6 जैन इतिहास का आदिकाल-

**प्रावेशिक—**

व्यवहारिक व लौकिक ज्ञान-विज्ञान एवं अध्ययन-अध्यापन का एक महत्वपूर्ण विषय है 'इतिहास'। शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत निर्धारित पाठ्यक्रम में इस विषय की उपयोगिता सदैव से स्वीकृत होती आई है। प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, जाति, राष्ट्र, देश तथा परम्परा या संस्कृति का अपना-अपना अतीत होता है और उक्त अतीत की ही प्रमाणाधारित कहानी को इतिवृत्त या इतिहास कहा जाता है। राजनैतिक, आर्थिक आदि शुद्ध लौकिक क्षेत्रों में नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों और घटित घटनाओं का काल क्रमिक वृत्तान्त लौकिक इतिहास का विषय होता है, जबकि संस्कृति या परम्पराविशेष के इतिहास में उसके विकास में पथचिन्ह बनने वाली घटनाओं और लोक को कल्याण का सुपथ दिखाने वाले तथा मानव जीवन के उन्नयन में योगदान करने वाले महापुरुषों का चरित्र चित्रण होता है। इसका एक उद्देश्य तो उन पुराण पुरुषों के पुण्य चरित्रों की स्मृति का संरक्षण होता है और दूसरा उनके आदर्शों से प्रेरणा लेकर स्वयं अपना जीवनपथ प्रशस्त करना होता है।

जैन इतिहास का अर्थ है जैन परम्परा का अर्थात् जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास। जैन सिद्धान्त के अनुसार वस्तुस्वरूप का नाम धर्म है, जो जिस वस्तु का परानपेक्ष निजी स्वभाव है, वही उसका धर्म है। विश्व के उपादानों में मनुष्य के लिए सर्वाधिक प्रयोजनभूत वस्तु आत्मा है अत: जैनधर्म या जिनधर्म आत्मधर्म का ही पर्यायवाची है, क्योंकि आत्मतत्त्व अर्थात् लोक में जितनी भी आत्माएँ हैं, सब अनादिनिधन हैं, आत्मवस्तु का स्वभाव या धर्म भी अनादिनिधन है। व्यवहारत: उक्त स्वभाव का साधनापथ भी, कारण में कार्य के उपचार द्वारा, 'धर्म' संज्ञा प्राप्त करता है। इस प्रकार जैनधर्म या जिनधर्म भी अनादिनिधन है और अनादिनिधन पदार्थ का कोई इतिहास नहीं होता—उसे इतिहास की सीमित परिधि में बांधा नहीं जा सकता।

किन्तु व्यवहार में हम वर्तमान को पकड़कर उसका अतीत खोजते हुए कालक्रम से पीछे की ओर चलते जाते हैं और जहाँ तक अतीत के गर्भ में पहुँच पाते हैं, वहीं से विवक्षित परम्परा आदि का इतिहास प्रारंभ हुआ मानकर तब से अब तक का इतिहास निर्माण कर डालते हैं। सुविधा की दृष्टि से उसे उपयुक्त कालखण्डों में भी विभाजित कर लेते हैं अतएव आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा स्वीकृत सत्यापित साक्ष्य जिस समय से मिलने लगता है, वह शुद्ध इतिहास का प्रारंभ माना जाता है। उससे पूर्व का भी जो कुछ इतिवृत्त परम्परा अनुश्रुतियों के माध्यम से प्राप्त होता है, उसे अनुश्रुतिगम्य इतिहास या प्रोटो-हिस्टरी (Proto-History) कहते हैं। उससे पूर्व का मनुष्य के अतीत का जो कुछ भी ज्ञातव्य उपलब्ध होता है, वह इतना अनाम, अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित होता है कि उसे इतिहास की परिधि से बाहर रखकर प्रागैतिहासिक कहते हैं।

यह एक असंदिग्ध मौलिक जैन सिद्धान्त है कि यह चराचर जगत अर्थात् विश्व के विभिन्न उपादान भी अनादि और अनन्त हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि इस विश्व का न कभी किसी के द्वारा सृजन हुआ है और न कभी अन्त होगा, किन्तु इस शाश्वत एवं प्रवाहमान जगत में उसके उपादान

द्रव्यों में निरन्तर परिणमन, पर्याय से पर्यायान्तर होते रहते हैं और सतत् परिवर्तन का निमित्त है कालचक्र।

काल का प्रभाव भी अनादि अनन्त है। उसका सबसे छोटा अविभाज्य अंश 'समय' कहलाता है और सबसे बड़ी व्यवहार इकाई 'कल्पकाल'। एक कल्पकाल का परिमाण बीस कोटाकोटी सागर होता है जो स्थूलतः संख्यातीत वर्षों का होता है। प्रत्येक कल्पकाल के दो विभाग होते हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, जो एक के अनन्तर एक आते रहते हैं। अवसर्पिणी उत्तरोत्तर ह्रास एवं अवनति का युग होता है, जबकि उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर विकास एवं उन्नति का। इनमें से प्रत्येक छः भागों में विभक्त होता है, जिनकी गणना अवसर्पिणी के प्रवेश से प्रारंभ होती है, यथा—प्रथम (सुखमा-सुखमा), द्वितीय (सुखमा), तृतीय (सुखमा-दुखमा), चतुर्थ (दुखमा-सुखमा), पंचम (दुखमा) और छट्ठा (दुखमा-दुखमा)।

इनमें से प्रथम काल में मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों के शरीर का बल, आकार, आयु आदि सर्वाधिक होते हैं और सर्वप्रकार का शारीरिक एवं मानसिक सुख अत्यन्त होता है। दूसरे काल में इन सब चीजों में उत्तरोत्तर कमी होती जाती है, तीसरे में और अधिक कमी होती है तथा साथ में दुःख का भी समावेश होने लगता है। तथापि, ये तीनों काल सुख एवं भोगप्रधान होते हैं और जीवन पूर्णतया प्रकृत्याश्रित होता है अतएव सामूहिक रूप से ये तीनों काल भोगयुग या भोगभूमिकाल कहलाते हैं। चौथे काल के प्रारंभ से कर्मभूमि या कर्मयुग का उदय होता है। इस काल में शरीर के आकार, बल, आयु, सुख और भोग में उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है तथा दुःख की प्रधानता होने लगती है। मात्र प्रकृति पर निर्भर रहने से काम नहीं चलता। स्वपुरुषार्थ एवं कृत्रिम साधनों का अवलम्बन अनिवार्यतः आवश्यक होता जाता है अतएव इस चौथे काल में ही तीर्थंकरों के रूप में सर्वमहान लोकोपकारी जन नेताओं का आविर्भाव होता है, जो अपने-अपने समय में मनुष्यों को सुकर्म और धर्म की शिक्षा देते हैं पाँचवें काल में जीवन संघर्ष में और अधिक वृद्धि एवं जटिलता होती जाती है तथा सुख नाममात्र का ही रह जाता है। छठे काल में आत्यंतिक दुःख की प्रधानता रहती है और उसके अन्त तक सर्वव्यापी पतन अपनी चरमावस्था को पहुँच जाता है। उसके उपरांत घड़ी के पेन्डुलम की भांति कालचक्र पीछे को लौटता है—उसका प्रत्यावर्तन होता है और पुनः छठे से आरंभ करके क्रमशः पाँचवां, चौथा, तीसरा, दूसरा और पहला काल आता है। यह उत्सर्पिणी उत्तरोत्तर विकास एवं उन्नति का युग होता है। इसके प्रथम तीन कालों में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है और अंतिम तीन में भोगभूमि की। इस अनादिकाल चक्र में युगारंभ एवं वर्षारम्भ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है।

अनन्त आकाश के एक भाग में पुरुषाकार परिमित लोक है। उसी में जीव-अजीव आदि विभिन्न द्रव्य पाये जाते हैं। यही चराचर जगत हमारा विश्व है। इसके मध्यभाग को मध्यलोक कहते हैं। उसके ठीक मध्य में जम्बूद्वीप है जिसके केन्द्र में सुमेरुपर्वत स्थित है और चारों ओर लवण समुद्र है। इस जम्बूद्वीप के ही एक भाग में हिमवन् पर्वत तथा तीन ओर लवण समुद्र से वेष्टित भरतक्षेत्र है, जिसके मध्य में विजयार्ध पर्वत फैला है। हिमवन् पर्वत से निकलकर अनेक सहायक नदियों के परिवार से युक्त होकर, एक पूर्व की ओर और दूसरी पश्चिम की ओर बहकर महासमुद्र में मिलने वाली गंगा और सिंधु नामक दो महानदियाँ भरतक्षेत्र को छः खण्डों में विभाजित करती हैं। इन खण्डों में से गंगा और सिंधु का मध्यवर्ती प्रदेश आर्यखण्ड कहलाता है। यही प्राचीन भारत का वह मध्यदेश है जहाँ तीर्थंकरों एवं अन्य पुराण पुरुषों का जन्म हुआ। यहीं भारतीय धर्म, विज्ञान, कला और सभ्यता का तथा भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं का उदय, विकास एवं पोषण हुआ।

इस समय कल्पकाल का अवसर्पिणी विभाग चल रहा है क्योंकि वर्तमान अवसर्पिणी में कतिपय अपवाद या सनातननियम विरुद्ध कुछ अनोखी बातें भी हुईं हैं, सामान्य अवसर्पिणी से भेद करने के लिए इसे हुंडावसर्पिणी कहते हैं। इसके प्रथम चार भाग (काल) व्यतीत हो चुके हैं और पाँचवां भाग काल चल रहा है, जिसके लगभग अढ़ाई सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और साढ़े अठारह सहस्र वर्ष शेष हैं।

## 2.7 कुलकर युग—

वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीनों कालों में इस क्षेत्र में जीवन अत्यन्त सरल, स्वच्छ, स्वतंत्र एवं प्राकृतिक था। मनुष्यों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति दश प्रकार के तथाकथित कल्पवृक्षों से स्वतः हो जाया करती थी। मनुष्य शांत एवं निर्दोष था, कोई संघर्ष या द्वन्द्व भी नहीं था अतः कोई मनुष्यकृत व्यवस्था भी नहीं थी। आधुनिक भूतत्त्व एवं नृतत्त्व विज्ञान सम्मत आदिमयुगीन प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय युगों की वस्तु स्थिति के साथ उपरोक्त जैन मान्यता का अद्‌भुत सादृश्य है। अवसर्पिणी के तीसरे काल के अंतिम पाद में जब भोगभूमि का अवसान होने लगा और कालचक्र के प्रभाव से होने वाले अवस्था-परिवर्तनों को देखकर लोग शंकित एवं भयभीत होने लगे तो उनका समाधान, मार्गदर्शन एवं नेतृत्व करने के लिए इस देश में, एक के बाद एक, चौदह कुलकरों या मनुष्यों का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग की वस्तुस्थिति आधुनिक पुराशास्त्रियों की प्रागैतिहासिक पाषाणयुगीन स्थिति से मेल खाती है।

कुलकरों की संख्या 14 है। जीवन की रक्षा तथा जीवननिर्वाह की आवश्यकताओं के लिए बढ़ते हुए संघर्षों के कारण उस युग के मनुष्य की सहनशक्ति जब भंग होने लगी, तो उसने स्वयं को कुलों (जनों, समूहों या कबीलों) में संगठित करना प्रारंभ कर दिया। इन कुलों की व्यवस्था करने वाले और उनका नायकत्व एवं नेतृत्व करने वाले कुलमान्य पुरुष श्रेष्ठ 'कुलकर' कहलाये। वे आवश्यकतानुसार आदेश-निर्देश भी देते थे, मर्यादाएँ निर्धारित करते थे और व्यवस्था देते थे इसलिए 'मनु' भी कहलाते थे। उन्हीं की सन्तति होने के कारण इस देश के निवासी मानव कहलाये।

प्रथम कुलकर या मनु का नाम प्रतिश्रुति था। उन्होंने लोगों को चन्द्रमा और सूर्य के उदय एवं अस्त होने जैसी प्राकृतिक घटनाओं का रहस्य बताया। चन्द्रास्त एवं सूर्योदय एक साथ पहली बार जब लक्ष्य में आये, तभी से दिन और रात्रि के व्यवहार का प्रारंभ माना जाने लगा। दूसरे कुलकर सन्मति ने लोगों को नक्षत्रों एवं तारिकाओं का ज्ञान कराया — वह सर्वप्रथम ज्योतिर्विद थे। तीसरे कुलकर क्षेमंकर ने वन्य पशुओं से निर्भय रहना और उनमें से कई एक को पालतू बनाना सिखाया। चौथे कुलकर क्षेमंधर ने सिंह आदि हिंसक पशुओं से स्वरक्षा के लिए दण्ड (डण्डे) पाषाण आदि का प्रयोग सिखाया। पाँचवें कुलकर सीमंकर के समय तक अधिकतर कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे और जो बच रहे थे, उनके स्वामित्त्व को लेकर परस्पर झगड़े होने लगे अतएव इन कुलकर ने प्रत्येक कुल के अधिकार क्षेत्र की सीमा निर्धारित करके उन्हें संघर्षों से बचाया। इन पाँचों कुलकरों ने भोगयुग के अवसान और कर्मयुग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव-कुलों को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल जीवन बिताने की शिक्षा दी। अपराधियों के लिए वे 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे अर्थात् अपराधी को 'हा' कह देना भर पर्याप्त था, अन्य किसी दण्ड की आवश्यकता नहीं होती थी।

छठे कुलकर सीमंधर ने बचे-खुचे कल्पवृक्षों पर वैयक्तिक अधिकार की सीमाएँ निश्चित कर दीं-व्यक्तिगत सम्पत्ति की कल्पना का प्रारंभ यहीं से हुआ समझा जा सकता है। सातवें कुलकर विमलवाहन ने हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाकर बांध रखना और सवारी आदि के लिए उनका उपयोग करना सिखाया। आठवें कुलकर चक्षुष्मान के समय में भोगभूमिज युगलिया स्त्री-पुरुष अपनी युगलिया संतान को जन्म देकर भी जीवित रहने लगे और उन्हें देखने का आनंद प्राप्त करके मरने लगे-इसके पूर्व वे संतान को जन्म देकर तुरंत मर जाते थे। इस कुलकर ने उन्हें सन्तान-सुख प्राप्त करना सिखाया। नौवें कुलकर यशस्वान ने लोगों को अपनी सन्तान से स्नेह करना और उनका नामकरण आदि करना सिखाया। दसवें कुलकर अभिचन्द्र ने बालकों का रोना चुप कराने, उन्हें खिलाने, बुलवाने और उनका पालन-पोषण आदि करने की शिक्षा दी। छठे से दसवें कुलकर पर्यंत 'हा' के साथ 'मा' (नहीं, मत करो) का भी दण्डनीति के रूप में प्रयोग हुआ।

ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ के समय में लोग अति शीत, तुषार एवं वायु के प्रकोप से त्रस्त और भयभीत होने लगे तो कुलकर ने उनका समाधान किया। उन्होंने शिशुओं का लालन-पालन करना व अन्य उपयोगी बातें भी लोगों को सिखाईं। बारहवें कुलकर मरुदेव के समय में मेघ-गर्जन एवं बिजली की चमक के सांथ वर्षा होने लगी, नदी-नाले बहने लगे, जिससे लोग भयभीत हुए। कुलकर ने नाव बनाकर नदी आदि पार करना तथा पर्वतों पर चढ़ना सिखाया। उन्होंने लोगों को समझाया कि भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त होने वाली है और कर्मभूमि का काल अति निकट है अतः कर्म करना प्रारंभ करो। तेरहवें कुलकर प्रसेनजित ने सद्यःजात शिशुओं की जरायु हटाने की और उनका भली प्रकार पालन-पोषण करने की शिक्षा दी। चौदहवें कुलकर महाराज नाभिराय थे, जिन्होंने सद्यःजात शिशुओं की नाभिनाल काटने की विधि बताई। इन्हीं के नाम पर इस देश का प्राचीनतम ज्ञात नाम अजनाभ या अंजनाभ प्रसिद्ध हुआ। इस समय तक समस्त कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे किन्तु साथ ही सहज उत्पन्न विविध वानस्पतिक औषधियाँ, धान्य, फल-फूल आदि उगने लगे। कुलकर ने लोगों को क्षुधानिवारणार्थ इन स्वतः उत्पन्न शालि, यव, बल्ल, तुवर, तिल, उड़द आदि का भक्षण करने का उपदेश दिया। अन्तिम चार कुलकरों के समय में दण्डनीति में 'धिक्' या 'धिक्कार' शब्द का भी प्रयोग होने लगा।

जैन परम्परा में मान्य भोगभूमि की व्यवस्था तथा कुलकरों से संबंधित वर्णन आधुनिक चिन्तकों एवं मनीषियों के उन निष्कर्षों के साथ अद्‌भुत सादृश्य रखते हैं, जो वे मनुष्यजाति की आदिम शैशवावस्था में मानवी सभ्यता के उदयकाल तक हुए उसके विकास क्रम के संबंध में प्रतिपादित करते हैं। कुलों, जनों, कबीलों आदि की मान्यता भी अमरीका, यूनान एवं रोम के आदिवासियों में उसी प्रकार रही, मानी व जानी जाती है। ये तथ्य जहाँ इस जैन परम्परा को वितर्कणा से युक्त आधुनिक बुद्धिजीवियों के लिए विश्वसनीय सिद्ध करते हैं, वहीं जैनधर्म एवं संस्कृति की अत्यन्त प्राचीनता के भी सूचक हैं।

तीसरे काल अर्थात् भोगभूमि और कुलकर-युग के साथ वास्तविक प्रागैतिहासिक युग समाप्त हो जाता है और अनुश्रुतिगम्य इतिहास (प्रोटोहिस्टरी) का प्रारंभ होता है। कर्मयुग और सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास का भी वहीं से ॐ नमः होता है और इस आने वाले युग के प्रधान नेता चौबीस तीर्थंकर हैं तथा गौण नेता अन्य उनतालीस विशिष्ट पुरुष हैं, जो सब मिलाकर त्रिषष्टिशलाकापुरुष कहलाते हैं।

तीर्थ नाम धर्मशासन का है अतएव जो महापुरुष जन्म-मरणरूपी दुःख के आगार संसार-सागर को पार करने के लिए धर्मतीर्थ की स्थापना या प्रवर्तन करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। आगे के युग में ऐसे चौबीस तीर्थंकर हुए। उनके अतिरिक्त बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र, इस प्रकार कुल त्रेसठ शलाका (परम श्लाघनीय) पुरुषपुंगव हुए।

## 2.8 तीर्थंकर-युग एवं कर्मभूमि का प्रवेश—

अंतिम कुलकर नाभिराय की चिरसंगिनी मरुदेवी की कुक्षि से चैत्रकृष्णा नवमी के शुभ दिन, अयोध्या नगरी में प्रथम तीर्थंकर वृषभ-लांछन भगवान ऋषभ का जन्म हुआ था। इनके अन्य अनेक सार्थक नाम, यथा—वृषभनाथ, आदिनाथ या आदिदेव, महादेव, स्वयंभू, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुदेव, इक्ष्वाकु, काश्यप आदि भी लोकप्रसिद्ध हुए। इन्हीं आदिपुरुष ने मनुष्य को मानव बनाया, उसे असि-मसि-कृषि-शिल्प-वाणिज्य-विद्या नामक षट्कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन करने की शिक्षा दी, पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलाएँ सिखाईं, लिपिज्ञान और अंकज्ञान दिया, कच्छ-सुकच्छ की बहन नन्दा (अपरनाम यशस्वती) एवं सुनन्दा के साथ विवाह करके समाज में विधिवत् विवाह प्रथा प्रचलित की और समाज में क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नामक कर्मभेदसूचक त्रिवर्ण की स्थापना की। भगवान के भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्र और ब्राह्मी एवं सुन्दरी नाम की दो पुत्रियाँ हुईं। उन्होंने पुत्रों तथा पुत्रियों को

समानरूप से सुशिक्षित किया और चिरकाल तक प्रजा का सम्यक्रीत्या पालन, पथप्रदर्शन एवं नेतृत्व किया। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान एवं विविध कलाओं और कर्म की शिक्षा, सामाजिक संगठन, अर्थव्यवस्था, राज्य-शासन आदि के रूप में कर्मयुग के प्रारंभ और मानवी सभ्यता एवं संस्कृति के बीजारोपण का श्रेय इन्हीं आदिपुरुष ऋषभदेव को है।

एकदा अपनी राजसभा में नीलांजना नामक अप्सरा की नृत्य के मध्य में ही आयु पूरी हो जाने पर मृत्यु की घटना देखकर भगवान को संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने सर्वस्व परित्याग करके तथा वन में जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और दुर्द्धर तपश्चरण द्वारा आत्मसाधना प्रारंभ कर दी। इन योगिराज का प्रथम पारणा गजपुर (हस्तिनापुर) में राजा सोमप्रभ के अनुज कुमार श्रेयांस के हाथों इक्षुरसपान द्वारा वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन हुआ, जो तभी से अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुई। कालान्तर में पुरिमतालनगर (प्रयाग) के बाहर त्रिवेणी संगम के निकटवर्ती एक वटवृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वह वृक्ष '**अक्षयवट वृक्ष**' के नाम से लोकप्रसिद्ध हुआ। अपने दिव्य उपदेश द्वारा चिरकालपर्यंत लोकहित करने के उपरांत माघ कृष्णा चतुर्दशी को कैलाश पर्वत पर भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया और मुक्तिरूपी लक्ष्मी का वरण किया। यह युगादिपुरुष भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी में धर्म के सर्वप्रथम प्रवर्तक तथा जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर थे।

भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत इस युग के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे, जिन्होंने छः खण्ड पृथ्वी का शासन करके चिरकाल तक वसुन्धरा का उपभोग किया। इन्हीं भरतेश्वर ने चतुर्थ वर्ण, ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। इनके अनुज बाहुबली अत्यन्त स्वतंत्रचेता, वीर, कामदेवपद समन्वित और अतुल्य बलशाली थे। वे चक्रवर्ती के सन्मुख भी नहीं झुके। अन्ततः संसार से विरक्त होकर उन्होंने दुर्द्धर तपश्चरण किया। उनकी विशालकाय प्रतिमाएँ अनेक स्थानों में विद्यमान हैं, जिनमें से श्रवणबेलगोल (कर्नाटक) की अद्वितीय प्रतिमा तो विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है।

## 2.9 अन्य तीर्थंकर—

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के निर्वाणोपरान्त, अल्पाधिक विभिन्न अन्तरालों को लिए हुए एक-एक करके तेईस अन्य तीर्थंकरों का इस भारत भू में प्रादुर्भाव हुआ, जिनके नाम हैं क्रमशः — अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंतनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी।

**धर्मतीर्थ व्युच्छित्ति का काल**— पुष्पदंत को आदि लेकर धर्मनाथपर्यंत सात तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति (अभाव) हुई थी और शेष सत्रह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परम्परा निरन्तर अक्षुण्ण रूप से चलती रही है।

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थ में जैन रामायण में वर्णित घटनाएँ घटीं और राम, लक्ष्मण, हनुमान, रावण आदि शलाका पुरुष हुए। मुनिसुव्रत से नेमिनाथ तक का समय वैदिक सभ्यता का उत्कर्षकाल था, याज्ञिक हिंसा का जोर भी उसी काल में बढ़ा। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय से ब्राह्मण धर्म में औपनिषदिक आत्मवाद की कुछ लहर चली। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई नारायण कृष्ण और बलराम थे, जिनका प्रतिद्वन्द्वी मगध नरेश जरासंध था। इसी समय कुरुक्षेत्र में महाभारत नाम से प्रसिद्ध कौरव-पाण्डव महायुद्ध हुआ। इस युद्ध ने वैदिक सभ्यता को बड़ा धक्का पहुँचाया, वैदिक क्षत्रिय सत्ताएँ पराभूत हुईं और श्रमणधर्म का पुनरुद्धार प्रारंभ हुआ।

आधुनिक इतिहासकार अब बहुधा महाभारत युद्ध के उपरांत से ही प्राचीन भारत के शुद्ध ऐतिहासिक युग का प्रारंभ करते हैं।

अतः उक्त महाभारत युद्ध और कृष्ण को ऐतिहासिक स्वीकार किया जाता है, तीर्थंकर अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता स्वयंसिद्ध है और उनके परवर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ (ईसा पूर्व 877-777) तथा वर्द्धमान महावीर (ई. पू. 599-527) की

ऐतिहासिकता तो सर्वथा असन्दिग्ध है ही। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का ही तीर्थ या धर्मशासन गत ढाई हजार वर्षों से चला आ रहा है। उन्हीं की परम्परा के आचार्यपुंगव, तपोधन मुनिराज, दिग्गज साहित्यकार और भक्त श्रावक-श्राविकाएँ उसका अनुपालन, पोषण और प्रभावना करते चले आ रहे हैं।

## 2.10 प्रश्नावली-

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-आदिपुराण के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ☐
(ख) आचार्य श्री गुणभद्र स्वामी ☐
(ग) आचार्य श्री रविषेण ☐

**प्रश्न 2**-अनुयोग कितने हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) चार ☐ (ग) आठ ☐

**प्रश्न 3**-भगवान आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र कौन थे ?

(क) बाहुबली ☐ (ख) अनंतवीर्य ☐ (ग) भरत ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-अरबी भाषा के 'नवी' शब्द से क्या तात्पर्य है ?

**प्रश्न 2**-कल्पकाल के कितने विभाग होते हैं ? अवसर्पिणी काल के नाम लिखो ?

**प्रश्न 3**-इस समय कौन सा काल चल रहा है ? यह कितने वर्ष का है ?

**प्रश्न 4**-कुलकर कितने होते हैं ? नाम बताइए ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-"जैन इतिहास" के अर्थ को स्पष्ट कीजिए ?

## पाठ-3 – जैनधर्म पूर्णतया आस्तिक धर्म है

**3.1** जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है। ईश्वर कहलाने वाले कर्मरहित भगवान किसी को सुख-दु:ख देने वाले कर्ता नहीं होते हैं। यहाँ पर ईश्वर की सत्ता में पूर्णतया आस्था रखने वाले एवं उसकी उपासना करने वाले जैन सिद्धान्त के अनुसार यह बतलाया जा रहा है कि जैनधर्म पूर्णतया आस्तिक धर्म है।

श्री हरबर्ट वारन नामक जैनधर्म के मर्मज्ञ विदेशी विद्वान् ने आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व सभी दर्शनों का गूढ़ अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला था कि 'जैनधर्म नास्तिक नहीं है।' श्री वारेन ने 'Jainism not an Atteism'-शीर्षक से एक लेख अंग्रेजी में लिखा था, जो कि भारत में तथा विदेशों में जैनधर्म की परमात्मा विषयक मान्यता को स्पष्ट करने के लिए बहुत चर्चित हुआ था। उसी लेख का हिन्दी रूपान्तर यहाँ प्रस्तुत हैं।

**3.2** जो लोग इस सृष्टि का कर्ता या स्रष्टा ईश्वर को मानते हैं, वे कभी-कभी जैनधर्म को नास्तिक समझने लगते हैं, परन्तु जैनियों को नास्तिक कहना कदापि उचित नहीं। जैनधर्म में "गॉड" (परमात्मा) की सत्ता का निषेध नहीं किया गया है। जैन शास्त्रों में ईश्वर का स्वरूप बतलाया गया है, परन्तु उसमें और अन्य मतों की धर्म-संबंधी पुस्तकों में उसका जो निरूपण किया गया है, उसमें बड़ा भेद है। बड़ा भेद यह है कि अन्य मतों की पुस्तकों में ईश्वर को स्रष्टा और शास्ता माना है परन्तु जैन ग्रंथों में ऐसा नहीं माना। जैनधर्मानुसार "ईश्वर" सर्वज्ञ और सर्वानन्दमय है तथा अनन्त शक्तिसम्पन्न है। वह एक शुद्ध और सिद्ध आत्मा है और किसी भी भौतिक शरीर से रहित है। वह अविनाशी और अपरिवर्तनीय आत्मा है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता और न वह अपने पद से च्युत होकर फिर कभी भ्रष्ट हो सकता है।

किसी वस्तु की सत्ता को न मानना और उस वस्तु में किसी विशेष गुण का न मानना-ये दोनों बातें एक नहीं है। जबकि जैनधर्म में आत्मा की सत्ता को शुद्ध और परिपूर्ण अवस्था में माना है, तो फिर जैनधर्म को उन लोगों की श्रेणी में नहीं रख सकते, जो आत्मा को पुद्गल या शरीर से भिन्न नहीं मानते। पवित्र (शुद्ध) आत्मा और परमात्मा वस्तुत: एक ही वस्तु है और प्रत्येक विशेष आत्मा का अंतिम प्रयोजन शुद्ध और सिद्ध होना है या यह कहो कि प्रत्येक आत्मा का उद्देश्य "परमात्मा" बन जाना है, जिसमें परमात्मत्त्व के सम्पूर्ण गुण हैं और जैनधर्म के अनुसार इन गुणों में उत्पन्न करने और शासन करने के गुण अनुगत नहीं है। सच पूछो तो नास्तिक वे हैं जो आत्मा का होना नहीं मानते और यह कहते हैं कि आत्मा पुद्गल से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। उनकी ऐसी मान्यता है कि लोग जिसको आत्मा कहते हैं, वह केवल पुद्गल के परमाणुओं के विशेष संयोग का फल या प्रादुर्भाव है और कुछ नहीं है और जब इस विशेष संयोग का विघटन हो जाता है, तब आत्मा नष्ट हो जाता है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से चला आया है और आत्माएँ अनादिकाल से ही साधारण शरीर-संबंधी सांसारिक अवस्था से निकलकर शुद्ध अवस्था में आने का प्रयत्न कर रही हैं और सदा ऐसा ही प्रयत्न करती रहेंगी परन्तु वे (मुक्त आत्माएँ) इसे परमात्मत्त्व की अवस्था से फिर साधारण शरीरी आत्माओं में परिवर्तन नहीं करती हैं।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि परमात्मा में संसार के रचने और शासन करने के गुण आरोपण करने से उसके इतर गुणों में तो बिगाड़ या दोष नहीं आता अथवा परमात्मा में इन गुणों के मानने से कई प्रकार की विरोधोक्तियाँ और दूषण आते हैं और वे मनुष्य के सदाचारी बनने और मोक्ष प्राप्त करने में सहकारी या सहायक नहीं होते।

जो लोग "ईश्वर" को स्रष्टा मानते हैं वे विशेषत: दो श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं-

(1) वे लोग जो तीन वस्तुओं को शाश्वत व अनादि मानते हैं अर्थात् ईश्वर, आत्मा और पुद्गल और यह कहते हैं कि 'पिछली दो वस्तुओं के द्वारा 'ईश्वर' जगत् को बनाता है"।

(2) वे लोग जो यह मानते हैं कि 'ईश्वर' ही शाश्वत या अनादि है और अन्य कोई वस्तु अनादि नहीं। इस श्रेणी के

दो भेद हो सकते हैं (क) वे लोग जो यह मानते हैं कि 'ईश्वर' ने जगत् को 'नहीं' (शून्य) से रचा अर्थात् पहले कुछ नहीं था फिर सब कुछ कर दिखाया और (ख) वे लोग जो यह मानते हैं कि "ईश्वर" ने जगत् को अपने भीतर से उत्पन्न कर दिया।

वे लोग जो यह मानते हैं कि 'ईश्वर', पुद्गल और आत्मा अनादि है और ईश्वर जगत् की पुद्गल और आत्माओं के द्वारा बनाता है, इससे यह स्पष्ट है कि हम पुद्गलों व आत्माओं और उनके गुणों व अवस्थाओं को मानते हैं तो फिर वे (गुण और अवस्थाएँ) आप ही अपने पारस्परिक सम्मेलन और समाघात से जगत् को बनाने में सर्वथा समर्थ है और "ईश्वर" के संयोग की इसमें कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पुनः परमात्मा में सिद्ध या सम्पूर्णता और आनन्द का होना आवश्यक है और इस प्रकार जब परमात्मा सिद्ध या सम्पूर्णता और आनन्दमय ठहरा, तब उसमें संसार के रचने की इच्छा नहीं हो सकती, क्योंकि संसार के रचने की इच्छा होने से परमात्मा में एक प्रकार की कमी पाई जाती है और कमी परिपूर्णता (सिद्धि) में परस्पर विरोध है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा को स्रष्टा मानने में परमात्मा में परिपूर्णता (सिद्धि) और आनन्द के गुण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उन गुणों का अभाव मानना पड़ता है।

लोग यह मानते हैं कि साधारण जीवित प्राणी दुःख और कष्ट भोगते हैं और संसार को दिये हुए परमात्मा के धर्मोपदेशों पर चलने से ही जीव इन सांसारिक दुःखों से मुक्त हो सकता है परन्तु पहले जीवों को रचना या बनाना और फिर उनको संसार के दुःखों और कष्टों में फंसाना और फिर उन्हें ऐसा उपदेश देना जिस पर चलकर वे अपने आपको इन दुःखों और कष्टों से मुक्त कर सकें, भला इसमें क्या चतुराई या बुद्धिमत्ता है। एक सर्वज्ञ और सर्व-शक्तिमान जो पहले तो एक वस्तु को असमर्थ या अपर्याप्त अवस्था में रखे और फिर उसके सुधारने या उन्नति करने के नियम बतावे, उसे बुद्धिमान और हितकारी नहीं कहा जा सकता।

पुनः सर्वज्ञ को यह परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है कि वह किसी व्यक्ति या वस्तु को देखे कि वह क्या करता है और यदि यह कहा जाये कि 'ईश्वर' ने जीवों को संसार में यह देखने के लिए रचा था कि उसमें कौन से जीव मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं और कौन-कौन से नहीं, तो इससे परमात्मा सर्वज्ञ नहीं ठहरता।

परमात्मा को स्रष्टा मानना साधुता या श्रेष्ठता के विरुद्ध है, क्योंकि जब एक सम्पूर्णतया श्रेष्ठ साधु को स्रष्टा माना जाये तो उसकी रची हुई सृष्टि में कोई दोष या दूषण या मलिनता नहीं होनी चाहिए। कोई सांसारिक शास्ता यह नहीं चाहता है कि उसके देश में बुरे कार्य किये जायें, परन्तु सांसारिक शास्ता सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नहीं है और इसलिए वे ऐसे कार्यों को अपने देशों में होने से रोक नहीं सकते अर्थात् ऐसा उचित प्रबंध नहीं कर सकते कि ये कार्य उनके देश में होने ही न पावे, परन्तु परमात्मा को सम्पूर्णतया शक्तिमान हितकारी और सर्वज्ञ भी माना गया है, इसलिए यदि जगत् का कर्ता परमात्मा होता तो कोई दुष्ट कर्म न किये जा सकते, क्योंकि वह अपने रचे हुए जीवों को ऐसे कर्म करने की शक्ति न देता।

यही दशा शोक, दुःख, रोग और दरिद्रता की है। यदि यह कहें कि दुःख और रोग उन प्राणियों के ही बुरे कर्मों के फल हैं और यदि परमात्मा को कर्ता समझा जाये जिसने लोगों को दुष्कर्म करने की शक्ति दी और फिर उन्हें उस शक्ति को काम में लाने के कारण दण्ड दिया, तो ऐसे परमात्मा में साधुता का अभाव है क्योंकि कोई मनुष्य ऐसे सांसारिक पिता के विषय में क्या विचार करेगा, जिसने अपने पुत्र को कोई बुरा कार्य करने में प्रवृत्त देखकर और उसे उस कार्य से रोकने में समर्थ होकर भी इस विषय में पहले से कोई प्रबंध नहीं किया, वरन् पीछे से (जब वह कार्य कर चुका) उस दुष्कर्म के बदले पुत्र को दण्ड दिया।

अब हम दूसरी बात पर विचार करते हैं कि 'ईश्वर' ही शाश्वत है और उसी ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा या अपने भीतर से बनाया।

जो लोग यह मानते हैं कि 'ईश्वर' ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा, क्या इस मत के समर्थन के लिए कोई प्रमाण

या हेतु है, कोई प्रमाण या हेतु दिखाई नहीं देता, क्योंकि प्रकृति से ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता कि यह संसार शून्य से अस्तित्व में आया अर्थात् पहले कुछ भी नहीं था और ईश्वर ने उसे बना दिया। प्रकृति में कोई एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता या दीख पड़ता जहाँ 'नहीं' (शून्य) या अभाव या असत् से कोई वस्तु उत्पन्न हुई हो। प्रत्येक वस्तु जो हम देखते हैं उसकी कोई न कोई पूर्व अवस्था थी और हम ऐसी वस्तु नहीं देखते जिसका अभाव हो जाये। पदार्थ विज्ञान द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि शून्य से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती और किसी वस्तु का सर्वथा अभाव भी नहीं हो सकता। यदि 'ईश्वर' ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा तो वह उसका सर्वथा नाश भी कर सकता है और इसका यह अर्थ होता है कि अस्तित्व-नास्तित्व में या सत्-असत् में परिवर्तित हो सकता है इसलिए जिस 'ईश्वर' का हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसकी पूजा करने वाले लोग एक ऐसे जीव की पूजा या आराधना करते हैं, जिसमें अनुपस्थित या अविद्यमान होने की भावी शक्ति या संभावना है परन्तु "अस्तित्व" और 'नास्तित्व' अथवा 'भाव' और 'अभाव' परस्पर विरुद्ध शब्द है और एक दूसरे में नहीं घट सकते। अभाव (असत्) भाव (सत्) नहीं हो सकता और न भाव (सत्) अभाव (असत्) हो सकता है। यह एक सर्वसाधारण बुद्धि और सहज ज्ञान का एक सामान्य तत्व है। इस प्रकार यह मत या सिद्धान्त कि 'ईश्वर' ने संसार को 'नहीं' (शून्य) से रचा और वह जब चाहे उसका सर्वथा नाश कर सकता है सर्व साधारण बुद्धि, सहजोपलब्ध तत्त्व पदार्थविज्ञान प्रमाण और प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है अर्थात् अयुक्तिसिद्ध और अप्रमाणिक है।

अब दूसरी बात यह रही कि ईश्वर ही शाश्वत है और उसने संसार को अपने भीतर से रचा है अर्थात् उसने अपने आप ही संसार की आकृति या रूप ग्रहण कर लिया है। इस सिद्धान्त के मानने पर यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर तो शुद्ध और परिपूर्ण जीव है, फिर उसने अपने आपको इस अशुद्ध और अपूर्ण संसार में किस प्रकार परिवर्तित किया ? इसलिए या तो हम संसार के रचने का कार्य उस पर आरोपित नहीं कर सकते या यह मानना पड़ेगा कि अपवित्रता या अशुद्धता का अंकुर जो संसार में विद्यमान रहा है, वह सदा से ईश्वर में भी होना चाहिए। एक कठिनाई तो यह है। एक और दूसरी कठिनाई (दु:साध्यता) यह है कि एक चेतन द्रव्य का अचेतन हो जाना असंभव है। संसार में जड़ अचेतन द्रव्य और ज्ञानमय चेतन द्रव्य दोनों हैं। परन्तु संसार में ज्ञानमय चेतन द्रव्य किसी जड़ अचेतन द्रव्य के कार्य को नहीं कर सकते और न ही उस रूप हो सकते हैं इसलिए यह सिद्धान्त कि ईश्वर — एक ज्ञानमय चेतन द्रव्य ने बुद्धिरहित या जड़ भागों से मिले हुए संसार की आकृति ग्रहण करके संसार को रचा, मानने योग्य नहीं है।

जो लोग यह मानते हैं कि 'ईश्वर' ही शाश्वत है और वह आप ही संसार की आकृति ग्रहण कर लेता है उनमें एक वेदान्ती भी है। इनका यह मत है कि "ईश्वर" शुद्ध या ज्ञानरूप है और जब उसने संसार को रचा तो उसने अपना ऐसी वस्तु से संयोग किया जो जड़ अचेतन भासती है और जिसे अचेतन या जड़ कहते हैं परन्तु यहाँ पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह अचेतन या जड़ वस्तु जिससे कि ज्ञानमय चेतन द्रव्य का संसर्ग हुआ वह (जड़ अचेतन वस्तु) ईश्वर से पृथक् और भिन्न वस्तु है या यह ईश्वर का ही एक गुण है। यदि यह कोई भिन्न (अलग) वस्तु है तो इस मान्यता में कि ईश्वर एक ही शाश्वत वस्तु है, विरोध आता है या दूषण लगता है और अद्वैतवाद के स्थान में द्वैतवाद मानना पड़ता है। इसके विपरीत यदि वह जड़ वस्तु सदा से उसके (ईश्वर के) साथ रहती तो उसे (ईश्वर को) हम शुद्ध या ज्ञानरूप नहीं मान सकते। उसमें अचेतनता या जड़ता और अपवित्रता या अशुद्धता के भाग सदा ही से मिले हुए होने चाहिए। जैनधर्म में भी शुद्ध और परिपूर्ण ज्ञान का अचेतन और अशुद्धता से संयोग माना है परन्तु भेद यह है कि वेदान्ती तो यह मानते हैं कि ईश्वर ने किसी विशेष समय में इस अचेतन या जड़ वस्तु से अपना संयोग किया और इस प्रकार यह दृश्य संसार बन गया और जैनधर्म की मान्यता है कि यह शुद्ध चेतन और जड़ वस्तु जैसे अब मिले हुए हैं, ऐसे ही मिले हुए चले आ रहे हैं और इस प्रकार ये यह दृश्य संसार के कारण हैं। आत्मा और पुद्गल सामान्य जीवित प्राणी में वस्तुत: परस्पर संयुक्त हैं परन्तु वे कभी

अर्थात् किसी विशेष समय में संयुक्त नहीं हुए वरन् सदा से ही या अनादिकाल से ही संयुक्त हो रहे हैं इसलिए उनके संयुक्त होने का क्या कारण है—यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता क्योंकि कोई ऐसा समय नहीं था, जिसमें वे आत्मा जो अब संयुक्त है, संयुक्त ही नहीं थे अर्थात् सदा से ही संयुक्त थे आत्मा का वास्तविक स्वरूप एक ही है, चाहे वह पुद्गल से मिला हुआ हो, चाहे शुद्ध हो परन्तु आत्मा जड़ वस्तु से सूक्ष्म भौतिक शक्तियों के रूप में मिला हुआ है इसलिए इनसे आत्मा में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं और ये विकारी कषायभाव भले और बुरे कृत्रिम कर्मों के निमित्त-कारण बनकर एक प्रकार के हेतु या साधन हैं जिनके द्वारा इसी प्रकार के नये पदार्थ या कर्मों के परमाणु आत्मा में आकर मिल जाते हैं। यह जड़ वस्तु जो आत्मा में आकर मिल जाती है, एक प्रकार की संचित या एकत्रित शक्ति बन जाती है, जो किसी न किसी समय कर्मोयुक्त या उदय के सन्मुख होकर आत्मा में किसी प्रकार का सुख या दुःख उत्पन्न करेगी। इस प्रकार अपनी सारी शक्ति व्यय करने के अनन्तर यह जड़ वस्तु (कर्म) आत्मा से अलग हो जाती है परन्तु जैसा पहले वर्णन किया गया है, जब तक इसका उदय रहता है, यह एक साधन है, जिसके द्वारा इसी प्रकार की नई वस्तुएँ (कर्म) आत्मा में आकर मिलती रहती हैं और निरन्तर ऐसा ही होता रहता है। फिर अन्त में जब आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेता है तो इन विदेशी या बाह्य शक्तियों (कर्मों) की निर्जरा होती जाती है और उसी प्रकार की और नई शक्तियाँ (कर्म) उत्पन्न नहीं होतीं। जब एक बार ये बाह्य शक्तियाँ (कर्म) आत्मा से अलग हो जातीं हैं तब आत्मा शुद्ध हो जाता है और फिर अपवित्र नहीं होता, वह अपनी दैवीय सम्पत्ति या परमात्मत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार अब हमने देख लिया है कि परमात्मा में कर्ता और शास्ता का गुण आरोपण करने से उसके इतर वास्तविक या नैसर्गिक गुणों में हानि आये बिना नहीं रही। इसके सिवाय और भी कुछ बातें विचार योग्य हैं।

इस संसार का एक कर्ता और एक शास्ता अवश्य होना चाहिए इस विश्वास के समर्थन में एक बड़ा हेतु यह दिया जाता है कि देखो सृष्टि की रचना में रचनात्मक क्रम, कौशल और व्यवस्था पाई जाती है उसमें सौंदर्य या चारुता भी विद्यमान है और इन दोनों बातों से यह पाया जाता है कि इस जगत् का निर्माता कोई बुद्धिमान पुरुष है अर्थात् ऐसी सुन्दर और यथाक्रम सृष्टि की रचना के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। प्रथम तो यह कहना ठीक नहीं है कि संसार में केवल सौंदर्य और क्रम ही दिख पड़ते हैं, उसमें अक्रम और कुरूपताएँ भी हैं। यदि यह कहा जाये कि परमात्मा किसी लाभदायक या हितकारी उद्देश्य से ही आँधियाँ, भूकम्प और रोगों को भेजता है तो फिर यह स्पष्ट है कि इस बात के मानने से दयालुता या सर्वशक्तिमत्ता के गुण में हानि आती है क्योंकि यदि परमात्मा दयालु और सर्वशक्तिमान होता तो इस प्रकार की पीड़ायें और क्लेश होने ही न देता ।

पुनः यह कहना एक बड़े साहस का कार्य है कि सारे जगत् के विस्तार या प्रपंच का कारण जिसमें भौतिक वस्तुयें कुर्सी और मेज भी शामिल है, केवलज्ञान ही है और कुछ नहीं। एक ऐसा कार्य जिसमें ज्ञान और जड़ता (अज्ञानता) दोनों मिली हुई हों, उसकी उत्पत्ति भी निरे ज्ञान से ही होनी नहीं कही जा सकती। इसके सिवाय क्रम और व्यवस्था भी निरे ज्ञान से ही उत्पन्न नहीं होती क्योंकि अचेतन या जड़ कुर्सी मेज की अपेक्षा ज्ञानी जीव का एक क्रम से न चलना अधिक सम्भव है अथवा जड़ वस्तुयें तो अपने स्थिर स्वभाव के अनुसार निरन्तर एक विशेष क्रम से चलती चलेंगी, जब तक कि कोई बाह्य कारण उनका क्रम न बदल दे ।

## 3.3 जैनधर्म के अनुसार यह जगत् चेतन और अचेतन दोनों कारणों द्वारा उत्पन्न हुआ है—

चेतन कारण एक ही प्रकार का है और अचेतन कारण पाँच प्रकार के हैं । ये छहों सत्तायें या विद्यमान वस्तुयें मिलकर अर्थात् ये छह वस्तुयें (षट् द्रव्य) इनकी अनेक पर्यायें और इनके गुण और स्वभाव जगत् के कर्ता है। चेतन का स्वभाव जानना है। पाँच अज्ञ या जड़—पुद्गल, आकाश, काल और दो वस्तुयें और हैं, जिनसे ठहरने वाली वस्तु ठहरती हैं और चलने वाली वस्तुएँ चलती हैं।

जैनधर्म यह नहीं मानता कि इन छह द्रव्यों से किसी विशेष काल में जगत् की उत्पत्ति हुई थी । ये द्रव्य कारण विद्यमान हैं, सदा से विद्यमान रहे हैं और सदा विद्यमान रहेंगे। इन द्रव्यों की परिवर्तनशील दशायें या पर्यायों और परस्पर समाघात ही के कारण सृष्टि का वर्तमान रूप है । किसी घटना में सदा दो कारण होते हैं—एक उपादान कारण और दूसरा सहकारी या निमित्त कारण । यथा—'आग' निमित्त कारण है जिससे जल उबलने लगता है और जल उबलने की घटना का उपादान कारण है ।

ऊपर लिखे हुए छह द्रव्य या सत्ताओं (जीव या आत्मा, आकाश, काल, पुद्गल और दो जिन्हें धर्म और अधर्म कहते हैं) में प्रत्येक द्रव्य में उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं । प्रत्येक का व्यापार औरों पर, औरों का व्यापार उस पर होता है । प्रत्येक में उत्पाद (उत्पन्न होने) व्यय (नाश होने) और ध्रौव्य (ध्रुव या स्थिर रहने की) शक्ति है । इस शक्ति को "सत्ता" कहते हैं। यह सत्ता कोई भिन्न अस्तित्व वाला द्रव्य नहीं है, जो इन छह द्रव्यों से बाहर हो। यह शक्ति इन्हीं छह द्रव्यों में विद्यमान या उपस्थित है और इनसे अवियोज्य है अर्थात् इनसे इस शक्ति को भिन्न नहीं किया जा सकता। इस जगत् से भिन्न कोई ऐसा एक व्यक्ति नहीं है जो जगत् की रचयिता (कर्ता) और शास्ता हो; किन्तु यह छह द्रव्यों में से प्रत्येक के गुण हैं, कोई चेतन या अचेतन सत्ता या पुरुष नहीं है । इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तुओं को उत्पन्न और नाश करने वाली शक्ति ऊपर लिखे हुए छह द्रव्यों से बाहर और इस जगत् से भिन्न नहीं हैं, यह शक्ति वस्तुओं के भीतर ही अनुगत या उपस्थित है और दोनों में अर्थात् चेतन और अचेतन पदार्थों में पायी जाती है। जैनधर्म में इस शक्ति को ईश्वर या परमात्मा नहीं कहते। यह जैन सिद्धान्त है और सर्वथा युक्तिसिद्ध है ।

एक बात यह भी विचारने योग्य है कि क्या कर्ता में श्रद्धा रखने से मनुष्य को धर्मशील बनने और मोक्ष प्राप्त करने में सहायता मिलती है ? वास्तव में कर्ता या स्रष्टा की पूजा करने से यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य धर्मशील बन जाये तथा मुक्ति या मोक्ष प्राप्त कर ले, जो इस जीवन की पराकाष्ठा या इस जीवन का परम उद्देश्य है । धर्मशील बनने या धार्मिक चारित्र प्राप्त करने के ये पाँच मूल सिद्धान्त हैं जो कि इतर धर्मों को भी मान्य हैं—

1. अहिंसा अर्थात् किसी प्राणी को न मारना, न दुःख देना, या आप जीते रहना और इतर जीवों को भी जीता रहने देना।
2. झूठ न बोलना अर्थात् सत्य भाषण करना या सत्यवादी होना ।
3. अस्तेय या चोरी न करना अपितु अर्थशुचि या ऋजुतापरायण रहना ।
4. व्यभिचार न करना अपितु जितेन्द्रिय रहना और कामवासना को दमन करना ।
5. अपरिग्रह अर्थात् सांसारिक विषयों का त्याग कर विरक्त रहना ।

ऐसे ईश्वर में जो इस सृष्टि का कर्ता माना गया है श्रद्धा रखने से लोग यह सोचने लगते हैं कि 'ईश्वर' ने सारी वस्तुओं को मनुष्य के उपयोग के लिए उत्पन्न किया है और यह सोचकर मनुष्य मांस खाने और मदिरापान करने में निरर्गलता से रुचि करने लगता है। ऐसे मनुष्य ऊपर लिखे हुए पहले, चौथे और पाँचवें सिद्धान्त पर प्रायः नहीं चलते और इन तीन सिद्धान्तों का उल्लंघन करने से वह बहुधा शेष दो सिद्धान्त अर्थात् सत्य और अस्तेय का भी उल्लंघन करते हैं । पुनः बहुत से धर्मों में यह माना है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए कषायों और कामनाओं का दमन करना और संसार से सम्बन्ध दूर करना अर्थात् विरक्त या निर्मोही होना आवश्यक है और जो लोग ईश्वर को स्रष्टा मानतें हैं वे इस प्रकार वाद-विवाद करते हैं कि जब ईश्वर ने मनुष्य को ये कषाय या कामनायें दी हैं, तो मनुष्य को इनके दमन करने का क्यों यत्न करना चाहिए ? और जब ईश्वर ने ही मनुष्यों को संसार में भेजा है तो फिर मनुष्य को संसार से क्यों सम्बन्ध तोड़ना चाहिए या विरक्ति और निर्मोही जीवन क्यों व्यतीत करना चाहिए ? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईश्वर को कर्त्ता मानकर उसकी पूजा करने से यह आवश्यक नहीं कि धार्मिक जीवन या मोक्ष प्राप्त हो। इस प्रकार यह एक और युक्ति है जिसके कारण जैनधर्मानुयायी ईश्वर में कर्ता होने का गुण नहीं मानते अपितु ईश्वर को एक शुद्ध और सम्पूर्ण आत्मा, सर्वज्ञ, आनन्दमय,

सर्वशक्तिमान और शाश्वत (अनादि और अनन्त) मानते हैं। वह ऐसा आत्मा है जो इतर वस्तुओं या प्राणियों को न तो उत्पन्न करता है और न उन्हें उनके कर्मों का बुरा या भला फल देता है ।

कर्तावादी कभी-कभी एक और हेतु देते हैं। वह हेतु दण्ड और पारितोषिक के विषय में है। वे कहते हैं कि इस संसार में जहाँ न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट नहीं है, वहाँ अपराधियों और पापाचारियों को दण्ड नहीं मिलता। इसी प्रकार जब तक इस जगत् का कोई शास्ता या नियन्ता न हो तो आत्मा को उसके भले और बुरे कर्मों का शरीर छोड़ने के पीछे दण्ड नहीं मिल सकता। इसके उत्तर में पहले तो यह स्मरण रखना चाहिए कि अपराधियों को सदा न्यायाधीश दण्ड नहीं देता अपितु किसी और प्रकार से भी उन्हें दण्ड मिल जाता है। वे किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण मर जाते हैं, यथा—सेंध लगाते समय खिड़की से गिर कर या रोगग्रस्त होकर इत्यादि। दूसरे यह भी याद रखना चाहिए कि न्यायाधीश कभी-कभी निरपराधी मनुष्यों को कारागार में भेज देते हैं और जो सचमुच अपराधी है वह छूट जाता है इसलिए यह नहीं कह सकते कि न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट ही प्रत्येक को पारितोषिक और दण्ड देने वाले हैं, इसके अतिरिक्त किसी और कारण का होना भी आवश्यक है । जैनधर्म के अनुसार इस पारितोषिक और दण्ड देने का कारण कर्म है। कर्म में यह शक्ति है कि अपने उचित समय में कर्म करने वाले पुरुष या प्राणी के शरीर में एक कार्य उत्पन्न करे और ये सारी बातें जिन्हें दुर्घटना और रोग कहते हैं। न्यायकारियों के व्यापार, व्यवहार आदि केवल निमित्तकारण हैं जिनके द्वारा कार्य उत्पन्न होता या किया जाता है इसलिए परमात्मा के यत्न करने की कोई आवश्यक्ता नहीं है क्योंकि पारितोषिक या दण्ड कार्य की आकृति में कारण-कार्यभाव से आप ही आप मिलते रहते हैं। वह कारण जैसा कि ऊपर बताया गया है कर्म है। कर्म एक सर्वथा सत्य वस्तु है परन्तु वह जड़ वस्तु है। वह एक सूक्ष्म पुद्गल है जिसे शरीर कई बाह्य विकारों के हेतु से अपनी ओर खींच लेता है। बाह्य विकार काम, क्रोध, माया, लोभ, मोह, अहंकार और मिथ्यात्वरूप हैं जो एक प्रकार के अन्य कर्म हैं।

फिर यदि कोई यह पूछे कि ईश्वर हमारा कर्ता नहीं है, यदि वह हमें अच्छे और बुरे कर्मों का फल नहीं देता, यदि वह मानवजाति के लिए कोई लाभदायक कार्य नहीं करता और न मनुष्य के व्यापारों में व्यापार करता है (अर्थात् न मनुष्य के कामों में दखल देता है) तो फिर ऐसे देव या परमात्मा के पूजन से क्या लाभ हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसे सच्चिदानन्द देव के पूजन करने से जैसे कोई मनुष्य पराक्रम शूरवीरों की पूजा करता है और उनके गुणों पर ध्यान देने से वे ही गुण हम में आ जाते हैं या यह कहो कि उन्हीं गुणों का हममें प्रकट होना सम्भव हो जाता है, यदि हम उसका शुद्ध हृदय और सच्चे भाव से मनन करें। यह एक नियम है कि जैसी वस्तुओं का मनुष्य विचार करता है उसके विचार वैसे ही हो जाते हैं या उन्हीं वस्तुओं का सा रूप ग्रहण कर लेते हैं। परमात्मा के गुणों पर विचार करने से मनुष्य की दशा सुधर जाती है। उसकी आध्यात्मिक प्रकृति उन्नति करने लगती है और अन्त में वह उस पदवी को पहुँच जाता है जहाँ वह यह यथार्थतया समझने लगता है कि परमात्मा के गुण उसके गुण भी हैं। जो गुण मनुष्य के भीतर छुपे हुए हैं परन्तु सांसारिक राग और द्वेष से ये दैवीय गुण मनुष्य में अव्यक्त हैं अर्थात् इन गुणों पर राग और द्वेष का आवरण (परदा) पड़ा हुआ है। इससे सिद्ध है कि यद्यपि बाह्य देव या परमात्मा किसी मनुष्य को कोई वस्तु नहीं देता और न किसी से कुछ लेता है; तथापि परमात्मा की पूजा एक निमित्त है, जिससे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति उत्पन्न हो सकती है और इसलिए इस उद्देश्य से परमात्मा का पूजन अतीव लाभदायक है।

एक और प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि यदि ईश्वर जगत् का कर्ता और शास्ता नहीं है और न वह जगत् के कामों में दखल देता है तो उसे सर्वशक्तिमान कैसे कह सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें विचारने योग्य हैं—प्रथम यह कि जिस राजा ने अपने शत्रुओं को लड़ाई में जीत लिया है और उसमें इतनी सामर्थ्य है कि फिर शत्रु उसे सता नहीं सकते, उस राजा को शक्तिमान कहते हैं । मनुष्य के लिए उसके कषायों या विषयों से बढ़कर और कोई प्रबल शत्रु नहीं है। जिसने अपने कषायों या इन्द्रियों को सर्वथा वश में कर लिया कि फिर वे कषाय या इन्द्रियाँ उसे दुख न दे सकें तो वह

मनुष्य अतीव शक्तिमान है और उसे सर्वशक्तिमान कह सकते हैं। दूसरी बात विचारने योग्य यह है कि वस्तुतः शक्ति क्या है ? सच पूछो तो किसी वस्तु का स्वभाव ही इसकी शक्ति है। आत्मा का अति आवश्यक स्वभाव जानना और अनन्त ज्ञान है और यही उसकी शक्ति है और जब ज्ञान शक्ति है तो अनन्त ज्ञान रहने से उसमें अनन्त शक्ति आ जाती है।

इस प्रकार हमने देख लिया है कि यद्यपि जैनधर्म में परमात्मा को जगत् का कर्ता और शास्ता नहीं मानते तथापि जैनधर्म में परमात्मा को मानते हैं और यह भी कहते हैं कि उसकी पूजा करनी योग्य है। यह सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर को कर्ता मानने से उसे मूर्ख या दुर्बल मानना पड़ता है। जगत् में प्रबन्ध और क्रम के होने से जैनधर्म के अनुसार जो सर्वोत्तम देव या ईश्वर माना गया है उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं आता और यह भी सिद्ध हो गया है कि ईश्वर को कर्त्ता मानना धार्मिक और दैवीय जीवन व्यतीत करने के लिए अनावश्यक ही नहीं है अपितु इस प्रकार की श्रद्धा रखने से अवश्य कई प्रकार के नीचभाव या कषायभाव मन में उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। यथा—मांसभक्षण, सुरापान और काम-भोग इस हेतु से कि कर्त्ता ने इन पदार्थों को अपने जीवों के उपकार के लिए भेजा या बनाया है । इस प्रकार परमात्मा का लक्षण वर्णन करने में जैन मतानुयायी जगत् के कर्त्ता और शास्ता के गुण उसमें नहीं मानते ।

## 3.4 जैनदर्शन में ईश्वर की मान्यता-

आत्मा के पर्यायगत विकास की परिपूर्णता को ही जैनदर्शन में परमात्मा या ईश्वर माना गया है तथा इस विकास की चौदह श्रेणियाँ मानी हैं, जिन्हें जैनदर्शन में 'चौदह गुणस्थान' कहा गया है। इतना स्पष्ट एवं वैज्ञानिक चिन्तन व निरूपण होने के बाद भी यह भ्रामक कथन क्यों प्रसारित किया जाता है कि जैनधर्म नास्तिक है ?

वस्तुतः बात यह है कि जैनदर्शन में परमात्मा या ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ परमपूज्य 'सत्ता' तो मानी गयी है किन्तु उसे सांसारिक किसी भी पदार्थ या कार्य का कर्त्ता नहीं माना गया प्रत्युत निस्पृह एवं तटस्थ ज्ञाता (सर्वज्ञ) माना गया है। अब जो लोग ईश्वर का अर्थ 'सांसारिक कार्यों एवं समस्त चराचर पदार्थों के कर्त्ता' के रूप में लेते हैं, उनके फ्रेम में जैनाभिमत ईश्वर का स्वरूप फिट नहीं बैठता है अतः वे कहते हैं कि जैनदर्शन ईश्वर को नहीं मानता है, किसी भी प्रपंच में रुचि न लेकर तटस्थ ज्ञाता-दृष्टामात्र स्वरूप वाला ईश्वर शायद उन्हें पसन्द नहीं आया होगा। उन्होंने सोचा कि भला जो न हमारा कुछ भला कर सके, न हमारे शत्रु का कुछ बिगाड़ सके, न पूजा से प्रसन्न हो और न निंदा से खेदखिन्न या कुपित-भला ऐसे ईश्वर से हमें क्या फायदा ? उन्हें तो ऐसा ही ईश्वर चाहिए था, जो भक्तों की पुकार पर दौड़ा चला आये और उनके कष्टों का निवारण करें। यह सब कुछ जैनाभिमत ईश्वर में था नहीं अतः उन्होंने उसे ईश्वर मानने से ही इंकार कर दिया और जैनों को 'अनीश्वरवादी नास्तिक' कह दिया। अस्तु, ईश्वर के वास्तविक आदर्श स्वरूप एवं जैनदर्शन की ईश्वरविषयक दृष्टि का संक्षेपतः अनुशीलन यहाँ प्रस्तुत है।

वैदिक दर्शनों में समस्त सांसारिक सुख-दुःख का हेतु ईश्वर को माना गया है—

**काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषै इति चिन्त्या।**
**संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख-दुःख-हेतोः।।**

**अर्थ**—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा (कर्म) और पुरुषार्थ-ये पाँचों महाभूत जीवों के सुख-दुःख के कारण हैं—ऐसा विज्ञपुरुषों के द्वारा विचार किया गया (तो स्पष्ट हुआ कि) इन 'काल' आदि का समुदाय भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता है और न ही अनीश (संसारी) आत्मा को इस सुख-दुःख का कारण कहा जा सकता है। केवल 'ईश्वर' ही इस सुख-दुःख का हेतु है।

इससे ठीक विपरीत जैन मान्यता है—

**''कालो-सहाव-णियई-पुव्वकयं-पुरिस कारणेगंता।**
**मिच्छत्तं ते चेव दु समाओ होंति सम्मत्तं।।''**

**अर्थ**—(प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति में) काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म) एवं पुरुषार्थ ये पाँच (समवाय) कारण नियम से होते हैं। इन्हें जो पृथक्-पृथक् रूप से स्वतंत्र कारण मानता है, तो वह मान्यता मिथ्यात्व है और समग्ररूप से कार्य के प्रति इनकी जैनदर्शन सांसारिक कार्यों एवं सुख-दुःख आदि में उपर्युक्त पाँच समवायों की समग्रता को कारण मानना सम्यक्त्व है। जैनदर्शन में इन 'काल' आदि पाँच समवायों की कारणता अनेकत्र स्वीकार की गई है। यथा-

**कालवाद—**

**'कालो सव्वं जणयदि, कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।**
**जागत्ति हि सुत्तेसु वि, ण सक्कदे वञ्चिदुं कालो।।'**

**अर्थ**—काल ही सबको उत्पन्न करता है, काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है, सो ऐसे काल को ठगने में कौन समर्थ हो सकता है ? इस प्रकार काल से ही सब कार्य मानना कालवाद कहलाता है।

**स्वभाववाद—**

**'को करदि कंटयाणं, तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं।**
**विविहत्तं तु सहाओ, इति सव्वं पि सहाओत्ति।।'**

**अर्थ**—काँटों को तीक्ष्ण किसने बनाया ? मृग, पशु-पक्षी नाना प्रकार के किसने बनाये ? इनका उत्तर है—स्वभाव से ही ऐसा है। उनमें अन्य कोई कारण नहीं है, ऐसा मानना 'स्वभाववाद' है।

**नियतिवाद—**

**'जत्तु जदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।**
**तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु।।'**

**अर्थ**—जो, जब, जिसके द्वारा, जैसे, जिसका नियम से होने वाला है, वह उसी काल में, उसी के द्वारा, उसी रूप से नियम से उसका होता है, ऐसा मानना 'नियतिवाद' है।

**दैववाद—**

**'दइवमेव परं मण्णे, धिप्पउरूसमणत्थयं।**
**एसो साल समुत्तुंगो, कण्णो हण्णादि संगरे।।'**

**अर्थ**—मैं दैव—भाग्य को सर्वोत्कृष्ट मानता हूँ। पौरुष निरर्थक है, उसे धिक्कार है। देखो, सालवृक्ष की तरह ऊँचा कर्ण महाभारत के युद्ध में मारा गया, यह दैववाद है।

**पुरुषार्थवाद—**

**'आलसड्ढो णिरुच्छाहो, फलं किंचि ण भुंजदे।**
**थणक्खीरादिपाणं वा, पउरूसेण विणा ण हि।।'**

**अर्थ**—जो आलस्य से भरपूर है, जिसे कुछ भी करने का उत्साह नहीं है, वह कुछ भी फल भोगने में समर्थ नहीं है। बिना पौरुष के माता के स्तन का दूध भी नहीं पिया जा सकता है। पौरुष से ही कार्य की सिद्धि होती है, यह 'पौरुषवाद' है।

तथापि जो ईश्वरकर्तृत्ववादी ऐसा मानते हैं कि—

**'अण्णाणी हु अणीसो, अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।**
**सग्गं णिरयं गमणं, सव्वं ईसरकदं होदि।।'**

**अर्थ**—आत्मा अज्ञानी है, अनाथ है, उस आत्मा का सुख, दुःख, स्वर्ग तथा नरक में गमनादि सब ईश्वरकृत है-इस प्रकार ईश्वर का किया सर्व कार्य मानना ईश्वरवाद है। ईश्वर जगत् कर्त्ता है इसलिए सब प्राणियों के कर्म (पाप-पुण्य) अनुसार दण्ड देता है। कर्मों के अनुसार फल देता है, तो ईश्वर की विशेषता क्या रही। वस्तुतः—

**'ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा तताः।**
**सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्।।**

**अर्थ**— जो अज्ञानान्धकार के कारण अपने को जगत् (के पदार्थों एवं कार्यों) का कर्त्ता मानते हैं, वे कितनी ही मोक्ष की इच्छा करें परन्तु सामान्य अज्ञानियों की भांति उसकी भी मुक्ति कदापि संभव नहीं है।

जैनदर्शन इन काल आदि पंच समवायों की कारणता स्वीकार करता है, न कि ईश्वर की। ईश्वर के बारे में जैनाचार्य लिखते हैं कि-

**''भगवान् आत्मा तु नित्यमेवानाकुलस्वभावभावेनाकार्यकारणात्वाद् दुःखस्याकारणमेव।''**

**अर्थ**— भगवान् आत्मा तो सदा ही निराकुल स्वभाव वाला है अतः उसके किसी का कार्य-कारणपना संभव ही नहीं है। इसलिए वह सांसारिक सुख-दुःख का भी कारण नहीं है।

जैनों की इस मान्यता से प्रभावित होकर ईसा पूर्व के महान् दार्शनिक विद्वान् ऍरिस्टॉरल (अरस्तू) ने लिखा है—

God in no sense is the creator of the universe. All imperishable things are actual, Sun, Moon, while visible heaven is always active they will never stop. If we attribute these gifts to God, we shall make him either an incompetent Judge or an unjust one and it is alien to his nature. The happiness which God enjoys is as great as that which we can enjoy, sometimes it is marvellous.

**अर्थ**— अरस्तू कहते हैं— ईश्वर किसी भी दृष्टि से विश्व का निर्माता नहीं हैं। सब अविनाशी पदार्थ पारमार्थिक हैं। सूर्य, चन्द्र तथा दृश्यमान आकाश सब सक्रिय हैं। ऐसा कभी नहीं होगा कि उनकी गति अवरुद्ध हो जाय। यदि हम उन्हें परमात्मा के द्वारा प्रदत्त पुरस्कार मानें, तो हम उन्हें अयोग्य न्यायाधीश अथवा अन्यायी न्यायकर्त्ता बना डालेंगे। यह बात परमात्मा के स्वभाव से विरुद्ध है। जिस आनन्द की अनुभूति परमात्मा को होती है, वह इतना महान् है कि हम उसका कभी रसास्वाद कर सकते हैं। वह आनन्द आश्चर्यप्रद है।

वे आगे कहते हैं कि— ईश्वर अशरीरी है इसलिए वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा आदि ईश्वर में नहीं हैं। ईश्वर शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ही ईश्वर की क्रिया है (राग-द्वेष करना नहीं)।''

इस वाक्य की जैनाभिमत ईश्वर के स्वरूप से तुलना करें—

**''क्षुत्पिपासाजरातङ्क-जन्मान्तक भयस्मयाः।**
**न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते।।''**

**अर्थ**— जिसके क्षुधा-पिपासा-बुढ़ापा-आतंक-जन्म एवं मृत्यु का भय, स्मय (आश्चर्य) एवं राग-द्वेष आदि न हों, उसे ही 'ईश्वर' (आप्त) कहा गया है।

संभवतः इसीलिए प्रख्यात समालोचक विद्वान् बाबू गुलाबराय ने स्वीकार किया कि— **''अरस्तू का ईश्वर जैनों के ईश्वर से मिलता है।''**

प्रख्यात विद्वान् श्री परिपूर्णानन्द जी ने भी स्वीकार किया है कि "जैनियों का निरीश्वरवाद (जगत्सृष्टारूप ईश्वर को न मानना) इतना उदार तथा व्यापक है कि हमारे जैसे अजैनी तथा ईश्वरवादी के लिए वह ईश्वरवाद ही है।.....जैनी निरीश्वरवाद इतना तर्कपूर्ण है कि उसका सहसा खण्डन करना कठिन है और **ईश्वर भक्त के लिए जैनी 'वीतराग' मूर्तिमान् मिलते हैं।''**

ईश्वर को क्या संज्ञा दें ?-इस बारे में जैनियों की दृष्टि कभी संकुचित नहीं रही। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

**''णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्णू विण्हू चदुमुहो बुद्धो।**
**अप्पा वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होदि फुंड।।''**

**अर्थ**—ज्ञानी-शिव-परमेष्ठी-सर्वज्ञ-विष्णु-चतुर्मुख (ब्रह्मा)-बुद्ध-आत्मा और परमात्मा (कुछ भी कहो किन्तु वह ईश्वर) स्पष्ट ही—निश्चय ही कर्मों से विमुक्त होता है।

परमात्मा या ईश्वर के विषय में प्रातः स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जब यह कहा कि वह (परमात्मा या ईश्वर) न तो कार्य है और न कारण है तब बौद्धों के असंस्कृत परिनिर्वाण, वेदान्तियों के ब्रह्मभाव, सांख्यों के कूटस्थ नित्य पुरुषमुक्तस्वरूप की कल्पनाओं का समन्वय उन्होंने कर दिया। साथ ही तत्कालीन परस्पर विरोधी दलों का सुन्दर ढंग से वर्णन करके परमात्मा के स्वरूपवर्णन के बहाने से उनका समन्वय भी कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनों ने आत्मिक विकास की चरमावस्था को परमात्मा या ईश्वर के रूप में माना है अतः जैन निरीश्वरवादी कदापि नहीं कहे जा सकते हैं। हाँ इतना अवश्य है कि उनका ईश्वर आत्मध्यान में निरन्तर लीन रहते हुए अपने स्वपर प्रकाशक सर्वदर्शी ज्ञान के द्वारा विश्व में घटित हो रहे प्रत्येक घटनाक्रम को प्रत्यक्ष जानता हुआ भी उससे नितान्त अलिप्त रहता हुआ निजानन्द में मग्न रहता है। जैनों की इस मान्यता का प्रभावक्षेत्र महान् ग्रंथ 'गीता' पर भी प्रतीत होता है, जिसमें कहा गया है कि—

**"न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।**
**न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्ततं।।"**

**अर्थ**—ईश्वर के न तो जगत्कर्तृत्व है और न जगत् उसका कर्म है।

इससे जैनों के 'अनीश्वरवाद' एवं एतन्निमित्तक 'नास्तिकता' का भली भांति परिहार हो जाता है तथा जैनदर्शन एक ऐसे ईश्वरवादी आस्तिक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित होता है, जिसके ईश्वर पर पक्षपात, हित-अहित या अन्य किसी भी प्रकार के सांसारिक लांछन लागू नहीं होते। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते हुए भी राग-द्वेष से रहित होने के कारण उसकी परमानन्दमयता भी अखंडित रहती है और इसीलिए जैनों ने ऐसे ईश्वर की सविनय स्तुति की है—

**"सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन।**
**सो जिनेन्द्र जयवन्त नित अरि-रज-रहस विहीन।।"**

## 3.5 जैन नास्तिक नहीं हैं—सुप्रसिद्ध कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द-

जैन को नास्तिक भाखे कौन ?
परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जौन।
सत कर्मन को फल नित मानत अति-विवेक के भौन।
तिनके मतहि विरुद्ध कहत जो महामूढ़ है तौन।
सब पहुँचत एकहि थल चाहौ करौ जौन पथ गौन।
इन ऑखिन-सौं तो सबही थल सूझत गोपी-रौन।
कौन ठाम जहां प्यारो नाहीं भूमि-अनल-जल-पौन।
'हरीचंद' ए मतवारे तुम रहत न क्यों गहि मौन।।1।।

बात कोउ मूरख की यह मानो।
हाथी मारै तौहू नाहीं जिनमंदिर में जानो।
जग में तेरे बिना और है दूजो कौन ठिकानो।
जहाँ लखो तहँ रूप तुम्हारो नैनन-माँहि समानो।
एक प्रेम है एकहि प्रन है हमरो एकहि बानो।
'हरीचंद' तब जग में दूजो भाव कहाँ प्रगटानो।।2।।

जैनधर्म में प्रगट कियो तुम दया-धर्म सगरो।
'हरीचंद' तुमको बिनु पाए लरि-लरि जगत मरो।।3।।

**अर्थ** — श्री भारतेन्दु जी कहते हैं — जैन को नास्तिक कौन कहता है ? जो जैन अहिंसामयी परमधर्म को आचरण करते हैं, जो दयामयी है और जो सदा ही विवेक के स्थान रहे हैं तथा सत्कर्मों के फल को मानते हैं-ऐसे जैनियों के श्रेष्ठधर्म को जो विरुद्ध (नास्तिक) मानते हैं, वे लोग महामूढ़ हैं। चाहे धर्म के किसी भी अंग को अपनाये, सब एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। इन आँखों से अर्थात् विवेक-दृष्टि से (पक्षपातरहित दृष्टि से) तो सभी स्थानों पर परम-आत्मा (गोपी-वल्लभ) दिखाई देता है। ऐसा कौन सा स्थान है-चाहे वह अग्नि-जल-पवन ही क्यों न हो, जहाँ परम-आत्मा (की दृष्टि) नहीं है ? (यदि तुम ऐसी निर्मल बुद्धि नहीं रखते) तो हे मतवालों! (अज्ञान-मोहदशा से व्याप्त) तुम सब मौन क्यों नहीं रहते ? अर्थात् तुम्हें मौन रखना चाहिए।

'हाथी मारता हो तो भी (बचने के भाव से) जिनमंदिर की शरण में मत जाओ-यह बात किसी मूर्ख की है। जगत् में तेरे बिना मेरा और दूसरा कोई ठिकाना नहीं है। जहाँ भी देखता हूँ, इन आँखों में आपका रूप ही समाया हुआ है। एक ही प्रेम है, एक ही प्रण है और हमारा एक वेश है। हरिश्चन्द्र कहते हैं — जग में दूसरा भाव कहाँ प्रकट हुआ है, एक ही सत् प्रकट है।

हे परम आत्मा! तुमने सम्पूर्ण दया धर्म को जैनधर्म में प्रकट किया है, तुम्हें बिना प्राप्त किये अर्थात् तुम्हें बिना समझे यह संसार परस्पर में लड़-लड़कर मर रहा है।

## 3.6 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-द्रव्य कितने प्रकार के हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) छः ☐

**प्रश्न 2**-जैनधर्म के अनुसार आत्मा का अस्तित्व कब से माना है ?

(क) प्रथम काल से ☐ (ख) पंचम काल से ☐ (ग) अनादिकाल से ☐

**प्रश्न 3**-जैनधर्म के मूल सिद्धान्त कितने हैं ?

(क) चार ☐ (ख) आठ ☐ (ग) पाँच ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-जैनधर्म आस्तिक धर्म कैसे है ?

**प्रश्न 2**-अहिंसा का लक्षण क्या है ?

**प्रश्न 3**-आत्मा के विकास की कितनी श्रेणियाँ मानी हैं ? जैनदर्शन में उन्हें क्या कहा है ?

**प्रश्न 4**-वैदिक दर्शन में पाँच महाभूत कौन से हैं ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-जैनदर्शन और ईश्वर के विषय में विचार व्यक्त करें ?

## पाठ-4 – वैदिक एवं श्रमण संस्कृति : एक अनुशीलन

**4.1** आर्य सभ्यता के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो एक तथ्य प्रकट होता है कि वैचारिक प्रतिद्वंद की स्थिति प्राचीन काल से है। भारत भूमि दो प्रमुख प्रतिद्वंदी विचार-धाराओं या संस्कृतियों की संगम-स्थली रही है। ये संस्कृतियाँ हैं— श्रमण (जैन) संस्कृति और वैदिक संस्कृति ।

हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की सभ्यता के अवशेषों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पूजक, वीतराग धर्म के अनुयायी तथा यौगिक ध्यानादि क्रियाओं द्वारा आत्म-साधना के उपासक थे। इस संस्कृति के समानान्तर दूसरी संस्कृति थी—वैदिक संस्कृति। वेद में स्थान-स्थान पर वैदिक देवताओं के प्रति की गई प्रार्थनाओं से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए देव-शक्तियों पर आश्रित रहने वाले थे। इनके द्वारा यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी, इनका जीवन संघर्षमय व असुरक्षा की भावना से ग्रस्त था, अपने दैनिक जीवन में और शत्रुओं के प्रति व्यवहार में, ये पूर्णत: अहिंसक नहीं कहे जा सकते थे। कहीं-कहीं तो इनकी क्रूरता के उदाहरण भी दृष्टिगोचर होते हैं।

ठीक इसके विपरीत, देश में पर्यटनशील 'व्रात्य' लोगों की परम्परा विद्यमान थी, जो व्रतनिष्ठ एवं अहिंसा धर्म के आराधक थे, जिनका विश्वास आत्म-कल्याण व आत्म-शुद्धि में था। यह परम्परा भी बहुत, सम्भवत: सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं की तरह, श्रमण संस्कृति की अनुयायी थी।

जैन संस्कृति के तीर्थकरों की परम्परा ने भारतीय समाज को समय-समय पर जो सद्ज्ञान दिया, उसका प्रभाव यह हुआ है कि वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा धर्म को बहुमान मिलता गया। वीतराग धर्म के प्रति वैदिक संस्कृति के अनुयायी भी आकृष्ट हुए । सम्भवत: प्रारम्भ में मन अनुयायियों के प्रति वैदिक संस्कृति के लोगों के मन में अनादर का भाव रहा है किन्तु कालान्तर में समन्वय का रास्ता अपनाकर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया । दोनों ही संस्कृतियों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान बढ़ता रहा। फलस्वरूप व्यवहारिक जीवन के आचार-विचारों की दृष्टि से दोनों संस्कृतियों में मौलिक फर्क कर पाना प्राय: मुश्किल हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, राग-द्वेषादि सांसारिक दु:ख के हेतु हैं, मनोविकारों पर विजय तथा शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, इत्यादि बातें दोनों संस्कृतियों में लगभग समान आदर व दृढ़ता के साथ स्वीकारी गई और यही कारण है कि उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि वैदिक संस्कृति के परवर्ती आदरणीय ग्रन्थों में जैन संस्कृति के स्वर स्थल-स्थल पर ढूँढे जा सकते हैं।

अपने उच्च आदर्शों के कारण जैन (श्रमण) संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गई । यही कारण है कि वैदिक धर्म की अपेक्षा पुरुषार्थ-कर्तव्यता के रूप में जैन धर्म को अधिक आदरणीय स्थान मिला, जिसका प्रमाण निम्नलिखित पद्य है—

**श्रोतव्य: सौगतो धर्म:, कर्तव्य: पुनरार्हत:।**
**वैदिको व्यवहर्तव्य:, ध्यातव्य: परम: शिव:।।1।।**

यहाँ तक कि भगवान् राम को भी एक वैदिक संस्कृति के ग्रन्थ में शांति-प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र की आत्म-साधना का अनुकरण करने की भावना प्रकट करते हुए वर्णित किया गया है—

**नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मन:।**
**शांतिमासितुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा।।**

वैदिक संस्कृति का प्रारम्भ में लक्ष्य जिस स्वर्ग की प्राप्ति थी, उस स्वर्ग का वातावरण भौतिक समृद्धि, कामसुख, भोग-लिप्सा का प्रतीक होते हुए भी, वासना- अतृप्ति, अशांति तथा विनश्वरता से मुक्त नहीं समझा गया और परवर्ती काल में वैदिक संस्कृति का लक्ष्य स्वर्ग के स्थान पर पुण्य-पाप से परे की मुक्त स्थिति हो गया। इसी तरह यज्ञ का स्वरूप क्रमश: अहिंसक होता गया और 'द्रव्य यज्ञ' की अपेक्षा 'ज्ञान यज्ञ' को प्रमुखता मिल गई । यह सब जैन संस्कृति

का वैदिक संस्कृति पर प्रभाव ही था।

किन्तु दोनों संस्कृतियों में मूलभूत अन्तर समाप्त हो गया हो ऐसी बात नहीं, संक्षेप में वह अन्तर मूलतः दो बातों में हैं — जहाँ वैदिक संस्कृति ईश्वर या किसी अलौकिक शक्तिधारी व्यक्ति को इस जगत् का कर्ता, हर्ता व नियन्ता मानती है, वहाँ जैन संस्कृति ईश्वर का अस्तित्व मानती हुई भी, ईश्वर के सृष्टिकर्तापन का निषेध करती है और जगत् के मूलभूत दो तत्त्वों जीव व अजीव में अन्तर्निहित स्वभाव-भूत शक्ति से ही जगत् का नियमन स्वीकारती है।

भगवान महावीर ने जगत् को अनेकान्तदृष्टि दी और अहिंसा को व्यवहारिक जगत् के साथ-साथ वैचारिक जगत् में भी प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार एक ओर परस्पर मैत्री पर आधारित समाज की रचना तो प्रस्तुत हुई ही, साथ ही दूसरी ओर विविध वैचारिक दृष्टिकोणों को परस्पर अविरोधपूर्वक फलने-फूलने का वातावरण तैयार हुआ। फलस्वरूप भारतवर्ष बौद्धिक व वैचारिक उत्कर्ष लिए बंजर-भूमि न बन कर सर्वदा उर्वर-भूमि बना चला आ रहा है।

## 4.2 जैनधर्म व्यवहार धर्म भी है—

जैनधर्म ऐसा नहीं है कि जिसका व्यवहार या आचरण सम्भव न हो बल्कि वह तो आत्मा का स्वाभाविकरूप है। वह 'धर्म' धार्मिक बाह्य क्रियाकाण्डों की अपेक्षा आत्मा की स्वाभाविक स्थिति में निहित है और वह स्वाभाविक स्थिति उसकी वीतरागता, समता भाव है। वीतराग स्थिति में पहुँच कर आत्मा स्वयं धर्म का रूप बन जाता है। संक्षेप में धर्म 'करने' की वस्तु नहीं, बल्कि 'जीने' की वस्तु है। धर्म किया नहीं जाता है, वह साधक की स्वाभाविक क्रिया बन जाए, इसी के लिए साधक प्रयत्नशील रहता है। दूसरे शब्दों में, धर्म ऊपर से या बाहर से थोपे जाने वाली चीज नहीं, वह तो स्वयं से उद्भूत होने वाली स्थिति है। चारित्र को आत्मा से जोड़ने से तात्पर्य यह भी है कि धर्म बाहर-भीतर एक है, चिन्तन, वचन और आचार में एकरूपता आवश्यक है।

जैनधर्म या साधना का आचरण स्वाभाविकरूप से ही किया जाना चाहिए अर्थात् क्षेत्र और काल को तथा साधक की शक्ति को ध्यान में रखकर धर्म-अधर्म के व्यवहार-पक्ष का मान-दण्ड नियत किया जाना उचित है। अन्यथा 'धर्म' किसी व्यक्ति के लिए अस्वाभाविक भी हो सकता है। बालक, वृद्ध, स्वस्थ, रोगी-इन विविध अवस्थाओं में धर्म का एक स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। किन्तु सभी प्रकार के साधकों को अंत में पहुँचना एक ही स्थिति में है, ऐसी स्थिति जहाँ धर्म और साधक दोनों एकरूपता प्राप्त कर लेते हैं इसलिए अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने से पूर्व की सारी स्थितियाँ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं।

## 4.3 अहिंसा धर्म का स्वरूप—

हिंसा का हेतु हिंसा करने वाले व्यक्ति के मन में बैठा द्वेष और अज्ञान (मोह) है। हिंसा की क्रिया द्विविध रूप से होती है। स्व-हिंसा और परहिंसा। हिंसा का विचार उठते ही हिंसक व्यक्ति की आत्मा स्वरूपच्युत हो जाती है और वह स्वयं का वध कर लेता है, इसके अनन्तर 'पर-जीव' के प्राणों का घात होता है। कभी-कभी हिंसा का विचार मन में उठकर रह जाता है या पर-जीव की हिंसा का प्रयास सफल नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में भले ही व्यवहारिक रूप में हिंसा न दिखाई पड़े पर वैचारिक दृष्टि से हिंसक व्यक्ति के आत्मा की हिंसा तो हो ही गई और हिंसा का फल उस व्यक्ति को मिलेगा ही।

इस प्रकार **हिंसा के दो भेद हैं—अन्तरंग हिंसा और बहिरंग हिंसा।** अशुद्धोपयोग अन्तरंग हिंसा और पर-जीव का प्राणोच्छेद बहिरंग हिंसा है किन्तु बहिरंग हिंसा के कर्म का बन्धकारक होना या न होना अन्तरंग हिंसा पर निर्भर है।

अन्तरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा का कुफल व्यक्ति को नहीं भोगना पड़ेगा इसीलिए कहा गया कि यत्नपूर्वक (समिति) आचरण करने वाले साधक को व्यवहारिक हिंसा के होने पर भी बन्ध नहीं होता, जबकि यत्नपूर्वक आचरण न करने वाले को बाह्य हिंसा न होने पर भी, स्वात्म-घात का दोष लगेगा ही। अंतरंग हिंसा के अभाव में बहिरंग हिंसा स्वतः अप्रतिष्ठित हो जाएगी।

## 4.4 जैन संस्कृति और साहित्य—

### आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता—

विश्व परिवर्तनशील है। सृष्टि में उत्पादन-अनुत्पादन, उत्थान-पतन, समता-विषमता आदि प्राकृतिक तथा बाह्य कारणों के माध्यम से सदाकाल लक्षित होते हैं। जिस प्रकार अणु-परमाणुओं के विभिन्न अवयवों के स्वाभाविक रूप से मिलने और बिछुड़ने से विभिन्न आकार देखे जाते हैं उसी प्रकार से इस दृश्यमान जगत् का चक्र चलता ही रहता है ।

जीव-जगत् की आत्माओं और परमात्माओं की विभिन्न स्थितियों को समझने के लिए समय-समय पर संसार के प्रत्येक कोने में चिन्तन, मनन, शोध और खोज होती रही है और संसार के वैज्ञानिक आज भी इसी अन्वेषण में संलग्न हैं। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान का न केवल जन्म हुआ अपितु इसका संशोधन व संवर्धन भी हुआ। सभ्यता के आदिम युग में मनुष्य के व्यवहार के लिए उपयोगी वस्तुओं की उपयोगिता का विचार किया गया था । **जैन आगम तथा पुराणों के अनुसार मुख्य रूप से दो प्रकार की सृष्टि मानी गई है—भोगसृष्टि और कर्मसृष्टि अर्थात् भोगभूमि एवं कर्मभूमि।** तीनों लोकों के प्राणियों को अपने भावों, परिणामों और कर्मों का सृजन स्वयं ही करना पड़ता है। इसी का नाम सृष्टि है। यदि ऐसा सृजन न हो तो सृष्टि की क्या आवश्यकता है ? मनुष्य या जगत् का प्राणी जैसा भाव या कर्म करता है उसी के अनुसार वह स्वयं फल प्राप्त करता है। सृष्टि की यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसमें किसी का भी कोई हस्तक्षेप नहीं है। जैनागम तो क्या, अजैनागम भी इस तथ्य को स्वीकार करता है। तेजोबिन्दूपनिषद् में स्पष्ट कहा है—"ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है।" उपर्युक्त कथन के बावजूद भी उसे प्राकृतिक परिवर्तन न मानना आश्चर्य का विषय है। प्राणी अपने भावों का वेदन अपने ही मन-बुद्धि-बल के अनुसार करता है। इस भौतिक जगत् में प्राकृतिक साधनों के उपयोग और विकास में विभिन्न प्राणी किस सीमा तक और किस रूप में सहायक हैं, मुख्य रूप से इसका ही अध्ययन प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है।

मनुष्य के जीवन में भोग अनिवार्य है। यद्यपि मनुष्य विवेकशील प्राणी है, वह समझ सकता है कि भोग-उपभोग अपने चरम सत्य की प्राप्ति में बाधक है किन्तु संसारी जीव के सुख की भांति दुःख, ज्ञान की भांति अज्ञान और समता की भांति विषमता उसके जीवन के अनिवार्य अंग बन गये हैं। अर्थ अर्थात् धन उन सभी साधनों की प्राप्ति का माध्यम है जिनसे वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यद्यपि अर्थ का तात्पर्य आत्मा भी होता है किन्तु सामान्य लोक केवल धन के रूप में ही जानता है। जैन जगत् में भी शरीर और आत्मा की पृथकता का सन्देश-निर्देश-आदेश होते हुए भी वह उस ओर से न केवल विमुख है बल्कि एकत्व की भावना के साथ अर्थोपार्जन-परिवर्धन-संरक्षण में सतत संलग्न है। अर्थ साध्य बन गया है, उसके साधन की कल्पना भी पाश्चात्य जगत् की भांति दुरूह है। यही कारण है कि वह भोग-उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त कर, सुख और सन्तोष का अनुभव करता है।

जिस युग में मुद्रा का प्रचलन नहीं था उस युग में विनिमय के जितने साधन थे या हो सकते थे वे सभी अदल-बदल की पद्धति में समाहित थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के प्रचलन के साथ ही लेन-देन करने में बहुत सरलता हो गई और तब से दिनोंदिन आर्थिक विकास के साधन बढ़ते ही गये किन्तु भोगसृष्टि के समय मनुष्य जितना सुखी था उसकी

आज हम कल्पना नहीं कर सकते। सभ्यता के आदिम युग में भोगों की प्रधानता थी किन्तु उनका उत्पादन-विनिमय-वितरण आदि नहीं था किन्तु कर्मयुग का प्रारम्भ होते ही विभिन्न सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक आदि व्यवस्थायें पनपती गईं। समय के साथ-साथ उस युग में समस्यायें भी उद्भूत हुईं और उनके समाधान तत्कालीन महापुरुषों ने प्रदान किये। जैनागमों में उन्हें तीर्थंकर, मनु और कुलकरों के नाम से जाना जाता है।

जैनधर्म में तीर्थंकरों की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। अनादिनिधन दृश्यमान इस जगत् का स्वाभाविकरूपेण गतिशील कालचक्र पतन से अभ्युदय की ओर उत्सर्पिणी युग और अभ्युदय से पतन की ओर अवसर्पिणी युग में घूमता रहता है। प्रत्येक कर्मयुग में 24-24 तीर्थंकर होते हैं। इस प्रकार अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और आगे भी होंगे।

जिस मार्ग द्वारा संसार सागर पार किया जाता है, वह तीर्थ है अतः जो मार्गरूप तीर्थ का निर्दोष प्रवर्तन करे वह तीर्थंकर कहलाता है। ये ईर्ष्या-पक्षपात से रहित, सर्वज्ञ, हितोपदेशी और मोक्षमार्ग के नेता होते हैं। जगत् में फैली भ्रान्तियों, रूढ़ियों और विकृतियों को दूरकर शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादित करते हैं। वर्तमान युग पतनशीलयुग अर्थात् अवसर्पिणी युग है और वह भी हुण्डावसर्पिणी, जिसमें अनेक असामान्य बातें भी घटित होती हैं; जैसे तीर्थंकर के पुत्री जन्म, चक्रवर्ती का मानभंग आदि। इस हुण्डावसर्पिणी की वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकर की परम्परा में आदि अर्थात् प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर हुए। तीर्थंकर ऋषभदेव ने काल परिवर्तन से उत्पन्न अनेकों समस्याओं का समाधान किया, षट्कर्म की शिक्षा देकर आर्थिक क्रियाओं को बढ़ावा दिया और अन्त में आत्मविद्या का नेतृत्त्व भी किया । इस प्रकार जैनधर्म की स्थापना अनादिकालीन होते हुए भी इस कर्मयुग में महावीर से न होकर ऋषभदेव से हुई-ऐसा जानना चाहिए। डॉ. एस. राधाकृष्णन ने लिखा है—"जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है जो अनेक शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी । यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे। डॉ. यदुनाथ सिन्हा का कथन है—"जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।" श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के अनुसार भी महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक न थे बल्कि एक के बाद दूसरे आने वाले चौबीस उपदेष्टाओं में जिन्हें तीर्थंकर नाम दिया गया, अन्तिम थे।" इस प्रकार नई खोजों ने प्रमाणित कर दिया कि जैनधर्म एक स्वतंत्र एवं अत्यन्त प्राचीन धर्म है।

वैदिक वाङ्मय में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। ऋग्देव की एक ऋचा "ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्" में ऋषभदेव का उल्लेख है और उसमें केशी एवं वातरशना मुनियों की स्तुति से सम्बन्धित ऋचाएँ भी हैं। भागवतपुराण में ऋषभदेव की वृत्ति से भी सिद्ध होता है कि वे केशी अर्थात् अवधूत के रूप में विचरण करते थे। पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण में भी ऋषभदेव की जटाओं का उल्लेख है अतः उनका केशी नाम सार्थक है। डॉ. हीरालाल जैन ने लिखा है—"इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना मुनियों का निर्ग्रन्थ साधु तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की प्राचीन परम्परा पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।" यजुर्वेद की "स्तोकानामिन्दुं प्रतिशुर इन्द्रो वृषायमाष्टो वृषभस्तुरावाट्" तथा "महत्वन्तं वृषभं.." "एवं मरुत्वां इन्द्र वृषभो रणाय..." ऋचाओं में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। उनका चिन्ह वृषभ होने से कहीं-कहीं पर उन्हें वृषभदेव शब्द से भी सम्बोधित किया गया है। अथर्ववेद में आया है कि सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्य स्वरूप ऋषभदेव हैं। श्रीमद्भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों में एक ऋषभावतार भी बतलाया गया है। मार्कण्डेयपुराण में लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र से ऋषभ और उनसे भरत का जन्म हुआ जो अपने सौ भाइयों में अग्रज थे। कर्मपुराण में महात्मा नाभि एवं मरुदेवी के पुत्र को क्रान्तिकारी बतलाया गया है। वायुपुराण एवं वाराहपुराण में

ऋषभदेव का वर्णन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। विष्णुपुराण में नाभिपुत्र ऋषभ के प्रताप का वर्णन है। लिंगपुराण में नाभिपुत्र ऋषभ को नग्न, जटारहित, निराकार तथा मलिन बताया गया है। शिवपुराण में भी नाभिपुत्र ऋषभ तथा इनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का "भारत" नामकरण करने का उल्लेख है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय से भी ऋषभदेव की ऐतिहासिकता सिद्ध है जिन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था।

सिन्धुघाटी में प्राप्त मोहरों पर अंकित देवमूर्तियों के साथ बैल तथा कायोत्सर्ग मुद्रा जैनधर्म के साथ ऋषभदेव की ऐतिहासिकता को प्रगट करती है क्योंकि कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा विशिष्टतया जैनों की देन है। प्रो. एस. श्रीकण्ठशास्त्री का कहना है—"दिगम्बर धर्म, योगमार्ग, वृषभ आदि लांछनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु-सभ्यता जैनधर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है।" डॉ. एन. एन. वसु का मत है कि "लेखनकला का प्रथम आविष्कार कदाचित् ऋषभदेव ने किया था। प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्या के प्रचार के लिए उन्होंने ब्राह्मीलिपि का आविष्कार किया था।"

इस प्रकार पुरातत्त्व की दृष्टि से भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की प्राचीनता व ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। उन्हें हुए करोड़ों वर्ष हो गये हैं। उस युग के प्रमाण तो अब अनुपलब्ध हैं क्योंकि अर्वाचीन इतिहास अभी पाँच हजार साल पीछे तक ही पहुँच पाया है किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों से तीर्थंकर परम्परा सिद्ध होती है। जैनागमों के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम ऋषभदेव इस अवसर्पिणी युग के तृतीय भाग के अन्त में हुए तथा उन्होंने ही षट्कर्मों की व्यवहारिक शिक्षा देकर आधुनिक मानव सभ्यता का निर्माण किया था।

## 4.5 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-हिंसा के मूल कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) तीन ☐ (ग) दो ☐

**प्रश्न 2**-जैन आगम एवं पुराणों के अनुसार सृष्टि कितने प्रकार की है ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) दो ☐

**प्रश्न 3**-प्रत्येक कर्मयुग में कितने तीर्थंकर होते हैं ?

(क) बीस ☐ (ख) चौबीस ☐ (ग) अनंत ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-हिंसा का लक्षण क्या है ?

**प्रश्न 2**-शुभोपयोग किसे कहते हैं ?

**प्रश्न 3**-तीर्थ एवं तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता सिद्ध कीजिए ?

# इकाई–2 जैनागम में वर्णित त्रेसठ शलाका पुरुष

**इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-**

**(1) भगवान ऋषभदेव**

**(2) श्री अजितनाथ से महावीर पर्यंत तीर्थंकर परम्परा**

**(3) बारह चक्रवर्ती**

**(4) भरत से भारत : कब, क्यों और कैसे ?**

**(5) बलभद्र-नारायण-प्रतिनारायण**

## पाठ-1 – भगवान ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर)

### 1.1 भगवान ऋषभदेव कैसे बने?

इसी जम्बूद्वीप में मेरू पर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में एक 'गंधिल' नाम का देश है जो कि स्वर्ग के समान शोभायमान है। उस देश में हमेशा श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्य का उदय रहता है इसलिए वहाँ मिथ्यादृष्टियों का उदय कभी नहीं होता। इस देश के मध्य भाग में रजतमय एक विजयार्ध नाम का बड़ा भारी पर्वत है। उस विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में एक "अलका" नाम की श्रेष्ठ पुरी है। उस अलकापुरी का राजा अतिबल नाम का विद्याधर था, जिसकी मनोहरा नाम की पतिव्रता रानी थी। उन दोनों के अतिशय भाग्यशाली महाबल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। किसी समय भोगों से विरक्त हुए महाराज अतिबल ने राज्याभिषेकपूर्वक अपना समस्त राज्य महाबल पुत्र को सौंप दिया और स्वयं अनेक विद्याधरों के साथ वन में जाकर दीक्षा ले ली। महाबल राजा के चार मंत्री थे जो महाबुद्धिमान, स्नेही और दीर्घदर्शी थे, उनके नाम — महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध थे। इनमें स्वयंबुद्ध सम्यग्दृष्टि व शेष तीनों मिथ्यादृष्टि थे।

किसी समय अपने जन्मदिन के उत्सव में राजा महाबल सिंहासन पर विराजमान थे। उस समय अनेकों उत्सव, नृत्य, गान और विद्वद्गोष्ठियाँ हो रही थीं। उस समय अवसर पाकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने स्वामी के हित की इच्छा से जैनधर्म का मार्मिक उपदेश दिया। उसके वचनों को सुनने में असमर्थ भूतवादी महामति मंत्री ने नास्तिक मत को सिद्ध करते हुए जीव तत्त्व का अभाव सिद्ध कर दिया। संभिन्नमति मंत्री ने विज्ञानवाद का आश्रय लेकर जीव का अभाव करना चाहा, उसने कहा ज्ञानमात्र ही तत्त्व है और सब भ्रममात्र है। इसके बाद शतमति मंत्री ने शून्यवाद का अवलम्बन लेकर सकल जगत् को शून्यमात्र सिद्ध कर दिया।

### 1.2 राजा महाबल को सम्यग्दृष्टि बनाने में स्वयंबुद्ध मंत्री की भूमिका-

इन तीनों की बातें सुनकर स्वयंबुद्ध मंत्री ने तीनों के एकान्त दुराग्रह का न्याय और आगम के द्वारा खंडन करके सच्चे स्याद्वादमय अहिंसा धर्म की सिद्धि करके उन्हें निरुत्तर कर दिया और राजा को प्रसन्न कर लिया। इसके बाद किसी एक दिन स्वयंबुद्ध मंत्री अकृत्रिम चैत्यालय की वन्दना के लिए सुमेरु पर्वत पर गया, वहाँ पहुँचकर उसने पहले प्रदक्षिणा दी, फिर भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार किया और पूजा की, यथाक्रम से भद्रसाल वन आदि के समस्त अकृत्रिम प्रतिमाओं की वंदना की और सौमनसवन के चैत्यालय में बैठ गया। इतने में ही विदेह क्षेत्र से आये हुए, आकाश में चलने वाले आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनि अकस्मात् देखे। वे दोनों ही मुनि 'युगमंधर' भगवान के समवसरणरूपी सरोवर के मुख्य हंस थे। मंत्री ने उठकर उन्हें प्रदक्षिणापूर्वक प्रणाम करके पूजा और स्तुति की। अनन्तर प्रश्न किया — हे स्वामिन्! विद्याधर का राजा महाबल हमारा स्वामी है, वह

भव्य है या अभव्य ? मेरे द्वारा सन्मार्ग प्रदर्शक जैनधर्म के उपदेश को जैसा प्रमाण मानता है वैसे श्रद्धान भी करेगा या नहीं ? इस प्रश्न के बाद आदित्यगति नामक अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे—हे भव्य! तुम्हारा स्वामी भव्य ही है, वह तुम्हारे वचनों पर विश्वास करेगा और आज से दशवें भव में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर होगा, इसके पूर्वभव को तुम सुनो।

## 1.3 मुनिराज ने राजा महाबल के पूर्व भव सुनाए-

जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में गंधिला देश में सिंहपुर नगर है। वहाँ के श्रीषेण राजा की सुन्दरी रानी से जयवर्मा और श्रीवर्मा ऐसे दो पुत्र हुए थे। पिता ने योग्यता और स्नेह के निमित्त से छोटे पुत्र श्रीवर्मा को राज्य दे दिया तब जयवर्मा विरक्त होकर स्वयंप्रभ गुरु से दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगा और किसी समय आकाशमार्ग में जाते हुए महीधर विद्याधर को देखकर 'विद्याधर' होने का निदान कर लिया, इतने में ही सर्प के डसने से मरकर यहाँ पर तुम्हारा स्वामी महाबल हुआ है। आज रात्रि में उसने दो स्वप्न देखे हैं तुम जाकर उनका फल कहकर उसके पूर्वभव सुनाओ, उसका कल्याण होने वाला है।

गुरु के वचन से मंत्री वहाँ शीघ्र ही आकर बोले—राजन्! आपने जो स्वप्न देखा है कि तीनों मंत्रियों ने आपको कीचड़ में डाल दिया और मैंने उठाकर सिंहासन पर बैठाया, सो यह मिथ्यात्व के कुफल से आप निकलकर जिनधर्म में आ गये हैं। दूसरे स्वप्न में जो आपने अग्नि की ज्वाला क्षीण होते देखी उसका फल आपकी आयु एक माह की शेष रही है। आप इस भव से दसवें भव में प्रथम तीर्थंकर होंगे, इत्यादि सारी बातें मंत्री को सुना दीं। राजा महाबल ने भी अपने पुत्र अतिबल को राज्यभार सौंपकर सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर सिद्ध प्रतिमाओं की पूजा करके गुरु की साक्षीपूर्वक जीवनपर्यन्त के लिए चतुराहार त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली और धर्मध्यानपूर्वक मरण करके ऐशान स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में ललितांग नाम का उत्तम देव हो गया। जब उसकी आयु पृथक्त्व पल्य के बराबर रह गई तब उसे स्वयंप्रभा नाम की एक और देवी प्राप्त हुई। अन्य देवियों की अपेक्षा ललितांग देव को यह देवी विशेष प्यारी थी। जब इस देव की माला आदि मुरझाई तब मृत्यु निकट जानकर शोक करते हुए इसको अनेकों देवों ने सम्बोधन प्रदान किया जिसके फलस्वरूप इस देव ने पन्द्रह दिन तक जिन चैत्यालयों की पूजा की और अच्युत स्वर्ग की जिनप्रतिमाओं की पूजा करके वहीं पर चैत्यवृक्ष के नीचे बैठकर उच्च स्वर से महामंत्र का उच्चारण करते हुए सल्लेखना से मरण को प्राप्त हो गया।

जम्बूद्वीप के महामेरु से पूर्व की ओर विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है, उसके उत्पलखेटक नगर के राजा वज्रबाहु और रानी वसुन्धरा से वह ललितांग देव 'वज्रजंघ' नाम का पुत्र उत्पन्न हो गया। उधर अपने पति के अभाव में वह पतिव्रता स्वयंप्रभा छह महीने तक बराबर जिनपूजा में तत्पर रही पश्चात् सौमनसवन संबंधी पूर्व दिशा के जिनमंदिर में चैत्यवृक्ष के नीचे पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक प्राण त्याग किये और विदेहक्षेत्र की पुंडरीकिणी नगरी के राजा वज्रदंत की महारानी लक्ष्मीमती से "श्रीमती" नाम की कन्या हो गई। कालांतर में निमित्तवश इन वज्रजंघ और श्रीमती का विवाह हो गया, इनके उनंचास युगल पुत्र अर्थात् अट्ठानवे पुत्र उत्पन्न हुए। किसी समय वे सभी अपने बाबा के साथ दीक्षित हो गये।

एक समय श्रीमती के पिता चक्रवर्ती वज्रदन्त ने छोटे से पोते पुंडरीक का राज्याभिषेक कर दिया और विरक्त होकर पुत्र के साथ दीक्षा ले ली।

उस समय लक्ष्मीमती माता ने अपनी पुत्री और जमाई को बुलाया। ये दोनों वैभव के साथ पुंडरीकिणी नगरी की ओर आ रहे थे, मार्ग में किसी वन में पड़ाव डाला। वहाँ पर आकाश में गमन करने वाले श्रीमान् दमधर और सागरसेन मुनियुगल वज्रजंघ के पड़ाव में पधारे। उन दोनों मुनियों ने वन में ही आहार लेने की प्रतिज्ञा की थी। वहाँ वज्रजंघ ने

श्रीमती सहित भक्ति से नवधाभक्ति सहित विधिवत् आहारदान दिया और पंचाश्चर्य को प्राप्त हुए। अनन्तर उन्हें कंचुकी से विदित हुआ कि ये दोनों मुनि हमारे ही अंतिम पुत्रयुगल हैं। राजा वज्रजंघ और श्रीमती ने उनसे अपने पूर्व भव सुने और धर्म के मर्म को भी समझा। अनन्तर पास में बैठे हुए नकुल, सिंह, वानर और सूकर के पूर्व भव सुने। उन मुनियों ने यह भी बताया कि आप आठवें भव में ऋषभ तीर्थंकर होवोगे और श्रीमती का जीव राजा श्रेयांसकुमार होगा।

किसी समय वज्रजंघ महाराज रानी सहित अपने शयनागार में सोये हुए थे। उसमें नौकरों ने कृष्ण, अगुरु आदि से निर्मित धूप खेई थी, वे नौकर रात में खिड़कियाँ खोलना भूल गये, जिसके निमित्त से धुएँ से कंठ रुंधकर वे पति-पत्नी दोनों ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। आश्चर्य है कि भोग सामग्री प्राणघातक बन गई थी। वे दोनों दान के प्रभाव से मरकर उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में भोगभूमिया हो गये। वे नकुल आदि भी दान की अनुमोदना से भोगभूमि को प्राप्त हो गये।

किसी समय दो चारण मुनि आकाशमार्ग से वहाँ भोगभूमि में उतरे और इन वज्रजंघ आर्य और श्रीमती आर्या को सम्यग्दर्शन का उपदेश देने लगे। ज्येष्ठ मुनि बोले—हे आर्य! तुम मुझे स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव समझो, मैंने तुम्हें महाबल पर्याय में जैनधर्म ग्रहण कराया था। उन दोनों दम्पत्तियों ने मुनियों के प्रसाद से सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और आयु के अंत में च्युत होकर ऐशान स्वर्ग में "श्रीधर" देव और "स्वयंप्रभ" नाम के देव हुए अर्थात् श्रीमती का जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से स्त्रीपर्याय को छोड़कर देव पद को प्राप्त हो गया। एक दिन श्रीधर देव ने अपने गुरु (स्वयंबुद्ध मंत्री के जीव) प्रीतिंकर मुनिराज के समवसरण में जाकर पूछा—भगवन्! मेरे महाबल के भव में जो तीन और मंत्री थे, वे इस समय कहाँ हैं ? भगवान ने बताया कि उन तीनों में से महामति और संभिन्नमति ये दो तो निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं और शतमति नरक गया है। तब श्रीधर देव ने नरक में जाकर शतमति के जीव को सम्बोधित किया था तथा निगोद के जीवों को सम्बोधन का सवाल ही नहीं है।

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में महावत्स देश है, उसकी सुसीमा नगरी के सुदृष्टि राजा की सुन्दरनन्दा रानी से वह श्रीधर देव स्वर्ग से च्युत होकर 'सुविधि' नाम का पुत्र हुआ था। कालान्तर में सुविधि की रानी मनोरमा से स्वयंप्रभदेव (श्रीमती का जीव) स्वर्ग से च्युत होकर केशव नाम का पुत्र हो गया अर्थात् वज्रजंघ का जीव सुविधि राजा हुआ और श्रीमती का जीव उसका पुत्र हुआ है।

कदाचित् सुविधि महाराज दैगम्बरी दीक्षा लेकर अन्त में मरकर अच्युतेन्द्र हुए, केशव ने भी निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

यह अच्युतेन्द्र, जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में पुष्कलावती देश की पुंडरीकिणी नगरी में वज्रसेन राजा और श्रीकान्ता रानी से 'वज्रनाभि' नाम का चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीमती का जीव केशव, जो कि अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह भी वहाँ से च्युत होकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक् की अनन्तमती पत्नी से धनदेव नाम का पुत्र हुआ। वज्रनाभि के पिता तीर्थंकर थे और वह स्वयं चक्रवर्ती था। चक्ररत्न से षट्खण्ड वसुधा को जीतकर चिरकाल तक साम्राज्य सुख का अनुभव किया। किसी समय पिता से दुर्लभ रत्नत्रय के स्वरूप को समझकर अपने पुत्र वज्रदन्त को राज्य समर्पण कर सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, एक हजार पुत्रों, आठ भाइयों और धनदेव के साथ-साथ पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समवसरण में जिनदीक्षा धारण कर ली और कुछ दिन बाद तीर्थंकर के ही निकट सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन करते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। ध्यान की विशुद्धि से ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच गये और वहाँ का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण कर नीचे उतरे, पुनरपि कदाचित् उपशम श्रेणी में चढ़ गये और वहाँ की आयु समाप्त होते ही मरण कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। ये अहमिन्द्र ही अपनी आयु पूर्ण कर भगवान 'ऋषभदेव' नाम के प्रथम तीर्थंकर होवेंगे।

## 1.4 भगवान ऋषभदेव-

महाराज श्री नाभिराज की मरुदेवी नाम की रानी थी जो कि अपने रूप, सौंदर्य, कांति, शोभा, द्युति और विभूति आदि गुणों से इन्द्राणी के समान थी। उन मरुदेवी के विवाह के समय इन्द्र के द्वारा प्रेरित हुए उत्तम देवों ने बड़ी विभूति के साथ उनका विवाहोत्सव मनाया था। उस समय संसार में महाराज नाभिराज ही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती थी क्योंकि जिनके स्वयंभू भगवान ऋषभदेव पुत्र होंगे उनके समान पुण्यशाली और कौन हो सकता है ? उस समय उत्तम भोगों का अनुभव करते हुए वे दोनों दम्पत्ति ऐसे जान पड़ते थे मानो भोगभूमि की नष्ट हुई लक्ष्मी को ही साक्षात् दिखला रहे हों।

## 1.5 अयोध्या की रचना—

जब सर्वत्र कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब नाभिराज और मरुदेवी से अलंकृत स्थान में उनके पुण्य के द्वारा बुलाये हुए इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। उस समय जो मनुष्य जहाँ-तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवों ने उन सबको लाकर उस नगरी में बसाया और सबकी सुविधा के लिए अनेक प्रकार के उपयोगी स्थानों की रचना की। उस नगरी के मध्य में देवों ने राजमहल बनाया था। वह राजमहल इन्द्रपुरी के साथ स्पर्धा करने वाला था और बहुमूल्य अनेक विभूतियों से सहित था।

इस भवन के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

उस समय दक्षिण भरतक्षेत्र में कल्पवृक्षरूप प्रासाद (महल) था, वही पृथ्वीनिर्मित प्रासाद बन गया था। राजा नाभिराज के उस प्रासाद का नाम 'सर्वतोभद्र' था, उसके खम्भे स्वर्णमय थे, दीवालें नाना प्रकार की मणियों से निर्मित थीं। वह पुखराज, मूँगा तथा मोती आदि की मालाओं से सुशोभित था, इक्यासी खण्ड से युक्त था और कोट, वापिका तथा बाग-बगीचों से अलंकृत था। वह अधिष्ठाता श्री नाभिराज के प्रभाव से अकेला ही अनेक कल्पवृक्षों से आवृत्त था तथा पृथ्वी के मध्य अपने स्थान पर अधिष्ठित था।

राजा नाभिराज की मरुदेवी नाम की पट्टरानी थी। वह शुद्ध कुल में उत्पन्न हुई थीं तथा जिस प्रकार इन्द्र को इन्द्राणी प्रिय होती है, उसी प्रकार राजा नाभिराज को मरुदेवी प्रिय थीं।

वह अयोध्या नगरी सुकौशल देश में थी इसलिए देश के नाम से 'सुकौशल' इस प्रसिद्धि को भी प्राप्त हुई थी तथा वह नगरी अनेक विनीत, शिक्षित-पढ़े-लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्यों से व्याप्त थी इसलिए वह 'विनीता' भी मानी गई थी। वह अयोध्या नाम की राजधानी अत्यन्त प्रसिद्ध थी और होने वाले बड़े भारी देश की नाभि—मध्यभाग की शोभा धारण करती हुई सुशोभित होती थी। राजभवन, वप्र, कोट और खाई से सहित वह नगरी ऐसी जान पड़ती थी मानो आगे कर्मभूमि के समय में होने वाले नगरों की रचना प्रारंभ करने के लिए एक प्रतिबिंब—नक्शा ही बनाया गया हो।

अनन्तर उस अयोध्या नगरी में सब देवों ने मिलकर किसी शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभयोग और शुभ लग्न में हर्षित होकर पुण्याहवाचन किया। जिन्हें अनेक संपदाओं की परम्परा प्राप्त हुई थी, ऐसे महाराज नाभिराज ने मरुदेवी के साथ आनन्दित होकर पुण्याहवाचन के समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारंभ किया था। "इन दोनों के सर्वज्ञ ऋषभदेव पुत्र जन्म लेंगे" यह समझकर इन्द्र ने अभिषेकपूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

### 1.6 भगवान ऋषभदेव का गर्भावतार—

छह महीने बाद ही भगवान ऋषभदेव यहाँ स्वर्ग से अवतार लेंगे, ऐसा जानकर देवों ने बड़े आदर के साथ आकाश से रत्नों की वर्षा की थी। इन्द्र की आज्ञा से नियुक्त हुए कुबेर ने हरिन्मणि, इन्द्रनील मणि, पद्मराग मणि आदि उत्तम-उत्तम रत्नों की धारा को नाभिराज के आंगन में बरसाया था। इस प्रकार स्वामी ऋषभदेव के स्वर्गावतरण से छह महीने पहले से लेकर पीछे भी नौ महीने तक अर्थात् पन्द्रह महीने तक रत्न तथा सुवर्ण की वर्षा होती रही थी।

**माता के सोलह स्वप्न**—किसी दिन महारानी मरुदेवी ने राजमहल में सोते समय रात्रि के पिछले प्रहर में जिनेन्द्रदेव के जन्मसूचक सोलह स्वप्न देखे। (1) ऐरावत हाथी (2) शुभ्रबैल (3) सिंह (4) हाथी के द्वारा स्वर्णमय कलशों से अभिषिक्त होती हुई कमलासन पर बैठी लक्ष्मी (5) दो पुष्पमालाएँ (6) पूर्ण चन्द्रमंडल (7) उदित होता हुआ सूर्य (8) कमलपत्र से आवृत स्वर्ण के दो कलश (9) सरोवर में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ (10) कमलयुक्त सुन्दर तालाब (11) लहरों से युक्त गंभीर समुद्र (12) रत्ननिर्मित उत्कृष्ट सिंहासन (13) रत्नों से देदीप्यमान स्वर्ग का विमान (14) नागेन्द्र भवन (15) किरणों से शोभित रत्नों की राशि (16) निर्धूम अग्नि। इस प्रकार सोलह स्वप्नों को देखने के बाद मरुदेवी ने देखा कि स्वर्ण के समान पीली कांति का धारक, उन्नत कंधों वाला बैल हमारे मुखकमल में प्रवेश कर रहा है।

अनंतर मंगलवाद्यों की ध्वनि और सुप्रभात आदि मंगल स्तोत्रों से प्रबोध को प्राप्त हुई वह रानी उठकर बैठ गई। यद्यपि वह स्वप्न देखने के कारण मंगलवाद्य आदि के पहले ही जागृत हो चुकी थी, तो भी उन बंदीजनों ने अनेकों स्तुतियों से माता को जगाते हुए के समान ही आनंदित किया था। अनंतर हर्षित हुई वह मरुदेवी मंगल स्नान कर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो अपने पति के पास पहुँची और विनय से महाराज नाभिराज के दर्शन कर अर्धासन पर सुखपूर्वक बैठकर, राज्यसिंहासन पर विराजमान महाराज नाभिराज से इस प्रकार निवेदन किया—हे देव! आज रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने सोलह स्वप्न देखे हैं और उन स्वप्नों को क्रमशः सुनाकर कहा कि हे देव! आप इन स्वप्नों का फल कहिये। महाराज नाभिराज भी अवधिज्ञान से इन स्वप्नों का फल जानकर कहने लगे—हे देवि! सुनो, ऐरावत हाथी के देखने से तुम्हारे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम बैल देखने से वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा, सिंह के देखने से अनन्त बल से युक्त होगा, मालाओं के देखने से समीचीन धर्म के तीर्थ का चलाने वाला होगा, लक्ष्मी के देखने से सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों द्वारा अभिषेक को प्राप्त होगा, पूर्ण चन्द्रमा के देखने से समस्त लोगों को आनन्द देने वाला होगा, सूर्य के देखने से देदीप्यमान प्रभा का धारक होगा, दो कलश देखने से अनेक निधियों को प्राप्त होगा, मछलियों का युगल देखने से सुखी होगा, सरोवर के देखने से अनेक लक्षणों से शोभित होगा, समुद्र को देखने से केवली होगा, सिंहासन के देखने से जगत् का गुरु होकर साम्राज्य को प्राप्त करेगा, देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतीर्ण होगा, नागेन्द्र का भवन देखने से वह अवधिज्ञानरूपी लोचनों से सहित होगा, चमकते हुए रत्नों की राशि देखने से गुणों की खान होगा और निर्धूम अग्नि के देखने से कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाला होगा तथा तुम्हारे मुख में जो वृषभ ने प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तुम्हारे निर्मल गर्भ में तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे। इस प्रकार महाराजा नाभिराज के वचनों को सुनकर रानी मरुदेवी परमानन्द से रोमांच को प्राप्त हो गई थी।

जब अवसर्पिणी के तीसरे सुषमादुःषमा नामक काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष बाकी रह गया था, तब आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वज्रनाभि नाम के अहमिंद्र देव-देवायु का अन्त होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुए और वहाँ सीप के संपुट में मोती की तरह सब बाधाओं से रहित होकर स्थित हो गये। उस समय समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिन्हों से भगवान के गर्भावतार का समय जानकर वहाँ आये और सभी ने नगरी की तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान के माता-पिता को नमस्कार

किया। महाराज नाभिराज का आंगन देवों से खचाखच भर गया। सौधर्म इन्द्र देवों के साथ संगीत, नृत्य आदि अनेकों उत्सवों से गर्भकल्याणक उत्सव मनाकर माता-पिता की पूजा कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये। उसी समय से लेकर इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियाँ उस समय होने योग्य कार्यों के द्वारा दासियों के समान माता मरुदेवी की सेवा करने लगीं। परिचर्या करते समय सबसे पहले देवियों ने स्वर्ग से लाये हुए पवित्र पदार्थों के द्वारा माता का गर्भशोधन किया था। यद्यपि वह माता स्वभाव से ही निर्मल थी, रजस्वला और मल, मूत्र आदि दोषों से रहित थी, फिर भी देवियों ने उसे विशुद्ध किया था। उन देवियों में कोई तो माता के आगे अष्टमंगल द्रव्य धारण करती थी, कोई ताम्बूल देती थी, कोई स्नान कराती थी, कोई आभूषणों से अलंकृत करती थी, कोई चौक पूरती, कोई चन्दन से पृथ्वी का सिंचन करती, कोई आरती उतारती और कितनी ही देवियाँ मन्त्राक्षरों के द्वारा उसका रक्षा बन्धन करती थीं। वे देवियाँ विशिष्ट-विशिष्ट काव्य गोष्ठियों से, तत्त्व गोष्ठियों से बड़े आदर के साथ गर्भवती मरुदेवी को प्रसन्न करने लगी थीं और अनेकों गूढ़ प्रश्न, पहेलिकाएं भी करती रहती थीं। माता मरुदेवी भी भगवान के प्रसाद से ही कठिन से कठिन पदों का, पहेलियों का अर्थ भी निमिषमात्र में करके देवियों को आश्चर्यचकित कर देती थीं। वे भगवान ऋषभदेव माता के उदर में स्थित होकर भी उसे किसी प्रकार का कष्ट उत्पन्न नहीं करते थे। यद्यपि माता मरुदेवी का कृश उदर पहले के समान ही त्रिवलियों से सुशोभित बना रहा तथापि गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता गया सो यह भगवान के तेज का ही प्रभाव था। न तो माता के उदर में कोई विकार हुआ था, न उनका मुख ही सफेद हुआ था यह एक आश्चर्य की बात है।

मरुदेवी के निर्मल गर्भ में स्थित तथा मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों से विशुद्ध अन्तःकरण को धारण करने वाले भगवान ऋषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे जैसे कि स्फटिकमणि के बने हुए घर के बीच में रखा हुआ निश्चल दीपक सुशोभित होता है। अपने समस्त पापों का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी भी अप्सराओं के साथ-साथ गुप्तरूप से महासती मरुदेवी की सेवा किया करती थीं। जिस प्रकार अतिशय शोभायमान चन्द्रमा की कला और सरस्वती देवी किसी को नमस्कार नहीं करतीं किन्तु सब लोग उन्हें नमस्कार करते हैं, उसी प्रकार वह मरुदेवी भी किसी को नमस्कार नहीं करती थीं किन्तु संसार के अन्य समस्त लोग स्वयं उसे ही नमस्कार करते थे। इस विषय में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? इतना ही कहना बस है कि वह जगत् के स्रष्टा अर्थात् भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की व्यवस्था करने वाले श्री ऋषभदेव की जननी थीं इसलिए कहना चाहिए कि वह समस्त लोक की जननी थीं।

## 1.7 भगवान ऋषभदेव का जन्म—

नव महीने व्यतीत होने पर श्री, ह्री आदि देवियों से सेवित माता मरुदेवी ने **चैत्र कृष्णा नवमी** के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र और ब्रह्म नामक महायोग में मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान, बालक होने पर भी गुणों से वृद्ध तथा तीनों लोगों के एकमात्र स्वामी देदीप्यमान पुत्र श्री ऋषभदेव को उत्पन्न किया। उस समय समस्त दिशाएँ निर्मल हो गईं, प्रजा का हर्ष बढ़ गया, कल्पवृक्षों से स्वयं ही पुष्प बरसने लगे, देवों के स्थानों में बिना बजाये स्वयं ही दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे एवं शीतल तथा सुगन्धित वायु मन्द-मन्द बहने लगी, अकस्मात् सभी देवों के आसन कम्पित होने लगे एवं देवों के मस्तक में लगे हुए मुकुट स्वयमेव नम्रीभूत हो गये। कल्पवासी देवों के घरों में घंटा, ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद, व्यन्तर देवों के यहाँ भेरी शब्द एवं भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी। आसन के कम्पित होने से इन्द्र ने भी अपने अवधिज्ञान से तीर्थंकर सूर्य के उदय को जानकर आसन से उतरकर भक्तिभाव से परोक्ष में ही भगवान को नमस्कार किया।

### 1.7.1 इन्द्र का आगमन—

तदनन्तर सौधर्म स्वर्ग के सौधर्म इन्द्र ने इन्द्राणी सहित एक लाख योजन विस्तृत ऐरावत हाथी पर चढ़कर अनेक

देवों से परिवृत हो प्रस्थान किया। इन्द्र की आज्ञा पाकर स्वर्गों से हाथी, घोड़े आदि की सात प्रकार की सेनाएँ, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद आदि सभी प्रकार के देव, इन्द्र को चारों ओर से घेर कर चलने लगे। सभी देव-देवेन्द्र अपने-अपने विमानों और पृथक्-पृथक् वाहनों पर चढ़कर जय-जय शब्दोच्चारण करते हुए समस्त आकाशरूपी आंगन को व्याप्त कर आ रहे थे। देवों से घिरे हुए सौधर्म इन्द्र अयोध्या नगरी की प्रदक्षिणा देकर अयोध्यापुरी में पहुँच गये।

**1.7.2 प्रसूतिगृह से जिनबालक का लाना—**

इन्द्राणी ने बड़े ही उत्सव से प्रसूतिगृह में प्रवेश किया और वहीं जिनबालक के साथ-साथ माता मरुदेवी के दर्शन किये। पहले कई बार प्रदक्षिणा देकर जगद्गुरु जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया और अपने को गुप्त रखते हुए ही अनेक प्रकार से जिनमाता की स्तुति की और उसे मायामयी नींद से युक्त कर दिया। उसके आगे मायामयी दूसरा बालक रखकर तेजपुंज जगद्गुरु भगवान को दोनों हाथों से उठाकर वह परम आनन्द को प्राप्त हुई और भगवान के शरीर का बार-बार स्पर्श करते हुए महान् पुण्यबंध करके अपनी स्त्रीपर्याय का छेद कर दिया। जिनबालकरूपी सूर्य को लेकर जाती हुई उस इन्द्राणी के आगे-आगे अष्ट मंगलद्रव्य धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ चल रही थीं और वे ऐसी मालूम पड़ती थीं कि मानो भगवान की ऋद्धियाँ ही हों। अपने को कृतकृत्य मानती हुई इन्द्राणी ने आदर सहित जिनसूर्य को इन्द्र के हाथों में विराजमान कर दिया।

**1.7.3 इन्द्र का भगवान को गोद में लेकर मेरु पर्वत पर गमन—**

भगवान को गोद में लेकर सौधर्म इन्द्र हर्ष से नेत्रों को प्रफुल्लित करते हुए भगवान के सुन्दर रूप को देखते हुए और अनेक प्रकार से स्तुति करते हुए भी तृप्त नहीं हुआ, तब उसने अपने एक हजार नेत्र और बना लिये पुनः शीघ्रता से मेरु पर्वत पर चलने का इशारा करने के लिए इन्द्र ने अपना हाथ ऊँचा उठाया। उस समय हे ईश! आपकी जय हो! आप समृद्धिमान हो! इत्यादि मंगल शब्दों को जोर-जोर से कहते हुए देवों ने इतना अधिक कोलाहल किया था कि समस्त दिशाएँ बहरी हो गई थीं। आकाशमार्ग से जाते हुए देवगण स्तुति, नृत्य, संगीत आदि से मार्ग में करोड़ों उत्सव मना रहे थे। भगवान सौधर्म इन्द्र की गोद में बैठे हुए थे। ऐशान इन्द्र सफेद छत्र लगाकर उनकी सेवा कर रहा था और सानत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र प्रभु के दोनों ओर क्षीरसागर की लहरों के समान सफेद चमर ढोर रहे थे। उस समय की विभूति देखकर अन्य मिथ्यादृष्टि देव इन्द्र को प्रमाण मानकर समीचीन जैनमार्ग में श्रद्धा करने लगे थे। मेरुपर्वतपर्यन्त नीलमणियों से बनाई गई सीढ़ियाँ ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो आकाश ही भक्ति से सीढ़ीरूप पर्याय को प्राप्त हो गया हो। क्रम-क्रम से वे इन्द्रगण ज्योतिष पटल को उल्लंघन कर निन्यानवे हजार योजन ऊँचे उस सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचे।

**1.7.4 पांडुकशिला पर जिनबालक का जन्ममहोत्सव—**

इन्द्र ने बड़े प्रेम से देवों के साथ-साथ उस गिरिराज सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी और पांडुक वन में ऐशान दिशा में स्थित पांडुक नामक शिला पर जिनेन्द्र भगवानरूपी सूर्य को विराजमान किया। वह शिला अत्यन्त पवित्र है, सौ योजन लम्बी पचास योजन चौड़ी, आठ योजन ऊँची है और अर्ध चन्द्राकार है। इस शिला के मध्य में जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करने के लिए श्रेष्ठ सिंहासन है और आजू-बाजू में सौधर्म-ईशान इन्द्र के लिए दो भद्रासन हैं। जिनेन्द्र भगवान के जन्मकल्याणक की विभूति को देखने के लिए देवगण उस पांडुकशिला को घेरकर सभी दिशाओं में क्रम-क्रम से यथायोग्य रूप में बैठ गये और देवों की सेना भी उस पांडुक वन में आकाशरूपी आंगन को रोककर मेरु पर्वत के ऊपरी भाग में व्याप्त होकर जा ठहरी।

सौधर्म इन्द्र भगवान को पूर्व दिशा की ओर मुँह करके पांडुकशिला पर रखे हुए सिंहासन पर विराजमान कर उनका अभिषेक करने के लिए तत्पर हुआ। उस समय समस्त आकाश को व्याप्त कर देवों के दुंदुभि बाजे बजने लगे, अप्सरायें नृत्य करने लगीं। इन्द्रों ने वहीं पर एक ऐसे बड़े भारी मण्डप की रचना की थी जिसमें तीनों लोकों के समस्त प्राणी परस्पर में

बाधा न देते हुए बैठ सकते थे, उस मण्डप में कल्पवृक्ष के पुष्पों से निर्मित अनेक प्रकार की मालाएँ लटक रही थीं।

सौधर्म इन्द्र ने उस अवसर की प्रस्तावनाविधिरूप समस्त विधि करके भगवान के अभिषेक के लिए चन्दन से चर्चित प्रथम कलश उठाया और कलश को उठाने के मंत्र को जानने वाले ऐशान इन्द्र ने दूसरा कलश उठाया। ये कलश आठ योजन गहरे, मुख पर एक योजन चौड़े और उदर में चार योजन चौड़े, सुवर्णमय होते हैं। देवों के द्वारा हाथों-हाथ क्षीरसमुद्र से लाये गये क्षीर जल से पूर्ण भरे हुए हैं। इनके कण्ठों में मोतियों की मालाएं लटक रही हैं और चन्दन से चर्चित अशोक पल्लव आदि से सुशोभित हो गये हैं। उन सभी कलशों को एक साथ उठाने के लिए इन्द्र ने विक्रिया से एक हजार भुजाएँ बना लीं और सभी कलशों से एक साथ अभिषेक प्रारंभ कर दिया। जब सौधर्मेन्द्र ने जय-जय शब्द करते हुए पहली जलधारा भगवान के मस्तक पर छोड़ी, उसी समय जय-जय बोलते हुए अन्य करोड़ों देवों ने भी बड़ा भारी कोलाहल किया था। अन्य सभी इन्द्रों ने भी बहुत से जल से भरे हुए सुवर्ण कलशों से एक साथ अभिषेक किया। वह अभिषेक उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो एक साथ बहुत सी गंगा-सिंध्वादि नदियाँ ही भगवान के मस्तक पर पड़ रही हों। यद्यपि भगवान तत्काल जन्मे बालक थे, फिर भी वे मेरु के समान अचल, अकम्प थे। भगवान के अभिषेक से उछला हुआ जलप्रवाह मेरुपर्वत से नीचे भूमि तक पड़ता हुआ ऐसा मालूम पड़ता था मानो यह क्षीरसागर का जलप्रवाह मेरु पर्वत को खड़े नाप से ही माप रहा हो। ऊपर से लेकर नीचे पृथ्वीतल तक सभी ओर से जलप्रवाह से तर हो रहा यह मेरुपर्वत 'यह स्फटिक मणि का पर्वत है ? यह अमृत की राशि ही है ?' इत्यादि कल्पनाओं को उत्पन्न कर रहा था।

जब शुद्ध जल से अभिषेक समाप्त हो गया था, तब इन्द्र ने शुभ सुगंधित द्रव्यों के जल से भगवान का अभिषेक करना प्रारंभ किया था तत्पश्चात् इन्द्र सुगंधित जल से भगवान का अभिषेक कर जगत की शांति के लिए उच्च स्वर से शांतिमंत्र पढ़ने लगे। देवों ने उस गंधोदक को पहले अपने मस्तकों पर लगाया, फिर सारे शरीर में लगाया और फिर बाकी बचे हुए को स्वर्ग ले जाने के लिए रख लिया। अभिषेक समाप्त होने पर देवों ने त्रिलोकपूज्य उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप भगवान की प्रदक्षिणा देकर मंत्रों से पवित्र हुए जल, गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य के द्वारा पूजा की। जिनका अभिषेक करने वाला स्वयं इन्द्र था, मेरु पर्वत पर स्नान करने का सिंहासन था, देवियाँ नृत्य करने वाली थीं, देव किंकर थे और क्षीरसमुद्र स्नान करने का कटाह था, इस प्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरुपर्वत पर जिनका स्नपन महोत्सव समाप्त हुआ था, वे पवित्र आत्मा वाले भगवान समस्त जगत् को पवित्र करें।

अनन्तर इन्द्राणी ने बड़े भक्तिभाव से भगवान को अलंकार पहनाना प्रारंभ किया, भगवान के जलकणों को वस्त्र से पोंछकर ललाट पर तिलक लगाया तथा माला, मुकुट, मुद्रिका, बाजूबंद, कंकण, करधनी आदि से और दिव्य वस्त्रों से विभूषित किया था। उस समय के भगवान के रूप को देखते हुए इन्द्र तृप्त नहीं हुआ, तब उसने एक हजार नेत्र बना लिये थे। सभी देवों ने, असुरों ने भी भगवान के रूप को टिमकार रहित नेत्रों से एकटक देखते हुए अपनी देवपर्याय को सफल माना था पुनः इन्द्र ने और सभी देवों ने भी अनेक प्रकार से भगवान की स्तुति की थी।

तत्पश्चात् इन्द्र ने भगवान ऋषभदेव को लेकर देवों के साथ उत्कृष्ट लक्ष्मी से सुशोभित महाराज नाभिराज के घर में प्रवेश किया और देवों द्वारा रचित श्रीगृह के आंगन में बालकरूपधारी भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया तथा माता-पिता को प्रसन्न करते हुए इन्द्र ने आभूषण, माला और बहुमूल्य वस्त्रों से इन जगत्पूज्य माता-पिता की पूजा की पुनः नाना प्रकार के स्तोत्रों से उनकी स्तुति करने लगे। हे पूज्य! आज आपका यह घर हम लोगों के लिए जिनालय के समान पूज्य है और तीन लोक के नाथ प्रथम तीर्थंकर के आप माता-पिता हैं इसलिए तीन जगत् के ही माता-पिता हैं, इस प्रकार इन्द्र ने अनेक प्रकार से स्तुति करके उनके हाथों में भगवान को सौंप दिया। माता-पिता ने अनेक उत्सव करने वाले पुरवासियों के साथ-साथ बड़ी विभूति से पुनरपि जन्ममहोत्सव किया। सारे संसार को आनन्दित करने वाला यह

महोत्सव जैसा मेरुपर्वत पर हुआ था, वैसा ही अन्त:पुर सहित इस अयोध्या नगर में हुआ।

उन नगरवासियों का आनन्द देखकर अपने आनन्द को प्रकाशित करते हुए इन्द्र ने 'आनन्द' नामक नाटक प्रारंभ किया। तीनों लोकों में फैली हुई कुलाचलों सहित पृथ्वी ही उसकी रंगभूमि थी। स्वयं इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाले थे, नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष उस नृत्य के दर्शक थे, जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव उसके आराध्य (प्रसन्न करने योग्य) देव थे और धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति होना ही उसका फल था। उस समय इन्द्र ने पहले त्रिवर्ग — धर्म, अर्थ, कामरूप फल को सिद्ध करने वाला गर्भावतार सबंधी नाटक किया और फिर जन्माभिषेक संबंधी नाटक प्रारंभ किया। अनन्तर भगवान के महाबल आदि दशावतार संबंधी वृत्तांत को लेकर अनेक रूप दिखलाने वाले अन्य अनेकों नाटक किये। पूर्व में मंगलाचरण करके इन्द्र ने पुष्पांजलि क्षेपण कर तांडव नृत्य करना प्रारंभ किया, तब उसकी भक्ति से प्रसन्न हुए देवों ने आकाश से पुष्पवर्षा की, करोड़ों बाजे एक साथ बजने लगे, किन्नर देवियाँ मंगल गीत गाने लगीं। महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ-साथ वह आश्चर्यकारी नृत्य देखकर बहुत ही चकित हुए और इन्द्रों द्वारा की हुई प्रशंसा को प्राप्त हुए।

**1.7.5 नामकरण —**

ये भगवान जगत भर में ज्येष्ठ हैं और जगत् का हित करने वाले धर्मरूपी अमृत की वर्षा करेंगे इसलिए ही इन्द्रों ने उनका 'ऋषभदेव' यह सार्थक नाम रखा था तथा 'पुरुदेव', 'आदिनाथ' 'ऋषभदेव' आदि नाम भी प्रसिद्ध किये।

अनन्तर भगवान की सेवा के लिए समान अवस्था, समान रूप और समान वेष वाले देवकुमारों को भगवान के साथ क्रीड़ा करने के लिए छोड़ दिया तथा स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, शरीर संस्कार करने और क्रीड़ा कराने के लिए अनेक देवियों को धाय बनाकर नियुक्त करके वे इन्द्रादि अपने-अपने स्थान को चले गये।

**1.7.6 भगवान ऋषभदेव की बाल्यावस्था —**

भगवान ऋषभदेव अपनी पहली शैशव अवस्था में कभी मन्द-मन्द हँसते थे, कभी मणिमयी पृथ्वी पर धीरे-धीरे गिरते पड़ते पैरों से चलते हुए देव बालकों के साथ-साथ रत्नों की धूलि में क्रीड़ा करते हुए माता-पिता का हर्ष बढ़ा रहे थे। जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों के धारी होने से वे संसार की स्थिति को समझने वाले और समस्त वाङ्मय को प्रत्यक्ष करने वाले, सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे इसलिए समस्त लोक के गुरू हो गये थे। उनका शरीर असाधारण, मल, मूत्र, पसीना से रहित, तपाये हुए सुवर्ण के सदृश था, उनके शरीर में दूध के समान रुधिर, समचतुरस्र नामक उत्तम संस्थान, वज्रवृषभनाराच नामक उत्तम संहनन था, सुन्दरता और सुगंधि की चरम सीमा को पहुँच चुका था, एक हजार आठ लक्षणों से अलंकृत, अप्रमेय महाशक्तिशाली था, वे भगवान प्रिय तथा हितकारी वचन बोलने वाले थे, वे माता का दूध नहीं पीते थे किन्तु इन्द्र के द्वारा हाथ के अँगूठे में स्थापित अमृत को पीते थे अर्थात् अँगूठे को चूसते हुए वृद्धि को प्राप्त होते थे।

चरम शरीर को धारण करने वाले भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व वर्ष की थी। श्री, वृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक आदि एक सौ आठ लक्षण और मसूरिका आदि नौ सौ व्यंजन भगवान के शरीर में विद्यमान थे अर्थात् एक सौ आठ लक्षण और नौ सौ व्यंजन इस प्रकार एक हजार आठ शुभ लक्षण भगवान के शरीर की शोभा बढ़ा रहे थे। इस प्रकार देवों द्वारा लाये गये उत्तमोत्तम भोगों का उपभोग करते हुए सुख से भगवान का शैशव काल व्यतीत हो गया था।

**1.7.7 भगवान के लिए देवोपनीत भोजन-वस्त्र आदि —**

भगवान का कोमल बिस्तर, कोमल आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान आदि सभी वस्तुएँ देवनिर्मित थीं। "सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र के रहने के भवन की ईशान दिशा में 'सुधर्मा' नामक सभामंडप है, इसके मध्य इन्द्र का सिंहासन है, इस आस्थान मण्डप के आगे मानस्तंभ हैं, ये मानस्तंभ एक योजन चौड़े, छत्तीस योजन ऊँचे

पीठकर सहित वज्रमयी एक-एक कोश विस्तार वाले हैं और बारह धारा-पहलू सहित गोल हैं। इन मानस्तंभों में रत्नों की सांकल से लटकते 'करंडक' हैं। इनमें तीर्थंकरों के पहनने आदि के वस्त्र, आभरण आदि हैं। भगवान के लिए भोग-उपभोग योग्य वस्तुओं को इन्द्रादि देवगण इन्हीं पिटारे से लाते हैं।

## 1.8 भगवान ऋषभदेव का विवाह-महोत्सव—

भगवान की यौवन अवस्था का प्रारंभ देखकर महाराज नाभिराज मन में विचार करने लगे कि चूँकि इनका धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने में भारी उद्योग है, ये नियम से सब परिग्रह छोड़कर वन में जाकर दीक्षा ग्रहण करेंगे तथापि तपस्या करने के लिए जब तक इनकी काललब्धि आती है तब तक इनके लिए लोकव्यवहार के अनुरोध से योग्य पत्नी का विचार करना चाहिए। यह निश्चित कर महाराज नाभिराज बड़े ही आदर के साथ भगवान के पास जाकर भगवान से कहने लगे कि हे देव! मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ सो आप सावधान होकर सुनिये। आप जगत् के अधिपति हैं इसलिए आपको जगत् का उपकार करना चाहिए। आप जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं तथा स्वयंभू हैं—अपने आप उत्पन्न हुए हैं। आपकी उत्पत्ति में हम माता-पिता केवल निमित्तमात्र हैं। यह प्रजा महापुरुषों का ही अनुगमन करती है इसलिए हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ! किसी इष्ट कन्या के साथ विवाह करने के लिए मन कीजिए क्योंकि ऐसा करने से प्रजा की सन्तति का उच्छेद नहीं होगा और उसी से धर्म की सन्तति बढ़ेगी इसलिए हे देव! मनुष्यों के अविनाशीक इस विवाहरूपी धर्म को अवश्य ही स्वीकार कीजिए। यदि आप मुझे किसी भी तरह गुरू मानते हैं तो आपको मेरे वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार धीर-वीर महाराज नाभिराज के वचन सुनकर भगवान ने हँसते हुए 'ओम्' कहकर उनके वचन स्वीकार कर लिये। इन्द्रियों को वश में करने वाले भगवान ने जो विवाह कराने की स्वीकृति दी थी सो क्या पिता के वचनों की चतुराई थी अथवा प्रजा के उपकार की इच्छा थी या वैसा कोई कर्मों का ही नियोग था।

भगवान की अनुमति जानकर राजा नाभिराज ने इन्द्र की अनुमति से सुशील, सुन्दर लक्षणों वाली, यशस्वती और सुनन्दा नाम की दो कन्याओं के साथ भगवान का पाणिग्रहण किया था। ये दोनों कन्यायें राजा कच्छ और महाकच्छ की बहनें थीं। भगवान के विवाह के समय इन्द्र ने देवों सहित अनेकों उत्सव मनाये थे।

### 1.8.1 भगवान ऋषभदेव को पुत्र-पुत्रियों की प्राप्ति—

किसी समय यशस्वती महारानी राजमहल में सो रही थीं, उस समय रात्रि के पिछले भाग में उन्होंने स्वप्न में ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्रमा सहित सूर्य, हंस सहित सरोवर तथा चंचल लहरों वाला समुद्र देखा। अनन्तर मंगल वाद्य गीतों के साथ प्रबोध को प्राप्त हुई रानी अपने पतिदेव भगवान ऋषभदेव के मुख से 'देवि! तुम्हें चक्रवर्ती पुत्र होगा' इस फल को सुनकर अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हो गईं। क्रमशः नौ महीने व्यतीत होने पर उन यशस्वती महादेवी ने महापुण्यशाली पुत्र को जन्म दिया। उस समय उत्तम शुभ नक्षत्र आदि थे और चैत्र कृष्णा नवमी का दिन था। ये ही पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज हुए थे।

अनन्तर यशस्वती महारानी से भरत के पीछे जन्म लेने वाले ऋषभसेन, अनन्तवीर्य आदि निन्यानवे पुत्र हुए। वे सभी चरमशरीरी, महाप्रतापी थे तथा 'ब्राह्मी' नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी। भगवान ऋषभदेव की दूसरी पत्नी 'सुनन्दा' से भगवान 'बाहुबली' पुत्र हुए और 'सुन्दरी' नाम की पुत्री हुई थी। ये बाहुबली स्वामी चौबीस कामदेवों में से पहले कामदेव हुए थे। इन एक सौ एक पुत्र और दो पुत्रियों सहित भगवान ऋषभदेव अतिशय शोभायमान हो रहे थे और महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी अत्यन्त प्रसन्न थे। जब ये पुत्र-पुत्रियाँ योग्य अवस्था को प्राप्त हो गये तब भगवान ऋषभदेव ने इन्हें सम्पूर्ण गुणों से और संस्कारों से संस्कारित कर दिया। कर्मयुग के प्रारंभ में भगवान ने अपने

पुत्रों के कंठ, वक्षःस्थल आदि को विभूषित करने वाले ऐसे हार, कंकण, मुद्रिका आदि अनेकों आभूषण बनवाकर पुत्रों को विभूषित किया था।

**1.8.2 ब्राह्मी-सुन्दरी का विद्याध्ययन—**

किसी समय भगवान ऋषभदेव सिंहासन पर सुख से बैठे हुए थे कि उन्होंने अपना चित्त कला और विद्याओं के उपदेश में लगाया। उसी समय उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियाँ मांगलिक वेषभूषा धारण कर पिता के पास पहुँचीं और विनय से भगवान को प्रणाम किया। भगवान ने भी उन दोनों कन्याओं को आशीर्वाद देकर बड़े प्रेम से उन्हें अपनी गोद में बिठा लिया, उनके मस्तक पर हाथ फेरा और पुत्रियों के साथ कुछ विनोद करने लगे, अनन्तर बोले—हे पुत्रियों! तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो क्योंकि विद्या ग्रहण करने का यही काल है। ऐसा कहकर बराबर उन्हें आशीर्वाद देकर भगवान ने अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता को आदरपूर्वक सुवर्ण के विस्तृत पट्टे पर स्थापित किया, फिर भगवान ने 'सिद्धं नमः' मंगलाचरणपूर्वक अपने दाहिने हाथ से ' अ आ' आदि वर्णमाला लिखकर ब्राह्मी को शुद्ध अक्षरावली लिखने का उपदेश दिया, जिसका नाम सिद्धमातृका है, जो स्वर-व्यंजन के भेद से दो भेदरूप है और समस्त विद्याओं में पाई जाती है तथा भगवान ने अपने बायें हाथ से 'इकाई दहाई ' आदि संख्या को लिखते हुए सुन्दरी को अंकगणित लिखने का उपदेश दिया। वाङ्मय के बिना न कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिए भगवान ने सबसे पहले उन पुत्रियों को वाङ्मय का उपदेश दिया था। व्याकरणशास्त्र, छंदशास्त्र और अलंकारशास्त्र इन तीनों के समूह को वाङ्मय कहते हैं। भगवान के द्वारा बनाया गया व्याकरणशास्त्र बहुत विस्तृत था, जिसमें सौ से अधिक अध्याय थे। भगवान ने सबसे प्रथम ब्राह्मी कन्या को वर्णमालाएं पढ़ाई थीं, यही कारण है कि आज भी इसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं। पिता के अनुग्रह से ये दोनों कन्यायें समस्त विद्याओं को पढ़कर सरस्वती देवी के अवतार लेने के लिए पात्रता को प्राप्त हो गई थीं।

**1.8.3 भरत आदि पुत्रों का विद्याध्ययन—**

जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने इसी प्रकार अपने भरत आदि पुत्रों को भी विनयी बनाकर क्रम से आम्नाय के अनुसार अनेक शास्त्र पढ़ाये। बड़े-बड़े अध्यायों सहित अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र, चित्रकला संबंधी शास्त्र, वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद, तंत्र परीक्षा, रत्न परीक्षा आदि अनेकों विषयों को पढ़ाया और अधिक कहने से क्या ? लोक का उपकार करने वाले जो शास्त्र थे, भगवान ने उन सभी को अपने पुत्रों को पढ़ाया था। इस प्रकार अपने इष्ट—स्त्री, पुत्र और पुत्रियों से घिरे हुए, सुखों का अनुभव करते हुए भगवान का गृहस्थाश्रम में बहुत कुछ काल व्यतीत हो चुका था अर्थात् बीस लाख पूर्व वर्षों का कुमारकाल पूर्ण हो गया था।

इसी बीच में काल प्रभाव से महौषधि, दीप्तौषधि कल्पवृक्ष तथा सब प्रकार की औषधियाँ शक्तिहीन हो गयी थीं। मनुष्यों के निर्वाह के लिए जो बिना बोए उत्पन्न होने वाले धान्य थे, वे भी काल के प्रभाव से प्रायः विरलता को प्राप्त हो गये थे। कल्पवृक्षों के रस, वीर्य आदि के नष्ट होने से व्याकुल हुई प्रजा जीवित रहने की इच्छा से महाराज नाभिराज के समीप गयी पुनः नाभिराज की आज्ञा से प्रजा भगवान ऋषभदेव के समीप गयी और उन्हें नमस्कार करके निवेदन करने लगी कि हे तीन लोक के स्वामी! हम लोग जीविका प्राप्त करने की इच्छा से आपकी शरण में आये हैं अतः उपाय को बतलाकर हम लोगों की रक्षा कीजिए।

इस प्रकार प्रजाजनों के दीन वचन सुनकर हृदय दया से प्रेरित हो रहा है, ऐसे भगवान आदिनाथ अपने मन में विचार करने लगे—

"पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है, उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, मषि आदि छह कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना है उसी प्रकार यहाँ पर भी होना चाहिए, इन्हीं उपायों से प्राणियों की

आजीविका चल सकती है। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर अब यह कर्मभूमि प्रकट हुई है इसलिए यहाँ प्रजा को असि, मषि आदि छह कर्मों के द्वारा ही आजीविका करना उचित है।"

अनन्तर भगवान के स्मरण करने मात्र से देवों के साथ इन्द्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार विभाग कर प्रजा की जीविका के उपाय किये। शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभ मुहूर्त और शुभ लग्न के समय तथा सूर्य आदि ग्रहों के अपने-अपने उच्च स्थानों में स्थित रहने और जगद्गुरु भगवान के हर प्रकार की अनुकूलता होने पर इन्द्र ने प्रथम ही मांगलिक काम किया और फिर उसी अयोध्यापुरी के बीच में जिनमंदिर की रचना की, इसके बाद पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर इस प्रकार चारों दिशाओं में भी यथाक्रम से जिनमंदिरों की रचना की। तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन और सीमा सहित ग्राम तथा खेटों आदि की रचना की थी। देशों के मध्य भाग में कोट, प्राकार, परिखा, गोपुर और अटारी आदि से शोभायमान राजधानी सुशोभित हो रही थी। उस समय इन्द्र बड़े अच्छे ढंग से नगर, गाँवों आदि का विभाग कर 'पुरन्दर' इस सार्थक नाम को प्राप्त हुआ था, अनन्तर भगवान की आज्ञा से नगर, गाँव आदि में प्रजा को बसाकर कृतकृत्य होता हुआ वह इन्द्र प्रभु की आज्ञा लेकर स्वर्ग को चला गया।

**1.8.4 भगवान द्वारा प्रजा को षट्कर्म का उपदेश—**

असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्य प्रजा की आजीविका के कारण हैं। भगवान ऋषभदेव ने अपनी बुद्धिकुशलता से प्रजा के लिए इन्हीं छह कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि उस समय जगद्गुरु भगवान सरागी ही थे, वीतरागी नहीं थे अर्थात् सांसारिक कार्यों का उपदेश सराग अवस्था में दिया जा सकता है। उन छह कर्मों में तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर आजीविका करना मसिकर्म है, जमीन को जोतना, बोना कृषि कर्म है, शास्त्र पढ़ाकर या नृत्य, गान आदि द्वारा आजीविका करना विद्या कर्म है, व्यापार करना वाणिज्य है और हस्त की कुशलता से चित्र खींचना आदि करना शिल्पकर्म है।

उसी समय आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी जो कि विपत्ति से रक्षा करना आदि गुणों के द्वारा क्रम से क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाते हैं। त्रैवर्णिकों के विवाह, जातिसंबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान की आज्ञानुसार ही होते थे। उस समय संसार में जितने भी पापरहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे। इस प्रकार से भगवान ऋषभदेव कर्मयुग का प्रारंभ करने से 'कृतयुग' कहलाये और आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा के दिन कृतयुग को प्रारंभ करने से 'प्रजापति' कहलाये थे। भगवान ने मनुष्यों को इक्षुरस संग्रह करने का उपदेश दिया था इसलिए जगत् के लोग उन्हें 'इक्ष्वाकु' कहने लगे। काश्य—तेज के रक्षक होने से 'काश्यप' कहलाये। प्रजा की आजीविका के उपायों का भी मनन करने से 'मनु' और कुलों की व्यवस्था करने से 'कुलकर' और 'कुलधर' भी कहलाये। उस समय प्रजा तीनों जगत् के स्वामी भगवान ऋषभदेव को 'विधाता', 'विश्वकर्मा' और 'स्रष्टा' आदि अनेक नामों से पुकारती थी।

**1.8.5 भगवान का सम्राट पट्टाभिषेक महोत्सव—**

सुखपूर्वक प्रजा का अनुपालन करते हुए कितना ही समय व्यतीत हो जाने पर देवों ने आकर भगवान का सम्राट पद पर अभिषेक करके महान् उत्सव मनाया। अभिषेक के लिए शुद्ध पवित्र गंगा-सिंधु आदि नदियों का, नन्दा-नन्दोत्तरा आदि वापियों का एवं क्षीरसमुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र आदि का भी जल लाया गया था और सुवर्ण घटों से गीत, नृत्य, वाद्य आदि महोत्सवपूर्वक अभिषेक प्रारंभ किया गया था। नाभिराज को आदि लेकर जो बड़े-बड़े राजा थे उन सभी ने 'सब राजाओं में श्रेष्ठ ये ऋषभदेव वास्तव में राजा के योग्य हैं ' ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक प्रारंभ किया। नगरनिवासीजनों ने भी, किसी ने कमलपत्र के दोने से, किसी ने मिट्टी के घड़े से सरयू नदी का जल लेकर

भगवान के चरणों का अभिषेक किया।

तदनन्तर भगवान की आरती उतारकर स्वर्ग से लाये गये वस्त्र-आभूषण आदि से भगवान को अलंकृत किया। 'महामुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति भगवान ऋषभदेव ही हैं ' ऐसा कहते हुए महाराज नाभिराज ने अपने मस्तक का मुकुट अपने हाथ से उतारकर भगवान के मस्तक पर धारण कराया था तदनन्तर इन्द्रगण पूर्ववत् 'आनन्द' नामक नाटक को करके देवों के साथ अपने स्थान को चले गये। भगवान का यह राज्यकाल तिरेसठ लाख पूर्व वर्षों का था जो कि पुत्र-पौत्रों के साथ सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

## 1.9 भगवान ऋषभदेव का वैराग्य—

किसी समय भगवान ऋषभदेव सभामंडप के मध्य भाग में स्थित सिंहासन पर विराजमान थे, उस समय भगवान की सेवा करने के लिए सौधर्म इन्द्र देवों और अप्सराओं के साथ पूजा की सामग्री लेकर भगवान के यहाँ आया और भगवान की आराधना करने की इच्छा से अप्सराओं और गन्धर्वों का नृत्य कराना प्रारंभ कर दिया। भगवान राज्य और भोगों से किस प्रकार विरक्त होंगे ? यह विचार कर इन्द्र ने उस समय नृत्य करने के लिए एक ऐसे पात्र को नियुक्त किया जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गई थी। वह अत्यन्त सुन्दरी 'नीलांजना' नाम की देवनर्तकी रस, भाव और लय सहित फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थी कि इतने में ही आयुरूपी दीपक के क्षय होने से वह बिजली के समान क्षण भर में अदृश्य हो गई। उसके नष्ट होते ही इन्द्र ने रसभंग के भय से उस स्थान पर उसी के समान शरीर वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा। यद्यपि दूसरी देवी खड़ी कर देने के बाद भी वही नृत्य का परिक्रम था तथापि भगवान ने उसी समय उसके स्वरूप का अन्तर जान लिया था। तत्क्षण ही भोगों से विरक्त और अत्यन्त संवेग तथा वैराग्य भावना को प्राप्त हुए भगवान मन में चिन्तवन करने लगे कि बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लता के समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल हैं। उस समय विशुद्धियों ने भगवान के हृदय में अपना स्थान जमा लिया था और वे ऐसी मालूम होती थीं कि मानों मुक्तिलक्ष्मी के द्वारा प्रेरित हुई उसकी सखियाँ ही द्वादश अनुप्रेक्षारूप से सामने आकर उपस्थित हुई हों। जगद्गुरु भगवान के अन्तःकरण की समस्त चेष्टाएं इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से जान ली थीं। उसी समय भगवान के वैराग्य की प्रशंसा करने के लिए और उनके तपकल्याणक की पूजा करने के लिए 'लौकांतिक देव' ब्रह्मलोक से उतरे। ये लौकांतिक देव सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट इस तरह आठ प्रकार के हैं। ये सभी देवों में उत्तम देवर्षि कहलाते हैं। पूर्व भव में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के अभ्यास से ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के पारंगत, विरक्त और बालब्रह्मचारी होते हैं, पाँचवे स्वर्ग के अन्तभाग में निवास करने वाले हैं और नियम से एक भवावतारी होते हैं। उन देवों ने प्रथम ही कल्पवृक्ष के पुष्पों से भगवान् के चरणों की पूजा की और फिर अनेकों अर्थों से भरे हुए स्तोत्रों से भगवान की स्तुति करने लगे। वे देव अपने इतने ही नियोग से कृतार्थ होकर अपने स्वर्ग को चले गये।

इतने में ही आसनों के कम्पायमान होने से समस्त इन्द्र अपने वाहनों और अपने-अपने निकाय के देवों के साथ आये और अयोध्यापुरी को चारों ओर से घेरकर आकाश में ही अपने-अपने निकाय के अनुसार ठहर गये। अनन्तर इन्द्रों ने क्षीरसागर के जल से उनका महाभिषेक किया और दिव्य आभूषण-वस्त्र आदि से उन्हें अलंकृत किया। भगवान ऋषभदेव ने साम्राज्यपद पर अपने बड़े पुत्र भरत का अभिषेक कर इस भारतवर्ष को उनसे सनाथ किया और युवराज पद पर बाहुबली को स्थापित किया। उस समय भगवान ऋषभदेव का तपकल्याणक महोत्सव और भरत का राज्याभिषेक हो रहा था, इन दोनों प्रकार के उत्सवों के समय स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक दोनों ही हर्ष

से विभोर हो रहे थे। भगवान ने दोनों ही पुत्रों को राज्य समर्पित करके अपने शेष पुत्रों के लिए यह पृथ्वी विभक्त कर बाँट दी थी।

**1.9.1 भगवान का दीक्षा के लिए वनगमन—**

भगवान ऋषभदेव महाराज नाभिराज आदि परिवार के लोगों से पूछकर इन्द्र के द्वारा बनाई गई 'सुदर्शन' नामक पालकी पर आरूढ़ हुए। उस समय भगवान की उस पालकी को प्रथम ही राजा लोग सात पैंड तक ले चले और फिर विद्याधर लोग आकाश में सात पैंड तक ले चले अनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवों ने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपनी कंधों पर रखी और शीघ्र ही उसे आकाश में ले गये। भगवान ऋषभदेव के माहात्म्य की प्रशंसा करना इतना ही पर्याप्त है कि उस समय देवों के अधिपति इन्द्र भी स्वयं उनकी पालकी ढो रहे थे। यक्ष जाति के देव सुगंधित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे, शीतल पवन चल रही थी और करोड़ों मंगल वाद्य बज रहे थे। भगवान के प्रस्थान करने पर यशस्वती आदि रानियाँ मंत्रियों सहित भगवान के पीछे-पीछे चलने लगीं, उस समय शोक से उनके नेत्रों में आँसू भर रहे थे। यशस्वती और सुनन्दा महादेवियाँ अन्तःपुर की मुख्य-मुख्य स्त्रियों से परिवृत्त होकर पूजा की सामग्री लेकर भगवान के पीछे-पीछे जा रही थीं। उस समय महाराज नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत्त होकर भगवान के तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। सम्राट् भरत भी नगरनिवासी, मंत्री, उच्चवंश में उत्पन्न हुए राजा और अपने छोटे-छोटे भाइयों के साथ-साथ बड़ी भारी विभूति लेकर भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे। इस प्रकार जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव अत्यन्त विस्तृत 'सिद्धार्थक' नामक वन में जा पहुँचे। वह वन अयोध्यापुरी से न तो बहुत दूर था और न बहुत निकट था। इन्द्रों की सेना भी आकाश और पृथ्वी को व्याप्त करती हुई उस सिद्धार्थक वन में जा पहुँची। यह वन अशोक, चंपक, सप्तपर्ण, आम्र और वटवृक्षों से व्याप्त अनेक पक्षियों के कलकल रवों से मनोहर था। उस वन में देवों ने पहले से ही चन्द्रकान्तमणि से निर्मित, घिसे हुए चन्दन द्वारा दिये गये मांगलिक छींटों से चर्चित विस्तृत एक शिला स्थापित कर रखी थी। उस पर इन्द्राणियों ने अपने हाथों से रत्नों के चूर्ण के चौक बनाये थे। उस शिला पर बड़े-बड़े वस्त्रों से आश्चर्यकारी मण्डप बनाया गया जो कि धूपघट, मंगल द्रव्य और ध्वजाओं से मनोहर था। पालकी से उतरकर उस शिला पर विराजमान होकर भगवान ने देवेन्द्रों, मनुष्यों से भरी हुई उस सभा को उपदेश दिया और शोकातुर प्रजा को समझाया कि हे प्रजाजनों! तुम लोग शोक छोड़ो क्योंकि जब प्राणियों का शरीर से वियोग निश्चित है, तब अन्य वस्तुओं के वियोग की बात ही क्या ? अतिशय चतुर भरत को मैंने आप लोगों की रक्षा करने में नियुक्त किया है, आप लोग निरन्तर धर्म में स्थिर रहते हुए उनकी सेवा करें। भगवान के ऐसा कहने के बाद प्रजा ने उनकी पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान आगे चलकर पूजा के कारण 'प्रयाग' नाम को प्राप्त हुआ।

प्रभु ने कुटुम्ब के लोगों तथा नम्रीभूत राजाओं से पूछकर अन्तरङ्ग-बहिरंग परिग्रह का त्याग कर दिया। भगवान पूर्व दिशा की ओर मुँह कर पद्मासन से विराजमान हुए और 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' इस मंत्र के द्वारा सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर पंचमुष्ठियों से केशलोंच किया। चैत्र कृष्णा नवमी के दिन शुभमुहूर्त, शुभलग्न और उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सायंकाल के समय भगवान ने दीक्षा धारण की थी। भगवान के मस्तक पर निवास करने से पवित्र हुए केशों को इन्द्र ने रत्न के पिटारे में रखकर आदरपूर्वक उन्हें क्षीर समुद्र में क्षेपण किया।

उसी समय इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र तथा भोज आदि वंशों के चार हजार राजाओं ने भी स्वामिभक्तिवश नग्न दीक्षा धारण कर ली। 'जो हमारे स्वामी को अच्छा लगता है, वही हम लोगों को भी विशेषरूप से अच्छा लगना चाहिए' बस यही सोचकर वे राजा द्रव्यलिंगी साधु हो गये थे, भावों से नहीं। उन राजाओं में कितने ही स्नेह से, कितने ही मोह से और कितने ही भय से भगवान को दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हो गये थे। दीक्षा लेने के पश्चात् इन्द्र भगवान के रूप को एक

हजार नेत्रों से देखकर भी तृप्त नहीं हुआ और बहुत देर तक अनेकों स्तोत्रों से स्तुति करता रहा तत्पश्चात् भरत महाराज ने बड़ी भारी शक्ति से सुगंधित जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ्य विशेष से जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की पूजा की। आम, जामुन, अनार, सुपारी के गुच्छे और नारियल आदि फलों से भगवान के चरणों की पूजा की और बारम्बार नमस्कार करने लगे।

**1.9.2 मिथ्यात्व की प्रवृत्ति—**

भगवान को दीक्षा लेते ही मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो चुका था। समस्त लोक के अधिपति ऋषभदेव शरीर से ममत्व छोड़कर छह महीने के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मौन से निश्चल ध्यान में लीन हो गये थे। भगवान ऋषभदेव जब परम निस्पृह होकर विराजमान थे तब बिना विचारे दीक्षित हुए कच्छ, महाकच्छ आदि राजाओं का धैर्य छूटने लगा, दीक्षा धारण किये हुए दो-तीन माह भी नहीं हुए थे कि अपने को मुनि मानने वाले द्रव्यलिंगी साधुओं ने परीषहों से, क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं से घबराकर धैर्य छोड़ दिया और भगवान से प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन्! हमें क्या करना चाहिए ? भगवान प्राय: प्राणों से विरक्त होकर शरीर को छोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं परन्तु हम लोग प्राणहरण करने वाले इस तप से ही खिन्न हो गये इसलिए जब तक भगवान का ध्यान समाप्त नहीं होता तब तक हम लोग वन में उत्पन्न हुए कन्दमूल, फल आदि द्वारा ही अपना जीवन निर्वाह करेंगे। इस प्रकार कितने ही कातर पुरुष तपस्या से उदासीन होकर अत्यन्त दीन वचन कहते हुए दीनवृत्ति धारण करने के लिए तैयार हो गये और फल लाने की इच्छा से वनखण्डों में फैलने लगे और प्यास से पीड़ित होकर तालाबों पर जाने लगे। उन लोगों को अपने हाथ से फल ग्रहण करते और पानी पीते देखकर वन देवताओं ने उन्हें मना किया और कहा कि ऐसा मत करो। अरे मूर्खों! यह दिगम्बर रूप सर्वश्रेष्ठ अरिहंत तथा चक्रवर्ती आदि के द्वारा भी धारण करने योग्य है, इसे तुम लोग कातरता का स्थान मत बनाओ अर्थात् इस उत्कृष्ट वेश को धारण कर दीनों की तरह अपने हाथ से फल मत तोड़ो और न तालाब आदि का अप्रासुक पानी ही पीवो। वन देवताओं के ऐसे वचन सुनकर वे लोग दिगम्बर वेश में वैसा करने से डर गये इसलिए उन दीन चेष्टा वाले भ्रष्ट तपस्वियों ने अनेकों वेष धारण कर लिए।

उनमें से कितने ही लोग वृक्षों के वल्कल धारण कर फल खाने लगे और पानी पीने लगे, कितने ही जीर्ण-शीर्ण लंगोटी लगाकर अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे, कितने ही लोग शरीर को भस्म से लपेटकर जटाधारी हो गये, कितने ही एक दण्ड को धारण करने वाले और कितने ही तीन दण्ड को धारण करने वाले साधु बन गये। वे लोग भरत महाराज के डर से अपने-अपने नगरों में नहीं गये किन्तु झोंपड़े बनाकर उसी वन में रहने लगे थे, उनमें कितने ही पारिव्राजक हो गये थे। मोहोदय से दूषित होकर पाखण्डियों में प्रमुख हो गये थे। वे लोग जल और फूलों के उपहार से भगवान ऋषभदेव के चरणों की पूजा करते थे। स्वयंभू ऋषभदेव भगवान को छोड़कर उनके अन्य कोई देवता नहीं था। भगवान ऋषभदेव का पौत्र, भरत का पुत्र मरीचि कुमार भी पारिव्राजक होकर उन पाखण्डियों में अग्रणी हो गया था। योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र प्रारंभ में उसी के द्वारा कहे गये थे।

**1.9.3. भगवान की तपश्चर्या—**

भगवान ऋषभदेव मेरुपर्वत के समान निष्कम्प ध्यान में लीन थे। उस समय भगवान के केश संस्काररहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे। वे जटाएँ वायु से उड़कर महामुनि भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गई थीं, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो ध्यानरूपी अग्नि से तपाये हुए जीवरूपी स्वर्ण से निकली हुई कालिमा ही हो। भगवान के तपश्चरण के अतिशय से वहाँ वन में दिन-रात के विभाग से रहित तेज व्याप्त हो गया था, सभी ऋतु के फल, पुष्प आदि वन की शोभा बढ़ा रहे थे। जन्मजात वैरभाव को छोड़कर सिंह, हरिण आदि एक साथ भगवान के चरणों की उपासना कर रहे थे।

इसी बीच में महाराज कच्छ, महाकच्छ के दो पुत्र भगवान के समीप आये। इनका नाम नमि और विनमि था। ये दोनों भक्ति से विभोर होकर भगवान के चरणों में नमस्कार करके बोले—हे भगवन्! आप हम पर प्रसन्न होइये। आपने अपना यह साम्राज्य पुत्र तथा पौत्रों के लिए बांट दिया है और बाँटते समय हम दोनों को भुला ही दिया इसलिए अब हमें भी कुछ भोग सामग्री दीजिए। ध्यान रहे कि ये नमि-विनमि भगवान के भतीजे लगते थे अर्थात् कच्छ-महाकच्छ राजाओं की बहनें यशस्वती और सुनन्दा भगवान की पत्नी थीं और ये कच्छ-महाकच्छ राजाओं के पुत्र थे।

उस समय इन दोनों के द्वारा भगवान के ध्यान में विघ्न होने के निमित्त से धरणेन्द्र देव का आसन कम्पित हुआ और वह आकर इन दोनों को समझाने लगा कि आप लोग भरत के पास जाइये। ये भगवान तो सर्वथा भोगों से निस्पृह हो चुके हैं, भोगों की इच्छा करने वाले तुम दोनों को भोग कैसे दे सकते हैं ? ये केवल मोक्ष का उद्योग कर रहे हैं, तुम्हें इनके पास धरना देना व्यर्थ है। धरणेन्द्र के वचन सुनकर वे दोनों भाई बोले कि हमारे बीच में आपको अनधिकारी चेष्टा करना गलत है, हम त्रैलोक्यनाथ भगवान को छोड़कर भरत के पास नहीं जायेंगे।

धरणेन्द्र इनका हठवाद, स्वाभिमान और भगवान के प्रति भक्ति देखकर प्रसन्न हो गया। तब उसने कहा कि मैं पाताल लोक का इन्द्र धरणराज हूँ, भगवान तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हैं। उन्होंने तुम्हें भोगोपभोग सामग्री देने के लिए मुझे यहाँ भेजा है। तुम मेरे साथ शीघ्र ही चलो। ऐसा सुनकर वे दोनों भगवान की प्रसन्नता तथा आज्ञा समझकर शीघ्र ही धरणेन्द्र के साथ चल पड़े। धरणेन्द्र देव दोनों कुमारों को विमान में बैठाकर आकाशमार्ग से शीघ्र ही विजयार्ध पर्वत पर पहुँचा। यह विजयार्ध पर्वत पचास योजन चौड़ा, पच्चीस योजन ऊँचा, पूर्वापर लवण समुद्र को स्पर्श करते हुए लम्बा है। यह भरतक्षेत्र के बीच में है। इसकी पहली श्रेणी में दक्षिण में पचास एवं उत्तर दिशा में साठ नगरियाँ हैं। इनमें विद्याधर मनुष्य निवास करते हैं। यहाँ पर आर्यखण्डों की तरह षट्काल का परिवर्तन नहीं होता है किन्तु चतुर्थ काल के आदि-अंत के समान परिवर्तन होता है। यहाँ ईति, भीति, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि नहीं होते हैं।

ऊँची-ऊँची ध्वजाओं से सुशोभित 'रथनूपुरचक्रवाल' नाम के नगर में धरणेन्द्र ने इन दोनों को लेकर प्रवेश किया और वहाँ दोनों को सिंहासन पर बैठाकर विद्याधरों से कहा कि ये तुम्हारे स्वामी हैं और फिर उस धरणेन्द्र ने विद्याधरियों के हाथों से उठाये हुए सुवर्ण के बड़े-बड़े कलशों से इन दोनों का राज्याभिषेक कर दिया। बाद में धरणेन्द्र ने विद्याधरों से कहा कि जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग का अधिपति है, उसी तरह ये नमि महाराज अब दक्षिण श्रेणी के अधिपति हैं और ये विनमि महाराज उत्तर श्रेणी के अधिपति हैं। कर्मभूमिरूपी जगत् को उत्पन्न करने वाले जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने अपनी सम्मति से इन दोनों को यहाँ भेजा है इसलिए सब विद्याधर राजा प्रेम से मस्तक झुकाकर इनकी आज्ञा धारण करें। धरणेन्द्र के उपदेश से समस्त विद्याधरों ने उन्हें अपना राजा स्वीकृत कर लिया।

### 1.9.4 भगवान ऋषभदेव का आहार—

जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव को योग धारण किये हुए जब छह माह पूर्ण हो गये, तब यतियों की चर्या—आहार लेने की विधि बतलाने के उद्देश्य से शरीर की स्थिति के अर्थ निर्दोष आहार ढूंढने के लिए वे ऐसा विचार करने लगे कि बड़े दुःख की बात है कि बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए ये नव-दीक्षित साधु समीचीन मार्ग का परिज्ञान न होने के कारण इन क्षुधा, तृषा आदि परीषहों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये इसलिए अब मोक्षमार्ग बतलाने के लिए सुखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि के लिए आहार लेने की विधि बतलाता हूँ। मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले, मनचाहे तथा मधुर भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वश में रहें और कुमार्ग की ओर न दौड़ें, उस प्रकार मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार निश्चय करके धीर-वीर भगवान योग समाप्त कर अपने चरणनिक्षेपों से इस पृथ्वीतल पर विहार करने लगे। ईर्यापथ से चलते हुए भगवान जिस ओर जाते थे, वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न होकर बड़े संभ्रम से आकर उन्हें प्रणाम करते थे। उस समय सभी लोग आहारदान की विधि से अनभिज्ञ थे। भगवान क्यों विहार कर रहे हैं ? ये भी नहीं समझते थे। कितने ही लोग भगवान के पीछे-पीछे चलने लगते थे तो कितने ही लोग महान् अनर्घ्य रत्नों को भेंट में लाकर प्रार्थना करते कि हे देव! प्रसन्न होइये और हमारी तुच्छ पूजा स्वीकार कीजिए, कितने ही लोग करोड़ों पदार्थ, करोड़ों वाहन समीप में ले आते किन्तु भगवान को उनसे कुछ प्रयोजन न होने से वे चुपचाप आगे चले जाते। कितने ही गन्ध, वस्त्र, आभरण आदि ले आते और कितने ही अज्ञानी नवयौवन कन्याओं को ले आते और उनसे विवाह करने की प्रार्थना करने लगते, कितने ही भोजन सामग्री ले आते थे।

इस प्रकार जगत् को आश्चर्य करने वाली गूढ़चर्या से उत्कृष्ट चर्या धारण करने वाले भगवान के छह महीने और भी व्यतीत हो गये। इस तरह एक वर्ष पूर्ण होने पर भगवान ऋषभदेव कुरुजांगल देश के आभूषण के समान सुशोभित हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। वहाँ के स्वामी राजा सोमप्रभ कुरुवंश के शिखामणि थे और उनके छोटे भाई राजा 'श्रेयांस कुमार' थे। उन श्रेयांस कुमार को रात्रि के पिछले प्रहर में कुछ उत्तम-उत्तम स्वप्न हुए जिसका फल पुरोहित के वचनों से सुनकर दोनों भाई भगवान की कथा करते हुए बैठे ही थे कि इतने में भगवान ऋषभदेव अकेले ही विहार करते हुए हस्तिनापुर में आ गये। सिद्धार्थ नामक द्वारपाल से प्रभु के आगमन का समाचार सुनकर दोनों भाइयों ने राजमहल के आँगन के बाहर आकर नम्रीभूत होकर भगवान के चरणों को भक्ति से नमस्कार किया, प्रदक्षिणाएँ दीं और जल से चरणों का प्रक्षालन कर पूजा करके अर्घ्य समर्पण करने लगे अर्थात् महामुनि ऋषभदेव का पड़गाहन किया।

भगवान् के रूप को देखकर राजा 'श्रेयांस कुमार' को जातिस्मरण हो गया, जिससे उन्हें अपने पूर्व भवसंबंधी श्रीमती और वज्रजंघ का समस्त वृत्तांत याद हो आया अर्थात् इससे पूर्व आठवें भव में भगवान आदिनाथ का जीव राजा वज्रजंघ था और राजा श्रेयांस कुमार का जीव रानी श्रीमती था। इन युगल दम्पत्तियों ने बड़ी भक्ति से चारण ऋद्धिधारी युगल मुनियों को आहारदान दिया था। उसका राजा श्रेयांस को इस समय स्मरण हो गया। इससे मुनियों के आहारदान की सारी विधि को समझकर राजा श्रेयांस शीघ्र ही भगवान को आहारदान देने में तत्पर हो गये थे। मुनिराज का पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थान पर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, काय की शुद्धि और आहार की शुद्धि का निवेदन करना, ये दान देने वाले की नवधा भक्ति कहलाती है। "इस प्रकार नवधाभक्तिपूर्वक राजा सोमप्रभ, उनकी रानी लक्ष्मीमती और श्रेयांस कुमार आदरपूर्वक भगवान के हाथ की अंजुलि में इक्षुरस का आहार दे रहे थे।" उस समय इस महादान के प्रभाव से आकाश से देवों के द्वारा पंचाश्चर्य वृष्टि की गई थी। वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था। यही कारण है कि आज भी उस दिन को 'अक्षय तृतीया' कहते हैं।

तदनन्तर देवों से समीचीन दान और उसके फल की घोषणा सुनकर महाराज भरत भी वहाँ आकर श्रेयांस को दानतीर्थ प्रवर्तक मानकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। चार ज्ञान के धारक भगवान इस प्रकार से एक हजार वर्ष तक तपश्चरण करते रहे।

### 1.10 भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान का उदय—

किसी समय विचार करते हुए भगवान 'पुरिमतालपुर' नामक नगर के 'शकटास्य' नामक उद्यान में वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पर्यंकासन से विराजमान हो गये। इस नगर के राजा वृषभसेन भगवान के पुत्र और भरत के छोटे भाई थे। उस समय भगवान ने ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया और उन्हें लोक-परलोकप्रकाशी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को केवलज्ञान प्रगट होते ही तीनों लोकों में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो गया था। उस समय अपने आप कल्पवासी देवों के यहाँ

घण्टा बजने लगा, ज्योतिषी देवों के यहाँ बड़ा भारी सिंहनाद होने लगा, व्यन्तर देवों के यहाँ नगाड़ों की ध्वनि होने लगी और भवनवासी देवों के भवनों में शंखनाद शुरू हो गया। समस्त इन्द्रों के आसन एक साथ कम्पित हो उठे और कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगी। अवधिज्ञानी इन्द्र ने इन सब चिन्हों से भगवान के केवलज्ञानरूपी वैभव को जान लिया और भक्ति से मस्तक झुकाकर नमस्कार किया।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने तत्क्षण ही देव कारीगरों के साथ सुन्दर समवसरण बना दिया। इन्द्रनीलमणि से निर्मित गोल यह समवसरण बारह योजन विस्तृत कमल के आकार का होता है। इसके मध्य में गंधकुटी कर्णिका के आकार की ऊँची उठी हुई होती है। समवसरण की दिव्यभूमि स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है। केवलज्ञान होने के बाद भगवान इस पृथ्वीतल से पाँच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चले जाते हैं। एक धनुष चार हाथ का होता है। समवसरण में बीस हजार सीढ़ियाँ होती हैं जो कि एक हाथ प्रमाण ऊँची रहती हैं। समवसरण में चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वथा प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं। समवसरण की चार महावीथियों में चार मानस्तंभ होते हैं, जिनके दर्शन से ही मिथ्यादृष्टि भव्यों के मान गलित हो जाते हैं।

समवसरण में बाहरी भाग में सबसे पहले रत्नों के चूर्ण से निर्मित धूलिसाल नाम का कोट (परकोट) है अनन्तर मानस्तंभ, परिखाभूमि और लताभूमि हैं। आगे सुवर्णमय कोट है जिसके चारों गोपुर द्वारों पर व्यंतर देव गदा आदि हाथ में लेकर पहरेदार बने हुए हैं। अनन्तर अशोक, चंपक आदि वनभूमि, वन वेदिका, ध्वजभूमि हैं। इनके बाद रजतमय द्वितीय कोट है जिस पर भवनवासी देव पहरा देते हैं। इसके बाद कल्पवृक्ष भूमि, वनवेदिका स्तूप आदि हैं अनन्तर स्फटिक मणि से निर्मित तृतीय कोट है। इनके गोपुर द्वारों पर कल्पवासी देव गदा आदि हाथ में लेकर पहरेदार बने हुए हैं। इस स्फटिक मणि के कोट को लेकर पीठ पर्यंत लम्बी और महावीथियों के आश्रित सोलह दीवालें हैं। ये दीवालें स्फटिक कोट से लेकर पीठ पर्यंत लम्बी हैं और बारह सभाओं का विभाग कर रही हैं। उन दीवालों के ऊपर रत्नमय खम्भों से खड़ा हुआ और आकाश स्फटिक मणि का बना हुआ बहुत बड़ा अतिशय शोभायुक्त "श्रीमण्डप" बना हुआ है, उस श्रीमण्डप का ऐसा अतिशय है कि वह अपने में एक साथ तीनों लोकों के समस्त जीवों को स्थान दे सकता है। वह महान् ऊँचा तथा स्वच्छ है और द्वितीय आकाश के समान मालूम पड़ता है।

उस श्रीमण्डप से घिरे क्षेत्र के मध्य भाग में पहले पीठिका स्थित है, जो वैडूर्यमणि निर्मित है। इस पीठिका पर सुवर्ण निर्मित दूसरी पीठिका है तथा इसके ऊपर सर्व रत्नों से निर्मित तृतीय पीठिका है। यह पीठ तीन कटनियों से युक्त है, धर्म चक्रों से सुशोभित है। तृतीय पीठ के सिंहासन पर चार अंगुल अधर भगवान श्री ऋषभदेव विराजमान हो रहे हैं। समवसरण में बारह सभाएँ होती हैं, उनमें भगवान के दाहिनाँ ओर से लेकर (1) मुनि (2) कल्पवासिनी देवियाँ (3) आर्यिकाएं (4) ज्योतिषी देवों की देवियाँ (5) व्यंतर देवों की देवियाँ (6) भवनवासी देवों की देवियाँ (7) भवनवासी देव (8) व्यंतर देव (9) ज्योतिषी देव (10) कल्पवासी देव (11) मनुष्य और (12) तिर्यंच ये बारह गण पृथक्-पृथक् अपने-अपने विस्तृत स्थानों पर बैठते हैं।

**1.10.1 संक्षेप में समवसरण की रचना—**

सबसे पहले धूलिसाल के बाद चार दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, फिर निर्मल जल से भरी हुई परिखा हैं, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) हैं, उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएं हैं, उसके आगे दूसरा अशोक, आम्र आदि का वन है, उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके बाद स्तूप और स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है, उसके भीतर मनुष्य, तिर्यंच, देव और मुनियों की बाहर सभाएँ हैं, तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयंभू भगवान अरिहन्त देव विराजमान हैं।

**1.10.2 भगवान के आठ प्रातिहार्य—**

अशोक वृक्ष, रत्नमय सिंहासन, छत्रत्रय, भामंडल, दिव्यध्वनि (वाणी), पुष्पवृष्टि, चौंसठ चँवरों का ढुरना और दुंदुभि बाजे बजना ये आठ महाप्रातिहार्य होते हैं।

तीर्थंकर अर्हंतों के आठ प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और चार अनन्त चतुष्टय ये 46 गुण माने गये हैं।

**1.10.3 जन्म के दस अतिशय—**

स्वेदरहितता, निर्मल शरीरता, दूध के समान धवल रुधिर आदि का होना, वज्रवृषभनाराच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अनुपम रूप, चंपक पुष्प की उत्तम गंध के समान सुगंधि धारण करना, अनन्त बलवीर्य और हित-मित एवं मधुर भाषण तथा 1008 लक्षणों का होना ये दश अतिशय तीर्थंकर के जन्मकाल से ही होते हैं।

**1.10.4 केवलज्ञान के दश अतिशय—**

अपने पास की चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्षता, आकाशगमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारों तरफ मुख का दिखना, छायारहितता, निर्निमेषदृष्टि, सब विद्याओं की ईश्वरता, नख और केशों का न बढ़ना, ये दश अतिशय घातिकर्म के क्षय से उत्पन्न होते हैं।

**1.10.5 विशेष चौदह अतिशय या देवकृत चौदह अतिशय—**

(1) अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्रभाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं उनमें तालु, दंत, ओष्ठ और कंठ के व्यापार से रहित होकर एक साथ भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना। भगवान की स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों संध्या कालों में नव मुहूर्तों तक खिरती है और एक योजन पर्यंत जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप वह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। (2) तीर्थंकरों के माहात्म्य से असमय में संख्यात योजनों तक षट्ऋतु के फल-फूलों का फलना (3) कंटक, धूलि आदि को दूर करते हुए मंद सुगंध वायु का चलना (4) सभी जीवों का परस्पर में मैत्रीभाव (5) दर्पणतल सदृश भूमि का स्वच्छ रत्नमय होना (6) इन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार द्वारा सुगंधित जल की वर्षा का होना (7) फलों के भार से नम्रीभूत शालि आदि खेती का होना (8) सब जीवों को नित्य आनन्द का उत्पन्न होना (9) वायुकुमार द्वारा शीतल पवन का चलना (10) कूप और तालाब आदि का शीतल जल से पूर्ण होना (11) आकाश का स्वच्छ होना (12) सम्पूर्ण जीवों को रोगादि बाधाओं का नहीं होना (13) धर्मचक्रों का आगे-आगे चलना (14) तीर्थंकरों के विहार में चरण कमलों के तले दिव्य सुवर्ण कमलों की रचना का होना, ये चौदह अतिशय देवकृत माने गये हैं। इस प्रकार ऐसे चौंतीस अतिशय भगवान के होते हैं।

**1.10.6 अनन्तचतुष्टय—**

अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय कहलाते हैं।

**1.10.7 प्रथम गणधरदेव—**

उसी समय अनेक राजाओं से परिवृत्त राजा ऋषभसेन भगवान के पास आये और संयम धारण करते ही मनःपर्ययज्ञान तथा सप्त ऋद्धियों से सहित होकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये। राजा श्रेयांस कुमार और सोमप्रभ ने भी दीक्षा ले ली और गणधर हो गये। ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कन्याएं भी अनेक स्त्रियों के साथ आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।

**1.10.8 भरत का आगमन—**

उसी समय भरत महाराज को पुत्रोत्पत्ति, चक्ररत्न प्राप्ति और भगवान को केवलज्ञान का लाभ ये तीनों समाचार

एक साथ मिले। तब भरत महाराज ने धर्म के माहात्म्य को समझकर सर्वप्रथम समवसरण में जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और अन्त में पुत्र जन्मोत्सव मनाया।

**1.10.9 भगवान के पुत्र अनन्तवीर्य का प्रथम ही मोक्षगमन—**

भरत के भाई अनन्तवीर्य ने भी संबोधन पाकर भगवान से दीक्षा प्राप्त की थी, देवों ने उनकी भी पूजा की। वह इस अवसर्पिणी युग में मोक्ष प्राप्त करने के लिए सबमें अग्रगामी हुए अर्थात् इस युग में अनन्तवीर्य ने सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया था। जो तपस्वी पहले भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से मरीचिकुमार को छोड़कर बाकी सब तपस्वी लोग भगवान के समीप संबोधन पाकर तत्त्वों का यथार्थस्वरूप समझकर फिर से दीक्षित हो तपस्या करने लगे और अपने-अपने परिणामों के अनुसार उत्तमगति को प्राप्त हो गये।

भगवान ने एक हजार वर्ष बाद मौन खोला था अर्थात् दीक्षा लेने के बाद भगवान ने मौन रखा था और एक हजार वर्ष बाद केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि खिरी थी, इसलिए ऐसा कथन है।

**1.10.10 चतुर्विधसंघ—**

भगवान ऋषभदेव के समवसरण में 84 गणधर, 84000 ऋषिगण, 350000 आर्यिकाएँ, 300000 श्रावक और 500000 श्राविकाएँ थीं। प्रत्येक तीर्थंकरों के तीर्थ में असंख्यात देव-देवियाँ, असंख्यात मनुष्य एवं असंख्यात तिर्यंच जीव उपदेश का लाभ लेते हैं।

**1.10.11 तीर्थप्रवर्तन काल—**

भगवान ऋषभदेव का तीर्थप्रवर्तन काल एक पूर्वांग अधिक पचास लाख करोड़ सागर प्रमाण कहा गया है।

**1.10.12 भगवान का उपदेश—**

सौधर्म इन्द्र ने चतुर्निकाय देवों के साथ समवसरण में आकर भगवान की तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, सैकड़ों स्तुतियों से स्तुति की और उपदेश सुनने के इच्छुक होते हुए अपनी सभा में बैठ गये, वैसे ही महाराज भरत भी भगवान की दिव्य वस्तुओं से पूजा और स्तुति करके मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। भगवान की अनक्षरी दिव्यध्वनि खिरी। इस दिव्यध्वनि में आचारांग आदि बारह अंगों का उपदेश हुआ और प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे चार अनुयोगों का भी उपदेश हुआ है।

**1.10.13 ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति—**

यह पहले बताया जा चुका है कि भगवान ऋषभदेव जब गृहस्थाश्रम में थे, तब अपने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की स्थिति को समझकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण स्थापित किये थे।

किसी समय भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओं के साथ भारतवर्ष को जीतकर साठ हजार वर्ष में दिग्विजय से वापस लौटे। तब उनके मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि हम भगवान की पूजा को चाहे जितने विशेष रूप से कर सकते हैं किन्तु दान लेने में निःस्पृह रहने वाले दिगम्बर मुनि हम लोगों से धन लेते नहीं हैं परन्तु ऐसा गृहस्थ कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजा करने योग्य है। चक्रवर्ती ने ऐसे अणुव्रतधारी श्रावकों की परीक्षा करके उन्हें दान-मान आदि सत्कार से सम्मानित किया, पद्म नाम की निधि से ब्रह्मसूत्र लेकर इन व्रतिकों को यज्ञोपवीत प्रदान किये, उपासकाध्ययन अंग से उन्हें इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया।

व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शास्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और सेवा कर्म करने से शूद्र कहलाते हैं।

जो एक बार गर्भ से, दूसरी बार क्रिया से ऐसे दो बार जन्म लेते हैं वे द्विजन्मा या द्विज कहलाते हैं। महाराज भरत ने इन्हें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया का भी उपदेश दिया था।

किसी समय भरत महाराज ने पूछा कि हे भगवन्! मैंने यह ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति की है सो इसमें गुण हैं या दोष ? कृपा कर कहिए। भगवान ने कहा कि हे भरत! जो तुमने धर्मात्मा द्विजों की पूजा की है सो अच्छा किया है किन्तु इसमें कुछ दोष हैं उसे तुम सुनो। जब तक चतुर्थ काल की स्थिति रहेगी तब तक तो प्रायः ये उचित आचार का पालन करते रहेंगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायेगा तब ये जातिवाद के अभिमान से सदाचार से भ्रष्ट होकर समीचीन मोक्षमार्ग के विरोधी बन जायेंगे। यद्यपि यह ब्राह्मणों की सृष्टि कालान्तर में दोष का बीजरूप है तथापि धर्मसृष्टि का उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है। वर्णाश्रम की रक्षा करने वाले भरत ने गुरुदेव के वचन सुनकर संदेह दूर कर अपना चित्त निर्मल किया।

## 1.11 भगवान ऋषभदेव का निर्वाणगमन—

इस प्रकार सज्जनों को मोक्षरूपी उत्तम फल की प्राप्ति कराने के लिए भगवान ने अपने गणधरों के साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्षों तक विहार किया और जब आयु के चौदह दिन बाकी रह गये तब योगों का निरोध कर पौषमास की पूर्णमासी के दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखर के बीच में कैलाशपर्वत पर जाकर विराजमान हो गये। उसी रात्रि में भरत महाराज ने स्वप्न में देखा कि महामेरुपर्वत अपनी लम्बाई से सिद्धक्षेत्र तक पहुँच गया है। अर्ककीर्ति, गृहपति, प्रधानमंत्री आदि ने भी कुछ-कुछ स्वप्न देखे। सभी ने प्रातः निर्णय किया कि भगवान ऋषभदेव का मोक्ष होने वाला है। भरत महाराज उसी दिन वहाँ कैलाशपर्वत पर आ गये और चौदह दिन बराबर अखंड पूजा करते रहे।

माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्र में भगवान ऋषभदेव पूर्व दिशा की ओर मुँह करके अनेक मुनियों के साथ पर्यंकासन से विराजमान थे, उन्होंने तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम के शुक्लध्यान से तीनों योगों का निरोध किया और फिर अंतिम गुणस्थान में ठहरकर पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल में चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के शुक्लध्यान से अघातिया कर्मों का नाश किया। औदारिक, तैजस और कार्माण इन तीनों शरीरों के नाश से सिद्धत्व पर्याय प्राप्तकर वे सम्यक्त्व आदि निज के आठ गुणों से युक्त हो क्षण भर में ही तनुवातवलय में जा पहुँचे तथा वहाँ पर नित्य, निरंजन अपने अंतिम शरीर से कुछ न्यून, अमूर्त, आत्मसुख में तल्लीन और निरन्तर संसार को देखते हुए विराजमान हो गये।

उसी समय मोक्षकल्याणक की पूजा करने की इच्छा से सब देवगणों ने "यह भगवान का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष का साधन, स्वच्छ और निर्मल है" यह विचार कर उसे बहुमूल्य पालकी में विराजमान किया। तदनन्तर जो अग्निकुमार देवों के इन्द्र के रत्नों की कान्ति से देदीप्यमान उन्नत मुकुट से उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थों और घी, दूध आदि से बढ़ाई गई है, ऐसी अग्नि से जगत् की अभूतपूर्व सुगंधि प्रगट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी। तदनन्तर उन्हीं इन्द्रों ने पंचकल्याणक को प्राप्त होने वाली श्री ऋषभदेव के शरीर की भस्म उठाई और हम लोग भी ऐसे ही हों, यही सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में, गले में और वक्षस्थल में लगाई।

उधर भरत महाराज पिता के वियोग से विह्वल हुए शोकरूपी अग्नि से पीड़ित हो गये तब श्री वृषभसेन गणधर ने उन्हें बहुत समझाया और उनके संतप्त चित्त को धर्मामृत वचनों से शान्त किया।

जब चतुर्थकाल के प्रारंभ होने में तीन वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष थे तब भगवान ऋषभदेव ने मोक्षपद प्राप्त किया था। अनन्तर चतुर्थकाल में अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत 22 तीर्थंकर और हुए हैं तत्पश्चात भगवान महावीर हुए हैं।

## 1.12 प्रश्नावली-

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान ऋषभदेव के दस भव पूर्व उनका क्या नाम था ?

(क) शतमति ☐ (ख) राजा महाबल ☐ (ग) महामति ☐

**प्रश्न 2**-भगवान ऋषभदेव का जन्म किस स्थान पर हुआ था ?

(क) बनारस ☐ (ख) सारनाथ ☐ (ग) अयोध्या ☐

**प्रश्न 3**-कृतयुग का प्रारंभ करने से वे भगवान.....कहलाये थे ?

(क) प्रजापति ☐ (ख) ब्रह्मा ☐ (ग) विधाता ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान के 34 अतिशयों के नाम लिखिए ?

**प्रश्न 2**-षट्कर्म के नाम व परिभाषा क्या हैं, इनका उपदेश किसने दिया था ?

**प्रश्न 3**-भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी-सुन्दरी को विद्याध्ययन किस विधि से कराया तथा अपने पुत्रों को कौन-कौन से शास्त्रादि पढ़ाए ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान के पंचकल्याणक का विस्तार से वर्णन कीजिए ?

# पाठ 2—श्री अजितनाथ से महावीर पर्यन्त तीर्थंकर परम्परा

## 2.1 तीर्थंकर अजितनाथ-

इस जम्बूद्वीप के अतिशय प्रसिद्ध पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नाम का विशाल देश है। उसके सुसीमा नामक नगर में विमलवाहन राजा राज्य करते थे। किसी समय राज्यलक्ष्मी से निस्पृह होकर राजा विमलवाहन ने अनेकों राजाओं के साथ गुरू के समीप में दीक्षा धारण कर ली। ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त कर दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन करके तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लिया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके विजय नामक अनुत्तर विमान में तेतीस सागर आयु के धारक अहमिंद्र हो गये।

**पंचकल्याणक वैभव**—इन महाभाग के स्वर्ग से पृथ्वीतल पर अवतार लेने के छह माह पूर्व से ही प्रतिदिन जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्रीय राजा जितशत्रु के घर में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा की थी। ज्येष्ठ मास की अमावस के दिन विजयसेना ने सोलह स्वप्नपूर्वक भगवान को गर्भ में धारण किया और माघ शुक्ल दशमी के दिन अजितनाथ तीर्थंकर को जन्म दिया। देवों ने ऋषभदेव के समान इनके भी गर्भ, जन्मकल्याणक महोत्सव मनाये। अजितनाथ की आयु बहत्तर लाख पूर्व की, शरीर की ऊँचाई चार सौ पचास धनुष की और वर्ण सुवर्ण सदृश था। एक लाख पूर्व कम अपनी आयु के तीन भाग तथा एक पूर्वांग तक उन्होंने राज्य किया। किसी समय भगवान महल की छत पर सुख से विराजमान थे, तब उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया पुनः देवों द्वारा आनीत 'सुप्रभा' पालकी पर आरूढ़ होकर माघ शुक्ल नवमी के दिन सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ बेला का नियम लेकर दीक्षित हो गये।

प्रथम पारणा में साकेत नगरी के ब्रह्म राजा ने पायस (खीर) का आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

बारह वर्ष की छद्मस्थ अवस्था के बाद पौष शुक्ल एकादशी के दिन सायं के समय रोहिणी नक्षत्र में सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ हो गये। इनके समवसरण में सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे। एक लाख मुनि, प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ और असंख्यात देव-देवियाँ थीं। भगवान बहुत काल तक आर्यखंड में विहार करके भव्यों को उपदेश देकर अंत में सम्मेदाचल पर पहुँचे और एक मास का योग निरोध कर चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन प्रातःकाल के समय सर्व कर्म से छूटकर सिद्ध पद प्राप्त किया।

## 2.2 तीर्थंकर संभवनाथ-

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक 'कच्छ' नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में राजा विमलवाहन राज्य करते थे। एक दिन उन्होंने किसी कारण से विरक्त होकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों को पढ़कर उन्हीं भगवान के चरण सान्निध्य में सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने-वाले तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लिया। संन्यासविधि से मरण कर प्रथम ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में तेतीस सागर आयु वाले अहमिन्द्र देव हो गए।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की 'श्रावस्ती' नगरी के राजा दृढ़राज इक्ष्वाकुवंशीय, काश्यपगोत्रीय थे। उनकी रानी का नाम सुषेणा था। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन, मृगशिरा नक्षत्र में रानी ने पूर्वोक्त अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया और कार्तिक शुक्ला पौर्णमासी के दिन मृगशिरा नक्षत्र में तीन ज्ञानधारी पुत्र को जन्म दिया। इन्द्र ने पूर्वोक्त विधि से गर्भकल्याणक मनाया था, उस समय जन्मोत्सव करके 'संभवनाथ' यह नाम रखा। इनकी आयु साठ लाख पूर्व की तथा ऊँचाई चार सौ धनुष थी। भगवान को राज्यसुख का अनुभव करते हुए जब चवालीस लाख पूर्व और

चार पूर्वांग व्यतीत हो चुके, तब किसी दिन मेघों का विभ्रम देखने से उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। तब भगवान देवों द्वारा लाई गई 'सिद्धार्था' पालकी में बैठकर सहेतुक वन में शाल्मली वृक्ष के नीचे जाकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। भगवान की प्रथम पारणा का लाभ श्रावस्ती के राजा सुरेन्द्रदत्त ने प्राप्त किया था। संभवनाथ भगवान चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में मौन से तपश्चरण करते हुए दीक्षा वन में शाल्मली वृक्ष के नीचे कार्तिक कृष्णा चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र में अनन्तचतुष्टय को प्राप्त कर केवली हो गये। इनके समवसरण में चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधर थे, दो लाख मुनि, धर्मार्या आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। अन्त में जब आयु का एक माह अवशिष्ट रहा तब उन्होंने सम्मेदाचल पर जाकर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण किया तथा चैत्रमास के शुक्लपक्ष की षष्ठी के दिन सूर्यास्त के समय मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया। देवों द्वारा किए गए पंचकल्याणक महोत्सव को पूर्ववत् समझना चाहिए।

## 2.3 तीर्थंकर अभिनंदनाथ-

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मंगलावती देश है उसके रत्नसंचय नगर में महाबल राजा रहता था। किसी दिन विरक्त होकर विमलवाहन गुरू के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंग का पठन करके सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन किया, तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके अन्त में समाधिमरणपूर्वक विजय नाम के अनुत्तर विमान में तेतीस सागर आयु वाला अहमिन्द्र देव हो गया।

**पंचकल्याणक वैभव—** इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अयोध्या नगरी के स्वामी इक्ष्वाकुवंशीय काश्यपगोत्रीय 'स्वयंवर' नाम के राजा थे, उनकी 'सिद्धार्था' महारानी थीं। माता ने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन उस अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया और माघ शुक्ला द्वादशी के दिन उत्तम पुत्र को उत्पन्न किया। सौधर्म इन्द्र ने देवों सहित मेरू पर्वत पर जन्ममहोत्सव मनाया और भगवान का 'अभिनन्दननाथ' नाम प्रसिद्ध करके वापस माता-पिता को सौंप गये। उनकी आयु पचास लाख पूर्व और ऊँचाई साढ़े तीन सौ धनुष की थी। कुमार काल के साढ़े बारह लाख पूर्व वर्ष बीत जाने पर राज्य पद को प्राप्त हुए, राज्य काल के साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो गये और आठ पूर्वांग शेष रहे तब वे एक दिन आकाश में मेघों का महल नष्ट होता देखकर विरक्त हो गये और देवनिर्मित 'हस्तचित्रा' नामक पालकी पर आरूढ़ होकर माघ शुक्ला द्वादशी के दिन बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली, उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। पारणा के दिन साकेत नगरी के राजा इन्द्रदत्त ने भगवान को क्षीरान्न का आहार कराया और पंचाश्चर्य को प्राप्त किया।

छद्मस्थ अवस्था के अठारह वर्ष बीत जाने पर दीक्षा वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हुए। पौष शुक्ल चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इनके समवसरण में वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर, तीन लाख मुनि, मेरुषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएँ, असंख्यातों देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच बारह सभा में बैठकर धर्मोपदेश श्रवण करते थे।

इन अभिनन्दननाथ भगवान ने अन्त में सम्मेदशिखर पर पहुँचकर एक महीने का प्रतिमायोग लेकर वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रों के द्वारा किये गये सारे वैभव यहाँ भी समझना चाहिए।

## 2.4 तीर्थंकर सुमतिनाथ-

धातकीखंडद्वीप में मेरूपर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का देश है। उसकी पुंडरीकिणी नगरी में रतिषेण नाम का राजा था। किसी दिन राजा ने विरक्त होकर अपना राज्य पुत्र को

देकर अर्हन्नन्दन जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शनविशुद्धि आदि कारणों से तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

**पंचकल्याणक वैभव**—वैजयन्त विमान से च्युत होकर वह अहमिन्द्र इसी भरतक्षेत्र के अयोध्यापति मेघरथ की रानी मंगलावती के गर्भ में आया, वह दिन श्रावण शुक्ला द्वितीया का था। तदनन्तर चैत्र माह की शुक्ला एकादशी के दिन माता ने सुमतिनाथ तीर्थंकर को जन्म दिया। वैशाख सुदी नवमी के दिन प्रातःकाल सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। छद्मस्थ अवस्था में बीस वर्ष बिताकर सहेतुक वन में प्रियंगु वृक्ष के नीचे चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन केवलज्ञान को प्राप्त किया। इनकी सभा में एक सौ सोलह गणधर, तीन लाख बीस हजार मुनि, अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। अन्त में भगवान ने सम्मेदाचल पर पहुँचकर एक माह तक प्रतिमायोग से स्थित होकर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया। सारे पंचकल्याणक महोत्सव आदि पूर्ववत् समझना ।

## 2.5 तीर्थंकर पद्मप्रभदेव-

धातकीखंड द्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीतानदी के दक्षिण तट पर वत्सदेश है। उसके सुसीमा नगर के अधिपति अपराजित थे। किसी दिन भोगों से विरक्त होकर पिहितास्रव जिनेन्द्र के पास दीक्षा धारण कर ली, ग्यारह अंगों का अध्ययन कर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अन्त में ऊर्ध्व ग्रैवेयक के प्रीतिंकर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी जम्बूद्वीप की कौशाम्बी नगरी में धरण महाराज की सुसीमा रानी ने माघ कृष्ण षष्ठी के दिन उक्त अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया। कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन पुत्ररत्न को उत्पन्न किया। इन्द्रों ने जन्मोत्सव के बाद उनका नाम 'पद्मप्रभ' रखा। किसी समय दरवाजे पर बंधे हुए हाथी की दशा सुनने से उन्हें अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो गया जिससे भगवान को वैराग्य हो गया। वे देवों द्वारा लाई गई 'निवृत्ति' नाम की पालकी पर बैठ मनोहर नाम के वन में गये और कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन दीक्षा ले ली। छह मास छद्मस्थ अवस्था के व्यतीत हो जाने पर चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन मध्यान्ह में केवलज्ञान प्रकट हो गया। बहुत काल तक भव्यों को धर्मोपदेश देकर फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी के दिन सम्मेदाचल से मोक्ष को प्राप्त कर लिया।

## 2.6 तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ-

धातकीखंड के पूर्व विदेह में सीतानदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश है, उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिषेण राजा राज्य करते थे। कदाचित् भोगों से विरक्त होकर नन्दिषेण राजा ने अर्हन्नन्दन गुरू के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन कर दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। सन्यास से मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र नामक मध्यम विमान में अहमिन्द्र हो गये।

**पंचकल्याणक वैभव**—इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष सम्बन्धी काशीदेश में बनारस नाम की नगरी थी उसमें सुप्रतिष्ठित महाराज राज्य करते थे। उनकी पृथ्वीषेणा रानी के गर्भ में भगवान भाद्रपद शुक्ला षष्ठी के दिन आ गये। अनन्तर ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन उस अहमिन्द्र पुत्र को उत्पन्न किया। इन्द्र ने जन्मोत्सव के बाद सुपार्श्वनाथ नाम रखा। सभी तीर्थंकरों को अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के बाद देशसंयम हो जाता है। किसी समय भगवान ऋतु का परिवर्तन देखकर वैराग्य को प्राप्त हो गये। तत्क्षण देवों द्वारा लाई गई 'मनोगति' पालकी पर बैठकर सहेतुक वन में जाकर ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। सोमखेट नगर के महेन्द्रदत्त राजा ने भगवान को प्रथम आहारदान दिया। छद्मस्थ अवस्था के नौ वर्ष व्यतीत कर फाल्गुन कृष्णा षष्ठी के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया। आयु अन्त के एक माह पहले सम्मेदशिखर पर जाकर एक माह का प्रतिमायोग लेकर

फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन सूर्योदय के समय मोक्ष को चले गये।

### 2.7 तीर्थंकर चन्द्रप्रभदेव-

इस मध्यलोक के पूर्व धातकीखंड द्वीप में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मंगलावती नाम का देश है। इसके रत्नसंचय नगर में कनकप्रभ राजा राज्य करते थे, उनकी कनकमाला रानी थी। वह अच्युतेन्द्र वहाँ से आकर इन दोनों के पद्मनाभ नाम का पुण्यशाली पुत्र हुआ। किसी समय पद्मनाभ राजा श्रीधर मुनि के समीप धर्मोपदेश श्रवण कर दीक्षित हो गये, सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन कर ग्यारह अंग में पारंगत होकर सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन-कठिन तप करने लगे। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके आयु के अन्त में विधिवत् मरण करके वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हो गये। इनके श्रीवर्मा, श्रीधरदेव, अजितसेन चक्रवर्ती, अच्युतेन्द्र, पद्मनाभ, अहमिन्द्र, चन्द्रप्रभ भगवान ये सात भव प्रसिद्ध हैं।

**पंचकल्याणक वैभव**—अनन्तर जब इनकी छह माह की आयु बाकी रह गई, तब जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में चन्द्रपुर नगर के महासेन राजा की लक्ष्मणा महादेवी के यहाँ रत्नों की वर्षा होने लगी। चैत्र कृष्णा पंचमी के दिन गर्भकल्याणक महोत्सव हुआ एवं पौष कृष्ण एकादशी के दिन भगवान चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ। किसी समय दर्पण में अपना मुख देख रहे थे कि भोगों से विरक्त होकर देवों द्वारा लाई गई 'विमला' नाम की पालकी पर बैठकर सर्वर्तुक वन में गये। वहाँ पौष कृष्णा एकादशी के दिन हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। पारणा के दिन नलिन नामक नगर में सोमदत्त के यहाँ आहार हुआ था। तीन माह का छद्मस्थ काल व्यतीत कर भगवान दीक्षावन में नागवृक्ष के नीचे फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। ये चन्द्रप्रभ भगवान समस्त आर्य देशों में विहार कर धर्म की प्रवृत्ति करते हुए सम्मेदशिखर पर पहुँचे। एक माह तक प्रतिमायोग से स्थित होकर फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सायंकाल के समय शुक्लध्यान के द्वारा सर्वकर्म को नष्ट कर सिद्धपद को प्राप्त हो गये।

### 2.8 तीर्थंकर पुष्पदंतनाथ-

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व दिग्भाग में जो मेरू पर्वत है उसके पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का एक देश है उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। किसी दिन भूतहित जिनराज की वंदना करके धर्मोपदेश सुनकर विरक्तमना राजा दीक्षित हो गया। ग्यारह अंगरूपी समुद्र का पारगामी होकर सोलहकारण भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया और समाधिमरण के प्रभाव से प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हो गया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की काकन्दी नगरी में इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्रीय सुग्रीव नाम का क्षत्रिय राजा था, उनकी जयरामा नाम की पट्टरानी थी। उन्होंने फाल्गुन कृष्णा नवमी के दिन 'प्राणतेन्द्र' को गर्भ में धारण किया और मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्र को जन्म दिया। इन्द्र ने बालक का नाम 'पुष्पदन्त' रखा। पुष्पदन्तनाथ राज्य करते हुए एक दिन उल्कापात से विरक्ति को प्राप्त हुए तभी लौकान्तिक देवों से स्तुत्य भगवान इन्द्र के द्वारा लाई गई 'सूर्यप्रभा' पालकी में बैठकर मगसिर सुदी प्रतिपदा को दीक्षित हो गये। शैलपुर नगर के पुष्पमित्र राजा ने भगवान को प्रथम आहारदान दिया था। छद्मस्थ अवस्था के चार वर्ष के बाद नागवृक्ष के नीचे विराजमान भगवान को कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आर्यदेश में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए भगवान अन्त में सम्मेदशिखर पहुँचकर भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन सर्व कर्म से मुक्ति को प्राप्त हो गए।

### 2.9 तीर्थंकर शीतलनाथ-

पुष्करवरद्वीप के पूर्वार्ध भाग में मेरू पर्वत के पूर्व विदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नाम का एक देश है, उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नाम का राजा रहता था। किसी समय बसन्त ऋतु की शोभा समाप्त होने के बाद राजा को वैराग्य हो गया और आनन्द नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर विपाकसूत्र तक अंगों का अध्ययन किया,

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके आरण नामक स्वर्ग में इन्द्र हो गया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मलयदेश के भद्रपुर नगर का स्वामी दृढ़रथ राज्य करता था, उसकी महारानी का नाम सुनन्दा था। रानी सुनन्दा ने चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन उस आरणेन्द्र को गर्भ में धारण किया एवं माघ शुक्ला द्वादशी के दिन भगवान शीतलनाथ को जन्म दिया। भगवान किसी समय वन विहार करते हुए क्षण भर में पाले के समूह (कुहरा) को नष्ट हुआ देखकर राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर देवों द्वारा लाई गई 'शुक्रप्रभा' नाम की पालकी पर बैठकर सहेतुक वन में पहुँचे और माघ कृष्णा द्वादशी के दिन स्वयं दीक्षित हो गये। अरिष्ट नगर के पुनर्वसु राजा ने उन्हें प्रथम खीर का आहार दिया था। अनन्तर छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष बिताकर पौष कृष्ण चतुर्दशी के दिन बेल वृक्ष के नीचे केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। अन्त में सम्मेदशिखर पहुँचकर एक माह का योग निरोध कर आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन कर्म शत्रुओं को नष्ट कर मुक्तिपद को प्राप्त हो गये।

## 2.10 तीर्थंकर श्रेयांसनाथ-

पुष्करार्धद्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र के सुकच्छा देश में सीता नदी के उत्तर तट पर क्षेमपुर नाम का नगर है। उसमें नलिनप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। एक समय सहस्राम्रवन में श्री अनन्त जिनेन्द्र पधारे। उनके धर्मोपदेश से विरक्तमना राजा बहुत से राजाओं के साथ दीक्षित हो गया। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके समाधिमरणपूर्वक अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में अच्युत नाम का इन्द्र हुआ।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सिंहपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकुवंश से प्रसिद्ध 'विष्णु' नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी वल्लभा का नाम सुनन्दा था। ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में उस अच्युतेन्द्र ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। सुनन्दा ने नौ मास बिताकर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन तीन ज्ञानधारी भगवान को जन्म दिया। इन्द्र ने जिन बालक का नाम 'श्रेयांसनाथ' रखा। किसी समय बसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर भगवान को वैराग्य हो गया, तदनन्तर देवों द्वारा उठाई जाने योग्य 'विमलप्रभा' पालकी पर विराजमान होकर मनोहर नामक उद्यान में पहुँचे और फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दूसरे दिन सिद्धार्थ नगर के नन्द राजा ने भगवान को खीर का आहार दिया। छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष बीत जाने पर मनोहर नामक उद्यान में तुंबुरू वृक्ष के नीचे माघ कृष्णा अमावस्या के दिन सायंकाल के समय भगवान को केवलज्ञान प्रगट हो गया। धर्म का उपदेश देते हुए सम्मेदशिखर पर पहुँचकर एक माह तक योग का निरोध करके श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान श्रेयांसनाथ निःश्रेयस पद को प्राप्त हो गये।

## 2.11 तीर्थंकर वासुपूज्यनाथ-

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरू की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश है। उसके अतिशय प्रसिद्ध रत्नपुर नगर में पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। किसी दिन मनोहर नाम के पर्वत पर युगन्धर जिनेन्द्र विराजमान थे। पद्मोत्तर राजा वहाँ जाकर भक्ति, स्तोत्र, पूजा आदि करके अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करते हुए दीक्षित हो गया। ग्यारह अंगों का अध्ययन करके दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं की सम्पत्ति से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया जिससे महाशुक्र विमान में महाशुक्र नाम का इन्द्र हुआ।

**पंचकल्याणक वैभव**—इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में चम्पानगर में 'अंग' नाम का देश है जिसका राजा वसुपूज्य था और रानी जयावती थी। आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन रानी ने पूर्वोक्त इन्द्र को गर्भ में धारण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन पुण्यशाली पुत्र को उत्पन्न किया। इन्द्र ने जन्म उत्सव करके पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम रखा। जब कुमार काल के अठारह लाख वर्ष बीत गये, तब संसार से विरक्त होकर भगवान जगत के यथार्थस्वरूप का विचार करने लगे।

तत्क्षण ही देवों का आगमन हो जाने पर देवों द्वारा निर्मित पालकी पर सवार होकर मनोहर नामक उद्यान में गये और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन छह सौ छिहत्तर राजाओं के साथ स्वयं दीक्षित हो गये। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर भगवान ने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर माघ शुक्ल द्वितीया के दिन सायंकाल में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। भगवान बहुत समय तक आर्यखंड में विहार कर चम्पानगरी में आकर एक वर्ष तक रहे। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब योग निरोध कर रजतमालिका नामक नदी के किनारे की भूमि पर वर्तमान चम्पापुरी नगरी में स्थित मन्दारगिरि के शिखर को सुशोभित करने वाले मनोहर उद्यान में पर्यंकासन से स्थित होकर भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन चौरानवे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।

## 2.12 तीर्थंकर विमलनाथ-

पश्चिम धातकीखंड द्वीप में मेरू पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नाम का एक देश है। उसके महानगर में पद्मसेन राजा राज्य करता था। किसी एक दिन राजा पद्मसेन ने प्रीतिंकर वन में स्वर्गगुप्त केवली के समीप धर्म का स्वरूप जाना और यह भी जाना कि 'मैं तीसरे भव में तीर्थंकर होऊँगा।' उस समय उसने ऐसा उत्सव मनाया कि मानो मैं तीर्थंकर ही हो गया हूँ। अनन्तर सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। अन्त में सहस्रार स्वर्ग में सहस्रार इन्द्र हो गया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी भरतक्षेत्र के कांपिल्य नगर में भगवान ऋषभदेव का वंशज कृतवर्मा नाम का राजा राज्य करता था। जयश्यामा उसकी प्रसिद्ध महादेवी थी। उसने ज्येष्ठ कृष्णा दशमी के दिन उस इन्द्र को गर्भ में धारण किया, माघ कृष्णा चतुर्थी के दिन जयश्यामा ने तीन लोक के गुरू भगवान को जन्म दिया। इन्द्र ने उनका नाम 'विमलनाथ' रखा।

एक दिन भगवान ने हेमन्त ऋतु में बर्फ की शोभा को तत्क्षण में विलीन होते हुए देखा, जिससे उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण हो गया। तत्क्षण ही भगवान विरक्त हो गये। तदनन्तर देवों द्वारा लाई गई 'देवदत्ता' पालकी पर बैठकर सहेतुक वन में गये और स्वयं दीक्षित हो गये, उस दिन माघ शुक्ला चतुर्थी थी। जब तपश्चर्या करते हुए तीन वर्ष बीत गये, तब भगवान दीक्षावन में जामुन वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ होकर घातिया कर्मों का नाशकर माघ शुक्ला षष्ठी के दिन केवली हो गये। अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर एक माह का योग निरोध कर आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन सिद्धपद को प्राप्त हो गये।

## 2.13 तीर्थंकर अनन्तनाथ-

धातकीखंडद्वीप के पूर्व मेरू से उत्तर की ओर अरिष्टपुर नगर में पद्मरथ राजा राज्य करता था। किसी दिन उसने स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप जाकर वंदना-भक्ति आदि करके धर्मोपदेश सुना और विरक्त हो दीक्षा ले ली। ग्यारह अंगरूपी सागर का पारगामी होकर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में सल्लेखना से मरण कर अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्रपद प्राप्त किया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी सिंहसेन महाराज राज्य करते थे, उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के दिन वह अच्युतेन्द्र रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। नव माह के बाद ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पुत्र उत्पन्न हुआ। इन्द्र ने पुत्र का नाम 'अनन्तनाथ' रखा। भगवान को राज्य करते हुए पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये, तब एक दिन उल्कापात देखकर भगवान विरक्त हो गये। भगवान देवों द्वारा निर्मित पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये तथा ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। छद्मस्थावस्था के दो वर्ष बीत जाने पर चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर एक माह का योग निरोधकर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन परमपद को प्राप्त कर लिया।

## 2.14 तीर्थंकर धर्मनाथ-

पूर्व धातकीखंडद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है, उसमें सुसीमा नाम का महानगर है। वहाँ पर राजा दशरथ राज्य करता था। एक बार वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन सब लोग उत्सव मना रहे थे उसी समय चन्द्रग्रहण पड़ा देखकर राजा दशरथ का मन भोगों से विरक्त हो गया। उसने दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके अन्त में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक रत्नपुर नाम का नगर था उसमें कुरूवंशीय काश्यपगोत्रीय महाविभव सम्पन्न भानु महाराज राज्य करते थे उनकी रानी का नाम सुप्रभा था। रानी सुप्रभा के गर्भ में वह अहमिन्द्र वैशाख शुक्ल त्रयोदशी के दिन अवतीर्ण हुए और माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन रानी ने भगवान को जन्म दिया। इन्द्र ने धर्मतीर्थ प्रवर्तक भगवान को 'धर्मनाथ' कहकर सम्बोधित किया था। किसी एक दिन उल्का के देखने से भगवान विरक्त हो गये और नागदत्ता नाम की पालकी में बैठकर शालवन के उद्यान में पहुँचे। माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन एक हजार राजाओं के साथ स्वयं दीक्षित हो गये। तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर दीक्षावन में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे पौष शुक्ल पूर्णिमा के दिन केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। आर्यखण्ड में सर्वत्र धर्मोपदेश देकर भगवान अन्त में सम्मेदशिखर पधारे और एक माह का योग निरोध कर आठ सौ नौ मुनियों के साथ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त हुए।

## 2.15 तीर्थंकर शांतिनाथ-

इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है उसकी पुंडरीकिणी नगरी में राजा घनरथ राज्य करते थे, उनकी मनोहरा नाम की सुन्दर रानी थी। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक से च्युत होकर उन्हीं दोनों के मेघरथ नाम का पुत्र हुआ। उसके जन्म के पहले गर्भाधान आदि क्रियाएँ हुई थीं। उन्हीं घनरथ राजा की मनोरमा नाम की दूसरी रानी से सहस्त्रायुध का जीव (अहमिन्द्र) दृढ़रथ नाम का पुत्र हो गया। राजा घनरथ ने तरुण होने पर मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा और मनोरमा के साथ किया था और दृढ़रथ का विवाह सुमतिदेवी से किया था। इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि सुख के समस्त साधनों से युक्त राजा घनरथ सिंहासन पर बैठकर इन्द्र की लीला धारण कर रहे थे।

**शान्तिनाथ का जन्म**—कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर राजधानी में काश्यप गोत्रीय राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ऐरावती था। भगवान शान्तिनाथ के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही इन्द्र की आज्ञा से हस्तिनापुर नगर में माता के आँगन में रत्नों की वर्षा होने लगी और श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर हो गईं। भादों वदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रानी ने गर्भ धारण किया। उस समय स्वर्ग से देवों ने आकर तीर्थंकर महापुरुष का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की।

नव मास व्यतीत होने के बाद रानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन याम्ययोग में प्रातःकाल के समय तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी समय चार प्रकार के देवों के यहाँ स्वयं ही बिना बजाये शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घंटानाद होने लगे। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्राणी और असंख्य देवगणों सहित नगर में आया तथा भगवान को सुमेरू पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक मनाया। अभिषेक के अनन्तर भगवान को अनेकों वस्त्रालंकारों से विभूषित करके उनका 'शान्तिनाथ' यह नाम रखा, इस प्रकार भगवान को हस्तिनापुर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर पुनरपि आनन्द नामक नाटक करके अपने-अपने स्थान पर चले गये।

भगवान की आयु एक लाख वर्ष की थी। शरीर चालीस धनुष ऊँचा था। सुवर्ण के समान कांति थी। ध्वजा, तोरण,

शंख, चक्र आदि एक हजार आठ शुभ चिन्ह उनके शरीर में थे। उन्हीं विश्वसेन की यशस्वती रानी के चक्रायुध नाम का एक पुत्र हुआ। देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए भगवान शान्तिनाथ अपने छोटे भाई चक्रायुध के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। भगवान की यौवन अवस्था आने पर उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कान्ति आदि से विभूषित अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

इस तरह भगवान के जब कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम से उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करते हुए जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये, तब उनकी आयुधशाला में चक्रवर्ती के वैभव को प्रगट करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चक्र को आदि लेकर चौदह रत्न और नवनिधियाँ प्रगट हो गईं। इन चौदह रत्नों में चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे और कन्या, गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गईं थीं।

चक्ररत्न के प्रकट होने के बाद भगवान ने विधिवत् दिग्विजय करके छह खण्ड को जीतकर इस भरतक्षेत्र में एकछत्र शासन किया था। जहाँ पर स्वयं भगवान शान्तिनाथ इस पृथ्वी पर प्रजा का पालन करने वाले थे, वहाँ के सुख और सौभाग्य का क्या वर्णन किया जा सकता है ? इस प्रकार चक्रवर्ती के साम्राज्य में भगवान की छ्यानवे हजार रानियाँ थीं, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे और बत्तीस यक्ष हमेशा चामरों को ढुराया करते थे। चक्रवर्तियों के साढ़े तीन करोड़ बन्धु कुल होते हैं। अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, तीन करोड़ उत्तम वीर, अनेकों करोड़ विद्याधर और अठासी हजार म्लेच्छ राजा होते हैं। छ्यानवे करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेट, चौबीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब और अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं, इत्यादि अनेकों वैभव होते हैं।

**चौदह रत्नों के नाम**—अश्व, गज, गृहपति, स्थपति, सेनापति, स्त्री और पुरोहित ये सात जीवित रत्न हैं एवं छत्र, असि, दण्ड, चक्र, काकिणी, चिन्तामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं।

**नवनिधियों के नाम**—काल, महाकाल, पाण्डु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नौ निधियाँ हैं। ये क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्यों, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती है।

**दशांग भोग**—दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भोजन, भाजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्तियों के दशांग भोग होते हैं।

इस प्रकार संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियों से वेष्टित भगवान शान्तिनाथ चक्रवर्ती के साम्राज्य को प्राप्त कर दस प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए सुख से काल व्यतीत कर रहे थे। भगवान तीर्थंकर और चक्रवर्ती होने के साथ-साथ कामदेव पद के धारक भी थे।

**भगवान का वैराग्य**—जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष साम्राज्य पद में व्यतीत हो गये, तब एक समय अलंकारगृह के भीतर अलंकार धारण करते हुए उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई दिये। उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्वजन्म का स्मरण भी हो गया, तब भगवान संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का विचार करते हुए विरक्त हो गये। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर अनेकों स्तुतियों से पूजा-स्तुति की। अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्र सभी देवगणों के साथ उपस्थित हो गये। भगवान ने नारायण नाम के पुत्र का राज्याभिषेक करके सभी कुटुम्बियों को यथायोग्य उपदेश दिया।

**भगवान का दीक्षा ग्रहण**—अनन्तर इन्द्र ने भगवान का दीक्षाभिषेक करके 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की पालकी में विराजमान करके हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्र वन में प्रवेश किया। उसी समय ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दी के दिन भरणी नक्षत्र

में बेला का नियम लेकर भगवान ने पंचमुष्टि लोंच करके 'नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके ध्यान में स्थिर होते ही मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर लिया।

**भगवान का आहार**—मन्दिरपुर के राजा सुमित्र ने भगवान शान्तिनाथ को खीर का आहार देकर पंचाश्चर्य वैभव को प्राप्त किया। इस प्रकार अनुक्रम से तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये।

**भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति**—भगवान शान्तिनाथ सहस्राम्र वन में नंद्यावर्त वृक्ष के नीचे पर्यंकासन से स्थित हो गये और पौष कृष्ण दशमी के दिन अन्तर्मुहूर्त में दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का नाश कर बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का सर्वथा अभाव करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञान से विभूषित हो गये और उन्हें एक समय में ही सम्पूर्ण लोकालोक स्पष्ट दीखने लगा। पहले भगवान ने चक्ररत्न से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर साम्राज्य पद प्राप्त किया था, अब भगवान ने ध्यानचक्र से विश्व में एकछत्र राज्य करने वाले मोहराज को जीतकर केवलज्ञानरूपी साम्राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना कर दी।

**समवसरण में भव्यजीवों का प्रमाण**—भगवान के समवसरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे। बासठ हजार मुनिगण और साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ, असंख्यातों देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। इस प्रकार बारहगणों के साथ-साथ भगवान ने बहुत काल तक धर्म का उपदेश दिया।

**भगवान का मोक्षगमन**—जब भगवान की आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आए और विहार बंदकर अचलयोग से विराजमान हो गये। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भगवान चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा चारों अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो गये। वे नित्य, निरंजन, कृतकत्य सिद्ध हो गये। उसी समय इन्द्रादि चार प्रकार के देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक की पूजा की और अन्तिम संस्कार करके भस्म से अपने ललाट आदि उत्तमांगों को पवित्र कर स्व-स्वस्थान को चले गये।

ये शान्तिनाथ भगवान तीर्थंकर होने से बारहवें भव पूर्व राजा श्रीषेण थे और मुनि को आहारदान देने के प्रभाव से भोगभूमि में गये थे। फिर देव हुये, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए। उस भव में इन्होंने दीक्षा ली थी और एक वर्ष का योग धारण कर खड़े हो गये थे, तब इनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई थीं, सर्पों ने वामी बना ली थीं, पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे और ये वज्रायुध मुनिराज ध्यान में लीन रहे थे। अनन्तर अहमिन्द्र हुए, फिर मेघरथ राजा हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करते हुए सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन किया था और उसके प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था। फिर वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, फिर वहाँ से आकर जगत् को शांति प्रदान करने वाले सोलहवें तीर्थंकर और पंचम चक्रवर्ती ऐसे शान्तिनाथ भगवान हुए।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस संसार में अन्य लोगों की बात जाने दीजिए, श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र को छोड़कर भगवान तीर्थंकरों में ऐसा कौन है जिसने पूर्व के बारह भवों में से प्रत्येक भव में बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की हो!

इसलिये हे विद्वान लोगों! यदि तुम शान्ति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र का निरन्तर ध्यान करते रहो। यही कारण है कि आज भी भव्यजीव शांति प्राप्ति के लिए श्री शान्तिनाथ की आराधना करते हैं।

पुष्पदन्त तीर्थंकर से लेकर सात तीर्थंकरों तक उनके तीर्थकाल में धर्म की व्युच्छित्ति हुई अतः धर्मनाथ तीर्थंकर के बाद पौन पल्य अन्तर पाव पल्य काल तक इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के दोष से उस पावपल्यप्रमाण काल तक दीक्षा लेने वालों का अभाव हो जाने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो

गया था, उस समय शान्तिनाथ ने जन्म लिया था। तब से आज तक धर्मपरम्परा अविछिन्नरूप से चली आ रही है इसलिए उत्तरपुराण में भी गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि—

'भोगभूमि आदि कारणों से नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों के द्वारा पुनः-पुनः दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक ले जाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका, तदनन्तर जो शांतिनाथ भगवान ने मोक्षमार्ग प्रकट किया, वही आज तक अखण्डरूप से बाधारहित चला आ रहा है इसलिए इस युग के आद्यगुरू श्री शांतिनाथ भगवान ही हैं क्योंकि उनके पहले जो 15 तीर्थंकरों ने मोक्षमार्ग चलाया था, वह बीच-बीच में विनष्ट होता जाता था।'

जिनके शरीर की ऊँचाई एक सौ आठ हाथ है, जो पंचम चक्रवर्ती हैं और कामदेव पद के धारी है, जिनके हरिण का चिन्ह है, जो भादों वदी सप्तमी को माता के गर्भ में आये, ज्येष्ठ वदी चौदस को जन्म लिया और ज्येष्ठ वदी चौदस को ही दीक्षा ग्रहण किया, पौष शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञानी हुए पुनः ज्येष्ठ वदी चौदस को ही मुक्तिधाम को प्राप्त हुए, ऐसे शांतिनाथ भगवान सदैव हम सबको शांति प्रदान करें।

## 2.16 तीर्थंकर कुंथुनाथ-

इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है। उसके सुसीमा नगर में सिंहरथ राजा राज्य करता था। वह राजा किसी समय उल्कापात देखकर विरक्त हो गया और विरक्त होकर संयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। अन्त में समाधिमरण करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो गये।

**पंचकल्याणक वैभव**—कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कौरववंशी काश्यप गोत्रीय महाराज सूरसेन राज्य करते थे। उनकी पट्टरानी का नाम श्रीकान्ता था। उस पतिव्रता देवी ने देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी। श्रावण कृष्णा दशमी के दिन रानी ने सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया। उस समय इन्द्रों ने आकर भगवान का गर्भमहोत्सव मनाया और माता की पूजा करके स्वस्थान को चले गये। क्रम से नव मास व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी समय इन्द्रादि देवगण आये और बालक को सुमेरू पर्वत पर ले जाकर महामहिम जन्माभिषेक महोत्सव करके अलंकारों से अलंकृत किया एवं बालक का नाम 'कुन्थुनाथ' रखा। वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर देवगण स्वस्थान को चले गये। पंचानवे हजार वर्ष की उनकी आयु थी। पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाए हुए स्वर्ण के समान शरीर की कान्ति थी।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकाल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और इतना ही काल बीत जाने पर उन्हें वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिली। इस प्रकार वे बाधारहित, निरन्तर दस प्रकार के भोगों का उपभोग करते थे। सारा वैभव शान्तिनाथ के समान ही था। किसी समय भगवान षडंग सेना से संयुक्त होकर क्रीड़ा से वहाँ वापस लौट रहे थे कि मार्ग में उन्होंने किसी मुनि को आतपयोग से स्थित देखा। देखते ही मंत्री के प्रति तर्जनी अंगुली से इशारा किया कि देखो-देखो! मंत्री उन मुनिराज को देखकर नतमस्तक हो गया और पूछने लगा कि हे देव! इस तरह कठिन तप कर ये क्या फल प्राप्त करेंगे ? चक्रवर्ती कुंथुनाथ हँसकर कहने लगे कि ये मुनि या तो इसी भव से कर्म काटकर निर्वाण प्राप्त करेंगे या तप के प्रभाव से शाश्वत धाम प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह का त्याग नहीं करते, वे संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं, इत्यादि रूप से भगवान ने मंत्री को मोक्ष तथा संसार के कारणों का निरूपण किया। चक्रवर्ती पद के साम्राज्य का उपभोग करते हुए भगवान के तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत हो गये।

किसी समय भगवान को पूर्वभव का स्मरण हो जाने से आत्मज्ञान प्राप्त हो गया और वे भोगों से विरक्त हो गये, उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर प्रभु का स्तवन-पूजन किया। उन्होंने अपने पुत्र को राज्यभार देकर इन्द्रों द्वारा किया हुआ दीक्षाकल्याणक उत्सव प्राप्त किया। देवों द्वारा लाई गई विजया नाम की पालकी में सवार होकर भगवान

सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ तेला का नियम लेकर वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन कृतिका नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय प्रभु को मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन हस्तिनापुर के धर्ममित्र राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इसी प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष बीत गये। किसी दिन भगवान तेला का नियम लेकर तप करने के लिए वन में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहाँ चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर पैंतीस गणधर, साठ हजार मुनिराज, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवी और संख्यातों तिर्यंच थे। भगवान दिव्यध्वनि के द्वारा चिरकाल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार करते रहे। भगवान का केवली काल तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष का था।

जब भगवान की आयु एक मास की शेष रह गयी, तब वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे और प्रतिमायोग धारण कर लिया। वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में समस्त कर्मों से रहित, नित्य, निरंजन, सिद्धपद को प्राप्त हो गये। ये कुंथुनाथ भगवान तीर्थंकर होने के तीसरे भव पहले सिंहरथ राजा थे, मुनि अवस्था में सोलहकारण भावनाओं के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया पुनः सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर कुंथुनाथ नाम के 17वें तीर्थंकर, छठे चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारक हुए हैं।

तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण के अनुसार इन भगवान के भी गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक हस्तिनापुर में ही हुए हैं। भगवान का गर्भकल्याणक श्रावण कृष्णा दशमी को हुआ, दीक्षाकल्याणक चैत्र शुक्ला तृतीया को हुआ तथा जन्म, केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक वैशाख शुक्ला प्रतिपदा को हुआ है। भगवान के शरीर की ऊँचाई 140 हाथ प्रमाण थी, बकरे का चिन्ह था, ऐसे सत्रहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ भगवान हम और आप सबको शाश्वत सुख प्रदान करें।

## 2.17 तीर्थंकर अरनाथ-

इस जम्बूद्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में धनपति राजा राज्य करता था। किसी दिन उसने अर्हन्नन्दन तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से धर्मामृत का पान किया, जिससे विरक्त होकर शीघ्र ही जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। ग्यारहअंगरूपी महासागर का पारगामी होकर सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। अन्त में प्रायोपगमन संन्यास के द्वारा मरण करके जयंतविमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी भरतक्षेत्र के कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर नगरी है। यहाँ सोमवंश में उत्पन्न हुए काश्यप गोत्रीय राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी मित्रसेना नाम की रानी थी। रानी ने रत्नवृष्टि आदि देवसत्कार पाकर फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन गर्भ में अहमिन्द्र के जीव को धारण किया। उसी समय देवों ने आकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। रानी मित्रसेना ने नव मास के बाद मगसिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्यनक्षत्र में पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवों ने बालक को सुमेरूपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करके भगवान का 'अरनाथ' नाम रखा। भगवान की आयु 84 हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊँचा अर्थात् 120 हाथ ऊँचा शरीर था। सुवर्ण के समान शरीर की कांति थी।

भगवान के कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मंडलेश्वर के योग्य राज्यपद प्राप्त हुआ, इसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। इस तरह भोग भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया, तब शरद ऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय होना देखकर भगवान को वैराग्य हो गया। लौकांतिक देवों के द्वारा स्तुत्य भगवान अपने अरविन्द कुमार को राज्य देकर देवों द्वारा उठाई हुई 'वैजयंती' नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुँचे। तेला का नियम कर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में भगवान ने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन चक्रपुर नगर के अपराजित राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया।

जब भगवान के छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बीत गये, तब वे दीक्षावन में कार्तिक शुक्ल दशमी के दिन रेवती

नक्षत्र में आम्रवन के नीचे तेला का नियम लेकर विराजमान हुए और घातिया कर्मों का नाशकर केवली बन गये। देवों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। भगवान के समवसरण में तीस गणधर, पचास हजार मुनि, साठ हजार आर्यिकाएँ, एक लाख साठ हजार श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। इस तरह बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान अरनाथ ने बीस हजार नौ सौ चौरासी वर्ष केवली अवस्था में व्यतीत किये।

जब एक माह की आयु शेष रही, तब भगवान सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमायोग से स्थित हो गये। चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में सम्पूर्ण कर्मों से रहित अशरीरी होकर सिद्धपद को प्राप्त हो गये। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ सातवें चक्रवर्ती थे। तीर्थंकर से पूर्व तीसरे भव में ये भगवान अरनाथ धनपति नाम के राजा थे, दीक्षा लेकर सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया था पुनः जयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर अरनाथ तीर्थंकर हुए हैं। इनका मत्स्य का चिन्ह है।

इन अरनाथ के भी गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चारों कल्याणक हस्तिनापुर नगर में ही हुए हैं। इनको मुक्त हुए लगभग सौ अरब, पैंसठ लाख, छ्यासी हजार, पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ भगवान सदा हम सबकी रक्षा करें।

## 2.18 तीर्थंकर मल्लिनाथ-

इसी जम्बूद्वीप में मेरूपर्वत से पूर्व की ओर कच्छकावती नाम के देश में एक वीतशोक नाम का नगर है। उसमें 'वैश्रवण' नाम का उच्चकुलीन राजा राज्य करता था। किसी समय वह राजा वर्षा के प्रारम्भ में बढ़ती हुई वनावली को देखने के लिये नगर के बाहर गया। वहाँ किसी एक महान राजा के सदृश, अपनी शाखाओं और उपशाखाओं को फैलाकर तथा पृथ्वी को व्याप्त कर स्थित एक विशाल वटवृक्ष को देखा। उसको देख राजा ने समीपवर्ती लोगों से कहा कि देखो-देखो! इसका विस्तार तो देखो! यह ऊँचाई और बद्धमूलता को धारण करता हुआ मानो मेरा ही अनुकरण कर रहा है। इस प्रकार आश्चर्य के साथ बातचीत करता हुआ वह राजा दूसरे वन में चला गया। अनन्तर घूमकर वापस उसी मार्ग से आते हुए देखा कि वही वटवृक्ष वज्र गिरने के कारण तत्क्षण ही जड़ तक भस्म हो गया है। उसे देखकर यह विचार करने लगा कि इस जगत में मजबूत जड़ किसकी है ? विस्तार किसका है ? और ऊँचाई किसकी है ? इत्यादि वटवृक्ष की स्थिति का विचार करते हुए विरक्त हुआ वह राजा नगर में वापस आकर अपने पुत्र को राज्य देकर श्रीनाग पर्वत पर विराजमान श्रीनाग मुनिराज के पास जाकर धर्मामृत का पान करके जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

अनेक प्रकार से तपश्चरण करते हुए ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। सोलहकारण भावनाओं के चिन्तवन से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। अन्त में संन्यास विधि से प्राण विसर्जन करके अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त कर लिया। वहाँ पर एक हाथ का ऊँचा शरीर था और तेतीस सागर प्रमाण आयु थी।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी भरतक्षेत्र के बंगदेश में मिथिला नगरी के स्वामी इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्रीय 'कुम्भ' नाम के महाराज धर्मनीतिपूर्वक राज्य संचालन कर रहे थे। उनकी रानी का नाम 'प्रजावती' था।

अहमिन्द्र की आयु छह मास की अवशिष्ट रहने पर ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आँगन में रत्नवर्षा प्रारम्भ कर दी थी।

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन सोलहस्वप्नविलोकनपूर्वक रानी प्रजावती ने अहमिन्द्र देव को गर्भ में धारण किया और मगशिर सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में पूर्ण चन्द्र सदृश पुत्ररत्न को जन्म दिया। सौधर्म इन्द्र ने समस्त देवों सहित महावैभव के साथ सुमेरू पर्वत पर तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक किया। अनन्तर 'मल्लिनाथ' नामकरण करके मिथिला नगरी में जाकर महामहोत्सवपूर्वक माता-पिता को सौंप दिया।

अरहनाथ तीर्थंकर के बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर भगवान मल्लिनाथ हुए हैं। उनकी आयु भी इसी में शामिल थी। पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी एवं पच्चीस धनुष ऊँचा सुवर्ण वर्णमय शरीर था। कुमार काल के सौ

वर्ष बीत जाने पर एक दिन भगवान मल्लिनाथ ने देखा कि समस्त नगर हमारे विवाह के लिए सजाया गया है। सर्वत्र मनोहर वाद्य बज रहे हैं। उसे देखते ही उन्हें पूर्वजन्म के सुन्दर अपराजित विमान का स्मरण आ गया। वे विचार करने लगे कि कहाँ तो वीतरागता से उत्पन्न हुआ प्रेम और उससे प्रकट हुई महिमा और कहाँ सज्जनों को लज्जा उत्पन्न करने वाला यह विवाह! उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की। अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्रों ने देवों सहित आकर 'जयन्त' नामक पालकी पर भगवान को विराजमान किया और श्वेतवन के उद्यान में पहुँचे।

वहाँ पर भगवान ने मगसिर सुदी एकादशी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सिद्ध साक्षीपूर्वक बेला का नियम लेकर तीन सौ राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया एवं अन्तर्मुहूर्त में ही मन:पर्ययज्ञान को प्राप्त कर लिया। तीसरे दिन पारणा के लिये आये, तब मिथिलानगरी के नंदिषेण राजा ने आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त कर लिये।

छद्मस्थ अवस्था के छह दिन व्यतीत हो जाने पर भगवान ने बेला का नियम लेकर उसी श्वेतवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यान लगाया। पौष वदी दूज के दिन अश्विनी नक्षत्र में प्रात:काल चार घातिया कर्मों का नाश करके भगवान केवलज्ञानी हो गये। उनके समवसरण में विशाख आदि को लेकर अट्ठाईस गणधर थे। चालीस हजार महामुनिराज, बन्धुसेना आदि पचपन हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। भगवान ने बहुत काल तक आर्यखंड में विहार किया।

एक मास की आयु के अवशेष रह जाने पर वे भगवान सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ पाँच हजार मुनियों के साथ योग निरोध किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन भरणी नक्षत्र में संध्या के समय लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो गये। उसी समय देवों ने आकर भगवान का निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया।

## 2.19 तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ-

इसी भरतक्षेत्र के अंग देश के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नाम के राजा थे। किसी एक दिन वहाँ के उद्यान में 'अनन्तवीर्य' नाम के निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनकी वन्दना करके राजा ने धर्मोपदेश श्रवण किया और तत्क्षण विरक्त होकर अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर अनेक राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। उन्होंने गुरू के समागम से ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। चिरकाल तक तपश्चरण करते हुए अन्त में समाधिपूर्वक मरण करके प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हो गये। वहाँ बीस सागर की आयु थी और उनका साढ़े तीन हाथ का ऊँचा शरीर था।

**पंचकल्याणक वैभव**—इसी भरतक्षेत्र के मगध देश में राजगृह नाम का नगर है। उसमें हरिवंशशिरोमणि, काश्यपगोत्रीय, सुमित्र महाराज राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम सोमा था। श्रावण कृष्णा द्वितीया के दिन श्रवण नक्षत्र में रानी ने उन प्राणत इन्द्र को गर्भ में धारण किया, अनुक्रम से नव मास के बाद रानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवों ने भगवान का जन्मोत्सव मनाकर 'मुनिसुव्रत' नाम प्रकट किया। मल्लिनाथ के बाद चौवन लाख वर्षों के बीत जाने पर इनका जन्म हुआ। इनकी आयु तीस हजार वर्ष एवं ऊँचाई बीस धनुष की थी।

कुमार काल के सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर भगवान का राज्याभिषेक हुआ। राज्य अवस्था में प्रभु के पन्द्रह हजार वर्ष बीत जाने पर किसी दिन गर्जती हुई घन-घटा के समय उनके यागहस्ती ने वन का स्मरण कर खाना-पीना बन्द कर दिया। उस समय महाराज मुनिसुव्रतनाथ अपने अवधिज्ञान से उस हाथी के मन की सारी बातें जान गये। वे कुतूहल से भरे मनुष्यों के सामने हाथी का पूर्वभव कहने लगे कि यह हाथी पूर्वभव में तालपुर नगर का नरपति राजा था। अपने उच्चकुल के अभिमान सहित इसने अशुभ लेश्याओं से सहित, मिथ्याज्ञानी, पात्र-अपात्र की परीक्षा से रहित किमिच्छक दान दिया था, उसके फलस्वरूप यह हाथी हुआ है। इस समय भी यह अपने अज्ञान आदि का स्मरण न करता हुआ वन का स्मरण कर रहा है। इतना सुनते ही उस हाथी को अपने पूर्वभव का स्मरण हो गया और उसने प्रभु से

संयमासंयम ग्रहण कर लिया।

इसी निमित्त से प्रभु को वैराग्य हो गया और लौकांतिक देवों द्वारा पूजा को प्राप्त भगवान अपराजित नामक पालकी पर बैठकर नीलवन में पहुँचे। वहाँ बेला के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। उनकी प्रथम पारणा का लाभ राजगृह नगर के राजा वृषभसेन को प्राप्त हुआ था।

प्रभु के छद्मस्थ अवस्था के ग्यारह मास व्यतीत हो गये, तब वे उसी नीलवन में पहुँचे और बेला के नियम से सहित ध्यानारूढ़ हो गये। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में शाम के समय प्रभु को केवलज्ञान प्रकट हो गया। भगवान के समवसरण में मल्लि को आदि लेकर अठारह गणधर थे, तीस हजार मुनिराज, पुष्पदन्ता को आदि लेकर पचास हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। भगवान एक मास की आयु अवशेष रहने पर विहार बन्द करके सम्मेदशिखर पर जा पहुँचे तथा एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग में लीन हो गये। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के पिछले भाग में शरीर से रहित अशरीरी सिद्ध हो गये। इन मुनिसुव्रत भगवान को मेरा नमस्कार होवे।

## 2.20 तीर्थंकर नमिनाथ-

इसी जम्बूद्वीपसम्बन्धी भरतक्षेत्र के वत्स देश में एक कौशाम्बी नाम की नगरी है। उसमें इक्ष्वाकुवंशी 'पार्थिव' नाम के राजा रहते थे और उनकी सुंदरी नाम की रानी थी। इन दोनों के सिद्धार्थ नाम का श्रेष्ठ पुत्र था। राजा ने किसी समय सिद्धार्थ पुत्र को राज्यभार देकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और आयु के अन्त में समाधिमरणपूर्वक स्वर्गस्थ हो गये। पिता के समाधिमरण का समाचार सुनकर राजा सिद्धार्थ विरक्त हो गये। मनोहर नाम के उद्यान में जाकर महाबल नामक केवलीभगवान से धर्म का स्वरूप सुनकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया और शान्त संयमी मुनि हो गये। उन्होंने ग्यारह अंग का ज्ञान प्राप्त करके सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। तपश्चरणपूर्वक कर्म की निर्जरा करते हुए अन्त में समाधिमरण करके अपराजित नाम के श्रेष्ठ अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हो गये। वहाँ तेतीस सागर की आयु थी और एक हाथ ऊँचा शरीर था।

**पंचकल्याणक वैभव—** जम्बूद्वीप के अन्तर्गत बंग देश में मिथिलानगरी है। वहाँ पर ऋषभदेव के वंशज काश्यपगोत्रीय विजय महाराज की रानी का नाम 'वप्पिला' था। आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन अश्विनी नक्षत्र में वप्पिला महादेवी के गर्भ में उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव आ गया। आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र में रानी ने तीन ज्ञानधारी पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों ने जन्मोत्सव के बाद पुत्र का नाम 'नमिनाथ' रखा। मुनिसुव्रतनाथ के बाद साठ लाख वर्ष के बीत जाने पर ये तीर्थंकर हुए हैं। प्रभु की आयु दस हजार वर्ष की थी और शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था।

जब कुमार काल के ढाई हजार वर्ष बीत गये, तब उनका राज्याभिषेक हुआ। राज्य करते हुए पाँच हजार वर्ष के बीत जाने पर एक दिन प्रभु वर्षा ऋतु से बादलों के व्याप्त होने पर उत्तम हाथी पर बैठकर वन विहार को गये थे। उसी समय आकाशमार्ग से दो देवों ने आकर विनयपूर्वक नमस्कार करके कहना शुरू किया कि हे देव! इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में वत्सकावती देश है, उसकी सुसीमा नगरी में अपराजित नाम के तीर्थंकर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। उस केवलज्ञान की पूजा महोत्सव में हम लोग आये थे। उनकी सभा में प्रश्न हुआ कि क्या इस समय भरतक्षेत्र में कोई तीर्थंकर हैं ? सर्वदर्शी भगवान ने कहा कि हाँ! बंग देश की मिथिला नगरी के राजा नमिनाथ तीर्थंकर होने वाले हैं। इस समय वे देवों द्वारा लाये गये भोगोपभोग का अनुभव करते हुए गृहस्थावस्था में विद्यमान हैं।

उन देवों की बात सुनते ही प्रभु नगर में वापस आ गये। विदेहक्षेत्रस्थ अपराजित तीर्थंकर तथा उनके साथ अपने पूर्व भव के सम्बन्ध का स्मरण कर भगवान संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो गये। तत्क्षण ही लौकांतिक देवों ने उन महामना की पूजा की। देवों द्वारा आनीत 'उत्तरकुरू' नामक पालकी पर आरुढ़ होकर 'चैत्रवन' नामक उद्यान में पहुँचे।

वहाँ बेला का नियम लेकर आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायं के समय एक हजार राजाओं के साथ ' नमः सिद्धेभ्यः' मंत्र का उच्चारण करते हुए दीक्षित हो गये।

वीरपुर नगर के राजा दत्त ने प्रभु की प्रथम पारणा का लाभ लिया था। छद्मस्थ अवस्था के नव वर्ष बीत जाने पर वे प्रभु एक दीक्षावन में पहुँचकर बेला के नियमपूर्वक वकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। मगसिर शुक्ला एकादशी के दिन सायंकाल में लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त हो गये।

उनके समवसरण में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। बीस हजार मुनि, मंगिनी आदि पैंतालीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ थीं। विहार करते हुए एक मास की आयु अवशेष रहने पर भगवान नमिनाथ सम्मेदशिखर पर पहुँच गये। वहाँ एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग में लीन हुए। प्रभु को वैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम अश्विनी नक्षत्र में सिद्धपद प्राप्त हो गया। देवों ने आकर निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया। ऐसे वे नमिनाथ तीर्थंकर सदा हमारी रक्षा करें।

## 2.21 तीर्थंकर नेमिनाथ-

इसी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्रसंबंधी कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र की श्रीमती रानी से सुप्रतिष्ठ नाम का यशस्वी पुत्र हुआ। कालांतर में पिता द्वारा प्रदत्त राज्य का निष्कंटक उपभोग करते हुये किसी दिन यशोधर नाम के मुनिराज को आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया। किसी दूसरे दिन वह राजा रानियों के साथ राजमहल की छत पर बैठे हुए दिशाओं की शोभा का अवलोकन कर रहे थे कि इसी बीच अकस्मात् उल्कापात को देखकर विरक्त हो गए और सुमंदर नामक जिनेन्द्र भगवान के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

'मुनिराज सुप्रतिष्ठ ने ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और सर्वतोभद्र को आदि लेकर सिंहनिष्क्रीडितपर्यन्त अनेकों व्रतों का अनुष्ठान किया। यहाँ इन व्रतों के कुछ नाममात्र दिये जा रहे हैं। विशेष जिज्ञासुओं को हरिवंश पुराण में देखना चाहिए।

'सर्वतोभद्र, वसंतभद्र, महासर्वतोभद्र, त्रिलोकसार, वज्रमध्य, मृदंगमध्य, मुरजमध्य, एकावली, द्विकावली, मुक्तावली, रत्नावली, रत्नमुक्तावली, कनकावली, द्वितीय रत्नावली, सिंहनिष्क्रीडित, मध्यम सिंहनिष्क्रीडित तथा उत्तम और जघन्य सिंहनिष्क्रीडित, नंदीश्वरपंक्ति, मेरूपंक्ति, विमानपंक्ति, शातकुंभ, चान्द्रायण, सप्तसप्तमतपोविधि, अष्टअष्टम, नवनवमादि, आचाम्लवर्धन, श्रुतविधि, दर्शनशुद्धि, तपःशुद्धि, चारित्रशुद्धि, एककल्याण, पंचकल्याण, शीलकल्याण विधि, भावनाविधि, पंचविंशति-कल्याण भावनाव्रत, दुःखहरण कर्मक्षय, जिनेंद्रगुणसंपत्ति, दिव्यलक्षणपंक्ति, धर्मचक्रविधि, परस्पर कल्याण, परिनिर्वाण, प्रातिहार्य प्रसिद्धि, विमानपंक्ति आदि व्रत।

इस प्रकार विधिवत् इन व्रतों के कर्ता सुप्रतिष्ठ मुनिराज ने उस समय निर्मल सोलहकारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लिया।

जब आयु का अंत आया, तब समाधि धारण कर एक महीने का संन्यास लेकर प्राणों का त्याग किया और जयंत नामक अनुत्तर विमान में अहमिंद्र पद प्राप्त कर लिया। वहाँ पर तेतीस सागर की आयु थी और एक हाथ ऊँचा शरीर था। उनको साढ़े सोलह माह के अंत में एक बार श्वांस का ग्रहण होता है। तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार मानसिक आहार था। इस प्रकार सुखसागर में निमग्न उन अहमिंद्र ने वहाँ की आयु को समाप्त कर दिया।

**नेमिनाथ का जन्म** — कुशार्थ देश के शौरीपुर नगर में हरिवंशी राजा शूरसेन रहते थे। उनके वीर नाम के पुत्र की धारिणी रानी से अंधकवृष्टि और नरवृष्टि नाम के दो पुत्र हुए। अंधकवृष्टि की रानी का नाम सुभद्रा था। इन दोनों के समुद्रविजय, स्तिमितसागर, हिमवान्, विजय, अचल, धारण, पूरण, पूरितार्थीच्छ, अभिनंदन और वासुदेव ये दस पुत्र थे तथा कुन्ती और माद्री नाम की दो पुत्रियाँ थीं।

समुद्रविजय की रानी का नाम शिवादेवी था। पिता के द्वारा प्रदत्त राज्य का श्रीसमुद्रविजय महाराज धर्मनीति से संचालन करते थे। छोटे भाई वसुदेव की रोहिणी रानी से बलभद्र एवं देवकी रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था।

जब जयंत विमान के इन्द्र की आयु छह मास की शेष रह गई, तब काश्यपगोत्री, हरिवंश शिखामणि राजा समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के आंगन में देवों द्वारा की गई रत्नों की वर्षा होने लगी। कार्तिक शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में वह अहमिंद्र का जीव रानी के गर्भ में आ गया।

अनंतर नव मास के बाद श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में ब्रह्मयोग के समय तीन ज्ञान के धारक भगवान का जन्म हुआ। इंद्रादि देवों ने जन्मोत्सव मनाकर तीर्थंकर शिशु का 'नेमिनाथ' नामकरण किया। भगवान नमिनाथ के बाद पाँच लाख वर्ष बीत जाने पर नेमिजिनेन्द्र उत्पन्न हुये हैं। उनकी आयु एक हजार वर्ष की थी, शरीर दश धनुष ऊँचा था। प्रभु के शरीर का वर्ण नीलकमल के सदृश होते हुये भी इतना सुन्दर था कि इंद्र ने एक हजार नेत्र बना लिये, फिर भी रूप को देखते हुये तृप्त नहीं हुआ था।

हरिवंशपुराण में नेमिनाथ तीर्थंकर का जन्म सौर्यपुर में ही माना है। पश्चात् देवों द्वारा रची गई द्वारावती नगरी में श्रीकृष्ण आदि के जाने की बात कही है।

कारणवश श्रीकृष्ण तथा होनहार श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर ने एक सुन्दर 'द्वारावती' नामक नगरी की रचना की।

भगवान देवों द्वारा आनीत दिव्य भोगसामग्री का अनुभव करते हुये चिरकाल तक द्वारावती में रहे। किसी एक दिन मगध देश के कुछ व्यापारी उस नगरी में आ गये और वहाँ से श्रेष्ठ रत्न खरीद कर अपने देश में ले गये तथा अर्धचक्री (प्रतिनारायण) राजा जरासंध को रत्न भेंट किये। राजा ने उन रत्नों को देखकर महान आश्चर्यचकित होकर उनसे पूछा कि आप ये रत्न कहाँ से लाये हो ? उत्तर में उन लोगों ने श्रीकृष्ण और भगवान नेमिनाथ के वैभव का वर्णन कर दिया। यह सुनते ही जरासंध कुपित होकर युद्ध करने को तैयार हो गया।

'शत्रु चढ़कर आ गया है' यह समाचार सुनकर श्रीकृष्ण को जरा भी चिंता नहीं हुई। वे भगवान नेमिनाथ के पास गये और बोले कि आप इस नगर की रक्षा कीजिये। सुना है कि राजा जरासंध हम लोगों को जीतना चाहता है सो मैं उसे आपके प्रभाव से घुने हुये जीर्णवृक्ष के समान शीघ्र ही नष्ट किये देता हूँ। श्रीकृष्ण के वचन सुनकर प्रभु ने अपने आप अवधिज्ञान से विजय को निश्चित जानकर मुस्कुराते हुये 'ओम्' शब्द कह दिया अर्थात् अपनी स्वीकृति दे दी। श्रीकृष्ण भी प्रभु की मुस्कान से अपनी विजय को निश्चित समझकर समस्त यदुवंशी और पांडव आदिकों के साथ कुरुक्षेत्र में आ गये।

इस भयंकर युद्ध में राजा जरासंध ने कुपित होकर चक्र श्रीकृष्ण पर चला दिया। वह चक्ररत्न भी श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा देकर उनकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया। बस क्या था, श्रीकृष्ण ने उसी चक्र से जरासंध का काम समाप्त कर दिया और तत्क्षण ही देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुए और अर्धचक्री (नारायण) हो गये। अनंतर बड़े हर्ष से इन लोगों ने द्वारावती में प्रवेश किया और वहाँ पर राज्याभिषेक को प्राप्त हुए।

'किसी एक दिन कुबेर द्वारा भेजे हुए वस्त्राभरणों से अलंकृत युवा श्री नेमिकुमार, बलदेव तथा नारायण आदि कोटि-कोटि यादवों से भरी हुई कुसुमचित्रा नाम की सभा में गये। राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़ प्रभु के सन्मुख आकर उन्हें नमस्कार किया। श्रीकृष्ण ने भी आकर उनकी अगवानी की। तदनंतर श्रीकृष्ण के साथ वे उनके आसन को अलंकृत करने लगे।

वहाँ वार्तालाप के प्रसंग में बलवानों की गणना छिड़ने पर किसी ने अर्जुन को, किसी ने युधिष्ठिर को इत्यादि रूप से किसी ने श्रीकृष्ण को अत्यधिक बलशाली कहा। तरह-तरह की वाणी सुनकर बलदेव ने लीलापूर्ण दृष्टि से भगवान की ओर देखकर कहा कि तीनों जगत में इनके समान दूसरा बलवान् नहीं है, ये गिरिराज को अनायास ही कंपायमान कर

सकते हैं, यथार्थ में ये जिनेंद्र हैं इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है ?

इस प्रकार वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने भगवान से कहा—भगवन्! यदि आपके शरीर का ऐसा उत्कृष्ट बल है तो बाहुयुद्ध में उसकी परीक्षा क्यों न ली जाये ? भगवान ने कहा—हे अग्रज! यदि आपको मेरी भुजाओं का बल जानना ही है तो मल्लयुद्ध की क्या आवश्यकता है ? सहसा इस आसन से मेरे इस पैर को ही विचलित कर दीजिये। श्रीकृष्ण उसी समय कमर कसकर जिनेंद्र भगवान को जीतने की इच्छा से उठ खड़े हुए परन्तु पैर का चलाना तो दूर ही रहा, वे एक अंगुली को भी नहीं हिला सके। उसी समय इन्द्र का आसन कंपित होने से देवों सहित इन्द्र ने आकर भगवान की अनेकों स्तुतियों से स्तुति और पूजा की। तदनंतर सब अपने-अपने महलों में चले गये।

**नेमिनाथ का वैराग्य**—किसी समय मनोहर नामक उद्यान में भगवान नेमिनाथ तथा सत्यभामा आदि जलकेलि कर रहे थे। स्नान के अनंतर श्री नेमिनाथ ने सत्यभामा से कहा—हे नीलकमल के समान नेत्रों वाली! तू मेरा यह स्नान का वस्त्र ले। सत्यभामा ने कहा, मैं इसका क्या करूँ ? नेमिनाथ ने कहा कि तू इसे धो डाल। तब सत्यभामा कहने लगी कि क्या आप श्रीकृष्ण हैं ? वह श्रीकृष्ण, जिन्होंने कि नागशय्या पर चढ़कर शार्ङ्ग नाम का धनुष अनायास ही चढ़ा दिया था और दिग्दिगंत को व्याप्त करने वाला शंख पूरा था ? क्या आपमें यह साहस है ? यदि नहीं है तो आप मुझसे वस्त्र धोने की बात क्यों करते हैं ?

नेमिनाथ ने कहा कि 'मैं यह कार्य अच्छी तरह कर दूँगा' इतना कहकर वे आयुधशाला में पहुँच गये। वहाँ नागराज के महामणियों से सुशोभित नागशय्या पर अपनी ही शय्या के समान चढ़ गये और शार्ङ्ग धनुष चढ़ाकर समस्त दिशाओं के अंतराल को रोकने वाला शंख फूंक दिया। उस समय श्रीकृष्ण अपनी कुसुमचित्रा सभा में विराजमान थे। वे सहसा ही यह आश्चर्यपूर्ण काम सुनकर व्यग्र हो उठे। बड़े आश्चर्य से किंकरों से पूछा कि यह क्या है ? किंकरों ने भी पता लगाकर सारी बात बता दी।

उस समय अर्धचक्री श्रीकृष्ण ने विचार करते हुये कहा कि आश्चर्य है, बहुत समय बाद कुमार नेमिनाथ का चित्त राग से युक्त हुआ है। अब इनका विवाह करना चाहिए। वे शीघ्र ही राजा उग्रसेन के घर स्वयं पहुँच गये और रानी जयावती से उत्पन्न राजीमति कन्या की श्रीनेमिनाथ के लिए याचना की। राजा उग्रसेन ने कहा—हे देव! आप तीन खण्ड के स्वामी हैं अतः आपके सामने हम लोग कौन होते हैं ? शुभ मुहूर्त में विवाह निश्चित हो गया।

तदनंतर देवों द्वारा आनीत नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित भगवान नेमिनाथ, समान वय वाले अनेक मंडलेश्वर राजपुत्रों से घिरे हुये चित्रा नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर दिशाओं का अवलोकन करने के लिए निकले। वहाँ उन्होंने करुण स्वर से चिल्लाते हुये और इधर-उधर दौड़ते हुए, भूख-प्यास से व्याकुल हुए तथा अत्यंत भयभीत हुए, दानदृष्टि से युक्त मृगों को देख दयावश वहाँ के रक्षकों से पूछा कि यह पशुसमूह क्यों इकट्ठा किया गया है ? नौकरों ने कह दिया कि आपके विवाह में ये मारे जायेंगे। उसी समय श्री नेमिकुमार को पशुओं के अत्याचार के प्रति करुणा जाग्रत हो गई और शीघ्र ही भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो गया और विरक्तचित्त हुए लौटकर अपने घर वापस आ गये। अपने अनेक पूर्वभवों का स्मरण कर भयभीत हो गये। अब तक प्रभु के कुमार काल के तीन सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

तत्क्षण ही लौकांतिक देवों से पूजा को प्राप्त हुए प्रभु को देवों ने देवकुरू नाम की पालकी पर बिठाया और सहस्राम्र वन में ले गये। श्रावण कृष्णा षष्ठी के दिन सायंकाल के समय तेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ जैनेश्वरी दीक्षा से विभूषित हो गये। उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया।

राजीमती ने भी प्रभु के पीछे तपश्चरण करने का निश्चय कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि शरीर की बात तो दूर ही रही, वचनमात्र से भी दी हुई कुलस्त्रियों का यही न्याय है।

पारणा के दिन द्वारावती नगरी में राजा वरदत्त ने पड़गाहन करके प्रभु को आहार दिया जिसके फलस्वरूप

पंचाश्चर्य को प्राप्त हो गये अर्थात् देवों ने साढ़े बारह करोड़ रत्न बरसाए। पुष्पवृष्टि, रत्नवृष्टि, मन्द सुगन्ध वायु, दुन्दुभी बाजे और अहोदानं आदि प्रशंसा वाक्य होने लगे।

इस प्रकार तपश्चर्या करते हुये प्रभु के छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन व्यतीत हो गये, तब वे रैवतक पर्वत पर पहुँचे। तेला का नियम लेकर किसी बड़े भारी बाँस वृक्ष के नीचे विराजमान हो गये। आश्विन कृष्णा प्रतिपदा के दिन चित्रा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय प्रभु को लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान प्रकट हो गया। उनके समवसरण में वरदत्त को आदि लेकर ग्यारह गणधर थे, अठारह हजार मुनि, राजीमती आदि चालीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। भगवान की सभा में बलभद्र और श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष आये, धर्म का स्वरूप सुना और अपने सभी भव-भवांतर पूछे।

किसी समय भगवान की दिव्यध्वनि से यह बात मालूम हुई कि 'द्वीपायन मुनि के क्रोध के निमित्त से इस द्वारावती नगरी का विनाश होगा' इस भावी दुर्घटना को सुनकर कितने ही महापुरुषों ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इस प्रकार प्रभु नेमिनाथ ने छह सौ निन्यानवे वर्ष, नौ महीना और चार दिन तक विहार किया था।

अनन्तर गिरनार पर्वत पर आकर विहार छोड़कर पाँच सौ तेतीस मुनियों के साथ एक महीने का योग निरोध करके आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन चित्रा नक्षत्र में रात्रि के प्रारम्भ में ही प्रभु ने अघातिया कर्मों का नाशकर मोक्षपद प्राप्त कर लिया। उसी समय इंद्रादि देवों ने आकर बड़ी भक्ति से प्रभु का परिनिर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया। वे श्री नेमिनाथ भगवान हमारे अंतःकरण को पूर्णशांति प्रदान करें।

## 2.22 तीर्थंकर पार्श्वनाथ-

**गर्भावतार**—इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्रसम्बन्धी काशी देश में बनारस नाम का एक नगर है। उसमें काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ब्राह्मी था। जब उन सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र की आयु छह मास की अवशेष रह गई थी, तब इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आँगन में रत्नों की धारा बरसाना शुरू कर दी थी। रानी ब्राह्मी ने सोलहस्वप्नपूर्वक वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन इन्द्र के जीव को गर्भ में धारण किया था।

नव मास पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन पुत्र का जन्म हुआ था। इन्द्रादि देवों ने सुमेरू पर्वत पर ले जाकर तीर्थंकर शिशु का जन्माभिषेक करके 'पार्श्वनाथ' यह नामकरण किया था। श्री नेमिनाथ के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु सौ वर्ष की थी जोकि इसी अंतराल में सम्मिलित है। प्रभु की कांति हरितवर्ण की एवं शरीर की ऊँचाई नौ हाथ प्रमाण थी। ये उग्रवंशी थे।

सोलह वर्ष बाद नवयौवन से युक्त भगवान किसी समय क्रीड़ा के लिये अपनी सेना के साथ नगर के बाहर गये। कमठ का जीव, जो कि सिंह पर्याय से नरक गया था, वह वहाँ से आकर महीपाल नगर का महीपाल नाम का राजा हुआ था। उसी की पुत्री ब्राह्मी (वामा देवी) भगवान पार्श्वनाथ की माता थीं। यह राजा (भगवान के नाना) किसी समय अपनी पत्नी के वियोग में तपस्वी होकर वहीं आश्रम के पास वन में पंचाग्नियों के बीच में बैठा तपश्चरण कर रहा था। देवों द्वारा पूज्य भगवान उसके पास जाकर उसे नमस्कार किये बिना ही खड़े हो गये। यह देखकर वह खोटा साधु क्रोध से युक्त हो गया और सोचने लगा "मैं कुलीन हूँ, तपोवृद्ध हूँ और इसका नाना हूँ" फिर भी इस अज्ञानी कुमार ने अहंकारवश मुझे नमस्कार नहीं किया है, क्षुभित हो उसने अग्नि में लकड़ियों को डालने के लिए पड़ी हुई लकड़ी को काटने हेतु अपना फरसा उठाया, इतने में ही अवधिज्ञानी भगवान पार्श्वनाथ ने कहा, "इसे मत काटो" इसमें जीव हैं किन्तु मना करने पर भी उसने लकड़ी काट ही डाली, तत्क्षण ही उसके भीतर रहने वाले सर्प और सर्पिणी निकल पड़े और घायल हो जाने से छटपटाने लगे।

यह देखकर प्रभु के साथ स्थित सुभौमकुमार ने कहा कि तू अहंकारवश यह कुतप करके पाप का ही आस्रव कर

रहा है। सुभौम के वचन सुन तपस्वी क्रोधित होकर अपने तपश्चरण की महत्ता प्रकट करने लगा। तब सुभौमकुमार ने अनेक युक्तियों से उसे समझाया कि सच्चे देव, शास्त्र और गुरू के सिवाय कोई हितकारी नहीं है। जिनधर्म में प्रणीत सच्चे तपश्चरण से ही कर्म निर्जरा होती है। यह मिथ्यातप, जीव हिंसा सहित होने से कुतप ही है। यद्यपि वह तापसी समझ तो गया किन्तु पूर्व बैर का संस्कार होने से अपने पक्ष के अनुराग से अथवा दु:खमय संसार के कारण से अथवा स्वभाव से ही दुष्ट होने से उसने स्वीकार नहीं किया प्रत्युत् यह सुभौमकुमार अहंकारी होकर मेरा तिरस्कार कर रहा है, ऐसा समझ वह भगवान पार्श्वनाथ पर अधिक क्रोध करने लगा। इसी शल्य से मरकर 'शंवर' नाम का ज्योतिषी देव हो गया।

इधर सर्प और सर्पिणी कुमार के उपदेश से शांतभाव को प्राप्त हुए तथा मरकर बड़े ही वैभवशाली धरणेन्द्र और पद्मावती हो गये।

अनंतर भगवान जब तीस वर्ष के हो गये, तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने उत्तम घोड़ा आदि की भेंट के साथ अपना दूत भगवान पार्श्वनाथ के समीप भेजा। भगवान ने भेंट लेकर उस दूत से अयोध्या की विभूति पूछी। उत्तर में दूत ने सबसे पहले भगवान ऋषभदेव का वर्णन किया पश्चात् अयोध्या का हाल कहा। उसी समय ऋषभदेव के सदृश अपने को तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ है, ऐसा सोचते हुए भगवान गृहवास से पूर्ण विरक्त हो गये और लौकांतिक देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुए प्रभु देवों द्वारा लाई गई विमला नाम की पालकी पर बैठकर अश्ववन में पहुँच गये। वहाँ तेला का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन प्रात:काल के समय सिद्ध भगवान को नमस्कार करके प्रभु तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षित हो गये।

पारणा के दिन गुल्मखेट नगर के धन्य नामक राजा ने अष्टमंगल द्रव्यों से प्रभु का पड़गाहन कर आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त कर लिये। छद्मस्थ अवस्था के चार मास व्यतीत हो जाने पर भगवान अश्ववन नामक दीक्षावन में पहुँचकर देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान होकर ध्यान में लीन हो गये। इसी समय कमठ का जीव शंबर ज्योतिषी आकाशमार्ग से जा रहा था, अकस्मात् उसका विमान रुक गया, उसे विभंगावधि से पूर्व का बैर बंध स्पष्ट दिखने लगा। फिर क्या था, क्रोधवश उसने महागर्जना, महावृष्टि, भयंकर वायु आदि से महा उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया, बड़े-बड़े पहाड़ तक लाकर समीप में गिराये, इस प्रकार उसने सात दिन तक लगातार भयंकर उपसर्ग किया।

अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी भार्या पद्मावती के साथ पृथ्वीतल से बाहर निकला। धरणेन्द्र ने भगवान को सब ओर से घेरकर अपने फणाओं के ऊपर उठा लिया और उस की पत्नी वज्रमय छत्र तान कर खड़ी हो गई। आचार्य कहते हैं कि देखो! स्वभाव से ही क्रूर प्राणी इन सर्प-सर्पिणी ने अपने ऊपर किये गये उपकार को याद रखा, सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।

तदनंतर ध्यान के प्रभाव से प्रभु का मोहनीय कर्म क्षीण हो गया इसलिए बैरी कमठ का सब उपसर्ग दूर हो गया। मुनिराज पार्श्वनाथ ने चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन प्रात:काल के समय विशाखा नक्षत्र में लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्रों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। शंबर नाम का देव भी काललब्धि पाकर उसी समय शांत हो गया और उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। यह देख, उस वन में रहने वाले सात सौ तपस्वियों ने मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदर से प्रदक्षिणा देकर भगवान की स्तुति-भक्ति की। आचार्य कहते हैं कि पापी कमठ के जीव का कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी पार्श्वनाथ की शांति! इसलिए संसार के दु:खों से भयभीत प्राणियों को वैर-विरोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर दस गणधर थे, सोलह हजार मुनिराज, सुलोचना को आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इस प्रकार बारह सभाओं को धर्मोपदेश देते हुए भगवान ने पाँच मास कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अंत में आयु का एक माह शेष रहने पर विहार

बंद हो गया। प्रभु पार्श्वनाथ सम्मेदाचल के शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रात:काल के समय विशाखा नक्षत्र में सिद्धपद को प्राप्त हो गये। इन्द्रों ने आकर मोक्षकल्याणक उत्सव मनाया। ऐसे पार्श्वनाथ भगवान हमें भी सम्पूर्ण प्रकार के उपसर्गों को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

## 2.23 तीर्थंकर महावीर-

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में एक छत्रपुर नाम का नगर था। वहां के राजा नंदिवर्धन की रानी वीरवती के गर्भ में उपर्युक्त सूर्यप्रभ देव का जीव आ गया। नव माह के बाद रानी ने पुत्र को जन्म दिया। पूरे राज्य में आनंद मंगल होने से राजा ने पुत्र का नाम 'नंद' रखा, इसे नंदन भी कहते थे। नंदन बालक माता की अंगुली पकड़कर खेलते हुये महाराजा नंदिवर्धन का मनोरंजन किया करता था।

पुत्र के यौवनावस्था को प्राप्त होने पर राजा ने अपना राज्यभार पुत्र को सौंप दिया, क्योंकि यही सनातन परंपरा है। राजा नंद ने भी चिरकाल तक राज्य संचालन करते हुये प्रजा को खूब संतुष्ट किया। इष्ट-अभिलषित राज्य का उपभोग कर राजा नंद ने 'प्रोष्ठिल' नाम के गुरू के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनियों के संघ में धर्मोपदेश देकर सच्चे मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराते रहते थे।

इन्होंने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष से गुरु के सान्निध्य में ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। अंग और पूर्वरूप श्रुत का ज्ञान गुरु के मुख से ही प्राप्त होता है, कभी किसी को बिना गुरु के नहीं होता है।

**तीर्थंकर प्रकृति का बंध**—दिगम्बर मुनि पंचमहाव्रत, पंचसमिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षट् आवश्यक क्रिया, केशलोंच, वस्त्रों का पूर्ण त्याग, स्नान का त्याग, पृथ्वी पर शयन, दंतधावन का त्याग, खड़े होकर भोजन और एक बार भोजन इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह से रहित ज्ञान-ध्यान में रत रहते हैं। परीषह और उपसर्गों को शांति और क्षमाभाव से सहन करते हैं। उत्तम क्षमादि दस धर्मों का पालन करते हैं। नंद मुनिराज ने घोर तपश्चरण से अपनी आत्मा को निर्मल बना लिया एवं दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन करने लगे।

**अच्युतेन्द्र**—नंद महामुनि समाधिमरण के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में पुष्पोत्तर विमान में 'इन्द्र' हो गये। इस सोलहवें स्वर्ग का नाम अच्युत है अत: ये इन्द्र अच्युतेन्द्र कहलाते थे।

इन अच्युतेन्द्र की आयु बाईस सागर प्रमाण थी, तीन हाथ ऊंचा शरीर था, द्रव्य से—शरीर वर्ण से और भाव से दोनों ही शुक्ल लेश्यायें थीं, बाईस पक्ष में एक बार श्वांस लेते थे। बाईस हजार वर्ष में एक बार मानसिक अमृत का आहार था, सदा मानसिक प्रवीचार—कामसेवन था अर्थात् मन में ही देवांगनाओं का स्मरण करने से कामभोग की तृप्ति हो जाती थी। अणिमा, महिमा आदि दिव्य ऋद्धियों से नाना प्रकार के सुखों का अनुभव करते थे। उनका अवधिज्ञान छठी पृथ्वी तक की बातों को जान लेता था, उनके विक्रिया की सीमा भी उनके अवधिज्ञान क्षेत्र के बराबर थी। अपने सामानिक आदि देवों और देवांगनाओं से घिरे हुये वे इंद्रराज अपने पुण्य कर्म के विशेष उदय से सुखरूपी सागर में सदा निमग्न रहते थे।

कभी वे अपनी इन्द्रसभा में देव अप्सराओं का नृत्य देखते थे। कभी देव-देवियों के साथ मध्यलोक में जाकर द्वीप-समुद्रों की शोभा देखकर आनंद का अनुभव किया करते थे।

मध्यलोक में अकृत्रिम जिनमंदिर तेरह द्वीपों तक ही हैं अत: कभी-कभी ये इन्द्रराज रुचकवर द्वीप आदि में पहुंचकर 1008 दिव्य क्षीरसागर के जल से भरे कलशों से जिनप्रतिमाओं का महाभिषेक करके उत्सव मनाते थे। अष्टद्रव्य से पूजा करते थे और महान पुण्य का संचय कर लिया करते थे।

इस प्रकार ये अच्युतेन्द्र सागर पर्यंत दिव्य सुखों का अनुभव करके जब मनुष्य लोक में आने वाले थे, आयु में छह

माह शेष रह गये तक सौधर्मेन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी कि इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखंड में कुंडलपुर नगर में अंतिम तीर्थंकर का जन्म होने वाला है अत: तुम जाकर जन्म से पंद्रह महिने पूर्व से ही रत्नों की वर्षा करना प्रांरभ कर दो। अच्युतेन्द्र सुरराज अपने पुष्पोत्तर विमान में ही थे और यहां कुंडलपुर का माहात्म्य बढ़ने लगा था।

**पंचकल्याणक वैभव—** जब अच्युतेन्द्र की आयु छह मास बाकी रह गई तब इस भरतक्षेत्र के विदेह नामक देश संबंधी कुंडपुर—कुंडलपुर नगर (निकट नालंदा-बिहार प्रदेश) के राजा सिद्धार्थ के भवन के आँगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ प्रमाण रत्नों की धारा बरसने लगी। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे और पुष्पोत्तर विमान से अच्युतेन्द्र का जीव च्युत होकर रानी के गर्भ में आ गया। प्रात:काल राजा के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर रानी अत्यन्त संतुष्ट हुई। तदनंतर देवों ने आकर गर्भकल्याणक उत्सव मनाकर माता-पिता का अभिषेक करके उत्सव मनाया।

नव मास पूर्ण होने के बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रानी त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। भगवान महावीर का जन्म तेरस की रात्रि में हुआ है, ऐसा जयधवला में वर्णित है—

"आषाढजोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुर णगराहिव -णाहवंस-सिद्धत्थणरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहियणवमासे अच्छिय चइत्तसुक्कपक्ख-तेरसीए रत्तीए उत्तरफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो वड्ढमाणजिणिंदो।।"

आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन कुंडलपुर नगर के स्वामी नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहां नव मास आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुये वर्द्धमान जिनेन्द्र ने जन्म लिया। उस समय देवों के स्थानों में अपने आप वाद्य बजने लगे, तीनों लोकों में सर्वत्र एक हर्ष की लहर दौड़ गई। सौधर्म इन्द्र ने बड़े वैभव के साथ सुमेरूपर्वत की पांडुकशिला पर क्षीरसागर के जल से भगवान का जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने उस समय उनके "वीर" और "वर्धमान" ऐसे दो नाम रखे।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बाद दो सौ पच्चास वर्ष बीत जाने पर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी में शामिल है। कुछ कम बहत्तर वर्ष की आयु थी, सात हाथ ऊँचे, स्वर्ण वर्ण के थे। एक बार संजय और विजय नाम के चारणऋद्धिधारी मुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न होने से भगवान के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आकर उनके दर्शन मात्र से ही संदेह से रहित हो गये तब उन मुनि ने उन बालक का "सन्मति" नाम रखा। किसी समय संगम नामक देव ने सर्प बनकर परीक्षा ली और भगवान को सफल देखकर उनका "महावीर" यह नाम रखा।

तीस वर्ष के बाद भगवान को पूर्वभव का स्मरण होने से वैराग्य हो गया तब लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुति को प्राप्त भगवान ने ज्ञातृवन में सालवृक्ष के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और तत्काल मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त कर लिया। पारणा के दिन कूलग्राम की नगरी के कूल नामक राजा के यहाँ खीर का आहार ग्रहण किया। किसी समय उज्जयिनी के अतिमुक्तक वन में ध्यानारूढ़ भगवान पर महादेव नामक रुद्र ने भयंकर उपसर्ग करके विजयी भगवान का "महतिमहावीर" नाम रखकर स्तुति की। किसी दिन कौशाम्बी नगरी में सांकलों में बंधी चंदनबाला ने भगवान को पड़गाहन किया तब उसकी बेड़ी आदि टूट गई। मिट्टी का सकोरा स्वर्णपात्र बन गया एवं कोदों का भात शालीचावल की खीर बन गया तभी चंदनबाला ने नवधाभक्तिपूर्वक महामुनि महावीर को आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया।

छद्मस्थ अवस्था के बारह वर्ष बाद जृंभिक ग्राम की ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में सालवृक्ष के नीचे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उस समय इन्द्र ने केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की दिव्यध्वनि के न खिरने पर इन्द्र गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण को युक्ति से लाये, उस समय मानस्तंभ के दर्शन से उनका मान गलित होते ही वे भगवान से दीक्षित होकर मन:पर्यय ज्ञान और सप्तऋद्धि से विभूषित होकर प्रथम गणधर हो गये, तब भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। श्रावण कृष्णा एकम के दिन दिव्यध्वनि को सुनकर गौतम गणधर ने

सायंकाल में द्वादशांग श्रुत की रचना की। इसके बाद वायुभूति आदि ग्यारह गणधर हुए हैं। भगवान के समवसरण में मुनीश्वरों की संख्या चौदह हजार थी, चंदना आदि छत्तीस हजार आर्यिकाएं थीं, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। बारह गणों से वेष्टित भगवान ने विपुलाचल पर्वत पर और अन्यत्र भी आर्यखंड में बिहार कर सप्त तत्व आदि का उपदेश दिया।

अंत में पावापुर नगर के मनोहर नामक वन में अनेक सरोवरों के बीच शिलापट्ट पर विराजमान होकर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम प्रहर में स्वाति नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। तब देवों ने मोक्षकल्याणक पूजा कर दीपमालिका जलायी थी। तब से लेकर आज तक कार्तिक कृ. अमावस्या को दीपावली पर्व मनाया जाता है।

भगवान के जीवनवृत्त से हमें यह समझना है कि मिथ्यात्व के फलस्वरूप जीव त्रस-स्थावर योनियों में परिभ्रमण करता है। सम्यक्त्व और व्रतों के प्रसाद से चतुर्गति के दुखों से छूटकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है अत: मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दृष्टि बन करके व्रतों से अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए।

## 2.24 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-दरवाजे पर बंधे हुए हाथी की दशा को सुनने से भगवान.....को वैराग्य हुआ था ?

(क) पद्मप्रभ ☐ (ख) अजितनाथ ☐ (ग) अभिनंदननाथ ☐

**प्रश्न 2**-चन्द्रप्रभु भगवान को प्रथम आहार किसने दिया था ?

(क) राजा महेन्द्रदत्त ☐ (ख) राजा पुष्पमित्र ☐ (ग) राजा सोमदत्त ☐

**प्रश्न 3**-'कदम्ब वृक्ष' के नीचे किनको केवलज्ञान हुआ था ?

(क) वासुपूज्य ☐ (ख) श्रेयांसनाथ ☐ (ग) विमलनाथ ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-'इसे मत काटो' इसमें जीव है, इससे संबंधित सम्पूर्ण घटना का वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 2**-भगवान महावीर के पाँच नाम कैसे पड़े ? स्पष्टीकरण कीजिए ?

**प्रश्न 3**-धर्म की व्युच्छित्ति कहाँ और किस समय तक हुई थी ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-नेमिनाथ भगवान के वैराग्य से लेकर मोक्ष जाने तक सम्पूर्ण घटना का वर्णन कीजिए ?

## पाठ 3—बारह चक्रवर्ती

**3.1** भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुंथु, अर, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त क्रम से ये बारह चक्रवर्ती सब तीर्थंकरों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष वन्दना में आसक्त और अत्यन्त गाढ़ भक्ति से परिपूर्ण थे। भरत चक्रवर्ती ऋषभेश्वर के समक्ष, सगरचक्री अजितेश्वर के समक्ष तथा मघवा और सनत्कुमार ये दो चक्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए हैं। शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ ये तीन चक्री होते हुए तीर्थंकर भी थे। सुभौम चक्री अरनाथ और मल्लिनाथ भगवान के अन्तराल में, पद्मचक्री मल्लि और मुनिसुव्रत के अन्तराल में, हरिषेण चक्री मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तराल में, जयसेन चक्री नमि और नेमिनाथ के अन्तराल में तथा ब्रह्मदत चक्री नेमि और पार्श्वनाथ के अन्तराल में हुए हैं।

पूर्व जन्म में किये गये तप के बल से भरत आदि की आयुधशालाओं में भुवन को विस्मित करने वाला 'चक्ररत्न' उत्पन्न होता है तब अतिशय हर्ष को प्राप्त चक्रवर्ती जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके विजय के निमित्त पूर्व दिशा में प्रयाण करते हैं। क्रम से दक्षिण भरतक्षेत्र के दो खण्डों को सिद्ध करके पुनः उत्तर भरतक्षेत्र में सम्पूर्ण भूमिगोचरी और विद्याधरों को वश में कर लेते हैं।

ये चक्रवर्ती वृषभगिरि पर्वत पर अपना नाम लिखने के लिए विजय प्रशस्तियों से सर्वत्र व्याप्त उस वृषभाचल को देखकर और अपने नाम को लिखने के लिए तिलमात्र भी स्थान न पाकर विजय के अभिमान से रहित होकर चिन्तायुक्त खड़े रह जाते हैं, तब मंत्रियों और देवों के अनुरोध से एक स्थान के किसी चक्रवर्ती का नाम अपने दण्डरत्न से नष्ट करके अपना नाम अंकित करते हैं। इस प्रकार ये सभी चक्रवर्ती सम्पूर्ण षट्खण्ड को जीतकर अपने नगर में प्रवेश करते हैं।

### 3.2 चक्रवर्तियों का वैभव—

प्रत्येक चक्री उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान से युक्त सुवर्ण वर्ण वाले होते हैं। उनके छ्यानवे हजार रानियाँ होती हैं—इनमें 32000 आर्यखण्ड की कन्याएँ, 32000 विद्याधर कन्याएँ और 32000 म्लेच्छ खण्ड की कन्याएँ होती हैं। प्रत्येक चक्रियों के संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियाँ, 32000 गणबद्ध राजा, 360 अंगरक्षक, 360 रसोइये, 35000000 (साढ़े तीन करोड़) बंधुवर्ग, 30000000 गायें, 10000000 थालियाँ, 8400000 भद्र हाथी, 8400000 रथ, 180000000 घोड़े, 840000000 उत्तर वीर, 88000 म्लेच्छ राजा, अनेकों करोड़ विद्याधर, 32000 मुकुटबद्ध राजा, 32000 नाट्यशालाएँ, 32000 संगीतशालाएँ और 480000000 पदातिगण होते हैं।

सभी चक्रवर्तियों में से प्रत्येक के 960000000 ग्राम, 75000 नगर, 16000 खेट, 24000 कर्वट, 4000 मटंब, 48000 पत्तन, 99000 द्रोणमुख, 14000 संवाहन, 56 अन्तर्द्वीप, 700 कुक्षि निवास, 28000 दुर्गादि होते हैं एवं चौदह रत्न, नवनिधि और दशांग भोग होते हैं।

**चौदह रत्न**—गज, अश्व, गृहपति, स्थपति, सेनापति, पट्टरानी और पुरोहित ये सात जीवरत्न हैं। छत्र, असि, दण्ड, चक्र, कांकिणी, चिन्तामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं। चक्रवर्तियों के चामरों को बत्तीस यक्ष ढोरते हैं।

**नवनिधि**—काल, महाकाल, पांडु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिङ्गल और नाना रत्न ये नवनिधियाँ श्रीपुर में उत्पन्न हुआ करती हैं। इन नव निधियों में से प्रत्येक क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती हैं।

चक्रवर्तियों के 24 दक्षिण मुखावर्त धवल व उत्तम शंख, एक कोड़ाकोड़ी 100000000000000 हल होते हैं। रमणीय भेरी और पट बारह-बारह होते हैं, जिनका शब्द बारह योजनप्रमाण देश में सुना जाता है।

**दशांग भोग**—दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भाजन, भोजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये उन चक्रवर्तियों

के दशांग भोग कहे जाते हैं।

भरत चक्रवर्ती प्रथम चक्रवर्ती थे और भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे, उन्हीं के नाम से यह भरतभूमि 'भारत' कहलाती है। इन्होंने दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त मात्रकाल में केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया था। इनका जीवनवृत्त महापुराण और भरतेशवैभव में देखिए। इनके भाई कामदेव पदधारक बाहुबली से इनका मानभंग, विजयभंग हुआ है, इसे हुण्डावसर्पिणी काल का दोष बताया है।

## 3.3 भरत चक्रवर्ती-

भगवान ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भरत महाराज का जन्म हुआ था। भगवान ने दीक्षा के लिए जाते समय भरत को साम्राज्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। एक समय राज्यलक्ष्मी से युक्त राजर्षि भरत को एक ही साथ तीन समाचार मालूम हुए थे—पूज्य पिता को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, अन्त:पुर में पुत्र का जन्म हुआ है और आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। क्षणभर में भरत ने मन में सोचा कि केवलज्ञान का उत्पन्न होना धर्म का फल है, चक्र का प्रकट होना अर्थ का फल है और पुत्र का उत्पन्न होना काम का फल है अत: भरत महाराज ने सबसे पहले समवसरण में जाकर भगवान की पूजा की, उपदेश सुना, तदनन्तर चक्ररत्न की पूजा करके पुत्र का जन्मोत्सव मनाया।

अनन्तर भरत महाराज ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर दिया। चक्ररत्न सेना के आगे-आगे चलता था। सम्पूर्ण षट्खण्ड पृथ्वी को जीत लेने के बाद वापस आते समय कैलाश पर्वत को समीप देखकर सेना को वहाँ ठहराकर स्वयं समवसरण में जाकर राजा भरत ने विधिवत् भगवान की पूजा की और वहाँ से आकर सेना सहित अयोध्या के समीप आ गये।

उस समय भरत महाराज का चक्ररत्न नगर के गोपुर द्वार को उल्लंघन कर आगे नहीं जा सका, तब चक्ररत्न की रक्षा करने वाले कितने ही देवगण चक्र को एक स्थान पर खड़ा हुआ देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए। भरत महाराज भी सोचने लगे कि समस्त दिशाओं को विजय करने में जो चक्र कहीं नहीं रुका, आज मेरे घर के आँगन में क्यों रुक रहा है?

इस प्रकार से बुद्धिमान भरत ने पुरोहित से प्रश्न किया। उसके उत्तर में पुरोहित ने निवेदन किया कि हे देव! आपने यद्यपि बाहर के लोगों को जीत लिया है तथापि आपके घर के लोग आज भी आपके अनुकूल नहीं हैं, वे आपको नमस्कार न करके आपके विरुद्ध खड़े हुए हैं। इस बात को सुनकर भरत ने हृदय में बहुत कुछ विचार किया। अनन्तर मंत्रियों से सलाह करके कुशल दूत को सबसे पहले अपने निन्यानवे भाइयों के पास भेज दिया।

वे भाई दूत से सब समाचार विदित करके विरक्तमना भगवान ऋषभदेव के समवसरण में जाकर दीक्षित हो गये। अनन्तर भरत ने मन में दु:ख का अनुभव करते हुए चक्र के अभ्यन्तर प्रवेश न करने से विचार-विमर्शपूर्वक एक दूत को युवा बाहुबली भाई के पास भेजा। दूत के समाचार से बाहुबली ने कहा कि "मैं भरत को भाई के नाते नमस्कार कर सकता हूँ किन्तु राजाधिराज कहकर उन्हें नमस्कार नहीं कर सकता, पूज्य पिता की दी हुई पृथ्वी का मैं पालन कर रहा हूँ, इसमें उनसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है", इत्यादि समाचारों से बाहुबली ने यह बात स्पष्ट कर दी कि यदि वे मुझसे जबरदस्ती नमस्कार कराना चाहते हैं तो युद्ध भूमि में ही अपनी-अपनी शक्ति का परिचय दे देना चाहिए। इस वातावरण से महाराज भरत सोचने लगे, अहो! जिन्हें हमने बालकपन से ही स्वतंत्रतापूर्वक खिला-पिलाकर बड़ा किया है, ऐसे अन्य कुमार यदि मेरे विरुद्ध आचरण करने वाले हों तो खुशी से हों परन्तु बाहुबली तरुण, बुद्धिमान, परिपाटी को जानने वाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विषय में विकार को कैसे प्राप्त हो गया? इस प्रकार छह प्रकार की सेना सामग्री से सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वर ने अपने छोटे भाई को जीतने की इच्छा से अनेक राजाओं के साथ प्रस्थान किया।

दोनों तरफ की सेना के प्रवाह को देखकर दोनों ओर के मुख्य-मुख्य मंत्री विचार कर इस प्रकार कहने लगे कि क्रूर ग्रहों के समान इन दोनों का युद्ध शान्ति के लिए नहीं है क्योंकि ये दोनों ही चरमशरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी,

केवल इनके युद्ध के बहाने से दोनों ही पक्ष के लोगों का क्षय होगा, इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्यों के संहार से डरकर मंत्रियों ने दोनों की आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करने की घोषणा कर दी अर्थात् इन दोनों के बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध में जो विजय प्राप्त करेगा, वही विजयलक्ष्मी का स्वयं स्वीकार किया हुआ पति होगा।

मनुष्यों से एवं असंख्य देवों से भूमण्डल और आकाशमण्डल के व्याप्त हो जाने पर इन दोनों का दृष्टियुद्ध प्रारंभ हुआ किन्तु बाहुबली ने टिमकार रहित दृष्टि से भरत को जीत लिया, जलयुद्ध में भी बाहुबली ने भरत के मुँह पर अत्यधिक जल डालकर आकुल करके जीत लिया क्योंकि भरत की ऊँचाई पाँच सौ धनुष और बाहुबली की पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी। मल्लयुद्ध में भी बाहुबली ने भरत को जीतकर उठाकर अपने कंधे पर बिठा लिया। दोनों पक्ष के राजाओं के बीच ऐसा अपमान देख भरत ने क्रोध से अपने चक्ररत्न का स्मरण किया और उसे बाहुबली पर चला दिया परन्तु उनके अवध्य होने से वह चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हीं के पास ठहर गया। उस समय बड़े-बड़े राजाओं ने चक्रवर्ती को धिक्कार दिया और दु:ख के साथ कहा कि 'बस-बस' यह साहस रहने दो, बंद करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक संताप को प्राप्त हुए। आपने खूब पराक्रम दिखाया, ऐसा कहकर बाहुबली ने भरत को उच्चासन पर बैठाया।

इस घटना से बाहुबली उसी समय विरक्त हो गये और संसार, शरीर, वैभव आदि की क्षणभंगुरता का विचार करते हुए बड़े भाई भरत से अपने अपराध की क्षमा कराकर तपोवन को जाने लगे, तब भरत भी अत्यधिक दु:खी होकर बाहुबली को समझाने और रोकने लगे। बाहुबली अपने वैराग्य को अचल करके तपोवन को चले गये और दीक्षा लेकर एक वर्ष का योग धारण कर लिया। एक वर्ष की ध्यानावस्था में सर्पों ने चरणों के आश्रय वामीरन्ध्र बना लिये, पक्षियों ने घोंसले बना लिये और लताएँ ऊपर तक चढ़कर बाहुबली के शरीर को ढँकने लगीं किन्तु योग चक्रवर्ती बाहुबली भगवान योग में लीन थे।

इधर भरत महाराज का चक्रवर्ती पट्ट पर महासाम्राज्य अभिषेक हुआ। दीक्षा लेते समय बाहुबली ने एक वर्ष का उपवास किया था, जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरत ने आकर उनकी पूजा की और पूजा करते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। "वह भरतेश्वर मुझ से संक्लेश को प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्त से उसे दु:ख पहुँचा है, यह विचार बाहुबली के हृदय में विद्यमान रहता था, इसलिए भरत के पूजा करते ही बाहुबली का हृदय विकल्परहित हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया। भरतेश्वर ने बहुत ही विशेषता से बाहुबली की पूजा की। केवलज्ञान प्रकट होने के पहले जो भरत ने पूजा की थी, वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए ही थी और अनन्तर की पूजा केवलज्ञान के महोत्सव की थी। उस समय देव कारीगरों ने बाहुबली भगवान की गंधकुटी बनाई थी। समस्त पदार्थों को जानने वाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृत के द्वारा समस्त संसार को संतुष्ट करते हुए पूज्य पिता भगवान ऋषभदेव के सामीप्य से पवित्र हुए कैलाशपर्वत पर जा पहुँचे।

**3.3.1 ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति—**

किसी समय भरत सोचते हैं कि मैं जिनेन्द्रदेव का महामह यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसार को संतुष्ट करूँ, सदा नि:स्पृह रहने वाले मुनि तो हमसे धन लेते नहीं परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्ति के द्वारा पूजा करने योग्य है ? जो अणुव्रतों में मुख्य है, श्रावकों में श्रेष्ठ है उसे दान देना उचित है। ऐसा सोचकर भरत ने योग्य व्यक्तियों की परीक्षा करने की इच्छा से समस्त राजाओं को बुलाया और घर के आँगन में हरे-भरे अंकुर, पुष्प और फल खूब डलवा दिये। उन लोगों में जो अव्रती थे वे बिना कुछ सोच-विचार के राजमंदिर में चले आये। राजा भरत ने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगों को बुलाया। पाप से डरने वाले कितने लोग तो वापस चले गये और कितने लोग वापस लौटने लगे परन्तु चक्रवर्ती के विशेष आग्रह से जब कुछ लोग दूसरे प्रासुक मार्ग से ले जाये गये तब प्रश्न करने

पर उन्होंने कहा—महाराज! आज पर्व के दिन कोंपल, हरे पत्ते तथा पुष्प आदि का विघात नहीं किया जाता, हे देव! हरे अंकुर आदि में अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं ऐसे सर्वज्ञदेव के वचन हैं। इस उत्तर से भरत महाराज बहुत प्रभावित हुए और व्रतों में दृढ़ रहने वाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान, मान आदि से सम्मानित कर पद्म नामक निधि से प्राप्त हुए एक से लेकर ग्यारह तक की संख्या वाले ब्रह्मसूत्र नाम के व्रतसूत्र से उन सबके चिन्ह किये। भरत ने इन्हें उपासकाध्ययनांग से इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया। त्रेपन गर्भान्वय क्रियाएँ, अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ और सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ भी बतलाईं। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और नीच वृत्ति का आश्रय लेने से शूद्र कहलाते हैं।

**3.3.2 भरत के सोलह स्वप्न—**

कुछ काल बीत जाने के बाद एक दिन चक्रवर्ती भरत ने अद्भुत फल दिखाने वाले कुछ स्वप्न देखे। उनके देखने से खेदखिन्न हो भरत ने यह समझ लिया कि इनका फल कटु है और ये पंचमकाल में फल देने वाले होंगे। इस प्रकार विचार कर भरत ने भगवान के समवसरण में जाकर पूजा-भक्ति आदि करके भगवान से प्रार्थना की—हे भगवन्! मैंने सिंह, सिंह के बालक आदि सोलह स्वप्न देखे हैं, उनका फल क्या है ? और मैंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, वह योग्य है या अयोग्य ? कृपया हमारे संशय को दूर कीजिए। यद्यपि अवधिज्ञान से भरत ने इन स्वप्नों का फल जान लिया था, फिर भी सभी को विशेष जानकारी होने के लिए भगवान से सुनना चाहते थे। भरत का प्रश्न समाप्त होने पर जगद्गुरु भगवान अपनी दिव्यध्वनि से सभा को संतुष्ट करने लगे। हे भरतराज! सुनो! (1) तुमने जो 'पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत की चोटी पर चढ़ते हुई तेईस सिंह देखे हैं' उसका फल यह है कि महावीर स्वामी को छोड़कर शेष तीर्थंकरों के समय दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। (2) 'अकेले सिंह के पीछे हिरणों के बच्चे' देखने से महावीर के तीर्थ में परिग्रही कुलिंगी बहुत हो जावेंगे। (3) 'बड़े हाथी के बोझ को घोड़े पर लदा' देखने से पंचम काल के साधु तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं होंगे। (4) 'सूखे पत्ते खाने वाले बकरों को देखने' से आगामी काल में मनुष्य दुराचारी हो जावेंगे। (5) 'गजेन्द्र के कंधे पर चढ़े हुए वानरों' को देखने से आगे चलकर क्षत्रियवंश नष्ट हो जावेंगे, नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे। (6) 'कौवों के द्वारा उलूक को त्रास दिया जाना' देखने से मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य साधुओं के पास जावेंगे। (7) 'नाचते हुए बहुत से भूतों के देखने से' लोग व्यंतरों को देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे। (8) 'मध्य भाग में शुष्क और चारों तरफ से पानी से भरे हुए तालाब' के देखने से धर्म मध्य भागों से हटकर यत्र-तत्र रह जावेगा। (9) 'धूल से मलिन हुए रत्नों की राशि के देखने से' पंचमकाल में ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे। (10) 'कुत्ते को नैवेद्य खाते हुए' देखने से व्रत रहित ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान आदर पावेंगे। (11) 'ऊँचे स्वर से शब्द करते हुए तरुण बैल का विहार' देखने से पंचमकाल में अधिकतर लोग तरुण अवस्था में मुनिपद को धारण करेंगे। (12) 'परिमण्डल से घिरे हुए चन्द्रमा' के देखने से पंचमकाल के मुनियों में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं होगा। (13) 'परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के' देखने से पंचमकाल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे। (14) 'मेघों के आवरण में रुके हुए सूर्य' के देखने से प्रायः पंचमकाल में केवलज्ञानरूपी सूर्य का उदय नहीं होता है। (15) 'सूखे वृक्ष के देखने से' स्त्री-पुरुषों का चारित्र भ्रष्ट हो जायेगा। (16) 'जीर्ण पत्तों के देखने से' महा औषधियों का रस नष्ट हो जावेगा।

हे भरत! इन स्वप्नों को तुम बहुत समय बाद का फल देने वाला समझो तथा जो तुमने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, सो आज तो ठीक है किन्तु ये भी पंचमकाल में जाति के मद से युक्त होकर प्रायः धर्मद्रोही हो जावेंगे, फिर भी अब जिनकी सृष्टि की है उन्हें नष्ट करना ठीक नहीं है।

भगवान के उपर्युक्त वचन को सुनकर भरत महाराज अपना संशय दूर करके ऋषभदेव को बार-बार प्रणाम करके

वहाँ से लौटे। खोटे स्वप्नों से होने वाले अनिष्ट की शांति के लिए जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक और उत्तम पात्र को दान देना आदि पुण्य कार्य किये।

बहुत काल तक साम्राज्य सुख का अनुभव करते हुए महाराज भरत ने किसी समय दर्पण में मुख देखते हुए एक श्वेत केश देखा और तत्क्षण भोगों से विरक्त हो गये। अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्यपद देकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली, उन्हें उसी समय मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया। ये भरतकेवली अब देवाधिदेव भगवान हो गये और इन्द्रों द्वारा वन्दनीय गंधकुटी में विराजमान हो गये। बहुत काल तक भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हुए अन्त में शेष कर्मों का नाश करके मुक्तिधाम को प्राप्त हो गये।

### 3.4 सगर चक्रवर्ती-

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के तीर्थ में सगर चक्रवर्ती हुए हैं, इनके पूर्व भवों को सुनाते हैं—जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती देश है—विदेह क्षेत्र है। वहाँ के राजा जयसेन की जयसेना रानी के रतिषेण और धृतिषेण दो पुत्र थे। किसी समय रतिषेण पुत्र की मृत्यु से राजा जयसेन बहुत ही दुःखी हुए। अनंतर अनेक उपायों से संबोधन को प्राप्त कर धृतिषेण पुत्र को राज्य देकर अपने साले महारूत के साथ तथा और भी अनेक राजाओं के साथ यशोधर महामुनि के समीप जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे।

जयसेन मुनि आयु के अंत में संन्यास से मरण कर अच्युत स्वर्ग में 'महाबल' नाम के देव हो गये। महारूत मुनि भी उसी स्वर्ग में 'मणिकेतु' नाम के देव हो गए। दोनों ने परस्पर में प्रीति से प्रतिज्ञा की कि—"हम दोनों में से जो पहले पृथ्वी पर अवतीर्ण होगा तो दूसरा देव उसे संबोधन देकर दीक्षा ग्रहण करा देगा।"

कालांतर में बाईस सागर की आयु पूर्ण कर 'महाबल देव' वहाँ से च्युत होकर अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा समुद्रविजय की रानी सुबाला के 'सगर' नाम के पुत्र हुए। इनकी आयु सत्तर लाख पूर्व की थी, शरीर चार सौ धनुष ऊँचा था और स्वर्णिम कांति थी। इनके अठारह लाख पूर्व कुमारकाल में तथा इतने ही वर्ष महामण्डलेश्वर के पद में रहे हैं। पुनः इनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हो गया जिससे इन्होंने भरत चक्रवर्ती के समान छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर पुनः अयोध्या जाकर एकछत्र शासन किया है। इनके साठ हजार पुत्र थे अर्थात् चक्रवर्ती के 96 हजार रानियाँ होती हैं अतः इन रानियों से 60 हजार पुत्र थे।

किसी समय सिद्धिवन में श्रीचतुर्मुख महामुनि को केवलज्ञान प्रगट हो गया। उनके केवलज्ञान कल्याणोत्सव में मणिकेतु देव आया था। वह अपने अवधिज्ञान से सगरचक्रवर्ती को अपना मित्र जानकर देवपद में की गई प्रतिज्ञा को स्मरण कर राजाधिराज चक्रवर्ती को अनेक प्रकार से वैराग्य के लिए समझाने लगा किन्तु चक्रवर्ती ने सब कुछ सुनते हुए समझकर भी हंसकर टाल दिया। तब देव वापस अपने स्वर्ग चला गया पुनः उसने किसी समय चारणऋद्धिधारी मुनि का रूप बनाकर चक्रवर्ती के चैत्यालय में पहुँचकर चक्रवर्ती को नाना प्रकार के प्रश्नोत्तरों से समझाने का प्रयास किया, यद्यपि चक्रवर्ती भयभीत हुआ किन्तु दीक्षा लेने के भाव उनके नहीं हुए चूँकि वह पुत्रों के मोह में बहुत ही फंसा हुआ था। शास्त्रों में तो पुत्रों को सांकल की उपमा दी है। यथा—

**इत्युक्तः संसृतेर्भूपो, वेपमानोऽपि नापतत्।**
**पंथानं निर्वृतेर्बद्धः, पुत्रशृंखलया दृढ़म्।।94।।**

मणिकेतु देव वापस अपने स्थान चला गया।

किसी समय चक्रवर्ती के पुत्र राज्यसभा में आकर निवेदन करते हैं कि हमें कोई कार्य सौंपिए। राजा ने कहा कि सभी कार्य परिपूर्ण हो चुके हैं आदि। पुनः किसी दिन पुत्रों ने आकर कहा—

हे पूज्य पिता! यदि आप मुझे कोई कार्य नहीं बताएँगे, तो हम भोजन नहीं करेंगे। तब राजा चिंता में पड़ गए पुनः

कुछ सोचकर बोले—हे पुत्रों! सुनो, भरतचक्रवर्ती ने कैलाशपर्वत पर तीर्थंकर भगवन्तों के महारत्नों के मंदिर बनवाए हैं। तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को पहुँचाकर पर्वत की परिखा बना दो। इस आज्ञा को शिरोधार्य कर पुत्रों ने दण्डरत्न लेकर वैसा ही करना प्रारंभ कर दिया। जैसा कि कहा है—

**राज्ञाप्यज्ञापिता यूयं, कैलाशे भरतेशिना।**
**गृहाः कृता महारत्नै-श्चतुर्विंशतिरर्हताम्।।107।।**
**तेषां गंगां प्रकुर्वीध्वं, परिखां परितो गिरिम्।**
**इति तेऽपि तथा कुर्वन्, दण्डरत्नेन सत्त्वरम्।।108।।**

उस समय मणिकेतु देव अच्छा अवसर समझकर पुनः उपाय सोचने लगा और वहाँ स्वर्ग से आकर उसने उन पुत्रों को सब तरफ से भयंकर नाग का रूप धरकर मूर्च्छित कर दिया वे सभी प्रायः मृतक के समान ही हो गए। सभी मंत्रियों ने देखा कि सभी पुत्र तो मर गए हैं। राजा को यह समाचार कैसे सुनाया जावे, चूँकि चक्रवर्ती तो पुत्रों के मोह में बंधे हुए हैं अतः वे इस समाचार से कदाचित् मृत्यु को न प्राप्त हो जाएँ, इस भय से उन्होंने राजा को कोई समाचार नहीं पहुँचाया।

तदनंतर मणिकेतु देव एक ब्राह्मण का रूप रखकर चक्रवर्ती के पास पहुँचकर अपने पुत्र के वियोग में रोते हुए बोला—हे भूमंडल के नाथ! चक्रवर्तिन्! मेरे पुत्र को यमराज से वापस दिला दो.....आदि कहने लगा। तब चक्री ने कहा—

हे द्विजराज! क्या आप नहीं जानते कि सिद्ध भगवान के सिवाय संसार में कोई भी यमराज को जीत नहीं सकता है। इत्यादि रूप से चक्रवर्ती उस ब्राह्मण को समझाते हुए बोले—हे बुद्धिमन्! तुम यमराज को जीतने के लिए दीक्षा ग्रहण करो। तब मणिकेतु देव ने ब्राह्मण वेष में कहा—

हे देव! यदि यही सच है तो मैं भी जो कहूँगा, सो आप भयभीत मत होइए। आपके सभी पुत्र, जो कैलाशपर्वत के चारों ओर खाई खोद रहे थे, उन्हें यमराज ने उठा लिया है इसलिए अब आप भी यमराज को जीतने के लिए दीक्षा स्वीकार कीजिए।

इतना सुनते ही चक्रवर्ती सगर मूर्च्छित हो गए। अनेक उपचारों से सचेत हुए, तब वैराग्य भावना का चिंतवन करते हुए उन्होंने अपने पौत्र 'भगीरथ' का राज्याभिषेक करके 'दृढ़धर्मा भगवान केवली' के पादमूल में पहुँचकर दीक्षा धारण कर ली। उसी क्षण मणिकेतु देव ने उन साठ हजार पुत्रों के पास पहुँचकर उन्हें सचेत करके उनको पिता के शोक व दीक्षा का समाचार सुना दिया। देव के वचन सुनकर राजपुत्रों ने भी विरक्तमना होकर जिनेन्द्र भगवान के चरण सान्निध्य में दीक्षा धारण कर ली। अनंतर मणिकेतु देव चक्रवर्ती व सभी पुत्रों के पास, जो कि महामुनि के रूप में विराजमान थे, उन्हें नमस्कार करके अपने सारे मायामयी उपायों को बताकर क्षमायाचना करने लगा। तब इन मुनियों ने कहा कि आपने तो हमारा बहुत बड़ा उपकार किया है, आप हमारे सच्चे मित्र हैं।

इन सभी मुनियों ने अनेक वर्षों तक घोरातिघोर तपश्चरण करके केवलज्ञान प्राप्त किया है पुनः सम्मेदशिखर पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया है। अपने पितामह-चक्रवर्ती और सभी उनके पुत्रों को तथा अपने पिता को निर्वाण प्राप्त सुनकर राजा भगीरथ भी परम वैराग्य को प्राप्त हुए। तब उन्होंने अपने पुत्र वरदत्त को राज्यभार सौंपकर कैलाशपर्वत पर जाकर शिवगुप्त महामुनि से जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और नानाविध तपश्चरण करते हुए गंगा नदी के तट पर प्रतिमायोग धारणकर ध्यान में स्थित हो गए। उनके तपश्चरण व विशेष ध्यान के प्रभाव से इन्द्र ने आकर क्षीरसागर के जल से भगीरथ महामुनि के चरणों का अभिषेक किया। उस अभिषेक के जल का प्रवाह गंगा नदी में जाकर मिल गया, तभी से गंगा नदी भी तीर्थपने को प्राप्त हो गई और उसका 'भागीरथी' यह नाम प्रसिद्ध हो गया है।

वहीं पर इन भागीरथ महामुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया है पुनः वहीं से गंगा नदी के तट से निर्वाण को प्राप्त किया है।

ऐसे सगरचक्री सिद्ध भगवान, उनके साठ हजार पुत्र एवं भगीरथ पोते सिद्धालय में विराजमान हैं, वे सदा जयवंत होवें, उन सबको हमारा कोटि-कोटि नमस्कार है।

यहाँ श्री गौतम स्वामी कहते हैं—हे श्रेणिक! संसार में इस लोक तथा परलोक में मित्र के समान हित करने वाला दूसरा कोई नहीं है। न मित्र से बढ़कर कोई भाई है। जो बात गुरु अथवा माता-पिता से भी नहीं कही जाती, ऐसी गुप्त से गुप्त बात मित्र से कही जाती है, मित्र अपने प्राणों की परवाह न करके कठिन से कठिन कार्य सिद्ध कर देता है। मणिकेतु देव ही इसके विषय में एक स्पष्ट उदाहरण हैं इसलिए आप सभी को भी ऐसे ही मित्र बनाना चाहिए।

यद्यपि मणिकेतु देव ने मायाचारी से ऐसा अप्रिय कार्य करके सगर चक्रवर्ती को विरक्त करने का उपाय किया था तथापि आचार्यश्री गुणभद्रदेव इसे अच्छा ही कह रहे हैं।

वचन चार प्रकार के होते हैं—(1) कुछ वचन तो हित और प्रिय दोनों होते हैं। (2) कुछ हित और अप्रिय होते हैं। (3) कुछ प्रिय होकर भी अहितकर होते हैं। (4) और कुछ अहित और अप्रिय होते हैं। इन चार प्रकार के वचनों में से अंत के तीसरे व चौथे प्रकार के वचनों को छोड़कर शेष—प्रथम और द्वितीय इन दो प्रकार के वचनों से हित का उपदेश दिया जा सकता है। यहाँ मणिकेतु देव के वचन अथवा उपाय हितकर थे और अप्रिय थे अर्थात् अप्रिय होकर भी उनका उपाय हितकारी था अतः उन्हें मायाचारी का दोष नहीं लगा था।

पद्मपुराण में लिखा है कि भगवान अजितनाथ के पिता 'जितशत्रु' महाराजा थे, उनके छोटे भाई विजयसागर की रानी सुमंगला से सगर चक्रवर्ती जन्मे हैं पुनः इन्हीं चक्रवर्ती सगर ने भगवान अजितनाथ के समवसरण में दीक्षा ली है और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया है।

पद्मपुराण में चक्रवर्ती के इन साठ हजार पुत्रों का पूर्व भव पढ़ने योग्य है। यथा—भगवान अजितनाथ ने दिव्यध्वनि से कहा—

एक बार चतुर्विध संघ सम्मेदशिखर की वंदना के लिए जा रहा था, सो मार्ग में वह अन्तिक नामक ग्राम में पहुँचा। संघ में दिगम्बर मुनियों को देखकर उस ग्राम के सब लोग कुवचन कहते हुए संघ की हंसी करने लगे परन्तु उस ग्राम में एक कुंभकार था, उसने गाँव के सब लोगों को मना कर संघ की स्तुति की। किसी समय उस ग्राम में रहने वाले एक मनुष्य ने चोरी की थी, सो अविवेकी राजा ने सोचा कि यह गाँव ही बहुत अपराध करता है इसलिए घेरा डालकर सारा का सारा गाँव जला दिया। जिस दिन वह गाँव जलाया गया था, उस दिन मध्यस्थ परिणामों का धारक वह कुंभकार निमंत्रित होकर कहीं बाहर गया था अतः वही एक बच गया था। कालांतर में जब कुंभकार मरा तो वह भारी धनपति वैश्य हो गया और गाँव के सब लोग मरकर कौड़ी हुए थे, तो उस वैश्य ने उन कौड़ियों को खरीद दिया। तदनंतर कुंभकार का जीव मरकर राजा हुआ और गाँव के—कौड़ी के जीव मरकर गिजाई हुए, सो राजा के हाथी के पैर के नीचे मरकर वे सब गिजाइयों के जीव संसार में भ्रमण करते रहे। कुंभकार के जीव राजा ने मुनि होकर मरणकर देवपद प्राप्त किया और वहाँ से च्युत होकर सगर चक्रवर्ती के पुत्र जन्हु का पुत्र भगीरथ हुआ था तथा गाँव के जो सभी लोग एक साथ मरे थे, वे क्रम से कौड़ी, गिजाई आदि पर्यायों में भ्रमण कर कुछ पुण्ययोग से सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र हुए हैं।

मुनिनिंदा के पाप से गाँव के सभी लोग एक साथ मरकर नाना दुःखों को प्राप्त करते रहे थे पुनः पुण्ययोग से चक्रवर्ती के पुत्र हुए और कुंभकार ने मुनि की स्तुति के प्रभाव से वैश्य, राजा तथा देव होकर अंत में मोक्ष को प्राप्त किया है अतः मुनियों की निंदा का त्याग कर उनकी स्तुति करके अपने जीवन को सुखी व परलोक को सुखी बनाते हुए परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

### 3.5 मघवा चक्रवर्ती-

श्री धर्मनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में मघवा चक्रवर्ती हुए हैं, ये तृतीय चक्रवर्ती थे। इनके पूर्व भव का वर्णन इस प्रकार है—

श्री वासुपूज्य भगवान के तीर्थकाल में 'नरपति' नाम के राजा ने राज्य, भोगों से विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। घोरातिघोर तप करके मध्यम ग्रैवेयक में अहमिंद्र हो गए। वहाँ की सत्ताईस सागर की आयु में दिव्य सुखों का अनुभव कर अंत में वहाँ से च्युत होकर अयोध्यापुरी के इक्ष्वाकुवंशी महाराजा सुमित्र की भद्रा रानी से 'मघवा' नाम के पुत्र हुए। इनकी पाँच लाख वर्ष की आयु थी, साढ़े चालीस धनुष ऊँचा शरीर था। इनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हो गया, तब इन्होंने दिग्विजय करके छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर सार्वभौम एकछत्र शासन किया। एक समय मनोहर उद्यान में "श्री अभयघोष" केवली का आगमन हुआ। उनकी गंधकुटी में पहुँचकर भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर वन्दना, स्तुति, भक्ति, पूजा करके चक्रवर्ती ने केवली भगवान का दिव्य उपदेश सुना, पुनः विरक्तमना होकर अपने पुत्र प्रियमित्र को राज्य देकर स्वयं जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

निर्दोष संयम का पालन करते हुए अंत में शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाशकर दिव्य केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। गंधकुटी की रचना देवों के द्वारा की गई। बहुत काल तक श्रीविहार कर चक्रवर्ती केवली भगवान ने असंख्य भव्यों को धर्मामृत पान से तृप्त किया। अनंतर चतुर्थ शुक्लध्यान से सम्पूर्ण अघातिया कर्मों का नाशकर निर्वाणधाम को प्राप्त किया है। ऐसे ये मघवा चक्रवर्ती अनंत-अनंतकाल तक सिद्धशिला के ऊपर विराजमान रहेंगे। इनके श्रीचरणों में मेरा कोटि-कोटि वंदन है।

### 3.6 सनत्कुमार चक्रवर्ती-

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कुरुवंश की परम्परा में चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार हुए जो रूपपाश से खिंचकर आये हुए देवों द्वारा संबोधित हो दीक्षित हो गये थे। आराधना कथाकोश में इनका जीवनवृत्त इस प्रकार है—

ये सनत्कुमार चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे। उन्होंने छह खण्ड पृथ्वी अपने वश में कर ली थी। नवनिधि, चौदह रत्न, चौरासी लाख हाथी, इतने ही रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छ्यानवे करोड़ ग्राम, छ्यानवे हजार रानियाँ इत्यादि विशाल वैभव था। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा चक्रवर्ती की आज्ञा शिरसा धारण करते थे। ये चक्रवर्ती कामदेव पद के धारक भी थे।

एक दिन सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अपनी सभा में मनुष्यों के रूप की प्रशंसा करते हुए सनत्कुमार के रूप को सबसे उत्कृष्ट कहा। उस समय कौतुकवश परीक्षा करने के लिए मणिचूल और रत्नचूल नाम के दो देव यहाँ भूमण्डल पर आये। गुप्तवेष से स्नानागार में राजा के रूप को देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। अनन्तर द्वारपाल से कहा कि चक्रवर्ती को कहो कि स्वर्ग से दो देव आपके रूप को देखने के लिए आये हैं। चक्रवर्ती ने स्नान करके वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो सिंहासन पर आरूढ़ होकर उन देवों को आने को कहा। उस समय वे देव सभा में आकर बोले—महाराज! स्नान के समय जो आपका रूप था, वह अब नहीं रहा। ऐसा सुनकर सभी सभासदों को बहुत ही आश्चर्य हुआ।

देवों ने एक घड़े में जल भर दिया और एक बिन्दु जल निकाल दिया फिर सभा से पूछा कि क्या जल कम हो गया है ? उत्तर में सबने कहा—जल ज्यों की त्यों भरा है। बस! देवों ने कहा—ऐसे ही राजा के रूप में जो अन्तर हुआ है वह तुम्हें पता नहीं चल रहा है। इस घटना से चक्रवर्ती संसार के विषय भोगों से विरक्त हो गये। अपने पुत्र सुकुमार को राज्य देकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और घोरातिघोर तपश्चरण करने लगे। पराधीन प्रकृति, विरुद्ध आहार आदि के निमित्त से और असाता कर्म के तीव्रोदय से मुनिराज सनत्कुमार के शरीर में भयंकर रोग उत्पन्न हो गये किन्तु वे मुनि शरीर से निर्मम होने से उसकी उपेक्षा करके अपनी आवश्यक क्रियाओं में सावधान थे और कठिन से कठिन तप कर रहे थे।

पुनः किसी समय सौधर्म स्वर्ग की इन्द्रसभा में मुनियों के चारित्र की प्रशंसा करते हुए इन्द्र ने सनत्कुमार मुनि की प्रशंसा की। उस समय मदनकेतु नाम का देव उनकी परीक्षा के लिए यहाँ आया। वैद्य का वेष बनाकर वन में साधु के पास गया। मुनिराज ने कहा—भाई! मुझे सबसे बड़ा रोग है यदि तुम उसकी दवाई कर सको तो ठीक है। वैद्य ने

पूछा—वह क्या है ? मुनिराज ने कहा—वह रोग है 'जन्म लेना' यदि इस रोग की दवाई तुम्हारे पास है तो दे दो। वैद्य वेषधारी देव ने कहा—इस रोग को तो मैं कुछ नहीं समझता हूँ। उस समय मुनिराज ने अपनी तप शक्ति से उत्पन्न हुई ऋद्धियों के बल से क्षणमात्र में अपने एक हाथ का कुष्ठ रोग नष्ट करके उस वैद्य को बता दिया और कहा कि जब शरीर मेरा नहीं है, तब मैं इसकी चिंता क्यों करूँ ? इसलिए मैं निस्पृह हूँ। यह चमत्कार देखकर वैद्य ने अपने रूप को प्रगट कर मुनि की अनेक स्तुतियों से स्तुति करते हुए पूजा की और कहा—हे नाथ! जन्म-मरण को दूर करने वाली औषधि तो आपके पास ही है और आप स्वयं इसका सेवन कर भी रहे हैं तथा हम जैसे संसारी दीन प्राणी भी आप जैसे महापुरुषों की शरण में आकर इस रोग का नाश कर सकते हैं।

इस प्रकार मुनि का माहात्म्य प्रगट कर वह देव स्वर्ग चला गया।

इधर मुनिराज सनत्कुमार उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करने में समर्थ अपने चारित्र को वृद्धिंगत करते हुए घातिया कर्मों का नाशकर केवली हो गये और बहुत काल तक पृथ्वी पर विहार कर अघातिया कर्मों का भी नाशकर शाश्वत सुखमय सिद्धपद को प्राप्त हो गये।

इन चक्रवर्ती की कुल आयु तीन लाख वर्ष की थी। उसमें पचास हजार वर्ष कुमार काल में, पचास हजार वर्ष मांडलिक अवस्था में, दस हजार वर्ष दिग्विजय में, नब्बे हजार वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य के उपभोग में और एक लाख वर्ष संयमी मुनि अवस्था में व्यतीत हुए हैं।

ये चक्रवर्ती पन्द्रहवें धर्मनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में हुए हैं। आज लोक के अग्रभाग में विराजमान सिद्ध परमात्मा हैं, उन्हें मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

## 3.7 श्री शांतिनाथ चक्रवर्ती-

कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर राजधानी में कुरुवंशी राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ऐरावती था। भगवान शांतिनाथ के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही इन्द्र की आज्ञा से हस्तिनापुर नगर में माता के आंगन में रत्नों की वर्षा होने लगी और श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर हो गईं। भादों वदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रानी ने गर्भ धारण किया। उस समय स्वर्ग से देवों ने आकर तीर्थंकर महापुरुष का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की।

नव मास व्यतीत होने के बाद रानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी समय चार प्रकार के देवों के यहाँ स्वयं ही बिना बजाये शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगे। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्राणी और असंख्य देवगणों सहित नगर में आया तथा भगवान को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव मनाया। अभिषेक के अनन्तर भगवान को अनेकों वस्त्रालंकारों से विभूषित करके उनका "शांतिनाथ" यह नाम रखा। इस प्रकार भगवान को हस्तिनापुर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर पुनरपि यहाँ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाकर आनंद नामक नाटक करके अपने-अपने स्थान पर चले गये।

भगवान की आयु एक लाख वर्ष की थी, शरीर चालीस धनुष ऊँचा था, सुवर्ण के समान कांति थी, ध्वजा, तोरण, शंख, चक्र आदि एक हजार आठ शुभ चिन्ह उनके शरीर में थे। उन्हीं विश्वसेन की यशस्वती रानी के चक्रायुध नाम का एक पुत्र हुआ। देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए भगवान शांतिनाथ अपने छोटे भाई चक्रायुध के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। भगवान की यौवन अवस्था आने पर उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कांति आदि से विभूषित अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

इस तरह भगवान के जब कुमारकाल के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम से उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करते हुए जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये, तब उनकी आयुधशाला में चक्रवर्ती के वैभव को प्रगट करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चक्र को आदि लेकर चौदह रत्न और नवनिधियाँ प्रगट हो गईं। इन चौदह रत्नों में चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, सेनापति, स्थपति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे और स्त्री, गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गई थीं।

चक्ररत्न के प्रकट होने के बाद भगवान ने विधिवत् दिग्विजय करके छह खण्ड को जीतकर इस भरतक्षेत्र में एकछत्र शासन किया था। जहाँ पर स्वयं भगवान शांतिनाथ इस पृथ्वी पर प्रजा का पालन करने वाले थे, वहाँ के सुख और सौभाग्य का क्या वर्णन किया जा सकता है ? इस प्रकार चक्रवर्ती के साम्राज्य में भगवान की छ्यानवे हजार रानियाँ थीं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे और बत्तीस यक्ष हमेशा चमरों को ढुराया करते थे। चक्रवर्तियों के साढ़े तीन करोड़ बंधुकुल होता है। अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, तीन करोड़ उत्तम वीर, अनेकों करोड़ विद्याधर और अठासी हजार म्लेच्छ राजा होते हैं। छ्यानवे करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेट, चौबीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब और अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं इत्यादि अनेकों वैभव होते हैं।

ये शांतिनाथ भगवान तीर्थंकर होने से बारहवें भव पूर्व राजा श्रीषेण थे और मुनि को आहारदान देने के प्रभाव से भोगभूमि में गये थे, फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा ली थी और एक वर्ष का योग धारण कर खड़े हो गये थे, तब इनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई थीं, सर्पों ने वामी बना ली थी, पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे और ये वज्रायुध मुनिराज ध्यान में लीन रहे थे, अनन्तर अहमिन्द्र हुए, फिर मेघरथ राजा हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करते हुए सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन किया था और उसके प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था, फिर वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, फिर वहाँ से आकर जगत को शांति प्रदान करने वाले सोलहवें तीर्थंकर, बारहवें कामदेव और पंचम चक्रवर्ती ऐसे शांतिनाथ भगवान हुए।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस संसार में अन्य लोगों की बात जाने दीजिए, श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र को छोड़कर भगवान तीर्थंकरों में ऐसा कौन है जिसने पूर्व के बारह भवों में से प्रत्येक भव में बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की हो ? इसलिए हे विद्वान् लोगों! यदि तुम शांति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र का निरन्तर ध्यान करते रहो। यही कारण है कि आज भी भव्यजीव शांति की प्राप्ति के लिए श्री शांतिनाथ भगवान की आराधना करते हैं।

पुष्पदंत तीर्थंकर से लेकर सात तीर्थंकरों तक उनके तीर्थकाल में धर्म की व्युच्छित्ति हुई अतः धर्मनाथ तीर्थंकर के बाद पौन पल्य कम तीन सागर तक धर्म की परम्परा अव्युच्छिन्न रूप से चलती रही। अनन्तर पाव पल्यकाल तक इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के दोष से उस पाव पल्य प्रमाणकाल तक दीक्षा लेने वालों का अभाव हो जाने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था, उस समय शांतिनाथ ने जन्म लिया था। तब से आज तक धर्मपरम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है इसलिए उत्तरपुराण में श्रीगुणभद्र स्वामी कहते हैं कि—

"भोगभूमि आदि कारणों से नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों के द्वारा पुनः-पुनः दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक ले जाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका, तदनन्तर जो शांतिनाथ भगवान ने मोक्षमार्ग प्रगट किया वही आज तक अखण्ड रूप से बाधारहित चला आ रहा है इसलिए इस युग के आद्यगुरु श्री

शांतिनाथ भगवान ही हैं क्योंकि उनके पहले जो पन्द्रह तीर्थंकरों ने मोक्षमार्ग चलाया था, वह बीच-बीच में विनष्ट होता जाता था।"

इस प्रकार से इस हस्तिनापुर नगरी में भगवान शांतिनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ऐसे चार कल्याणक हुए हैं।

## 3.8 कुंथुनाथ चक्रवर्ती-

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी महाराज सूरसेन राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी का नाम श्रीकांता था। उस पतिव्रता देवी ने देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी। श्रावण कृष्णा दशमी के दिन रानी ने सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया, उस समय इन्द्रों ने आकर भगवान का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा करके स्वस्थान को चले गये। क्रम से नव मास व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्ररत्न का जन्म हुआ, उसी समय इन्द्रादि सभी देवगण आये और बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर महामहिमाशाली जन्माभिषेक महोत्सव करके अलंकारों से अलंकृत किया एवं बालक का नाम "कुंथुनाथ" रखा। वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर देवगण स्वस्थान को चले गये। पंचानवे हजार वर्ष की इनकी आयु थी, पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर की कांति थी। ये तेरहवें कामदेव एवं छठे चक्रवर्ती पद के धारक थे।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकाल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और इतना ही काल बीत जाने पर उन्हें वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिली। इस प्रकार वे बाधारहित, निरन्तर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते थे, सारा वैभव शांतिनाथ भगवान के समान ही था। चक्रवर्ती पद के साम्राज्य का उपभोग करते हुए भगवान के तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत हो गये।

किसी समय भगवान को पूर्व भव का स्मरण हो जाने से आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वे भोगों से विरक्त हो गये, उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु का स्तवन-पूजन किया। उन्होंने अपने पुत्र को राज्यभार देकर इन्द्रों द्वारा किया हुआ दीक्षाकल्याणक उत्सव प्राप्त किया। देवों द्वारा लाई गई 'विजया' नाम की पालकी पर सवार होकर भगवान सहेतुक वन में पहुँचे, वहाँ तेला का नियम लेकर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में तिलक वृक्ष के नीचे सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। उसी समय प्रभु को मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन हस्तिनापुर के धर्ममित्र राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया। इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए प्रभु के सोलह वर्ष बीत गये।

किसी दिन भगवान तेला का नियम लेकर तप करने के लिए वन में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहाँ चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवों ने समवसरण की रचना की और केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की। भगवान के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर पैंतीस गणधर, साठ हजार मुनिराज, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। भगवान दिव्यध्वनि के द्वारा चिरकाल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार करते रहे। भगवान का केवलीकाल तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष का था।

जब भगवान की आयु एक मास की शेष रह गई तब वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे और प्रतिमायोग धारण कर लिया, वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में समस्त कर्मों से रहित, नित्य, निरंजन सिद्धपद को प्राप्त हो गये। ये कुंथुनाथ भगवान तीर्थंकर होने के तीसरे भव पहले सिंहरथ राजा थे, मुनि अवस्था में सोलहकारण भावनाओं के प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया, पुन: सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर कुंथुनाथ नाम के सत्रहवें तीर्थंकर, छठे चक्रवर्ती और तेरहवें कामदेव पद के धारक हुए हैं।

### 3.9 अरनाथ चक्रवर्ती-

इसी हस्तिनापुर नगरी में सोमवंश में उत्पन्न हुए राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी मित्रसेना नाम की रानी थी। रानी ने फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन गर्भ में अहमिन्द्र के जीव को धारण किया, उसी समय देवों ने आकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। रात्री मित्रसेना ने नव मास के बाद मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवों ने बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करके भगवान का अरनाथ नाम रखा। भगवान की आयु चौरासी हजार वर्ष की थी, 120 हाथ ऊँचा शरीर था, सुवर्ण के समान शरीर की कांति थी।

भगवान के कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मण्डलेश्वर के योग्य राज्यपद प्राप्त हुआ, इसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। इस तरह भोग भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया, तब शरद ऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय होना देखकर भगवान को वैराग्य हो गया। लौकांतिक देवों द्वारा स्तुत्य भगवान अपने पुत्र अरविंद कुमार को राज्य देकर देवों द्वारा उठाई हुई वैजयंती नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुँचे। तेला का नियम कर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में भगवान ने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन चक्रपुर नगर के अपराजित राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया था।

जब भगवान के छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बीत गये, तब वे कार्तिक शुक्ला दशमी के दिन आम्रवन के नीचे तेला का नियम लेकर विराजमान हुए और घातिया कर्मों का नाशकर केवली बन गये। देवों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। भगवान के समवसरण में तीस गणधर, पचास हजार मुनिराज, साठ हजार आर्यिकाएँ, एक लाख साठ हजार श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। इस तरह बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान अरनाथ ने बीस हजार नौ सौ चौरासी वर्ष केवली अवस्था में व्यतीत किए।

जब एक माह की आयु शेष रही, तब भगवान सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमायोग से स्थित हो गये। चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्वभाग में सम्पूर्ण कर्मों से रहित अशरीरी होकर सिद्ध पद को प्राप्त हो गये। ये अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ सातवें चक्रवर्ती और चौदहवें कामदेव पद के भी धारक थे। तीर्थंकर होने से पूर्व तीसरे भव में ये भगवान अरनाथ धनपति नाम के राजा थे, दीक्षा लेकर सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था, पुनः जयंत विमान में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर अरनाथ तीर्थंकर हुए हैं। इनका मत्स्य (मछली) का चिन्ह था।

### 3.10 सुभौम चक्रवर्ती-

हस्तिनापुर नगर में कौरववंशी कार्तवीर्य नाम का राजा था, उसने कामधेनु के लोभ में जमदग्नि नामक तपस्वी को मार डाला। जमदग्नि का लड़का परशुराम था। यह भी बड़ा बलवान था अतः उसने क्रुद्ध होकर पिता को मारने वाले कार्तवीर्य को मार डाला तथा अनेकों क्षत्रियों को भी मार डाला। उस समय कार्तवीर्य राजा की तारा नाम की रानी गर्भवती थी, वह गुप्तरूप से कौशिक ऋषि के आश्रम में जा पहुँची, वहाँ उसने क्षत्रियों के त्रास को नष्ट करने वाले आठवें चक्रवर्ती को जन्म दिया। चूँकि वह पुत्र भूमिगृह—तलघर में उत्पन्न हुआ था इसलिए 'सुभौम' इस नाम से पुकारा जाने लगा। इधर वह बालक गुप्तरूप से ऋषि के आश्रम में बढ़ रहा था, उधर परशुराम के यहाँ अशुभसूचक उत्पात होने से निमित्तज्ञानियों ने बतलाया कि तुम्हारा शत्रु उत्पन्न हो गया है। उसके जानने का उपाय यह है कि "तुम्हारे द्वारा मारे गये क्षत्रियों की दाढ़ें जिसके भोजन करते समय खीररूप में परिणत हो जायें, वही तुम्हारा शत्रु है।"

यह सुनकर परशुराम ने शीघ्र ही एक दानशाला खुलवाई और वहीं मध्य में क्षत्रियों की दाढ़ों से भरा हुआ पात्र रखकर वहाँ विद्वान आदमी नियुक्त कर दिया। जब सुभौम को इस बात का पता लगा तब वह शीघ्र ही वहाँ पहुँचकर भोजनशाला में खाने के लिए बैठ गया। ब्राह्मण के अग्रासन पर बैठे हुए कुमार सुभौम के आगे दाढ़ों का पात्र रखा गया

और उसके प्रभाव से समस्त दाढ़ें खीररूप परिणत हो गईं। यह सूचना शीघ्र ही परशुराम को दी गई और वह अपना फरसा लेकर शीघ्र उसे मारने आ गया। उस समय सुभौम के पुण्य से वह थाली चक्ररत्न बन गई। उसने उसी चक्र से शीघ्र ही परशुराम को मार गिराया। वह सुभौम चक्रवर्ती अष्टम चक्री के रूप में प्रगट हो गया। चौदह रत्न, नव निधियाँ और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उसकी सेवा करने लगे। शठ के प्रति शठता दिखाने वाले उस चक्रवर्ती ने क्रोधयुक्त हो चक्ररत्न से इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण रहित कर दिया। चक्रवर्ती सुभौम साठ हजार वर्ष तक जीवित रहा परन्तु तृप्ति को प्राप्त नहीं हुआ इसलिए आयु के अन्त में मरकर नरक गया।

उत्तरपुराण में सुभौम चक्रवर्ती का कथानक कुछ विशेष है, यथा—राजा सहस्त्रबाहु की रानी चित्रमती थी। वह चित्रमती कान्यकुब्ज देश के राजा 'पारत' की पुत्री थी। इनके कृतवीर (कार्तवीर्य) नाम का पुत्र हुआ। इसी से संबंधित एक कथा और है—

राजा सहस्त्रबाहु के काका शतबिन्दु से उनकी श्रीमती स्त्री के जमदग्नि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। यह श्रीमती (जमदग्नि की माँ) चित्रमती के पिता राजा पारत की बहन थीं। कुमारावस्था में माँ के मर जाने से जमदग्नि तापस हो गया और पंचाग्नि तप तपने लगा।

किसी समय एक सौधर्म स्वर्ग का देव और एक ज्योतिषी देव दोनों मिले, आपस में सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की चर्चा करने लगे। स्वर्ग के देव ने कहा कि मिथ्यात्व के कारण जीव अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। दोनों ही चर्चा के अनन्तर एक-दूसरे के धर्म की परीक्षा के लिए वहाँ आये और जहाँ यह जमदग्नि तप कर रहा था, वहाँ चिड़ा-चिड़ी का रूप बनाकर उस साधु की दाढ़ी में रहने लगे। एक दिन चिड़ा किसी चिड़ी के विवाह में जाने लगा तब चिड़ी ने कहा कि वापस आने के लिए कुछ शपथ करके जाओ। उत्तर में चिड़ा बोला कि इस तापस की जो गति होगी, उसको छोड़कर तू चाहे जो शपथ करवा ले। बस, यह सुनते ही जमदग्नि एकदम क्रोधित हो इनको मारने लगा, तब वे दोनों उड़कर सामने के पेड़ पर जा बैठे। तब उसने इन्हें कुछ विशेष समझकर पूछा कि 'मेरे कठिन तप से होने वाली भावी गति को तुमने क्यों नहीं पसंद किया ?" उत्तर में चिड़ा ने कहा—अरे! 'अपुत्रस्य कुतो गतिः' पुत्ररहित मनुष्य की कोई गति नहीं होती, ऐसा वेदवाक्य है फिर आप बालब्रह्मचारी रहकर क्यों तप कर रहे हो ? ऐसे वचन सुनकर वह अज्ञानी तापसी विषयासक्त हो गया। आचार्य कहते हैं कि जब अनादिकाल से मनुष्य की विषयों में होने वाली बुद्धि बड़ी मुश्किल से गुरु के उपदेश से हटाई जाती है तब यदि गुरु उपदेश ही विषयों का पोषक मिल जाये, फिर क्या पूछना ?

वह तापस सीधे अपने मामा राजा पारत के पास आया और कन्या की याचना करने लगा। राजा बहुत ही दुःखी हुए फिर भी साधु के शाप दे देने के डर से उन्होंने कहा—मेरी सौ पुत्रियों में तुम्हें जो चाहे, उसे ले जाओ। उस तापस के अधजले मुरदे जैसे विरूप को देखकर सब कन्याएँ भाग गईं। तब उस तापस ने धूलि में खेलती हुई एक कन्या को केला दिखाकर कहा—क्या तू मुझे चाहेगी? उस बालिका ने 'हाँ' कहकर केला ले लिया। बस तापस उसे गोद में लेकर गया और उसे बड़ी कर उससे विवाह कर लिया।

उस समय लोग उसकी अज्ञानता को धिक्कारते थे। तभी से ऋषि आश्रम में पत्नी सहित रहने की कुप्रथा चल पड़ी। उन जमदग्नि और रेणुका से इन्द्र (परशुराम) और श्वेतराम ऐसे दो पुत्र उत्पन्न हुए।

कुछ दिन बाद अरिंजय नाम के एक साधु रेणुका के जो बड़े भाई थे, वे वहाँ आये। रेणुका ने उनकी बड़ी भक्ति की। भाई! 'आपने हमें विवाह में कुछ नहीं दिया, अब कुछ दीजिए' ऐसी याचना करने में मुनि ने 'कामधेनु' नाम की विद्या और मंत्र सहित फरसा ये दो चीजें दे दीं।

किसी दिन उस वन में सहस्त्रबाहु राजा कृतवीर के साथ आये। उनका सत्कार करके रेणुका ने 'कामधेनु' से उत्पन्न हुई खीर का भोजन कराया। कृतवीर ने अपनी माँ की छोटी बहन रेणुका से पूछा—ऐसा भोजन राजाओं के यहाँ दुर्लभ

है सो यहाँ वन में तुम्हारे यहाँ कैसे आया ? उत्तर में रेणुका ने मुनि द्वारा प्रसाद में प्राप्त कामधेनु विद्या बता दी। कृतघ्नी कृतवीर ने उसे मांगा। जमदग्नि के नहीं देने पर उसने उस साधु को मारकर वह कामधेनु ले ली और अपने नगर आ गये।

वन से कुश लेकर आए दोनों ऋषियों ने जब माता का रुदन और पिता का निधन देखा तब वे कुपित हो मंत्रित फरसा लेकर गये और राजा सहस्रबाहु तथा कृतवीर को मार दिया। रानी चित्रमती गर्भवती थी। उसके भाई शांडिल्य नामक तापस ने इस घटना को देख बहन को अज्ञातरूप से ले जाकर किन्हीं मुनि के समीप उसे बिठा दिया। उसके पुत्ररत्न का जन्म हुआ, तब वनदेवता ने भावी चक्रवर्ती जानकर उसके पुण्य से उस बालक की रक्षा की। रानी के प्रश्न करने पर मुनि ने कहा—हे अम्ब! यह बालक सोलहवें वर्ष में चक्रवर्ती होगा, तू भय मत कर।

तापस शांडिल्य, चित्रमती को पुत्र सहित अपने स्थान पर ले गया और सुभौम नाम रखा। इधर परशुराम, श्वेतराम दोनों ऋषिपुत्र इक्कीस बार क्षत्रियों का वंश निर्मूल करके सुख से राज्य कर रहे थे। निमित्तज्ञानी द्वारा बताने पर शत्रु का निर्णय करने के लिए दानशाला में मरे हुए क्षत्रियों के दांत (दाढ़ें) पात्र में रखा दीं। ये सुभौम वहाँ दानशाला में पहुँचे। वे दांत शालि चावल बन गये, तब परशुराम आया। उसी समय सुभौम के पुण्य से चक्ररत्न प्रगट हो गया। कुमार ने उससे ब्राह्मण को मार डाला। इस आठवें चक्रवर्ती की हजार वर्ष की आयु थी। अट्ठाईस धनुष (112 हाथ) ऊँचा शरीर था। यह छह खण्ड का अधिपति हो गया।

किसी दिन रसोइये ने सुभौम को रसायना नाम की गरम-गरम 'कढ़ी' परोसी, सुभौम राजा ने गुस्से में आकर उसके ऊपर कढ़ी का बर्तन फेंक दिया, जिससे वह मरकर ज्योतिष्क देव हो गया। कुअवधि से यहाँ आकर व्यापारी के वेष में राजा को अच्छे-अच्छे फल देने लगा। रसना इन्द्रियलंपट राजा भी उसमें आसक्त हो गया, तब एक दिन यह कपट से राजा को समुद्र के मध्य में ले गया और वेष प्रगट कर बदला चुकाने के लिए मारने को उद्यत हुआ। जब तक सुभौम वहाँ 'णमोकार' मंत्र जपता रहा तब तक देव उसे मार नहीं सका। तब उसने कपट से कहा—राजन्! यदि आप अपने मंत्र को लिखकर मिटा देंगे (छोड़ देंगे) तब मैं आपको जीवित छोड़ दूँगा अन्यथा मार दूँगा। प्राणों के लोभ से राजा ने मंत्र की अवहेलना कर दी। बस, देव ने उसे मार दिया। वह मंत्र का अपमान करने के कारण मरकर नरक चला गया। देखो! जो मंत्र रक्षक था, राजा ने उसे ही जब छोड़ दिया तब उसकी रक्षा कैसे होती ? इसलिए बुद्धिमानों को संकट में धर्म की ही शरण लेना चाहिए, धर्म को छोड़ना नहीं चाहिए।

अरनाथ तीर्थंकर के बाद दो सौ करोड़ वर्षों के बीत जाने पर उन्हीं के तीर्थ में ये सुभौम चक्रवर्ती हुए हैं।

### 3.11 महापद्म चक्रवर्ती-

उज्जयिनी नगरी में श्रीधर्मा नाम के प्रसिद्ध राजा थे, उनकी श्रीमती नाम की रानी थी। राजा के बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद ऐसे चार मंत्री थे। किसी समय सात सौ मुनियों सहित महामुनि अकंपनाचार्य उज्जयिनी के बाहर उपवन में विराजमान हुए। महामुनि की वंदना के लिए नगर के लोग उमड़ पड़े। महल पर खड़े हुए राजा ने मंत्रियों से पूछा कि ये लोग असमय में कहाँ जा रहे हैं ? उत्तर में मंत्रियों ने कहा कि राजन्! ये लोग अज्ञानी दिगम्बरों की वंदना के लिए जा रहे हैं।

श्रीधर्मा ने भी जाने की इच्छा प्रकट की, मंत्रियों के द्वारा बहुत रोकने पर भी राजा चल पड़ा, तब मंत्री भी उसके साथ हो लिए। वहाँ मुनियों की वंदना कर कुछ विवाद करने लगे। उस समय गुरु आज्ञा से सब मुनि मौन लेकर बैठे थे इसीलिए ये चारों मंत्री विवश होकर लौट आये। लौटते समय उन्होंने एक मुनि को सामने आते हुए देखकर उन्हें राजा के समक्ष छेड़ा। सब मंत्री मिथ्यामार्ग से मोहित तो थे ही अतः श्रुतसागर नामक उक्त मुनिराज ने उन्हें वाद-विवाद में जीत लिया। उस दिन रात्रि के समय उक्त मुनिराज प्रतिमायोग से उसी वाद की जगह विराजमान थे। ये सब मंत्री संघ को मारने के लिए जाते हुए मार्ग में उन मुनि को मारने के लिए उद्यत हुए परन्तु वनदेव ने उन्हें कीलित कर दिया। यह देख राजा ने

उन्हें अपने देश से निकाल दिया।

उस समय हस्तिनापुर में महापद्म नामक चक्रवर्ती रहते थे। किसी समय चरमशरीरी महापद्म चक्रवर्ती किसी निमित्त से विरक्त हो गये, इनके दो पुत्र थे। राजा ने बड़े पुत्र 'पद्म' को राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा धारण कर ली। तपश्चरण करते हुए मुनि विष्णुकुमार अनेक ऋद्धियों के भण्डार हो गये। इधर उज्जयिनी से निकाले गये बलि आदि चारों मंत्री राजा पद्म को प्रसन्न कर उसके मंत्री हो गये। उस समय राजा पद्म बलि मंत्री की सहायता से किले में स्थित सिंहबल राजा को पकड़ने में सफल हो गये इसलिए उन्होंने बलि से कहा कि 'वर' मांग कर इष्ट वस्तु को ग्रहण करो। बलि ने प्रणाम कर कहा कि 'अभी आवश्यकता नहीं है, जब आवश्यकता होगी तब माँग लूँगा' यह कहकर अपना वर धरोहर रूप में रख दिया। अनन्तर ये मंत्री सुखपूर्वक रहने लगे।

किसी समय धीरे-धीरे विहार करते हुए अकंपनाचार्य सात सौ मुनियों के साथ हस्तिनापुर आये और चार माह के लिए वर्षायोग धारण कर नगर के बाहर विराजमान हो गए। उस समय शंका को प्राप्त हुए ये बलि आदि भयभीत हो गये और अहंकार के साथ उन्हें हटाने का उपाय सोचने लगे। बलि ने राजा पद्म के पास आकर कहा कि राजन्! आपने जो वर दिया था उसके फलस्वरूप सात दिन का राज्य मुझे दिया जाए। 'संभाल, तेरे लिए सात दिन का राज्य दिया' यह कहकर राजा पद्म अपने अन्तःपुर में रहने लगे। बलि ने राज्यसिंहासन पर आरुढ़ होकर उन अकंपनाचार्य आदि मुनियों पर उपद्रव करवाया। उसने चारों तरफ से मुनियों को घेरकर उनके समीप पत्तों का धुँआ कराया तथा जूठन व कुल्हड़ आदि फिंकवाए। अकंपनाचार्य सहित सब मुनि आदि 'उपसर्ग दूर हुआ तो आहार-विहार करेंगे, अन्यथा नहीं' इस प्रकार सावधिक संन्यास धारण कर उपसर्ग सहित हुए कायोत्सर्ग से खड़े हो गये।

उस समय विष्णुकुमार मुनि के अवधिज्ञानी गुरु मिथिलानगरी में थे। वे अवधिज्ञान से विचारकर तथा दया से युक्त हो कहने लगे कि हा! आज अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर अभूतपूर्व दारुण उपसर्ग हो रहा है। उस समय उनके पास बैठे हुए क्षुल्लक ने पूछा—हे नाथ! कहाँ हो रहा है ? गुरु ने कहा—हस्तिनापुर में। क्षुल्लक ने कहा—हे नाथ! यह उपसर्ग किसके द्वारा दूर हो सकता है? गुरु ने कहा—जिन्हें विक्रियाऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे विष्णुकुमार मुनि से यह उपसर्ग दूर हो सकता है। क्षुल्लक पुष्पदंत ने उसी समय जाकर मुनि विष्णुकुमार से सब समाचार कहा। तब मुझे विक्रिया ऋद्धि है या नहीं ? इसकी परीक्षा के लिए मुनि ने अपनी भुजा फैलाई सो वह भुजा बिना रुकावट के आगे बढ़ती ही चली गई। जिससे उन्हें ऋद्धि प्राप्ति का निश्चय हो गया। ऐसे जिनशासन के स्नेही वे विष्णुकुमार मुनि राजा पद्म के पास जाकर बोले—हे पद्मराज! राज्य पाते ही तुमने यह क्या कर रखा है, ऐसा कार्य कुरुवंशियों में तो कभी नहीं हुआ है।

राजा पद्म ने नम्रीभूत होकर कहा—हे नाथ! मैंने बलि के लिए सात दिन का राज्य दे रखा है इसलिए इस विषय में मेरा अधिकार नहीं है। हे भगवन्! आप ही इस उपसर्ग को दूर करने में समर्थ हैं।

तब महामुनि विष्णुकुमार वामन (ब्राह्मण) का रूप लेकर बलि के पास आशीर्वाद देते हुए पहुँचे और बोले—महाभाग! तू दातारों में श्रेष्ठ है इसलिए आज मुझे भी कुछ दे। उत्तर में बलि ने इच्छित वस्तु माँगने को कहा तब ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने कहा कि हे राजन्! मैं अपने पैर से तीन डग धरती चाहता हूँ तू यही मुझे दे दे। तब बलि ने कहा 'यह तो बहुत थोड़ा क्षेत्र है इतना ही क्यों माँगा ? ले लो' इतना कहकर उसने ब्राह्मण के हाथ में जलधार छोड़कर तीन पैर धरती दे दी।"

अनन्तर वामन मुनि विष्णुकुमार ने विक्रिया ऋद्धि से अपने शरीर को इतना बड़ा बना लिया कि वह ज्योतिष्पटल को छूने लगा। उन्होंने एक पैर मेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरे डग के लिए अवकाश न मिलने से वह डग आकाश में घूमता रहा। उस समय विष्णु मुनि के प्रभाव से तीनों लोकों में क्षोभ मच गया। किम्पुरुष आदिदेव 'क्या है'? यह शब्द करने लगे। वीणा बांसुरी बजाने वाले गन्धर्व देव अपनी-अपनी देवियों के साथ उन

मुनिराज के समीप मधुर गीत गाने लगे। लाल-लाल तलुवे से सहित एवं आकाश में स्वच्छन्दता से घूमता हुआ उनका पैर अत्यधिक सुशोभित हो रहा था। 'हे विष्णो! हे प्रभो! मन के क्षोभ को दूर करो, दूर करो, आप के तप के प्रभाव से आज तीनों लोक चल-विचल हो उठे हैं।' इस प्रकार मधुर गीतों के साथ वीणा बजाने वाले देवों, धीर-वीर विद्याधरों तथा सिद्धान्त की गाथाओं को गाने वाले एवं बहुत ऊँचे आकाश में विचरण करने वाले चारण ऋद्धिधारी मुनियों ने जब उन्हें शांत किया तब वे धीरे-धीरे अपनी विक्रिया को संकोचकर स्वभावस्थ हो गये। उस समय देवों ने शीघ्र ही मुनियों का उपसर्ग दूर कर दुष्ट बलि को बाँध लिया और उसे दण्डित कर देश से निकाल दिया। उस समय किन्नर देव तीन वीणाएँ लाये थे। उसमें घोषा नाम की वीणा तो उत्तर श्रेणी में रहने वाले विद्याधरों को दी, महाघोषा वीणा सिद्धकूटवासियों को और सुघोषा नाम की वीणा दक्षिण तटवासी विद्याधरों को दी। इस प्रकार उपसर्ग दूर करने से जिनशासन के प्रति वत्सलता प्रगट करते हुए विष्णुकुमार मुनि ने सीधे गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त द्वारा विक्रिया की शल्य छोड़ी। स्वामी विष्णुकुमार घोर तपश्चरण कर घातिया कर्मों का क्षयकर केवली हुए और अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुए।

यह कथा हरिवंशपुराण के आधार से है। अन्यत्र बतलाया है कि उस समय उपसर्ग से पीड़ित मुनियों के गले धुएँ और अग्नि की भयंकर लपटों से पीड़ित हैं, ऐसा समझकर श्रावकों ने विवेक गुणों से उन मुनियों को खीर का आहार दिया था। उसी स्मृति में रक्षाबंधन पर्व के दिन आज भी सर्वत्र घर-घर में लोग खीर बनाते हैं और पात्र की प्रतीक्षा करते हैं। मुनियों के अभाव में श्रावक आदि पात्रों को भोजन कराकर भोजन करते हैं। धर्म तथा धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य करने वाले मुनि श्री विष्णुकुमार की तथा उपसर्गविजेता अकंपनाचार्य आदि मुनियों की कथा सुनते हैं और उनकी पूजा करते हैं। धर्म की रक्षा करने के लिए आपस में रक्षासूत्र बाँधते हैं। वह दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का था अतः आज तक उस दिन की स्मृति में 'रक्षाबंधन' पर्व मनाते हैं।

श्री विष्णुकुमार मुनि के पिता 'महापद्म' चक्रवर्ती श्री मल्लिनाथ भगवान के तीर्थ में हुए हैं। इनको इस पृथ्वी पर हुए आज लगभग पैंसठ लाख छियासी हजार पाँच सौ वर्ष हो गये किन्तु आज भी यह हस्तिनापुर क्षेत्र उन मुनियों की स्मृति को जीवन्त कर रहा है और भव्यजीवों को उपसर्ग सहन करने का तथा विष्णुकुमार मुनि सदृश धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्य भाव रखने का उपदेश दे रहा है।

## 3.12 हरिषेण चक्रवर्ती-

कांपिल्यनगर के राजा सिंहध्वज की पट्टरानी वप्रादेवी थीं। उनके हरिषेण नाम का पुत्र था। उन राजा की दूसरी रानी महालक्ष्मी थी, यह अत्यंत गर्विष्ठ थी। किसी समय आष्टान्हिक पर्व में महामहोत्सव करके महारानी वप्रा ने जिनेन्द्र भगवान का रथोत्सव कराने का निश्चय किया। तभी रानी महालक्ष्मी ने जैनरथ के विरुद्ध होकर उसे रोक दिया और ब्रह्मरथ निकलाना चाहा। तब वप्रा महारानी ने शोक से संतप्त हो अन्न-जल का त्याग कर दिया और दुःख से व्याकुल हो रोने लगी। पुत्र हरिषेण ने माता के दुःख को देखकर स्थिति जानकर चिंतन किया—

मैं पिता के विरोध में भी नहीं बोल सकता हूँ और न माता का दुःख देख सकता हूँ। वह उद्विग्नमना घर से निकलकर वन में पहुँचा। वहाँ भटकते हुए अंगिरस ऋषि के शिष्य शतमन्यु के आश्रम में पहुँचा।

इसी के पूर्व की एक घटना थी—

चंपानगरी के राजा जनमेजय को एक कालकल्प राजा ने बहुत बड़ी सेना लेकर घेर लिया। जब तक राजा में युद्ध हो, बीच में ही माता नागवती अपनी पुत्री को लेकर लंबी सुरंग के मार्ग से निकलकर वन में शतमन्यु के आश्रम में पहुँच गई थी। वहाँ आश्रम में उस पुत्री ने हरिषेण को देखा तो वह उसके प्रति आसक्त हो गई। माता नागवती ने कहा—पुत्रि! एक महामुनि ने कहा था कि तू चक्रवर्ती की स्त्रीरत्न होगी। तपस्वियों ने भी जब कन्या का हरिषेण के प्रति अनुराग जाना, उसी समय अपकीर्ति के डर से हरिषेण को आश्रम से निकाल दिया, वह शोकाकुल हुआ। इधर माता के दुःख से

तो व्याकुल था ही, कन्यारत्न के लिए और भी चिंतित हो गया।

इधर भटकते हुए हरिषेण सिंधुनद नगर में पहुँचता है। वहाँ नगर की स्त्रियाँ उसके रूप को एकटक देख रही थीं। तभी एक अंजनगिरि नाम का हाथी वहाँ उन्मत्त हो उधर आ गया। महावत जोर-जोर से चिल्ला रहा था—भागो! भागो! उस समय बहुत सी स्त्रियाँ व बालक हरिषेण के निकट आ गये और कहने लगे—बचाओ! बचाओ!

हरिषेण कुछ ही क्षणों में उस हाथी को वश में करके उस पर चढ़ गया। महल की छत से यह सब देखकर राजा सिंधु ने हरिषेण को बुलाकर सम्मानित करके अपनी सौ पुत्रियों के साथ उसका विवाह कर दिया।

इधर दूसरी एक घटना होती है कि एक विद्याधर की कन्या वेगवती रात्रि में सोते हुए हरिषेण को उठाकर ले गई अर्थात् हरिषेण का अपहरण कर लिया और पुनः उसने बताया कि—

हे भद्र! मैं सूर्योदय के राजा शक्रधनु की पुत्री जयचन्द्रा की सखी हूँ। वह कन्या आपके चित्रपट को देखकर आपमें आसक्त है अतः मैंने आपका अपहरण किया है। वहाँ सूर्योदय नगर में पहुँचकर हरिषेण ने देखा कि राजा शक्रधनु सामने आते हैं। परस्पर में कुशलक्षेम, वार्ता के अनंतर अपनी कन्या का विवाह करने की तैयारी करते हैं। इधर विद्याधर गंगाधर और महीधर कुपित होकर युद्ध के लिए सामने आ गए। इसलिए कि हम विद्याधरों को छोड़कर इस कन्या का विवाह एक भूमिगोचरी के साथ कैसे संभव है ?

उसी क्षण हरिषेण श्वसुर शक्रधनु राजा से रथ आदि लेकर युद्धक्षेत्र में आ गए और अपनी कुशलता से विद्याधरों को पराजित कर दिया।

उसी समय उस हरिषेण के पुण्योदय से चक्ररत्न प्रगट हो गया और ये दशवें चक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध हो गए। इनके और भी रत्न प्रगट हो गए थे। निर्विघ्न विवाह सम्पन्न होने के बाद चक्रवर्ती हरिषेण विशाल लंबी-चौड़ी सेना—बारह योजन तक फैली हुई सेना को लेकर शत्रुओं को वश में करते हुए तापसी के आश्रम में पहुँचे। उन तापसियों ने हरिषेण को चक्रवर्ती देखकर सामने पहुँच फल आदि अर्घ्य से सम्मानित किया, तभी शतमन्यु के पुत्र जनमेजय और माता नागवती ने अपनी कन्या मदनावती का हरिषेण के साथ विवाह सम्पन्न कर दिया।

अनंतर चक्रवर्ती हरिषेण बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के साथ अपने कांपिल्यनगर में आए, माता वप्रादेवी के चरणों में नमस्कार किया पुनः माता का आशीर्वाद प्राप्तकर सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे बड़े-बड़े रथों में भगवन्तों की प्रतिमा विराजमान करके कांपिल्यनगर में 'रथोत्सव' कराकर अतिशायी धर्म की प्रभावना करके माता के मनोरथों को सफल किया।

पृथ्वी, पर्वत, नदियों के समागम स्थान, नगर तथा गाँव-गाँव में चक्रवर्ती हरिषेण ने नाना रंग के ऊँचे-ऊँचे जिनमंदिर बनवाए थे। बहुत काल तक चक्रवर्ती ने छह खण्ड का शासन करके अंत में राज्यभार छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण करके तीन लोक का शिखर प्राप्त कर लिया है—सभी कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त किया है। ऐसे हरिषेण चक्रवर्ती सिद्धालय में अनंतानंत काल तक रहेंगे, उन्हें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार होवे।

किसी समय राजा दशानन—रावण अपने दादा सुमाली के साथ विमान में बैठकर आकाशमार्ग से जा रहा था। अकस्मात् नीचे देखकर सुमाली से पूछता है—

हे पूज्य! इधर इस पर्वत के शिखर पर सरोवर तो नहीं है पर कमलों का समूह लहलहा रहा है, सो इस महाआश्चर्य को आप देखें।

हे स्वामिन्! यहाँ पृथ्वीतल पर पड़े ये रंग-बिरंगे बड़े-बड़े मेघ निश्चल होकर कैसे खड़े हैं ?

तब सुमाली ने 'नमः सिद्धेभ्यः' उच्चारण करके कहा—

हे वत्स! न तो ये कमल हैं और न ये मेघ ही हैं किन्तु सफेद पताकाएँ जिन पर छाया कर रही हैं तथा जिनमें हजारों

प्रकार के तोरण बने हुए हैं, ऐसे-ऐसे ये जिनमंदिर पर्वत के शिखरों पर सुशोभित हो रहे हैं। ये सब मंदिर महापुरुष हरिषेण चक्रवर्ती के द्वारा बनवाए हुए हैं।

हे वत्स! तुम इन्हें नमस्कार करो और क्षण भर में अपने मन को पवित्र करो।

ऐसा सुंदर कथन पद्मपुराण में आया हुआ है। उसी ग्रंथ से यह हरिषेण चक्रवर्ती का जीवन परिचय लिखा गया है। ये हरिषेण चक्रवर्ती श्री मुनिसुव्रत भगवान के तीर्थकाल में हुए हैं।

### 3.13 जयसेन चक्रवर्ती-

भगवान नमिनाथ के तीर्थ में जयसेन नाम के ग्यारहवें चक्रवर्ती हुए हैं। इसी जम्बूद्वीप के उत्तर में ऐरावत क्षेत्र में श्रीपुर नगर के राजा 'वसुंधर' राज्य संचालन कर रहे थे। किसी समय रानी पद्मावती के मरण से दुःखी हुए मनोहर नाम के वन में वरचर्य (वरधर्म) नाम के केवली भगवान की गंधकुटी में पहुँचे। धर्मोपदेश सुनकर विरक्तमना हुए अपने पुत्र विनयंधर को राज्यभार सौंपकर अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। अंत में समाधिपूर्वक मरण करके महाशुक्र स्वर्ग में देव हो गए। वहाँ पर सोलह सागर की आयु को व्यतीत कर वहाँ से च्युत होकर कौशाम्बी नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा विजय की महारानी प्रभाकरी के पुत्र हुए।

इनका नाम 'जयसेन' रखा, इनकी आयु तीन हजार वर्ष की थी, साठ हाथ शरीर की ऊँचाई थी, स्वर्णिम शरीर की कांति थी। ये चौदह रत्न और नव निधियों के स्वामी ग्यारहवें चक्रवर्ती हुए हैं।

किसी समय राजमहल की छत पर अपनी रानियों के साथ बैठे थे। उसी समय आकाश से गिरते हुए 'उल्का' को देखा। तत्क्षण ही वैराग्य भावना का चिंतवन करके अपने बड़े पुत्र को राज्य देना चाहा किन्तु उसके मना करने पर छोटे पुत्र को राज्य देकर 'वरदत्त' नाम के केवली भगवान के पादमूल में अनेक राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। तपस्या के प्रभाव से श्रुत, बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि और चारणऋद्धि से विभूषित हो गए। अंत में सम्मेदशिखर के चरण नामक ऊँचे शिखर पर प्रायोपगमन सन्यास धारण कर आत्मा की आराधना करते हुए शरीर छोड़कर 'जयंत' नाम के अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हो गये। आगे ये नियम से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

### 3.14 ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती-

भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर और पार्श्वनाथ तीर्थंकर के अंतराल में ये बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त हुए हैं। ये ब्रह्मराजा की महारानी चूड़ादेवी के पुत्र थे। इनके शरीर की ऊँचाई 7 धनुष एवं सात सौ वर्ष की आयु थी। इसमें इनका कुमारकाल 28 वर्ष, महामण्डलेश्वर काल 56 वर्ष, दिग्विजयकाल 16 वर्ष, चक्रवर्ती राज्यकाल 600 वर्ष रहा है। ये चक्रवर्तियों में अंतिम चक्रवर्ती हुए हैं। इन्होंने भी चक्ररत्न प्राप्त कर 14 रत्न एवं नव निधियों के स्वामी होकर छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर एकछत्र शासन किया है।

पुनः राज्य में ही दुर्ध्यान से मरकर सातवें नरक गए हैं। जैनशासन में यह नियम है कि जो राज्यवैभव को भोगते हुए दुर्ध्यान—आर्त अथवा रौद्रध्यान से मरते हैं, वे नरक चले जाते हैं और जो राज्य त्यागकर दीक्षा लेकर संयम धारण कर लेते हैं वे ही स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रत्येक चतुर्थकाल में 12 चक्रवर्ती होते हैं। इनमें से वर्तमान के चतुर्थकाल में प्रथम चक्रवर्ती भरत, द्वितीय सगर, तृतीय मघवा, चतुर्थ सनत्कुमार, पंचम शांतिनाथ, छठे कुंथुनाथ, सातवें अरनाथ, नवमें महापद्म, दशवें हरिषेण ये मोक्ष गए हैं। आठवें सुभौम एवं बारहवें ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नरक गए हैं तथा ग्यारहवें चक्रवर्ती जयसेन जयंत नाम के तृतीय अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए हैं।

## 3.15 प्रश्नावली-

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान श्री शांति, कुंथु, अरनाथ.....पद के धारी थे।

(क) तीन ☐ (ख) चार ☐ (ग) छह ☐

**प्रश्न 2**-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के मात-पिता कौन थे ?

(क) राजा विश्वसेन-रानी ऐरादेवी ☐

(ख) राजा विजय-रानी प्रभाकरी ☐

(ग) राजा सिंहध्वज-रानी वप्रादेवी ☐

**प्रश्न 3**-दर्पण में मुख देखने से वैराग्य किनको हुआ ?

(क) शांतिनाथ चक्रवर्ती ☐ (ख) अरहनाथ चक्रवर्ती ☐ (ग) सुभौम चक्रवर्ती ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-बारह चक्रवर्ती के नाम एवं सनतकुमार चक्रवर्ती का वैराग्यवर्धक कथानक लिखिए ?

**प्रश्न 2**-चक्रवर्ती का वैभव कैसा था ?

**प्रश्न 3**-महापद्म चक्रवर्ती कहाँ के राजा थे, वहाँ कौन सी विशेष घटना घटी थी ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भरत चक्रवर्ती-बाहुबली के बीच क्या हुआ था ? युद्ध से लेकर केवलज्ञान तक विवरण बताइए ?

## पाठ-4—भरत से भारत : कब, क्यों और कैसे ?

**4.1** हमारे देश का नाम भारतवर्ष कब,क्यों एवं कैसे पड़ा ? इस संदर्भ में विद्वानों में किंचित भ्रम है। अधिकांश विद्वान प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र एवं बाहुबली के भाई भरत के नाम पर इसे भारत मानते हैं किन्तु कतिपय विद्वान दुष्यन्त एवं शकुन्तला के पुत्र भरत को इसका श्रेय देते हैं। लेखक ने अनेक पौराणिक, साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों का विश्लेषण कर सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि इस देश का नाम भारत ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर पड़ा।

अपने देश का नाम भारत है यह तो सब जानते हैं पर बहुत ही कम लोग ऐसे होंगे जो यह जानते हों कि अपने देश का नाम भारत कब, क्यों और कैसे पड़ा ? अपने देश का सांविधानिक नाम क्या है ? वैदिक परंपरा में भागवत पुराण को एक प्रामाणिक ग्रंथ माना है। उसकी एक प्राचीन निर्युक्ति के अनुसार—**'अजनाभं नामैतद् वर्ष भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति'** सृष्टि के आदि में आदि मनु स्वायम्भुवमनु के पौत्र नाभिराय थे। उन्हीं के नाम से इस देश का नाम अजनाभवर्ष कहलाता था। इनके पुत्र ऋषभ थे जो कि आदिराजा, आदिक्षत्रिय और आदियोगी भी थे। ऋषभदेव को जैनियों ने आदि तीर्थंकर और वैदिक परम्परा में इनको ब्रह्मा, विष्णु और शिव का अवतार माना गया है। इन सबका विस्तृत विवरण वेदों और पुराणों में देखा जा सकता है। विश्व की कई प्राचीन संस्कृतियों में ऋषभदेव बुलगॉड, राकशव, आग्रिव, रेशेफ और आदम आदि नामों से स्मृत एवं पूज्य हैं। कई विद्वानों का विश्वास है कि ऋषभदेव ने लिपि विद्या का आविष्कार किया है और सर्वप्रथम बड़ी पुत्री को लिपि विद्या का अभ्यास कराया जिससे उस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि प्रसिद्ध हो गया।

इन्हीं ऋषभ के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ भरत थे। भरत ने सभी छः खण्ड पृथ्वी जीतकर प्रथम चक्रवर्ती का विरुद धारण किया और अपने बाबा नाभि से ज्यादा प्रतापवान हुये। तभी से इस देश का नाम इन्हीं के नाम से भारत कहा जाने लगा। इस बात के प्रभूत प्रमाण वैदिक साहित्य में और जैन साहित्य में प्राप्त होते हैं। बौद्ध साहित्य में भी ऋषभ और भरत को आदि राजाओं में माना गया है। पुरातात्त्विक दृष्टि से सम्राट खारवेल का हाथी गुम्फा शिलालेख , जो कि 2000 साल से भी ज्यादा प्राचीन है और भारतीय इतिहास की अमूल्य धरोहर है इसमें भी भारतवर्ष का उल्लेख मिलता है। भारत की आजादी के बाद देश का संविधान बनाते समय संविधानिक दृष्टि से भी विद्वतजनों और देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी प्राचीन परम्पराओं के अनुसार इस देश का नाम भारत ही स्वीकार किया था।

**'भारतः भरतानां देशः'** ऐसी विद्वानों की मान्यता है। ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' जाति भारतवर्ष की प्राचीनतम व प्रसिद्ध जाति है और वह अपने में किसी महत्त्वपूर्ण इतिहास व वंश परंपरा को समेटे हुए है। निरुक्तिकार लिखते हैं कि "भरत आदित्यस्तस्य या भारती" अर्थात् भरत सूर्य है और उसकी शोभा भारती है। इसका तात्पर्य है कि सूर्यवंशी भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा न कि चन्द्रवंशी भरत के नाम पर। एक बात और उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद तथा यजुर्वेद की ऋचाओं और मंत्रों में भारती का स्पष्ट संबंध आदित्य सूर्यवंशी भारत से बतलाया गया है। ईसा पू. 1150 में दशराज्ञ युद्ध हुआ था। यह युद्ध आर्य और भारत जातियों के बीच हुआ था। भारतों का नेतृत्व विश्वामित्र ने किया था ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख है। महाभारत भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का महाग्रंथ है। यह प्रश्न होता है कि इसे महाभारत क्यों कहा गया ? इस प्रश्न का निरसन करते हुए महर्षि व्यास स्वयं कहते हैं—"इस ग्रन्थ में भारतवंशी क्षत्रियों के महान् वंश का वर्णन किया गया है; अतः वह भारत कहा जाता है।" जातियों की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए महाभारत में आगे कहा गया है—"मनु के दो पुत्र हुए—**देवभ्राट् और सुभ्राट्**। सुभ्राट् के तीन पुत्र हुए—दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति। ये तीनों ही प्रज्ञावान् और विद्वान थे। दशज्योति के दस हजार, शतज्योति के एक लाख और सहस्रज्योति के दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए। इन्हीं से कुरू, यदु, भरत, ययाति और इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों के वंश

चले।" दुष्यंत पुत्र भरत पुरु की वंश परंपरा का वाहक है, यह सर्वसम्मत है। डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ऋग्वेदकालीन भारतवर्ष का भौगोलिक वर्णन करने के अनन्तर लिखते हैं—"यह प्रदेश कई वैदिक जनों में बंटा हुआ था, जिसमें से कुछ प्रधान जनों के नाम मिलते हैं—जैसे, गांधारी, मूबवन्त, अनुद्रुहा और तुरवश पुरु और भरत। यहां पुरू और भरत दोनों का पृथक-पृथक उल्लेख यह भलीभांति प्रमाणित करता है कि भारत जाति दुष्यंत पुत्र भरत से कई शताब्दियों पूर्व भी यहां विद्यमान थी। डॉ. मुखर्जी आगे और स्पष्ट लिखते हैं—"**ऋग्वेदकालीन जनों में भरतों के अतिरिक्त पुरु भी महत्वपूर्ण थे। वे दोनों आगे चलकर कुरुओं में मिल गये।** ऋग्वेद में पुरु से पूर्व तथा उनके समय में भी इस देश का नाम भारतवर्ष था। शतपथ ब्राह्मण में सूर्यवंशी भरत के नाम पर भारतवर्ष की स्थापना का उल्लेख मिलता है। शकुन्तला पुत्र भरत चन्द्रवंशी राजा थे। इस संदर्भ ने समस्त भ्रमों, संदेहों और मतांतरों को समाप्त कर इस तथ्य की पुष्टि की है कि देश का नाम भारत ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर पड़ा। प्रजापति ऋषभदेव में अथर्वन् शब्द भरत के पर्याय शब्द के रूप में देखने में आया कि मोहन-जोदड़ो की संस्कृति पर अथर्ववेद का प्रभाव माना जाता है, हमें देखना है कि क्या इस शब्द-साम्य में गहरे कहीं कोई सांस्कृतिक साम्य पाँव दबाये बैठा है ? गीता में भी श्रीकृष्ण ने ऋषभ और भरत का स्मरण किया है। "**चतुर्विद्या भजन्ते माजनाः सुकृतिनोर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरथार्थी ज्ञानी व भरतैषभ।**"

ऋषभ पुत्र भरत का वर्णन ऐसे तो जैन परम्परा तथा ब्राह्मण परम्परा, दोनों में मिलता है किन्तु दोनों परम्पराओं में उनके जीवन का चित्रण अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार अलग-अलग रीति से किया गया है। इसी कारण जैन धर्मग्रंथों तथा ब्राह्मणीय धर्मग्रंथों में वर्णित उनके जीवन-चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ तथ्यात्मक अन्तर भी मिलते हैं। जैन परम्परा में उनका वर्णन शलाका-पुरुषों के अंतर्गत प्रथम चक्रवर्ती के रूप में हुआ है और उनका सारा जीवन पिता से प्राप्त शिक्षा के अनुरूप है। वे निवृत्ति धर्म के अनुगामी हैं और यही स्वाभाविक निवृत्ति धर्म है।

वैदिकधारा के ग्रंथों में प्रजापति ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत को ही यद्यपि इस देश के नाम "भारतवर्ष" का मूलाधार माना गया है किन्तु कुछ ऐसे विरोधात्मक उल्लेख भी मिलते हैं जिनके संदर्भ से कतिपय विद्वानों ने दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम को मूलाधार स्वीकार किया है परन्तु प्राचीन साहित्य से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती। उसके अनुसार तो ऋषभ पुत्र भरत 'भारत' नाम के आधार सिद्ध होते हैं। 'अग्नि पुराण' (10/10-11); 'मार्कण्डेय पुराण' (प0—39—42), 'नारदपुराण' (पूर्वखण्ड, अध्याय 48); 'लिंग पुराण' (47/19-23); 'स्कन्द पुराण' (माहेश्वर खंड कौमार खंड, 37/57); 'शिव पुराण' (37/57); 'वायु पुराण' (पूर्वार्ध, 30/50-53); 'ब्राह्माण्ड पुराण' (पूर्व 2/14); 'कूर्म पुराण' (अध्याय 49); 'विष्णु पुराण' (द्वितीयमांश, अध्याय 1); 'वाराह पुराण' (अध्याय—76); 'मत्स्य पुराण' 114-5-6) आदि पुराणों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी थे और उन्हीं के नाम पर यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया—**येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति।** (5/4/9) उक्त के अतिरिक्त जैनधर्म के प्रायः सभी पुराण ग्रंथ एवं अन्य साहित्य इस तथ्य के साक्षी हैं कि ऋषभदेव के पुत्र भरत ही "भारतवर्ष" नाम के मूलाधार हैं। इससे प्रकट है कि भरत जो शारीरिक बल एवं आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण थे, भारत के सम्राटों की मौक्तिक माला के सुमेरू थे। सम्राट होते हुए भी अपने संतुलित आचरण के कारण वे वैरागी कहलाते थे। वे रागी होते हुए भी वीतरागी थे, अनासक्त थे।

वैसे 'भरत' शब्द का जहां तक शाब्दिक अभिप्राय है, तो उसका अर्थ है कि जो संसार का सुचारू रूप से 'भरण-पोषण' करता है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामचरितमानस' में भरत के नामकरण के संबंध

में लिखा है—

**'विश्व भरन पोषन कर जोई। ताको नाम भरत अस होई।।**

इसी संदर्भ में श्रीमद् भागवत का निम्न उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण है—

**'तस्माद् भवन्तो हृदयेन जाताः**
**सर्वे महीयां सममुं सनाभम्।**
**अक्लिष्ट बुद्ध्या भरतं भजध्वं**
**शुश्रूषणं तद् भरण प्रजानाम् ।।' (5/5/20)**

भगवान ऋषभदेव के कथन के रूप में इसका तात्पर्य यह है कि 'यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र प्रजाओं के भरण-षोषण रूप सेवा कार्य करने के कारण 'भरत' नाम से विख्यात होगा। इसी प्रकार 'मत्स्यपुराण' में लिखा है—

**भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।**
**निरुक्त वचनैश्चैव वर्ष तद् भारतं स्मृतम्।। (50/5-6)**

उक्त कथन से प्रतीत होता है कि इस पुराण में 'मनु' को ही प्रजाओं के भरण—रक्षण के कारण 'भरत' संज्ञा से अभिहित होने से यह देश 'भारत' कहलाया। यहां 'भरत' से 'भारत' बना, यह तो प्रकट है किन्तु ऋषभ पुत्र भरत का उल्लेख नहीं है। यहां 'मनु' को 'भरत' कहा गया है, जिससे यह अन्य पुराणोल्लेख से विपरीत सा जान पड़ता है किन्तु ऐसा नहीं है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि उक्त कथन भी सापेक्ष है। वस्तुतः उस काल में भारत के शासक को 'मनु' कहते थे और भरत भी मनु थे इसलिए 'मनु' एवं 'भरत' अलग नहीं हैं। जैसा कि महापुराण से प्रकट है—नाभिराय को अंतिम मनु माना गया है किन्तु ऋषभदेव और उनके बाद भरत ने भी वही कार्यप्रतिभा, मनस्विता और सुदृढ़ता से सम्पन्न किया अतः उन्हें भी 'मनु' कहा गया। जिनसेन आचार्य के 'महापुराण' में उल्लेख है— **'सोऽजीजनत्तं वृषभं महात्मा, सोऽप्यग्रसूनुं मनुमादि राजम्।।' (3/237)** अर्थात् उन्होंने (नाभिराय) वृषभ जैसे महात्मा को जन्म दिया और वृषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र आदिराजा भरत चक्रवर्ती भी 'मनु' हुए। इसी बात को एक अन्य स्थान पर महापुराणकार ने **'वृषभो भरतेश्च तीर्थचक्रभृतौ मनुः'** (3/232) कहा है। इसका तात्पर्य है कि वृषभदेव (ऋषभ), मनु एवं तीर्थंकर थे और भरत चक्रवर्ती भी 'मनु' संज्ञा से अभिहित होते थे। गुणभद्राचार्य ने 'उत्तरपुराण' (7/49) में भरत को सोलहवां मनु लिखा है। भरत को प्रजा के भरण-पोषण का कर्तव्य निर्वाह मन से किये जाने के कारण सोलहवां मनु कहा गया है और इस प्रकार उनकी 'मनु' संज्ञा सार्थक है अतः इसमें कोई संशय नहीं है। भरत से भारत का नामकरण सर्वप्रथम ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम से मिलता है। दूसरे जड़ भरत हुए जो ऋषभ पुत्र भरत के ही पुनर्जन्म माने जाते हैं। इनकी ज्ञानज्योति से देश प्रकाशित हो उठा। गर्व की अग्नि को शान्त करने के लिए जिसने शीतल जल का काम किया। तीसरे दुष्यन्त पुत्र भरत हुए जिन्होंने शत्रुओं का दमन करके 'सर्वदमन' नाम पाया तथा उनकी वीरता से प्रसन्न होकर ऋषि मरीचि ने **'पुनर्यास्यत्याख्यं भरतः इति लोकस्य भरणात्'** कहकर भरत नामकरण किया। चतुर्थ दशरथ पुत्र भरत हुए जिन्होंने अपने त्याग और भ्रातृ स्नेह के आदर्श से भारत के इतिहास को पावन किया, जिनके गुणों को देखते हुए कुलगुरू वशिष्ठ ने नामकरण करते हुए कहा—**'विश्व भरण पोषणकर जोई, ताको नाम भरत अस होई।'** पंचम भरत महान कलाकार, नाट्यवेद (नाट्य-शास्त्र) के रचयिता और विश्व में सर्वप्रथम नाटक, नाटक मंचन करने वाले भरत मुनि हुए जिन्होंने वेद-शास्त्रादि से वंचित अनपढ़ तथा व्यस्त जनसमुदाय को ज्ञान एवं व्यवहार प्राप्ति की नई राह बताई।

'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक में **'लोकस्य भरणात्'** तथा शब्दकोशों के अनुसार भृ (भरण) धातु से अतच् प्रत्यय लगाकर भरत शब्द की व्युत्पत्ति होती है

जिसका अर्थ है—**'विभर्ति लोकान् इति'** अथवा **'विभर्ति स्वांगानि इति।'** इस प्रकार भरत शब्द भरना, सहारा देना, पोषण करना, अधिकार करना, धारणा करना आदि अर्थ वाली भृ धातु से अतच् प्रत्यय लगकर व्युत्पन्न हुआ। ऊपर बताई गई सभी व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि भरत भरण-पोषण-पालन करने वाले, लोक के उत्तरदायित्व को धारण करने वाले, सभी को सहारा देने वाले, ज्ञानी, लोकोद्धारक, लोकरंजक तथा अधिकार करने वाले हुए हैं।

संस्कृत-हिन्दी शब्दकोशों में 'भरत' शब्द के यद्यपि कई अर्थ दिए गए हैं किन्तु उनमें प्रसंग प्राप्त अर्थ ही विचारापेक्ष हैं। संस्कृत के 'हलायुधकोश' में 'भरत' शब्द का समबद्ध अर्थ—विवेचन इस प्रकार दिया है जो मननीय है—**'भरतः पुं. ( विभर्ति स्वांगमिति, विभर्ति लोग निति वा। भृ+भृमृदृशियजीति' अत च् ) नाट्य शास्त्रकृन्मुनि विशेषः, दौष्यन्तिः** (शाकुन्तलेय) आदि अर्थ के बाद लिखा है **'ऋषभदेवात् इन्द्र इत्त जयन्त्यां कन्यायां जात शत पुत्रान्तर्गत ज्येष्ठपुत्रः'** और यही अर्थ हमें अभिप्रेत है। 'हिन्दी विश्वकोश' (नागेन्द्रनाथ वसु) में भी लगभग ऐसा ही व्युत्पत्ति सूत्र दिया गया है, जिसमें उण् (3/110) अधिक है और अर्थ लिखा है—'ऋषभदेव के पुत्र', इसके आगे कुछ विवरण दिया है। साथ ही जड़ भरत का उल्लेख कर लिखा है—ये लोक संग विवर्जित रहने के अभिप्राय से जड़वत् रहते थे। जैन मतानुसार आदितीर्थंकर ऋषभनाथ भगवान् के पुत्र छः खंड के अधिपति चक्रवर्ती थे। संसार से परम विरक्त रहते थे। भारतवर्षीय 'प्राचीन चरित्रकोश' (सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) तथा अन्य हिन्दी कोशों में 'भरत' का अर्थोल्लेखान्तर्गत दुष्यन्त-पुत्र, नाटयशास्त्रकर्ता, नट आदि के साथ ही ऋषभ पुत्र भरत को 'जड़भरत' के रूप में उल्लिखित किया गया है।

सहज ही प्रश्न पैदा होता है कि जब पुराण साहित्य में दोनों ही भरतों की वंश परम्पराओं का सविस्तार उल्लेख मिलता है तब भारत जाति का नामकरण कौन से भरत के आधार पर हुआ ? दुष्यन्त पुत्र भरत, ऋषभ पुत्र भरत का उत्तरवर्ती है अतः इतिहासकारों का प्रथम दृष्टिपात सहसा दुष्यन्त पुत्र भरत पर ही होगा किन्तु पक्ष-विपक्ष के प्रमाणों का जब निष्पक्ष रूप से मूल्यांकन किया जायेगा, तो अन्वेषण की पैनी दृष्टि ऋषभ पुत्र भरत पर भी केन्द्रित हुए बिना नहीं रहेगी। पुराणों में ऋषभ पुत्र अधिक प्रशस्त, प्रसिद्ध अनासक्त, भगवद्भक्त व विशेष लोकप्रिय माने गये हैं।

एक वर्ग ऐसे विद्वानों का भी है जो सिंधु घाटी सभ्यता के नग्न रूप को और ऋषभ, भरत, ब्राह्मी और अरिष्टनेमि को वेदों और पुराणों से जोड़ता है। भारतीय इतिहास और संस्कृति से जुड़ी ऐसी कई परम्पराएं हैं, जिनका मूल उद्देश्य हमें किसी न किसी रूप से जैन संस्कृति से जोड़ता है। जैसा कि प्रसिद्ध पुरातत्वशास्त्री मुनीश चन्द्र जोशी "ऋषभ तथा श्रमण परम्परा के वैदिक मूल" में लिखते हैं कि ऐसे कई अपरोक्ष किन्तु सार्थक साक्ष्य हमें वैदिक साहित्य में मिलते हैं जिनकी जैन परम्परा से किसी न किसी रूप से पुष्टि हो जाती है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार वासुदेव शरण अग्रवाल अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'मार्कण्डेय पुराण-सांस्कृतिक अध्ययन' में भरत और भारत के विषय में लिखते हैं कि न जाने कैसे इतनी मूल्यवान ऐतिहासिक परम्परा पुराणों में सुरक्षित रह गयी। महामहोपध्याय पं. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि आदि तीर्थंकर ऋषभ और चक्रवर्ती भरत की परम्परा को सिद्ध करने के लिए पुराणों के आधार पर संशय नहीं किया जा सकता है।

पुरावशेषों के आधार से विश्व में मानव सभ्यता के विकास का इतिहास प्रायः दस हजार वर्ष का अनुमान किया जाता है। सभ्यता के ज्ञात केन्द्र उत्तरी अफ्रीका में नील नदी की घाटी, पूर्व एशिया के भारत प्रायद्वीप में सिन्धु नदी, गंगा नदी और गोदावरी नदी की उपत्यकायें रही हैं। सिन्धु नदी की उपत्यका से मोहनजोदड़ो नामक स्थान पर खुदाई से लगभग 6000 वर्ष प्राचीन मिट्टी की मुद्रायें मिली हैं। एक मुद्रा पर एक पुरुष एक अन्य पुरुष की वंदना कर रहा है। वंदना करते पुरुष के पीछे सुसज्जित बैल है जो उसका वाहन प्रतीत होता है और यह उसके राजस्व को भी सूचित करता

है। नीचे सात मानव आकृतियां हैं जो सभी वस्त्रधारण किये हुए हैं और नारी रूप प्रतीत होती हैं। एक के सिर पर मुकुट सा भी है जो उसके अग्रमहिषी होने का सूचक हो सकता है। शेष के शिरस्त्राण कुछ-कुछ वैभिन्य लिये हैं जो कदाचित् उनकी वरिष्ठता क्रम या प्रास्थिति को सूचित करते हैं। यह चित्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय प्रायद्वीप में राजकीय वैभव का यह अधुनाज्ञात प्राचीनतम अंकन है। उस काल की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में प्रचलित राजसत्ता के चित्रांकनों से यह चित्र अद्‌भुत साम्य रखता है।

मुसलमानों के मदीनुत्तुल औलिया ग्रंथ के अनुसार अयोध्या में 'हजरत आदम' के समय से वर्तमानपर्यन्त अनेक औलिया और पीर होते आये हैं। अबुलफजल 'आइने अकबरी' में लिखता है कि हंसनगर में एक 6 गज लम्बी और दूसरी 7 गज लम्बी दो बड़ी कब्रें हैं जिसे वे हजरत नूह की कब्र बताते हैं। हजरत आदम ओर उसके दो बेटे अयूब और शीस की जो मुसलमानी अनुश्रुतियां प्रचलित हुईं वे जैन अनुश्रुति के अयोध्या निवासी आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव एवं उनके पुत्रद्वय भरत-बाहुबली पर ही आधारित प्रतीत होती हैं। जैन पुराणों में इन महापुरुषों के विशालकाय शरीर के जो वर्णन हैं उनसे लगता है कि संभवतः उनकी विशाल कायास्वरूप प्रतिमाएं तब तक वहां विद्यमान रही होंगी।

सम्राट भरत की परम्परा को प्रदर्शित करने वाली एक सील मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई।

इस विषय पर एक सारगर्भित लेख देखने में आया जिसमें भारत सरकार ने पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की सील क्रमांक 620/1928-29 में अंकित मृण्मयमुद्रा (टैराकोटा) की जैनविषयक व्याख्या की है। 'यदि यह अनुमान सत्य है तो यह मृण्मयमुद्रा भरत राजा के सर्वप्रथम मूर्ति निर्माण की सूचना देने वाली पुरातात्त्विक सामग्री है। "इसमें दांयी ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान ऋषभदेव हैं जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश हैं उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीब धारण किए हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। भरत के पीछे ऋषभ (बैल) हैं कि जो ऋषभनाथ का चिन्ह है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं। इसमें चक्रवर्ती भरत सोच रहे हैं कि ऋषभनाथ का आध्यामिक वैभव और मेरा पार्थिव वैभव । कहां हैं दोनों में कोई साम्य ? वे ऐसी ऊंचाइयों पर हैं जहां तक मुझ अकिंचन की कोई पहुंच नहीं है। भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हें कमल दल पर पड़े ओसबिंदु की भांति निर्लिप्त बनाये हुए हैं। भरत इस अकिंचन भाव से धन्य हो उठे हैं। विमलसूरि रचित पउमचरिय में जो भरत चक्रवर्ती का वर्णन है उसके अनुरूप एक मिट्‌टी की मोहर में भी अंकन है कि चक्रवर्ती भरत भगवान ऋषभ के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम मुद्रा में नतनीश हैं। प्रायः ऐसा ही विवरण भरत के लिये कहे गये अन्य पुराणों में भी है। चक्रवर्ती भरत की मूर्ति प्रकल्पना लगभग साढ़े चार से पांच हजार ईसा पूर्व वर्ष तक साहित्य का विषय रही, उसने पुरातत्व की सामग्री में ढलकर अपना स्वरूप व्यक्त नहीं किया। भारतीय मूर्तिशिल्प में भरत चक्रवर्ती का अंकन कई स्थानों पर हुआ है, जैसे—देवगढ़, कटक के जैन मंदिर, कुम्हारिया में शांतिनाथ मंदिर की छत में मूर्ति रूप में, बनासकांठा गुजरात व महाराष्ट्र में स्थित एलोरा गुफा समूह में जैन गुफा में सर्वाधिक विख्यात इन्द्र के रंगमहल में द्वार के पार्श्व में एक वृहदाकार दीवार पर मूर्तिकलायें चित्रित भरत व बाहुबली की प्रतिमा में हुआ है। स्वतंत्र रूप से मालवा से प्राप्त कुछ भरत चक्रवर्ती प्रतिमाओं में, जिनका प्राप्ति स्थान ऊन, गंधर्वपुरी, सखेड़ी, शाजापुर व बदनावर है इनमें खड्‌गासन में भरत चक्रवर्ती राजसी वेश में अंकित हैं। भरत राजा का मूर्ति रूप में अंकन ऋषभनाथ की मूर्त्तियों में 9वीं से 12वीं शताब्दी के बीच में अनेक स्थानों पर हुआ है, जैसे—देवगढ़ खजुराहो (मध्यप्रदेश के महत्वपूर्ण कला केन्द्र) व गंधर्वपुरी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के दोनों ओर दो पुत्रों के रूप में भरत व बाहुबली की मूर्तियां मिली हैं। भरत की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने वाला एक

प्राचीन मंदिर राजमल जैन जी को केरल के इरिंगालकुडा में मिला है, जिसके कुछ मत निम्नलिखित हैं।

आधुनिक इतिहासकारों, पुरातत्वविदों का इस मंदिर के संबंध में क्या अभिमत है यह जान लेना उचित होगा। केरल के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री ए. श्रीधर मेनन ने 'ए सर्वे ऑफ केरल हिस्ट्री मे लिखा है—"Accoding to some Scholars, teh kudalmanikkam temple at Irinjalakuda, dedicated, to Bharata, the brother of shri Rama was once a jain, shrine the decline of jainism. It is argued that deity originaly installed in the kudalmanikkam temple is jain Digambara, with all probability, Bharateswar, the same sainy whose statuate exists at Sravanbelgola in Mysore."

केरल के स्मारकों के विशेषज्ञ श्री सरकार ने आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ केरल में यह मत व्यक्त किया है कि It is said that prior to 9th centurary, it was dedicated to Bharat, the son of Adinatha.

केरल हिस्ट्री एसोसिएन के बृहदाकार दो खंडों में केरल का इतिहास "केरल चरित्रम्' मलयालम भाषा में प्रकाशित किया है। उसमें यह अभिमत है कि "इस समय भरत मंदिर के नाम से विख्यात इरिंगालकमुडा स्थित कूडमाणिक्य के संबंध में विश्वास किया जाता है कि वह पुरातन काल में जैनमंदिर था। भरतेश्वर नाम से प्रसिद्ध एक जैन दिगंबर उन दिनों इस मंदिर के देवता रहे।"

केरल सरकार द्वारा प्रकाशित केरल गजेटियर, त्रिचूर में एक अन्य संकेत इस मंदिर के जैन होने के संबंध में मिलता है जो कि महत्वपूर्ण है। श्री मेनन अपने ऐतिहासिक अनुसंधानों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके कथन से और महिलाओं संबंधी निषेद्य से यह स्पष्ट है कि भरत की नग्न जैन मूर्ति इस मंदिर में प्रतिष्ठित है। यद्यपि इस समय उसके चार हाथ बना दिए गए हैं और उसे आभूषण पहना दिए गए हैं किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप अभिषेक के समय प्रकट होता होगा।

प्रथम चक्रवर्ती भरत के उदात्त चरित्र को लेकर पर्याप्त साहित्य रचना हुई है। जिनसेनाचार्य कृत महापुराण से लेकर आधुनिक काल तक भरत के चरित्र पर आधारित अनेक रचनाओं का निर्माण किया गया। भरतविषयक यह साहित्य दो रूपों में है—एक त्रेसठ शलाका महापुरुषों से संबंधित रचनाओं में और दूसरा उन पर स्वतंत्र कृतियों के रूप में। ऋषभदेव एवं बाहुबली से संबंधित रचनाओं में भी भरत चरित्र वर्णित है। भरतेश्वराभ्युदय काव्य (सिद्धयंक महाकाव्य), जैन कुमार संभव, भरतचरित्रविषयक स्वतंत्र कृतियां हैं।

अपने लोकहित कार्यों से भरत का यश विश्व में मनु चक्रवर्तियों में प्रथम, षट्खंड भरतक्षेत्र (भारतवर्ष) के अधिपति, अधिराट्ट और सम्राट के रूप में उद्घोषित हो गया था। भरत के उदात्त चरित्र ने लोगों के हृदयों में अलौकिक भावनाओं को जन्म दिया था और उनके मन में यह धारणा जम गई थी कि अति शक्तिसम्पन्न भरत के चरित्र को सुनने मात्र से कामनाएं स्वतः पूर्ण हो जाती हैं।

ऋषभ के भरत का सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अवदान इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि वे सुखी और समृद्ध जीवन जीने के लिए आचार संहिता का सर्वप्रथम स्थापन करते हैं। जीवन में श्रम और संयम के संस्कारों का प्रवर्तन करते हैं। जागतिक जीवन के साथ-साथ वे आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं। भरत का भारत इसी दृष्टि से उनका सर्वप्रथम उपकृत और कृतज्ञ है। वे अनाचार पर सदाचार का प्रतिष्ठापन करते हैं। स्व और पर के भरण-पोषण करने के लिए अनेक विधि उपयोगी सिद्धान्त पद्धतियों के प्रवर्तन करने के उपलक्ष्य में राज्यवर्ती प्रजाजनों ने एक स्वर से अपने देश का नाम सम्राट भरत के नाम पर भारतवर्ष रख दिया, जो आज तक प्रचलित है। इस धारणा की संस्तुति प्राचीन साहित्य सभ्यता और संस्कृति से सहज ही हो जाती है।

# ऋषभ परम्परा की पुष्टि करते कुछ वेद मंत्रित हड़प्पाकालीन अभिलेख

| क्रं. | अभिलेख | उद्‌वाचन प्रयास | स्थान संदर्भ |
|---|---|---|---|
| 1. | 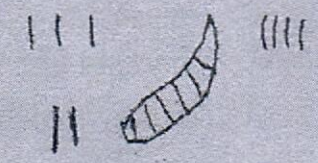 | चत्वारि श्रृंग त्रयो (अस्य पादा) द्वे (शीर्ष सप्तहस्तासो अस्य) (ऋग्वेद– IV 58) अर्थात् चार श्रृंग है, जिनके अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य तीन पाद (चरण) है – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र। दो शीर्ष केवल ज्ञान एवं मुक्ति। सप्त हस्त है– अर्थात् सप्तभंगी दर्शन (अनेकांत) एवं मन, वचन, काय इन तीन योगों से मानव जीव संसार में बंधा है। यह जीव उपर्युक्त साधनों का आश्रय लेकर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। | सिंधु सरस्वती लिपि पृ. 59 ले. डॉ. करुणा शंकर शुक्ला |
| 2. | 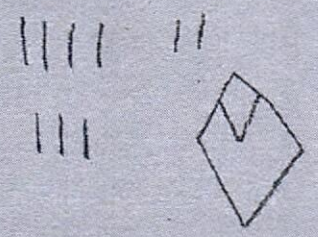 | | |
| 3. | 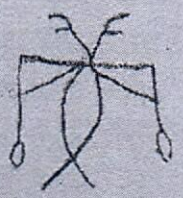 | (भारतवर्ष का प्रतीक चिन्ह) (यजुर्वेद 2512) – यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रां रसया सहाहः । यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहु करमै देवाय हविषा विधेम।।' | सिंधु सरस्वती लिपि पृ. 61 ले. डॉ. करुणा शंकर शुक्ला |
| 4. | | संभवतः चक्रवर्ती के चौदह रत्न | भरतेश्वराभ्युदय काव्य |
| 5. | | संभवतः ऋषभ, भरत एवं बाहुबली | आदि पुराण |

संभवतः सभी सिहों (राजाओं) को जीतने के बाद भरत के चक्रवर्ती का सूचक स्वायम्भुव मनु के पौत्र नाभिराय के नाम से प्रसिद्ध 'अजनाभ खण्ड' पीछे 'भरतखण्ड' कहलाया। नाभि के पौत्र भरत उनसे भी अधिक प्रतापवान चक्रवर्ती थे। यह अत्यन्त मूल्यवान ऐतिहासिक परम्परा किसी प्रकार पुराणों में सुरक्षित रह गई।
'जैन साहित्य का इतिहास' भूमिका
वासुदेव शरण अग्रवाल

स्वायम्भुव मनु के पौत्र नाभिराय
मार्डन रिव्यू
राम प्रसाद

ऋषभ – भरत, वृषभ एवं सात मंत्रिगण,
मोहन जोदड़ो जैन परम्परा एवं प्रमाण

## 4.2 प्रश्नावली-

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का क्या नाम था ?

(क) भरत चक्रवर्ती ☐ (ख) बाहुबली ☐ (ग) राक शव ☐

**प्रश्न 2**-सम्राट भरत की परम्परा को प्रदर्शित करने वाली एक सील कहाँ से प्राप्त हुई ?

(क) मोहन जोदड़ो ☐ (ख) एलोरा ☐ (ग) इरिंगालकुंडा ☐

**प्रश्न 3**-भरत को किसकी संज्ञा दी गई है ?

(क) मनु ☐ (ख) कोई नहीं ☐ (ग) ब्रह्मा ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-पुरातात्त्विक दृष्टि से भारतवर्ष का उल्लेख किस शिलालेख में मिलता है तथा यह कितने वर्ष प्राचीन है ?

**प्रश्न 2**-भरत शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न विद्वानों ने किस प्रकार की है ?

**प्रश्न 3**-भरत चक्रवर्ती की राजसी वेश में कहाँ-कहाँ पर मूर्तियाँ हैं ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-हमारे देश का नाम भारतवर्ष कब, क्यों और कैसे पड़ा ? जैनधर्म विषयक ग्रंथों में से किन्हीं दो ग्रंथ एवं वैदिक ग्रंथों में से किन्हीं चार ग्रंथों के आधार से इसकी पुष्टि कीजिए ?

## पाठ 5 – बलभद्र-नारायण-प्रतिनारायण

5.1 विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म ये नौ बलभद्र हुए हैं।

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुषपुंडरीक, पुरुषदत्त, नारायण और कृष्ण ये नौ नारायण हुए हैं।

अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुम्भ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासंध ये नौ प्रतिनारायण हुए हैं।

त्रिपृष्ठ आदि पाँच नारायणों में से प्रत्येक क्रम से श्रेयांसनाथ आदिक पाँच तीर्थंकरों की वंदना करते थे। अर और मल्लिनाथ तीर्थंकर के अन्तराल में दत्त नामक नारायण हुए हैं। सुव्रत और नमि स्वामी के मध्य में लक्ष्मण और भगवान नेमिनाथ के समय में कृष्ण नारायण हुए हैं। नारायण के बड़े भाई ही बलदेव और नारायण के प्रतिशत्रु ही प्रतिनारायण होते हैं।

**नारायण के सात महारत्न**— शक्ति, धनुष, गदा, चक्र, कृपाण, शंख और दण्ड ये सात महारत्न अर्द्धचक्रियों के पास शोभायमान रहते हैं।

**बलभद्र के चार रत्न**— मूसल, हल, रथ और रत्नावली ये चार रत्न प्रत्येक बलदेव के पास शोभित रहते हैं।

नौ प्रतिनारायण युद्ध में नव नारायण के हाथों से उन्हीं के चक्रों से मृत्यु को प्राप्त होकर नरकभूमि में जाते हैं। सब नारायण पूर्व भव में तपश्चरण करके निदान से सहित होकर मरकर देव होते हैं तथा वहाँ से आकर नारायण होकर भोगों की आसक्ति में ही मरकर अर्थात् राज्य में ही मरकर नरक जाते हैं। आठ बलदेव मोक्ष और अंतिम बलदेव ब्रह्म स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। यह अंतिम बलदेव स्वर्ग से च्युत होकर कृष्ण के तीर्थ में सिद्धपद को प्राप्त होंगे।

### 5.2 बलभद्र-नारायण-

### विजय बलभद्र-त्रिपृष्ठ नारायण

जैनशासन में नव बलभद्र, नव नारायण एवं नव प्रतिनारायण होते हैं। भगवान श्रेयांसनाथ के तीर्थकाल में प्रथम बलभद्र, नारायण एवं प्रतिनारायण हुए हैं।

#### 5.2.1 पुरुरवा भील—

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर 'पुष्कलावती' नाम का देश है। उसकी 'पुण्डरीकिणी' नगरी में एक 'मधु' नाम का वन है। उसमें 'पुरुरवा' नाम का एक भीलों का राजा अपनी 'कालिका' नाम की स्त्री के साथ रहता था। किसी दिन दिग्भ्रम के कारण 'श्री सागरसेन' नामक मुनिराज को इधर-उधर भ्रमण करते हुये देखकर यह भील उन्हें मारने को उद्यत हुआ, उसकी स्त्री ने यह कहकर मना कर दिया कि 'ये वन के देवता घूम रहे हैं, इन्हें मत मारो।' वह पुरुरवा उसी समय मुनि को नमस्कार कर तथा उनके वचन सुनकर शांत हो गया। मुनिराज ने उसे मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारों का त्याग करा दिया। मांसाहारी भील भी इन तीनों के त्यागरूप व्रत को जीवनपर्यन्त पालन कर आयु के अंत में मरकर सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयु को धारण करने वाला देव हो गया। कहाँ तो वह हिंसक क्रूर भील पाप करके नरक चला जाता और कहाँ उसे गुरू का समागम मिला कि जिससे हिंसा का त्याग करके स्वर्ग चला गया!

#### 5.2.2 मरीचि कुमार—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्रसम्बन्धी आर्यखंड के मध्य भाग में कौशल नाम का देश है। इस देश के मध्य भाग में अयोध्या नगरी है। वहाँ ऋषभदेव भगवान के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती की अनंतमती रानी से 'यह पुरुरवा भील का जीव देव' मरीचि कुमार नाम का पुत्र हुआ। अपने बाबा भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के समय स्वयं ही गुरुभक्ति से प्रेरित होकर मरीचि ने कच्छ आदि चार हजार राजाओं के साथ दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। भगवान तो छह महीने का उपवास लेकर ध्यान में लीन हो गये। मरीचि आदि चार हजार राजा स्वयं ही फल, आवरण आदि को ग्रहण करने लगे

तब वनदेवता ने प्रगट होकर कहा—"निर्ग्रंथ दिगम्बर जिनमुद्रा को धारण करने वालों का यह क्रम नहीं है अर्थात् यह अर्हंतमुद्रा तीनों लोकों में पूज्य है इसको धारण कर यह स्वच्छंद प्रवृत्ति करना कथमपि उचित नहीं है अतः तुम लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार अन्य वेष ग्रहण कर लो।"

ऐसा सुनकर प्रबल मिथ्यात्व से प्रेरित हुए मरीचि ने सबसे पहले परिव्राजक की दीक्षा धारण कर ली। वास्तव में जिनका संसार दीर्घ होता है उनके लिए यह मिथ्यात्व कर्म मिथ्यामार्ग ही दिखलाता है। उस समय उसे उन सब विषयों का ज्ञान भी स्वयं ही प्रगट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों के समान दुर्जनों को भी अपने विषय का ज्ञान स्वयं ही हो जाता है। उसने तीर्थंकर भगवान के वचन सुनकर भी समीचीन धर्म ग्रहण नहीं किया था। वह मरीचि साधु सोचता रहता था कि जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अपने आप समस्त परिग्रहों कर त्यागकर तीनों लोकों में क्षोभ उत्पन्न करने वाली सामर्थ्य प्राप्त की है उसी प्रकार मैं भी संसार में अपने द्वारा चलाए हुए दूसरे मत की व्यवस्था करूँगा और उसके मिमित्त से होने वाले बड़े भारी प्रभाव के कारण इन्द्र की प्रतीक्षा को प्राप्त करूँगा—इन्द्र द्वारा की हुई पूजा को प्राप्त करूँगा। मैं समझता हूँ कि मेरे यह सब अवश्य होगा। इस प्रकार मान कर्म के उदय से वह पापबुद्धि सहित हुआ खोटे मत से विरक्त नहीं हुआ और अनेक दोषों से दूषित वही वेष धारण कर रहने लगा।

तभी कच्छ आदि चार हजार राजा, जो दीक्षित हुए थे, उन सभी मुनिवेषधारियों ने भी अनेक वेष बना लिए।

**5.2.3 मरीचि का भवभ्रमण—**

मरीचिकुमार आयु के अंत में मरकर ब्रह्मस्वर्ग में दस सागर आयु वाला देव हो गया। वहाँ से आकर जटिल ब्राह्मण हुआ, पुनः पारिव्राजक बना पुनः मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ, पुनः वहाँ से आकर अग्निसह ब्राह्मण होकर पारिव्राजक दीक्षा ले ली पुनः मरकर देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर अग्निमित्र ब्राह्मण होकर पारिव्राजक तापसी हुआ पुनरपि माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से आकर भारद्वाज ब्राह्मण होकर त्रिदण्डी साधु बन गया और पुनरपि स्वर्ग में गया, वहाँ से च्युत होकर मिथ्यात्व के निमित्त से यह मरीचि कुमार त्रस-स्थावर योनियों में असंख्यात वर्ष तक परिभ्रमण करता रहा।

वह मरीचिकुमार का जीव इस तरह असंख्यात वर्षों तक इन कुयोनियों में भ्रमण करते हुये श्रांत हो गया। कुछ पुण्य से राजगृह नगर के शांडिल्य ब्राह्मण की पारशरी पत्नी से 'स्थावर' नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी सम्यग्दर्शन से शून्य पारिव्राजक की दीक्षा लेकर अंत में मरकर माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयु वाला देव हो गया।

**5.2.4 विश्वनंदी—**

इसी मगधदेश के राजगृह नगर में 'विश्वभूति' राजा की 'जैनी' नाम की रानी से यह मरीचि कुमार का जीव स्वर्ग से आकर 'विश्वनंदी' नाम का राजपुत्र हो गया। विश्वभूति राजा का एक विशाखभूति नाम का छोटा भाई था, उसकी लक्ष्मणा पत्नी से 'विशाखनन्दि' नाम का मूर्ख पुत्र हो गया। किसी दिन विश्वभूति राजा ने विरक्त होकर छोटे भाई विशाखभूति को राज्य देकर अपने पुत्र 'विश्वनन्दि' को युवराज बना दिया और स्वयं तीन सौ राजाओं के साथ श्रीधर मुनि के पास दीक्षित हो गये।

किसी दिन विश्वनंदी युवराज अपने 'मनोहर' नामक उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। उसे देख, चाचा के पुत्र विशाखनंदी ने अपने पिता के पास जाकर उस उद्यान की याचना की। विशाखभूति ने भी युवराज विश्वनंदी को 'विरुद्ध राजाओं को जीतने के बहाने' बाहर भेजकर पुत्र को बगीचा दे दिया। विश्वनंदी को इस घटना का तत्काल पता लग जाने से वह क्रुद्ध होकर वापस विशाखनंदी को मारने को उद्यत हुआ। तब विशाखनंदी कैथे के वृक्ष पर चढ़ गया, विश्वनंदी ने कैथे के वृक्ष को उखाड़ दिया। तब वह भागा और पत्थर के खम्भे के पीछे हो गया, यह विश्वनंदी पत्थर के खंभे को उखाड़कर उससे उसे मारने को दौड़ा। विशाखनंदी वहाँ से डरकर भागा, तब युवराज के हृदय में

सौहार्द और करुणा जाग्रत हो गई। उसने उसी समय उसे अभयदान देकर बगीचा भी दे दिया और स्वयं 'संभूत' नामक मुनि के पास दीक्षा धारण कर ली, तब विशाखभूति ने भी पापों का पश्चात्ताप कर दीक्षा ले ली।

किसी दिन मुनि विश्वनंदी अत्यन्त कृशशरीरी मथुरा में आहार के लिए आए, उस समय यह विशाखनंदी वेश्या के महल की छत से मुनि को देख रहा था। मुनि को गाय ने धक्के से गिरा दिया, यह देख विशाखनंदि बोला 'तुम्हारा पत्थर का खम्भा तोड़ने वाला पराक्रम कहाँ गया'? मुनि ने यह दुर्वचन सुन उन्हें क्रोध आ गया, अन्त में निदान सहित संन्यास से मरकर महाशुक्र स्वर्ग में देव हो गये, वहीं पर चाचा विशाखभूति भी देव हो गये। दोनों की आयु सोलह सागर प्रमाण थी।

### 5.2.5 अर्धचक्री त्रिपृष्ठकुमार—

सुरम्य देश के पोदनपुर नगर में प्रजापति महाराज की जयावती रानी से 'विशाखभूति का जीव' विजय नाम का पुत्र हुआ और महाराज की दूसरी रानी मृगावती से 'विश्वनंदी का जीव' त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। विजय बलभद्र पद के धारक हुए और ये त्रिपृष्ठ अर्धचक्री पद के धारक हुए। उधर विशाखनंदि का जीव चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता हुआ कुछ पुण्य से विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव विद्याधर की नीलांजना रानी से 'अश्वग्रीव' पुत्र हुआ। यह प्रतिनारायण हुआ था। कालांतर में युद्ध में अश्वग्रीव के चक्ररत्न से ही अश्वग्रीव को मारकर त्रिखण्डाधिपति राजा त्रिपृष्ठ ने अपने भाई विजय के साथ बहुत काल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग किया।

ये बलभद्र और नारायण दोनों ही सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यंतर देवों के अधिपति होते हैं। नारायण के धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न होते हैं। ये देवों से सुरक्षित रहते हैं। बलभद्र के भी गदा, रत्नमाला, मूसल और हल ये चार रत्न होते हैं। ये नारायण तीन खण्ड के स्वामी अर्धचक्री कहलाते हैं।

नारायण के सोलह हजार रानियाँ होती हैं और बलभद्र के आठ हजार रानियाँ होती हैं तथा प्रतिनारायण के भी अठारह हजार रानियाँ होती हैं।

ये विजय बलभद्र दीक्षा लेकर तपश्चरण करके मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं। त्रिपृष्ठ नारायण कई भवों के बाद अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए हैं। प्रतिनारायण भी आगे भवों में नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं, ऐसा नियम है।

## 5.3 अचल बलभद्र एवं द्विपृष्ठ नारायण-

श्री वासुपूज्य भगवान के तीर्थ में द्विपृष्ठ नारायण, अचल बलभद्र एवं तारक नाम के प्रतिनारायण हुए हैं। नारायण का प्रतिनारायण प्रतिद्वन्दी — शत्रु होता है। ये नारायण आदि अर्द्धचक्री कहलाते हैं क्योंकि ये तीन खण्ड — एक आर्यखण्ड और दो म्लेच्छखण्ड पर विजय प्राप्त करने वाले होते हैं। प्रतिनारायण की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होता है। शत्रुता के निमित्त से प्रतिनारायण नारायण पर चक्र चला देते हैं, वही चक्र नारायण की तीन प्रदक्षिणा देकर उनके पास स्थित हो जाता है तभी नारायण प्रतिनारायण को उसी चक्ररत्न से मार देते हैं, ऐसा कुछ प्राकृतिक नियम ही है।

यहाँ अब इनके पूर्व भवों को कहते हैं—

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कनकपुर नगर के राजा सुषेण थे। इनके यहाँ एक गुणमंजरी नृत्यकारिणी थी, जो कि रूप, गुण और कला में अनूठी थी।

इसी भरतक्षेत्र में मलयदेश के विंध्यपुर में विंध्यशक्ति नाम का राजा रहता था। इस राजा ने गुणमंजरी नर्तकी को प्राप्त करने के लिए राजा सुषेण के पास रत्न आदि उपहार देकर एक दूत भेजा और उसने आकर राजा का यथायोग्य सम्मान करके नर्तकी के लिए याचना की और कहा—

राजन्! आप नर्तकी को एक बार भेज दीजिए, राजा देखना चाहते हैं पुनः मैं उसे वापस लाकर आपको सौंप दूँगा। दूत के समाचार को सुनकर राजा सुषेण ने उसे तर्जित कर वापस कर दिया। फलस्वरूप विंध्य शक्ति राजा ने युद्ध शुरू

कर दिया तथा युद्ध में सुषेण को पराजित कर नृत्यकारिणी प्राप्त कर ली। इस अपमान से सुषेण ने बहुत ही दुःखी हो विरक्त होकर सुव्रत जिनेन्द्र से धर्मोपदेश सुनकर निर्मलचित्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। अनंतर शत्रु के प्रति विद्वेष भावना से उसके मारने का निदान करके अंत में संन्यास विधि से मरण कर प्राणत स्वर्ग में देव हो गया। वहाँ इसकी आयु बीस सागर की थी।

## 5.4 सुधर्म बलभद्र एवं स्वयंभू नारायण-

भगवान विमलनाथ के तीर्थ में सुधर्म बलभद्र एवं स्वयंभू नारायण हुए हैं। उन्हीं का संक्षिप्त चरित कहा जा रहा है—जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में मित्रनंदी राजा धर्मन्यायपूर्वक प्रजा का पालन कर रहे थे। किसी समय सुव्रत जिनेन्द्र के पादमूल में धर्मोपदेश सुनकर भोगों से विरक्त हो जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और आयु के अंत में श्रेष्ठ समाधि से मरण करके अनुत्तर विमान में तेतीस सागर की आयु वाले अहमिन्द्र हो गए।

वहाँ से चयकर द्वारावती के राजा भद्र की रानी सुभद्रा से जन्मे। इनका नाम 'सुधर्म' रखा गया।

इसी भरतक्षेत्र के कुणाल देश की श्रावस्ती के राजा सुकेतु थे। वे जुआ आदि सातों व्यसनों में लगे हुए थे। किसी समय राजा जुआ में सब कुछ हारकर व्याकुल होकर सुदर्शनाचार्य गुरु की शरण में पहुँचा, धर्मोपदेश सुनकर संसार से विरक्त होकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करते हुए चातुर्य, बल आदि का निदान कर लिया। अंत में समाधि से मरणकर लांतव स्वर्ग में देव हो गया। वहाँ की चौदह सागर की आयु पूर्णकर वहाँ से चयकर द्वारावती के राजा भद्र की दूसरी पृथिवीमती रानी से पुत्र हो गया, उसका नाम 'स्वयंभू' रखा गया। यह पुत्र राजा को अत्यधिक प्रिय था। ये दोनों भाई सुधर्म और स्वयंभू बलभद्र और नारायण के अवतार थे।

पूर्वभव में राजा सुकेतु के जुआ में हार जाने पर एक राजा ने उसका राज्य छीन लिया था। वह राजा धर्म आचरण करके मरकर रत्नपुर नगर में राजा मधु हो गया। यह चक्ररत्न का स्वामी प्रतिनारायण था। पूर्व जन्म के बैर के संस्कार से राजा स्वयंभू मधु का नाम सुनते ही कुपित हो जाता था।

किसी समय किसी राजा ने मधु के लिए बहुत कुछ भेंट भेजी। राजा स्वयंभू ने दूत को मारकर वह भेंट स्वयं छीन ली। जब मधु ने नारद के द्वारा यह समाचार ज्ञात किया तब वह अपनी सेना के साथ नारायण से युद्ध करने चल पड़ा। दोनों राजाओं में घमासान युद्ध हुआ। अंत में मधु राजा ने अपना चक्र स्वयंभू राजा के ऊपर चला दिया। वह उनकी प्रदक्षिणा देकर उन्हीं के पास ठहर गया, उसी समय ये 'स्वयंभू' नारायण प्रसिद्ध हो गये और उसी चक्र से प्रतिनारायण को मार दिया। ये बलभद्र और नारायण बहुत काल तक तीन खण्ड का राज्य करते रहे हैं। कालांतर में सुधर्म बलभद्र ने श्री विमलनाथ भगवान के चरण सान्निध्य में दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करके केवलज्ञान प्राप्त किया है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं।

## 5.5 सुप्रभ बलभद्र एवं पुरुषोत्तम नारायण

भगवान अनंतनाथ के समय में सुप्रभ बलभद्र और पुरुषोत्तम नारायण हुए हैं। इनका संक्षिप्त विवरण सुनाया जा रहा है—

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के पोदनपुर में राजा वसुषेण राज्य करते थे, उनकी पाँच सौ रानियों में नंदा महारानी राजा को अतीव प्रिय थीं। मलयदेश के राजा चण्डशासन राजा वसुषेण के मित्र थे। किसी समय राजा चण्डशासन अपने मित्र से मिलने के लिए पोदनपुर आया। पापकर्म से प्रेरित हो, वह अपने मित्र की रानी नंदा को देखकर उस पर आसक्त हो किसी भी उपाय से उसका हरण करके अपने देश ले गया। राजा वसुषेण असमर्थ होते हुए इस घटना से बहुत ही दुःखी हुए।

कालांतर में श्रीश्रेय गणधर के धर्मोपदेश से संसार से विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। ये मुनि वसुषेण सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेक व्रतों के अनुष्ठान से महातपस्वी बन गये, पुनः किसी समय निदान कर लिया "मेरी तपस्या का फल मुझे यह प्राप्त हो कि मैं ऐसा राजा होऊँ, जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न कर सके। अनंतर संन्यास मरण कर सहस्रार नाम के बारहवें स्वर्ग में देव हो गये। इनकी आयु अठारह सागर की थी।

इसी मध्य जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में नंदन नगर के महाबल राजा बहुत काल तक सुखपूर्वक राज्य संचालन करके किसी समय विरक्तमना हो अपने पुत्र के लिए राज्य सौंपकर श्री प्रजापाल अर्हंत भगवान के समीप दीक्षा लेकर सिंहनिष्क्रीडित व्रत करके तपश्चरण के प्रभाव से एवं संन्यास विधि से मरणकर इसी सहस्रार स्वर्ग में अठारह सागर की आयु वाले देव हो गये। इन दोनों देवों का आपस में बहुत ही प्रेमभाव था।

इसी भरतक्षेत्र की द्वारावती नगरी के राजा सोमप्रभ की जयवंती रानी थी। यह महाबल राजा के देव का जीव वहाँ से च्युत होकर रानी जयवंती के गर्भ में आ गया और नव माह बाद पुत्र हुआ, इसका नाम 'सुप्रभ' रखा गया। इन्हीं राजा की दूसरी रानी सीता से वसुषेण के देव का जीव पुरुषोत्तम नाम का पुत्र हुआ है। ये दोनों पुत्र बड़े होकर बलभद्र और नारायण हुए हैं। बलभद्र का वर्ण श्वेत था और नारायण का वर्ण कृष्ण था। इन दोनों का शरीर पचास धनुष ऊँचा था (50×4=200 हाथ) । तीस लाख वर्ष की आयु थी। दोनों ही एक साथ समान सुख का अनुभव करते थे।

पहले जिस चण्डशासन राजा ने वसुषेण की नंदारानी का हरण किया था, वह अनेक भवों में भ्रमण कर वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन हुआ था। उसने पूर्व भव में तपस्या करके निदान करके अर्धचक्री का वैभव प्राप्त किया था। इसकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था, जिसके प्रभाव से इसने दिग्विजय कर तीन खण्ड को जीत लिया था। नारद के मुख से किसी समय इसने सुप्रभ व पुरुषोत्तम के वैभव को सुना, तब उसने एक दूत को भेजकर इन दोनों से हाथी, रत्न आदि 'कर' के रूप में मांगे।

यह सुनकर सुप्रभ व पुरुषोत्तम ने दूत की तर्जना करके उसे भगा दिया। तभी मधुसूदन ने सेना लेकर आकर द्वारावती नगरी को घेर लिया। दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। अनंतर मधुसूदन ने अपना चक्र चला दिया। वह चक्र राजा पुरुषोत्तम की प्रदक्षिणा देकर उन्हीं के पास स्थित हो गया। अंत में पुरुषोत्तम ने उसी के चक्र से उसे मार डाला।

उसी क्षण ये दोनों भाई बलभद्र व नारायण के रूप में तीन खण्ड के स्वामी हो गये। बहुत काल तक इन दोनों ने न्यायपूर्वक प्रजा का पालन किया है। अंत में सुप्रभ बलभद्र ने श्रीसोमप्रभ जिनेन्द्र के चरण सान्निध्य में दीक्षा लेकर घोर तप करके क्षपकश्रेणी में आरोहण कर केवलज्ञान को प्राप्त किया है। अनंतर केवली काल में विहार करके अगणित जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अंत में निर्वाणधाम को प्राप्त कर लिया है। ये 'सुप्रभ' सिद्ध परमात्मा हम सभी को सिद्धि प्रदान करें।

## 5.6 सुदर्शन बलभद्र एवं पुरुषसिंह नारायण-

भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में सुदर्शन बलभद्र एवं पुरुषसिंह नारायण हुए हैं। उनका संक्षिप्त इतिहास कहा जाता है—

इसी भरतक्षेत्र के राजगृह नगर में सुमित्र नामक राजा थे, वे बहुत ही अभिमानी थे। किसी समय मल्लयुद्ध में कुशल एक राजसिंह नाम के राजा उस सुमित्र राजा के गर्व को नष्ट करने के लिए राजगृह नगर में आये और उन्होंने युद्धभूमि में राजा सुमित्र को पराजित कर दिया।

मानभंग से वे सुमित्र महाराजा बहुत ही दुःखी हुए, कालांतर में श्रीकृष्णाचार्य मुनि के वचनों से शांत होकर उन्होंने दैगंबरी दीक्षा ले ली। यद्यपि इन मुनिराज ने सिंहनिष्क्रीडित आदि अनेक प्रकार के तपश्चरणों के अनुष्ठान किए थे फिर भी मन में पराजय का संक्लेश बना रहता था अतः उन्होंने निदान कर लिया कि—

'मुझे इन तपश्चरणों का फल ऐसा मिले कि मैं बड़े से बड़े शत्रुओं को पराजित करने में बलवान हो जाऊँ।'

अंत में संन्यास विधि से मरणकर माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयु प्राप्त कर देव हो गये। इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में वीतशोकापुरी के राजा नरवृषभ सुखपूर्वक राज्य सुखों का अनुभव कर रहे थे। ये राजा किसी समय विरक्तमना होकर 'दमवर' महामुनि के समीप दीक्षा लेकर कठोर तप के प्रभाव से अंत में मरण कर सहस्रार नाम के बारहवें स्वर्ग में देव हो गये, वहाँ इनकी आयु अठारह सागर की थी। आयु के अंत में वहाँ से चयकर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में खड्गपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशीय राजा सिंहसेन की विजया रानी से 'सुदर्शन' नाम के पुत्र हुए हैं।

इन्हीं राजा सिंहसेन की दूसरी अंबिका रानी से राजा सुमित्र के जीव देव पर्याय से च्युत होकर 'पुरुषसिंह' नाम के नारायण हुए हैं। ये दोनों भाई पैंतालीस धनुष (45×4=180) एक सौ अस्सी हाथ के शरीर के धारक थे। इनकी आयु दश लाख वर्ष की थी। ये दोनों परस्पर में अतिशय प्रेम से राज्य सुखों का अनुभव कर रहे थे।

इसी भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में राजा मधुक्रीड़ राज्य करते थे। जो सुमित्र राजा को मल्लयुद्ध में जीतने वाले 'राजसिंह' राजा थे, वे ही क्रम से ये 'मधुक्रीड़' नाम से प्रतिनारायण अर्धचक्री राजा हुए हैं। ये मधुक्रीड़-राजा सुदर्शन व पुरुषसिंह के पराक्रम को नहीं सहन कर पाते थे इसीलिए इन्होंने एक दिन अपने दण्डगर्भ नाम के प्रधानमंत्री को इन दोनों के पास खड्गपुर नगर में कर—टैक्स लेने के लिए भेज दिया।

महाराजा सुदर्शन व पुरुषसिंह आये हुए प्रधानमंत्री के शब्दों से क्षुभित और कुपित होकर कठोर शब्द कहने लगे। प्रधानमंत्री ने जाकर मधुक्रीड़ राजा को सूचना दी। इतना सुनते ही क्रुद्ध हुए प्रतिनारायण मधुक्रीड़ ने शीघ्र ही विशाल सेना लेकर युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया। दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। अंत में मधुक्रीड़ ने अपना चक्र पुरुषसिंह के ऊपर चला दिया। नियोग के अनुसार पुरुषसिंह के पुण्य के प्रभाव से वह चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर उन्हीं के पास स्थित हो गया। तभी पुरुषसिंह ने उसी के चक्ररत्न से उसी का वध कर दिया और तत्क्षण ही ये दोनों इस भूतल पर पाँचवें बलभद्र व नारायण प्रसिद्ध हो गये।

वास्तव में ऐसे 'वैर के निदान को धिक्कार हो' कि जिससे अपने ही चक्ररत्न से अपना घात हो जाता है।

इधर दोनों भाई तीन खण्ड के स्वामी बनकर बहुत काल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते रहे हैं। अंत में नारायण के वियोग से दुःखी हो बलभद्र सुदर्शन ने 'भगवान धर्मनाथ तीर्थंकर' के चरण सान्निध्य में पहुँचकर मोह और शोक को छोड़कर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। घोरातिघोर तपश्चरण करके अपने घातिया कर्मों का नाशकर केवली हुए हैं पुनः सभी कर्मों से रहित निर्वाणधाम को प्राप्त किया है, ऐसे वे सिद्धालय में विराजमान 'सुदर्शन बलभद्र' सिद्ध भगवान हम सबको भी शाश्वत धाम को प्राप्त करावें, यही उनके चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

## 5.7 नंदिषेण बलभद्र एवं पुण्डरीक नारायण-

भगवान अरनाथ एवं मल्लिनाथ के अन्तराल में नंदिषेण बलभद्र एवं पुण्डरीक नारायण हुए हैं।

तीसरे भव पूर्व ये राजपुत्र थे। एक राजपुत्र ने शल्य सहित तपश्चरण करके आयु के अंत में संन्यास विधि से मरण करके प्रथम स्वर्ग में देवपद पाया, वहाँ से चयकर सुभौम चक्रवर्ती के बाद छह सौ करोड़ वर्ष बीत जाने पर इसी भरतक्षेत्र में चक्रपुर नगर के राजा वरसेन की लक्ष्मीरानी से पुण्डरीक नाम का पुत्र हुआ। इन्हीं वरसेन राजा की दूसरी वैजयंती रानी से नंदिषेण नाम का बलभद्र उत्पन्न हुआ। इन दोनों की आयु छप्पन हजार वर्ष की थी, शरीर की ऊँचाई छब्बीस धनुष (26×4=104 हाथ) की थी। किसी एक दिन इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने अपनी पद्मावती नाम की पुत्री 'पुण्डरीक' नारायण के लिए प्रदान की।

पहले भव में एक सुकेतु नाम का राजा था, जो कि अत्यंत अहंकारी, दुराचारी तथा पुण्डरीक का शत्रु था। क्रम से

कुछ पुण्य के संचय से 'निशुंभ' नाम का राजा हुआ, उसने चक्ररत्न के द्वारा तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर अर्धचक्री पद प्राप्त कर लिया। जब उसने पुण्डरीक राजा के साथ पद्मावती के विवाह का समाचार सुना तो बहुत ही कुपित हुआ।

उस निशुंभ प्रतिनारायण ने बहुत बड़ी सेना साथ लेकर पुण्डरीक के साथ युद्ध प्रारंभ कर दिया। भयंकर युद्ध में उसने अपना चक्ररत्न पुण्डरीक राजा पर चला दिया। उस चक्ररत्न ने भी पुण्डरीक को अपना स्वामी बना लिया तभी पुण्डरीक ने निशुंभ अर्धचक्री का वध कर दिया और उसी क्षण ये देवों द्वारा भी मान्य नारायण एवं बलभद्र प्रसिद्ध हो गए।

किसी समय नंदिषेण भाई पुण्डरीक की मृत्यु से विरक्तमना हो, शिवघोष मुनि के चरण सान्निध्य में दीक्षा लेकर शुद्ध परिणामों से घातिया कर्मों का नाश कर केवली हो गए। अनेक भव्यों को धर्मामृत का पान कराकर पुनः अघातिया कर्मों का भी नाश कर सिद्ध परमात्मा हो गए। ऐसे नंदिषेण बलभद्र सिद्ध भगवान हम सभी के मोक्षमार्ग को प्रशस्त करें, यही भावना है।

## 5.8 नंदिमित्र बलभद्र एवं श्रीदत्त नारायण-

भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में नंदिमित्र नाम के सातवें बलभद्र एवं श्रीदत्त नाम के सातवें नारायण हुए। इनके तीसरे भव पूर्व का चरित्र प्रस्तुत है—

अयोध्या के राजा के दो पुत्र थे। ये दोनों पिता को प्रिय नहीं थे अतः राजा ने इन दोनों को छोड़कर अपने छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। तब इन दोनों भाइयों ने यह समझा कि यह सब मंत्री ने कराया है अतः मंत्री के प्रति वैर भाव धारण कर ये दोनों राजकुमार महामुनि शिवगुप्त से दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे पुनः अंत में समाधिपूर्वक मरण कर सौधर्म स्वर्ग में सुविशाल विमान में देव हो गए।

वहाँ से च्युत होकर एक देव वाराणसी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा अग्निशिख की अपराजिता रानी से नंदिमित्र नाम के बलभद्र हुए हैं एवं इन्हीं राजा की दूसरी केशवती रानी से दूसरे देव ने जन्म लेकर श्रीदत्त नाम प्राप्त किया है। बत्तीस हजार वर्ष की इनकी आयु थी। बाईस धनुष (22×4=88 हाथ) ऊँचा शरीर था, क्रम से बलभद्र के शरीर का वर्ण शुक्ल व नारायण के शरीर का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान था।

इधर मंत्री का जीव क्रम से कुछ पुण्य संचित करके विजयार्ध पर्वत पर मन्दरपुर नगर का स्वामी बलीन्द्र विद्याधर हुआ। किसी एक दिन इस बलीन्द्र ने दोनों राजा—नंदिमित्र व श्रीदत्त के पास दूत भेजा और कहलाया कि आपके पास भद्रक्षीर नाम का एक गंधहस्ती है, उसे हमारे यहाँ भेज दीजिए। इन दोनों ने दूत से कहा कि वे बलीन्द्र विद्याधर राजा अपनी पुत्रियों का हमारे साथ विवाह कर दें, तब यह गंधहाथी दिया भी जा सकता है।

यह सब सुनकर विद्याधर बलीन्द्र अपना चक्ररत्न आगे कर युद्ध के लिए चल पड़े।

इधर दक्षिणश्रेणी के सुरकांतार नगर के स्वामी केसरीविक्रम जो कि 'केशवती' के भ्राता थे, उन्होंने सम्मेदशिखर पर विधिपूर्वक सिद्ध की गई सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी ऐसी दो विद्याएँ 'श्रीदत्तनारायण' को दे दीं। इस प्रकार इन दोनों ही बलवान राजाओं की सेना में भयंकर युद्ध होता रहा। बलीन्द्र विद्याधर के पुत्र शतबली में और बलभद्र नंदिमित्र में आपस में बहुत ही युद्ध हुआ। उसमें बलभद्र ने शतबली को यमराज के मुख में पहुँचा दिया। पुत्र की मृत्यु देख 'बलीन्द्र' राजा ने अत्यंत कुपित हो श्रीदत्त पर अपना चक्र चला दिया परन्तु वह चक्र श्रीदत्त की तीन प्रदक्षिणा देकर इनकी दाहिनी भुजा पर आ गया। श्रीदत्त ने उसी चक्र से उस बलीन्द्र विद्याधर का वध कर दिया।

युद्ध समाप्त होते ही दोनों भाइयों ने 'अभयघोषणा' की और चक्ररत्न को प्राप्त कर तीनों खण्डों को अपने आधीन कर लिया। दोनों भाइयों ने बलभद्र व नारायण पद को प्राप्त कर चिरकाल तक राज्य सुखों का अनुभव किया है। अंत

में बलभद्र नंदिमित्र ने संभूत जिनेन्द्र के पास अनेक राजाओं के साथ दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर पृथिवी पर श्रीविहार करके धर्मोपदेश दिया है, अनंतर सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया है। ये नंदिमित्र सिद्ध परमात्मा हम सभी की आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए सद्बुद्धि प्रदान करें।

## 5.9 बलभद्र श्रीरामचन्द्र एवं लक्ष्मण नारायण-

अयोध्या के राजा दशरथ के चार रानियाँ थीं, उनके नाम थे—अपराजिता, सुमित्रा, केकयी और सुप्रभा। अपराजिता (कौशल्या) ने पद्म (रामचन्द्र) नाम के पुत्र को जन्म दिया। सुमित्रा से लक्ष्मण, केकयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न ऐसे दशरथ के चार पुत्र हुए। राजा दशरथ ने इन चारों को विद्याध्ययन आदि में योग्य कुशल कर दिया।

### 5.9.1 लंका नगरी—

किसी समय अजितनाथ के समवसरण में राक्षसों के इन्द्र भीम और सुभीम ने प्रसन्न होकर पूर्व जन्म के स्नेहवश विद्याधर मेघवाहन को कहा कि हे वत्स! इस लवण समुद्र में अतिशय सुन्दर हजारों महाद्वीप हैं। उन द्वीपों में से एक 'राक्षस द्वीप' है, जो सात सौ योजन लम्बा तथा इतना ही चौड़ा है। इसके मध्य में नौ योजन ऊँचा, पचास योजन चौड़ा 'त्रिकूटाचल' नाम का पर्वत है। उस पर्वत के नीचे तीस योजन विस्तार वाली लंका नगरी है। हे विद्याधर! तुम अपने बंधुवर्ग के साथ उस नगरी में जाओ और सुख से रहो। ऐसा कहकर भीम इन्द्र ने उसे एक देवाधिष्ठित हार भी दिया था। इन्हीं की परम्परा में राजा रत्नश्रवा की रानी केकसी से देदीप्यमान प्रतापी पुत्र ने जन्म लिया। बहुत पहले राजा मेघवाहन को राक्षसों के इन्द्र भीम ने जो हार दिया था, हजार नागकुमार जिसकी रक्षा करते थे, जिसकी किरणें सब ओर फैल रही थीं और राक्षसों के भय से इतने दिनों तक जिसे किसी ने नहीं पहना था, उस बालक ने उसे मुट्ठी से खींच लिया। माता ने बड़े प्रेम से बालक को वह हार पहना दिया, तब उसके असली मुख के सिवाय उस हार में नौ मुख और दीखने लगे, जिससे सबने बालक का नाम 'दशानन' रख दिया। उसके बाद रानी ने भानुकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण को जन्म दिया था। राक्षसों द्वारा दी गई लंका नगरी में रहने से ये लोग राक्षसवंशी कहलाते थे।

### 5.9.2 सीता का विवाह—

मिथिला नगरी के राजा जनक की रानी विदेहा की सुपुत्री सीता थी। किसी समय राजा जनक ने पुत्री के ब्याह के लिए स्वयंवर मंडप बनवाया और यह घोषणा कर दी कि जो वज्रावर्त धनुष को चढ़ायेगा, वही सीता का पति होगा। श्री रामचन्द्र ने उस वज्रावर्त धनुष को चढ़ाया और लक्ष्मण ने समुद्रावर्त धनुष को चढ़ाया। रामचन्द्र के गले में सीता ने वरमाला डाली एवं चन्द्रवर्धन विद्याधर ने अपनी अठारह कन्याओं की शादी लक्ष्मण से कर दी। उस समय भरत को विरक्त देख केकयी की प्रेरणा से पुनः स्वयंवर विधि से राजा कनक ने अपनी लोकसुन्दरी पुत्री का ब्याह भरत के साथ कर दिया।

### 5.9.3 रामचन्द्र का वनवास—

किसी समय राजा दशरथ वैराग्य को प्राप्त हो गये और रामचन्द्र को राज्यभार देकर दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसी समय भरत भी विरक्तचित्त होकर दीक्षा के लिए उद्यत होने लगे। इसी बीच भरत की माता केकयी घबराकर तथा मन में कुछ सोचकर पति के पास पहुँची और समयोचित वार्तालाप के अनन्तर उसने पूर्व में ब्याह के समय सारथी का कुशल कार्य करने के उपलक्ष्य में राजा द्वारा प्रदत्त 'वर' जो कि अभी तक धरोहर रूप में था, उसे माँगा और पति की आज्ञा के अनुसार उसने कहा कि 'मेरे पुत्र के लिए राज्य प्रदान कीजिए'। यह वर देकर राजा दशरथ ने रामचन्द्र को बुलाकर रामचन्द्र से शोकपूर्ण शब्दों में यह सब हाल कह दिया। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र पिता को अनेक प्रकार से समझाकर शोकमुक्त करके भ्राता लक्ष्मण और सती सीता के साथ वन में चले गये और दशरथ ने भी मुनि दीक्षा ले ली।

उस समय भरत ने बड़ी जबरदस्ती से राज्यभार संभाला।

**5.9.4 रावण की मृत्यु—**

वनवास के प्रवास में किसी समय धोखे से रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। तब हनुमान और सुग्रीव आदि विद्याधरों की सहायता से रामचन्द्र ने रावण से युद्ध प्रारंभ किया। रावण प्रतिनारायण था। उसके चक्ररत्न से ही लक्ष्मण के द्वारा उसकी युद्धभूमि में मृत्यु हो गई और लक्ष्मण उसी चक्ररत्न से 'नारायण' पदधारी हो गये।

**5.9.5 सीता का निष्कासन—**

बलभद्र पदधारी रामचन्द्र और लक्ष्मण नारायण बहुत काल तक अयोध्या में सुखपूर्वक राज्य करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे कि एक समय अकारण ही सीता के अपवाद की चर्चा रामचन्द्र तक आई और राम ने उस निर्दोष गर्भवती सीता को धोखे से वन में भेज दिया। जब वन में विह्वलचित्त सीता विलाप कर रही थी, तब पुंडरीकपुर का स्वामी राजा वज्रजंघ वहाँ हाथी पकड़ने के लिए सेना सहित आया था। वह बड़े ही धर्मप्रेम से सीता को अपने साथ ले गया। वहीं सीता को युगल पुत्र उत्पन्न हुए जिनका अनंगलवण और मदनांकुश नाम रखा। बाललीला से माता को प्रसन्न करते हुए ये बालक किशोर अवस्था को प्राप्त हुए। उनके पुण्य से प्रेरित 'सिद्धार्थ' नामक क्षुल्लक उन्हें विद्याध्ययन कराने लगे। वे क्षुल्लक जी प्रतिदिन तीनों संध्याओं में मेरुपर्वत के चैत्यालयों की वंदना करके क्षण भर में वापस आ जाते थे। थोड़े ही समय में क्षुल्लक जी ने उन बालकों को सम्पूर्ण शस्त्र और शास्त्र विद्याएँ ग्रहण करा दीं।

**5.9.6 रामचन्द्र का पुत्रों के साथ युद्ध—**

किसी समय घूमते-घूमते नारद क्षुल्लक वेष में वहाँ आ गये और नमस्कार करते हुए दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिया कि 'राजा रामचन्द्र और लक्ष्मण जैसी विभूति शीघ्र ही आप दोनों को प्राप्त हो'। इसके उत्तर में उन्होंने पूछा—हे भगवन्! वे राम-लक्ष्मण कौन हैं ? नारद ने सीता के वन में छोड़ने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तब इन बालकों ने पूछा—यहाँ से अयोध्या कितनी दूर है ? नारद ने कहा—साठ योजन दूर है। दोनों कुमार अयोध्या पर चढ़ाई करने के लिए उद्यत हो गये। माता ने बहुत कुछ समझाया कि हे पुत्रों! तुम विनय से जाकर पिता और चाचा को नमस्कार करो, यही न्यायसंगत है किन्तु वे बोले कि "इस समय वे रामचन्द्र हमारे शत्रु के स्थान को प्राप्त हैं।" इत्यादि कहकर वे जैसे-तैसे माता की आज्ञा लेकर और सिद्ध भगवान को नमस्कार कर युद्ध करने के लिए चल पड़े। वहाँ संग्राम भूमि में महा भयंकर युद्ध होने लगा।

अनन्तर कोपवश लक्ष्मण ने चक्ररत्न का स्मरण करके मदनांकुश को मारने के लिए चला दिया किन्तु वह चक्ररत्न वापस लक्ष्मण के पास आ गया। इसी बीच में सिद्धार्थ क्षुल्लक ने रामचन्द्र और लक्ष्मण को सच्ची घटना सुना दी। तब उन लोगों ने शस्त्र डाल दिये और पिछले शोक एवं वर्तमान के हर्ष से विह्वल हो पुत्रों से मिले। पुत्रों ने भी विनय से सिर झुकाकर पिता को नमस्कार किया।

**5.9.7 सीता की अग्निपरीक्षा—**

अनंतर रामचन्द्र की आज्ञा से भामंडल, विभीषण, हनुमान, सुग्रीव आदि बड़े-बड़े राजा पुंडरीकपुर से सीता को ले आये। सभा में रामचन्द्र की मुखाकृति को देख सीता किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी वहाँ खड़ी रहीं। तब राम ने कहा कि सीते! सामने क्यों खड़ी है ? दूर हट, मैं तुझे देखने के लिए समर्थ नहीं हूँ। तब सीता ने कहा कि "आपके समान दूसरा कोई निष्ठुर नहीं है, दोहला के बहाने मुझ गर्भिणी को वन में भेजना क्या उचित था ? यदि मेरे प्रति आपको थोड़ी भी कृपा होती तो आर्यिकाओं की वसति में मुझे छोड़ देते। अस्तु! हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हों और जो भी आज्ञा दें मैं पालने को तैयार हूँ। तब राम ने सोचकर अग्निपरीक्षा का निर्णय दिया। तब सीता ने हर्षयुक्त हो 'एवमस्तु' ऐसा कहकर स्वीकार किया। उस समय हनुमान, नारद आदि घबरा गये।

महाविकराल अग्निकुंड धधकने लगा। सीता पंचपरमेष्ठी की स्तुति-पूजा करके मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करके बोलीं—मैंने स्वप्न में भी राम के सिवाय किसी अन्य मनुष्य को मन, वचन, काय से चाहा हो तो हे अग्नि देवते! तू मुझे भस्मसात् कर दे अन्यथा नहीं जलावे' इतना कहकर वह सीता उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। उसी समय उसके शील के प्रभाव से वह अग्नि शीतल जल हो गयी और कल-कल ध्वनि करती हुई बावड़ी लहराने लगी। वह जल बाहर चारों तरफ फैल गया और लोक समुदाय घबराने लगा किन्तु वह जल रामचन्द्र के चरण स्पर्श करके सौम्य दशा को प्राप्त हो गया, तब लोग सुखी हुए। वापी के मध्य कमलासन पर सीता विराजमान थीं, आकाश से देव पुष्पवृष्टि कर रहे थे। देवदुंदुभि बाजे बज रहे थे। लवण और अंकुश आजू-बाजू खड़े थे।

ऐसी सीता को देखकर रामचन्द्र उसके पास गये और बोले—हे देवि! प्रसन्न होवो और मेरे अपराध क्षमा करो। इत्यादि वचनों को सुनकर सीता ने कहा—हे राजन्! मैं किसी पर कुपित नहीं हूँ, आप विवाद को छोड़ो। इसमें आपका या अन्य किसी का दोष नहीं है, मेरे पूर्वकृत पाप कर्मों का ही यह विपाक था। अब मैं स्त्रीपर्याय को प्राप्त न करूँ, ऐसा कार्य करना चाहती हूँ, ऐसा कहते हुए सीता ने निःस्पृह को अपने केश उखाड़कर राम को दे दिये। यह देख रामचंद्र मूर्च्छित हो गये। इधर जब तक चन्दन आदि द्वारा राम को सचेत किया गया तब तक सीता पृथ्वीमती आर्यिका से दीक्षित हो गई। जब रामचन्द्र सचेत हुए तब सीता को न देखकर शोक और क्रोध में बहुत ही दुःखी हुए और सीता को वापस लाने के लिए देवों से व्याप्त उद्यान में पहुँचे। वहाँ मुनियों में श्रेष्ठ सर्वभूषण केवली को देखा और शांत होकर अंजलि जोड़कर नमस्कार करके मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। वहीं पर आर्यिकाओं के कोठे में वस्त्रमात्र परिग्रह को धारण करने वाली आर्यिका सीता बैठी थीं। केवली भगवान का विशेष उपदेश सुनकर राम ने संतोष प्राप्त किया।

**5.9.8 रामचन्द्र की दीक्षा और निर्वाणगमन—**

अनन्तर अनंगलवण के पुत्र अनन्तलवण को राज्य देकर रामचन्द्र ने आकाशगामी सुव्रत मुनि के समीप निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। उस समय शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव आदि कुछ अधिक सोलह हजार राजा साधु हुए और सत्ताईस हजार प्रमुख-प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक साध्वी के पास आर्यिका हुईं। रामचन्द्र उत्तम चर्या से युक्त गुरु की आज्ञा लेकर एकाकी विहार करने लगे।

पाँच दिन का उपवास कर धीर-वीर योगी रामचन्द्र पारणा के लिए नन्दस्थली नगरी में आये। उनकी दीप्ति और सुन्दरता को देखकर नगर में बड़ा भारी कोलाहल हो गया। पड़गाहन के समय—हे स्वामिन्! यहाँ आइये! यहाँ ठहरिये! इत्यादि अनेकों शब्दों से आकाश व्याप्त हो गया, हाथियों ने भी खम्भे तोड़ डाले, घोड़े हिनहिनाने लगे और बंधन तोड़ डाले, उनके रक्षक दौड़ पड़े। प्रतिनन्दी ने भी क्षुभित हो वीरों को आज्ञा दी कि जाओ! इन मुनिराज को मेरे पास ले आओ। इस प्रकार भटों के कहने से महामुनि रामचन्द्र अन्तराय जानकर वापस चले गये, तब वहाँ और अधिक क्षोभ मच गया।

अनन्तर रामचन्द्र ने पाँच दिन का दूसरा उपवास ग्रहण कर यह प्रतिज्ञा ले ली कि मुझे वन में आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। कारणवश गए हुए इन्हीं राजा प्रतिनन्दी ने रानी सहित वन में रामचन्द्र को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। रामचन्द्र को अक्षीणमहानस ऋद्धि थी अतः उस बर्तन का अन्न उस दिन अक्षीण हो गया। घोरातिघोर तपश्चरण करते हुए रामचन्द्र को माघ शुक्ला द्वादशी के दिन केवलज्ञान प्रगट हो गया। तब देवों ने आकर गंधकुटी की रचना की। रामचन्द्र की आयु सत्तर हजार वर्ष की और शरीर की ऊँचाई सोलह धनुष प्रमाण थी। ये रामचन्द्र सर्वकर्म रहित होकर तुंगीगिरि से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आज भी राम, लक्ष्मण और सीता का आदर्श जीवन सर्वत्र गाया जाता है।

### 5.10 बलदेव बलभद्र एवं श्रीकृष्ण नारायण-

भगवान नमिनाथ के बाद शौरीपुर के राजा अंधकवृष्टि की सुभद्रा महारानी के दश पुत्र हुए, जिनके नाम— (1) समुद्रविजय (2) अक्षोभ्य (3) स्तिमितसागर (4) हिमवान (5) विजय (6) अचल (7) धारण (8) पूरण (9) अभिचन्द्र और 10. वसुदेव तथा सुभद्रा महारानी के दो पुत्रियाँ थीं, जिनके कुंती और माद्री नाम थे।

राजा अंधकवृष्टि ने समुद्रविजय को राज्य प्रदान कर सुप्रतिष्ठ केवली के पादमूल में दीक्षा ले ली। राजा समुद्रविजय की महारानी शिवादेवी थीं। वसुदेव कंस आदि को धनुर्विद्या की शिक्षा दे रहे थे।

राजगृही के राजा जरासंध बहुत ही प्रतापी थे। इनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था, जिससे ये तीन खण्ड को जीतकर शासन कर रहे थे।

किसी समय जरासंध राजा ने घोषणा की कि—'जो सिंहपुर के राजा सिंहरथ को जीवित पकड़ कर मेरे आधीन करेगा, उसे मैं अपनी पुत्री जीवद्यशा को और इच्छित देश के राज्य को देऊँगा।' वसुदेव ने जीवित सिंहरथ राजा को पकड़ लिया एवं कंस से उसे बंधवा दिया और "कंस ने यह कार्य किया है ऐसा घोषित कर दिया"। राजा जरासंध ने कंस का कुल-गोत्र जानना चाहा, तब कौशाम्बी की मंजोदरी माता को बुलाया गया, उसने एक मंजूषा लाकर दे दी और कहा— राजन्! मैंने यमुना के प्रवाह में बहती हुई इस मंजूषा में इसे पाया है। तब उस मंजूषा में एक मुद्रिका मिली, उसमें लिखा था—

'यह राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती का पुत्र है, यह गर्भ में ही उग्र था अतः इसे छोड़ा गया है।'

तब जरासंध अर्धचक्री ने अपनी पुत्री उसे ब्याह दी और बहुत सी संपदा से सहित कर दिया तथा कंस की इच्छा के अनुसार उसे मथुरा का राज्य दे दिया। कंस मथुरा पहुँचकर तथा "पिता ने मुझे मंजूषा में रखकर नदी में छोड़ा है", ऐसा वैर बाँधकर मथुरा के उग्रसेन राजा से युद्ध कर उन्हें बंदी बनाकर मथुरा नगर के मुख्यद्वार के ऊपर उन्हें कैद कर दिया।

पुनः वसुदेव के उपकार का आभार होने से उन्हें आग्रह से मथुरा बुलाकर अपनी बहन देवकी का उनके साथ विवाह कर दिया। इससे पूर्व वसुदेव की रोहिणी रानी से बलभद्र हुए थे।

एक दिन कंस के बड़े भाई अतिमुक्तक मुनिराज राजमहल में आहार के लिए आये, तब जीवद्यशा ने नमस्कार करके देवकी के विषय में कुछ शब्द कहे। तभी मुनिराज मौन छोड़कर व भोजन का अंतराय मानकर बोले—

अरे मूढ़! इस देवकी के गर्भ से जो पुत्र होगा, वह तेरे पति और पिता दोनों को मारने वाला होगा। इतना सुनते ही घबराई हुई जीवद्यशा पति के पास गई व सारे समाचार सुना दिए, तभी कंस ने कुछ विचार कर वसुदेव के पास जाकर निवेदन किया—

हे देव! आपने जो मुझे वर दिया था वह धरोहर में है, मैं आज उसे माँगने आया हूँ। वसुदेव की स्वीकृति पाकर वह बोला—'प्रसूति के समय देवकी का निवास मेरे महल में ही हो, भाई के घर में बहन को भला क्या कष्ट होगा ? ऐसा सोचकर सरल बुद्धि से वसुदेव ने वर दे दिया पुनः जब वसुदेव को मुनिराज के वचनों का पता चला तो वे बहुत ही दुःखी हुए और आम्रवन में विराजमान चारणऋद्धिधारी श्री अतिमुक्तक मुनि के समीप पहुँचे, साथ में देवकी रानी भी थीं। दोनों ने गुरु को नमस्कार किया, मुनि ने आशीर्वाद दिया।

तब वसुदेव ने प्रश्न किया—भगवन्! मेरे पुत्र द्वारा कंस का घात होगा आदि, सो मैं आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ। तब मुनिराज ने अवधिज्ञान से जानकर कहना प्रारंभ किया। जिसका संक्षेप सार यह है कि तुम्हारे छह युगलिया पुत्र चरमशरीरी होंगे। भगवान नेमिनाथ के समवसरण में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करेंगे तथा सातवाँ पुत्र नारायण का अवतार होगा। उसी के द्वारा कंस का एवं जरासंध प्रतिनारायण का वध होगा। सुनकर शंकारहित होकर वसुदेव अपने स्थान पर आ गए।

पुनः राजा कंस के आग्रह से वसुदेव अपनी रानी देवकी के साथ मथुरा आकर कंस के महल में रहने लगे। क्रम से

देवकी गर्भवती हुई, नव माह के बाद देवकी के युगल पुत्र उत्पन्न हुए, उसी क्षण उन पुत्रों के पुण्य से इंद्र की आज्ञा से सुनैगम नाम के देव ने दोनों पुत्रों को उठाकर सुभद्रिल नगर के सेठ सुदृष्टि की अलका सेठानी के पास पहुँचा दिया। उसी क्षण अलका सेठानी के भी युगलिया पुत्र हुए थे परन्तु भाग्यवश वे उत्पन्न होते ही मर गये थे। नैगम देव ने उन मृतक पुत्रों को लाकर देवकी के प्रसूतिगृह में रख दिया और अपने स्थान स्वर्गलोक को चला गया।

कंस को जब पता चला कि देवकी को पुत्र हुए हैं, वह बहन के प्रसूतिगृह में प्रवेश कर दोनों मृतक पुत्रों को देखता है और क्रूर परिणामी होकर उनके पैर पकड़कर शिलातल पर पछाड़ देता है। इसी तरह समय-समय पर देवकी के दो बार और दो-दो युगलिया पुत्र हुए हैं, उन्हें भी सुनैगमदेव ने अलका सेठानी के पास पहुँचाया है और उनके मृतक युगलिया पुत्रों को लाकर प्रसूतिगृह में रखा है तथा क्रूर कंस उन मृतक युगलों को शिलातल पर पछाड़-पछाड़ कर मारता गया है।

इन देवकी के पुत्रों के पुण्य के प्रभाव से ही उनकी देव द्वारा रक्षा की गई है अत: ये तीनों युगलिया—छहों भाई अलका सेठानी के पास सुखपूर्वक पाले जा रहे थे, उनके नाम—(1) नृपदत्त (2) देवपाल (3) अनीकदत्त (4) अनीकपाल (5) शत्रुघ्न और (6) जितशत्रु थे।

अनंतर एक दिन श्वेत भवन में शयन करती हुई देवकी ने पिछली रात्रि में अभ्युदय को सूचित करने वाले ऐसे सात स्वप्न देखे—(1) उगता हुआ सूर्य (2) पूर्ण चन्द्रमा (3) आकाश से उतरता हुआ विमान (4) बड़ी-बड़ी ज्वालाओं से युक्त अग्नि (5) हाथियों द्वारा अभिषेक को प्राप्त हो रही लक्ष्मी (6) ऊँचे आकाश में रत्नों से युक्त देवों की ध्वजा और (7) मुख में प्रवेश करता हुआ सिंह। इन स्वप्नों को देखकर जागकर विस्मय को प्राप्त हुई देवकी प्रात:कालीन स्नान आदि से निवृत्त होकर मंगलीक वस्त्र अलंकार धारणकर पति के निकट पहुँचकर अपने स्वप्न निवेदित कर उनका फल पूछने लगी।

वसुदेव ने कहा—हे प्रिये! तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा जो समस्त पृथ्वी का स्वामी होगा, महाप्रतापी और निर्भय होगा, अनंतर वह गर्भवती हुई। देवकी के गर्भ वृद्धि के साथ-साथ पृथिवी पर समस्त मनुष्यों का सौमनस्य बढ़ता जाता था किन्तु कंस का क्षोभ निरंतर बढ़ता जा रहा था।

वह अलक्ष्यरूप से गर्भ के महीनों को गिनता रहता था तथा बहन के प्रसव की प्रतीक्षा करता हुआ उसकी पूर्ण देख-रेख रखता था। सभी बालक नव माह में उत्पन्न होते हैं परन्तु ये कृष्ण भाद्रमास में सातवें मास में ही उत्पन्न हो गए। उस समय बालक के पुण्यप्रभाव से स्नेही बंधुओं के यहाँ अच्छे-अच्छे निमित्त प्रगट हुए एवं शत्रुओं के घरों में भय उत्पादक निमित्त प्रकट हुए। उन दिनों सात दिनों से लगातार घनघोर वर्षा हो रही थी, फिर भी उसकी रक्षा के लिए बलदेव ने बालक कृष्ण को उठा लिया और वसुदेव ने उन पर छत्ता तान दिया एवं रात्रि के समय ही दोनों शीघ्र ही घर से बाहर निकल पड़े। उस समय नगरवासी सो रहे थे, कृष्ण के सुभट भी गहरी निद्रा में निमग्न थे। गोपुरद्वार पर आए तो किवाड़ बंद थे परन्तु बालक के चरणस्पर्श करते ही उनमें निकलने योग्य संधि हो गई, जिससे वे बाहर निकल गए।

उस समय पुत्र के पुण्य से नगरदेवता विक्रिया से एक बैल का रूप बनाकर उनके आगे हो गया, उस बैल के दोनों सींगों पर देदीप्यमान मणियों के दीपक रखे हुए थे, जिनसे रात्रि का घोर अंधकार दूर होता जा रहा था। जैसे ही यह मुख्य गोपुरद्वार से बाहर निकले, पानी की एक बूंद बालक की नाक में चली जाने से जोर से उसे छींक आ गई। तभी ऊपर से उग्रसेन ने कहा—अरे! कौन है ? तभी बलभद्र ने कहा—आप इस रहस्य की रक्षा करें, यह बालक ही आगे आपको बंधन से मुक्त करेगा। तब उग्रसेन ने खूब आशीर्वाद दिया—'तू चिरंजीवी हो।' यह हमारे भाई की पुत्री का पुत्र शत्रु से अज्ञात रहकर वृद्धि को प्राप्त हो।

ये पिता-पुत्र बालक को लेकर आगे बढ़ते जा रहे थे, यमुना के किनारे पहुँचे कि कृष्ण के पुण्य से यमुना नदी के महाप्रवाह दो भाग में हो गए, बीच में मार्ग बन गया। वे नदी को पार कर वृंदावन की ओर गए, वहाँ गाँव के बाहर सिरका में अपनी यशोदा पत्नी के साथ सुनंद गोप रहता था, वह वंश परम्परा से चला आया इनका अतिविश्वासपात्र था।

बलदेव और वसुदेव ने रात्रि में उसे देखकर पुत्र को सौंपकर कहा—देखो भाई! यह पुत्र महान पुण्यशाली है, इसे अपना पुत्र समझकर बढ़ाओ और यह रहस्य किसी को भी ज्ञात न हो। अनंतर उसी समय जन्मी यशोदा की पुत्री को लेकर ये दोनों शीघ्र ही वापस आकर देवकी रानी के पास पुत्री को रखकर गुप्तरूप से अपने स्थान पर चले गए।

प्रातः बहन की प्रसूति का समाचार पाकर निर्दयी कंस प्रसूतिगृह में घुसकर कन्या को देखकर कुछ शांत हुआ किन्तु सोचने लगा, क्या पता इसका पति मुझे मारने वाला हो ? इस शंका से आकुल हो उसने उस कन्या की नाक मसल दी पुनः उसने समझ लिया कि अब इसके संतान नहीं होगी अतः कुछ शांतचित्त हो रहने लगा।

उधर बालक का जातसंस्कार कर उसका नाम कृष्ण रखा गया। वह बालक ब्रजवासियों के तथा माता-पिता, यशोदा व नंदगोप के अभूतपूर्व आनंद को बढ़ाता हुआ वृद्धि को प्राप्त हो रहा था।

अनंतर किसी एक दिन कंस के हितैषी वरुण नाम के निमित्तज्ञानी ने कहा कि राजन्! यहाँ कहीं या वन में आपका शत्रु बढ़ रहा है, उसकी खोज करना चाहिए। तब कंस ने तीन दिन का उपवास किया, उस समय पूर्व भव में इसके साधु समय के प्रभाव से जो विद्यादेवियाँ आई थीं और इसने कहा था 'अभी आवश्यकता नहीं है, समय पर आपको याद करूँगा, तब सहायता करना' ऐसी वे देवियाँ आकर पूछने लगीं—

कहिए! राजन्! क्या कार्य है ?

उसने कहा—मेरा शत्रु कहीं बढ़ रहा है, तुम सभी उसे मार डालो। तब उन देवियों में से कोई देवी पूतना बनकर विष भरे स्तनपान कराने लगी, कोई भयंकर पक्षी बनकर चोंच मारने लगी किन्तु बालक के पुण्य से वे सभी निष्फल रहीं। वह बालक अद्भुत-अपूर्व शक्ति का धारक सभी मायामयी प्रकोपों को क्षण भर में दूर भगा देता था।

एक समय बलदेव माता देवकी को लेकर बालक के पास आए। माता ने यशोदा को सराहते हुए बालक पर हाथ फेरा कि उसके स्तन से दूध झरने लगा, यह गोप्य किसी को मालूम न हो अतः बलदेव ने दूध के घड़ों से माता को नहला दिया पुनः बालक को लाड़-प्यार का अनेक आशीर्वाद देकर माता वापस आ गईं।

यह बालक बढ़ते हुए किशोरावस्था में आ गया था और अपनी अद्भुत सुंदरता से सभी के हर्ष व प्रेम को वृद्धिंगत करता रहता था। किसी समय एक देवी ने भयंकर वर्षा से कृष्ण को मारना चाहा और सारे गोकुल व गायों को संकट में डाल दिया, तभी श्रीकृष्ण ने अपनी दोनों भुजाओं से गोवर्द्धन पर्वत को बहुत ऊँचा उठाकर उसके नीचे सबकी रक्षा की।

इधर इन लोकोत्तर क्रियाकलापों से प्रभावित बलदेव वहाँ आ-आकर श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण विद्या व कलाओं में निष्णात कर रहे थे। ये कृष्ण नीलवर्ण के थे, पीत वस्त्र पहनते थे, माथे पर मयूरपंख की कलगी लगाए रहते थे। वे गोप बालकों के साथ तथा गोप बालिकाओं के साथ भी क्रीड़ा करते रहते थे फिर भी वे सदा निर्विकार ही रहते थे। जैसे-अंगूठी में जड़ा हुआ श्रेष्ठ मणि स्त्री के हाथ की अंगुली का स्पर्श करता हुआ भी निर्विकार रहता है उसी प्रकार वे रासलीला के समय गोप बालिकाओं को नचाते हुए भी निर्विकार रहते थे।

किसी समय मथुरा में जैनमंदिर के समीप पूर्व दिशा के दिक्पाल के मंदिर में श्रीकृष्ण के पुण्य के प्रभाव से नागशय्या, धनुष व शंख ये तीन रत्न उत्पन्न हुए। देवता उनकी रक्षा करते थे। कंस ने उन्हें देखकर डरते हुए वरुण नाम के ज्योतिषी से पूछा—

इनका फल क्या है ? ज्योतिषी ने कहा—राजन्! जो विधिवत् इन तीनों रत्नों को सिद्ध करेगा, वही चक्ररत्न से

सुरक्षित राज्य करेगा। कंस ने प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। तब उसने नगर में घोषणा करा दी—'जो बलवान नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से शंख बजाएगा और दूसरे हाथ से धनुष को अनायास ही चढ़ा देगा उसे राजा अपनी पुत्री प्रदान करेगा।'

घोषणा सुनकर अनेक लोगों के साथ कृष्ण वहाँ आए और सहज में नागशय्या पर चढ़कर शंख फूँककर धनुष को चढ़ा दिया और बलदेव आदि की प्रेरणा से शीघ्र ही 'ब्रज' वापस चले गए। कंस को निर्णय नहीं हो सका कि किसने यह कार्य किया है ? कंस ने अनेक उपायों से अपने उस शत्रु को खोजने का प्रयास किया किन्तु सफल नहीं हो सका तब उसने नंदगोप को सूचना भेजी कि तुम सभी लोग मथुरा में आवो, मल्लयुद्ध में भाग लेवो।

इस भयंकर मल्लयुद्ध में बलदेव के संकेतानुसार श्रीकृष्ण ने बहुत देर तक मल्लयुद्ध में कौशल दिखाते हुए पहले तो 'चाणूर' नाम के मल्ल को मार गिराया पुनः कंस के कुपित होकर रंगभूमि में प्रवेश करने पर श्रीकृष्ण ने उसके पैर पकड़ पक्षी की तरह उसे आकाश में घुमाया और पुनः जमीन पर पटककर यमराज के पास भेज दिया। उसी समय आकाश से फूल बरसने लगे, देवों ने नगाड़े बजाए, तभी वसुदेव की सेना में क्षोभ होने लगा। वीरशिरोमणि बलदेव ने विजयी श्रीकृष्ण को आगे कर विरुद्ध राजाओं पर आक्रमण कर दिया और सभी को पराजित कर दिया।

पुनः उग्रसेन राजा को बंधन से मुक्त कर नंदगोप आदि को सम्मानित किया। उस समय सभी नगरवासी व देशवासी यह जान गए कि ये श्री वसुदेव के पुत्र हैं, कंस के भय से ब्रज में नंदगोप के यहाँ बढ़ रहे थे।

इधर श्रीकृष्ण बलदेव के साथ अपने पिता वसुदेव व माता देवकी से मिले, नमस्कार कर उन्हें संतुष्ट किया। उसी समय श्रीसमुद्रविजय आदि भी श्रीवसुदेव की प्रेरणा से वहाँ आए हुए थे। सभी परिवार से मिलकर प्रसन्न हुए पुनः मथुरा का राज्यभार श्रीउग्रसेन राजा को सौंपकर अपने कुटुम्बीजनों के साथ शौरीपुर चले गए।

**5.10.1 भगवान नेमिनाथ—**

शौरीपुर में महाराजा समुद्रविजय राज्य संचालन कर रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने शौरीपुर में महाराजा समुद्रविजय के महल में महारानी शिवादेवी के आंगन में तीर्थंकर के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से रत्नों की वर्षा करना प्रारंभ कर दिया, वह रत्नवृष्टि दिन में तीन बार साढ़े तीन करोड़ प्रमाण थी। दिक्कुमारी देवियाँ माता शिवादेवी की सेवा कर रही थीं।

माता ने एक दिन रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे, प्रातः पतिदेव के मुख से उनका फल सुनकर प्रसन्न हुईं कि आपके गर्भ में तीर्थंकर बालक आ गया है। इन्द्रों ने आकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया व माता-पिता की पूजा-भक्ति आदि करके अपने-अपने स्थान चले गए, यह तिथि कार्तिक शुक्ला षष्ठी प्रसिद्ध हुई है।

तदनंतर माता शिवादेवी ने श्रावण शुक्ला षष्ठी को जिनबालक को जन्म दिया। इन्द्रों के आसन कंपते ही असंख्य देवपरिवार के साथ इन्द्र ने आकर शची द्वारा प्रसूतिगृह से बालक को प्राप्त कर सुमेरुपर्वत पर ले जाकर प्रभु तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक महोत्सव सम्पन्न कर शौरीपुर आकर माता-पिता को तीर्थंकर बालक को सौंप दिया पुनः शौरीपुर में भी सुमेरुपर्वत के सदृश जन्माभिषेक महोत्सव करके दिखाया। बालक का नाम इन्द्र ने 'नेमिनाथ' रखा। क्रमशः तीर्थंकर बालक अपनी बालक्रीड़ा से वृद्धिंगत हो रहे थे। हरिवंशपुराण में भगवान के जन्माभिषेक का बहुत ही विस्तार से वर्णन है।

**5.10.2 द्वारावती रचना—**

किसी समय राजगृह के स्वामी जरासंध इन हरिवंशी राजाओं को नष्ट करने के उत्सुक थे। चूँकि उनकी पुत्री जीवद्यशा ने अपने पति कंस के मरने के समाचार सुनाए थे, तभी से वे कुपित थे ही, पुनः अनेक कारणों से कुपित हुए

जरासंध ने विशाल सेना लेकर शौरीपुर की ओर प्रस्थान किया।

उस समय वसुदेव, बलदेव आदि ने मिलकर मंत्रणा की कि यद्यपि तीर्थंकर नेमिनाथ व जरासंध प्रतिनारायण को मारने वाले श्रीकृष्ण नारायण हैं, फिर भी अभी कुछ समय की प्रतीक्षा करना है अतः ये यदुकुल अर्थात् हरिवंशी राजागण मथुरा व शौरीपुर छोड़कर अपरिमित धन व अठारह करोड़ यादवों को—हरिवंशी राजा, महाराजाओं को साथ लेकर उत्तम तिथि आदि उत्तम मुहूर्त में शौरीपुर से बाहर निकले और धीरे-धीरे पड़ावों से विंध्याचल के निकट पहुँचे। मार्ग में पीछे-पीछे जरासंध आ रहा है, सुनकर ये लोग युद्ध की प्रतीक्षा करने लगे। इधर समय और भाग्य के नियोग से अर्ध भरतक्षेत्र में निवास करने वाली देवियों ने अपनी विक्रिया से बहुत सी चिताएँ रच दीं, उन्हें अग्नि की ज्वालाओं से व्याप्त कर दिया। तब जरासंध का मार्ग रुक गया, उसने एक वृद्धा से पूछा—यह किसका विशाल कटक जल रहा है, उस वृद्धा ने कहा—हे राजन्! राजगृह के प्रतापी राजा जरासंध हरिवंशी, कुरुवंशी आदि राजाओं के पीछे लगा हुआ है, ऐसा जानकर ये हरिवंशी आदि राजागण मंत्रियों के साथ इस अग्नि में प्रविष्ट हो गये हैं, इत्यादि।

जरासंध ऐसा सुनकर व इन हरिवंशी राजाओं का नाश मानकर वापस चला गया।

इधर ये समुद्रविजय, वसुदेव आदि राजागण पश्चिम समुद्र के तट पर पहुँच गए और समुद्र के किनारे जाकर समुद्र की शोभा देखने लगे। तब श्रीकृष्ण बलदेव के साथ पंचपरमेष्ठियों की भक्ति-स्तुति करके तीन उपवास के साथ आसन पर स्थित थे।

उसी समय श्रीकृष्ण के पुण्य व श्रीनेमिनाथ तीर्थंकर की सातिशय भक्ति से कुबेर ने वहाँ शीघ्र ही द्वारिकापुरी नाम से समुद्र के मध्य में सुंदर नगरी की रचना कर दी। ये बारह योजन लंबी, नव योजन चौड़ी, परकोटे से युक्त व समुद्र की परिखा से घिरी हुई थी। इसमें अठारह खंडों से युक्त नारायण का महल था। स्वर्ण व रत्नों के महलों से शोभायमान ये नगरी स्वर्गपुरी के समान दिख रही थी। तभी कुबेर ने श्रीकृष्ण के लिए मुकुट, हार, कौस्तुभ मणि, दो पीत वस्त्र, नाना आभूषण, गदा, शक्ति, नंदक नाम का खड्ग, शार्ङ्ग धनुष, दो तरकश, वज्रमय बाण, दिव्यरथ, चंवर, छत्र आदि प्रदान किए तथा बलदेव के लिए दो नील वस्त्र, माला, मुकुट, गदा, हल, मूसल, धनुष बाणों से युक्त तरकश, दिव्यरथ, छत्र आदि दिए एवं भगवान नेमिनाथ के लिए उनके योग्य वस्त्र, अलंकार आदि सामग्री प्रदान कर इन सभी से इस द्वारिका नगरी में प्रवेश के लिए प्रार्थना की और स्वयं अपने स्थान चला गया। तब सभी राजाओं ने मिलकर तीर्थंकर नेमिनाथ, बलदेव व श्रीकृष्ण के साथ बहुत ही वैभव से उस नगरी में प्रवेश किया। ये सब यथास्थान रहकर सुखपूर्वक वहाँ निवास कर रहे थे। कुबेर की आज्ञा से यक्ष देवों ने वहाँ साढ़े तीन दिन तक अटूट धन, धान्यादि की वर्षा की थी।

इस शौरीपुर नगरी में कुबेर ने सर्वप्रथम एक हजार शिखरों से सुशोभित देदीप्यमान बहुत बड़ा एक जिनमंदिर बनाया था।

**5.10.3 महासंग्राम—**

किसी समय राजगृही के राजा जरासंध पुनः किसी कारण से कुपित हो युद्ध के लिए प्रस्थान कर देते हैं। कौरव आदि राजागण उनके साथ हो जाते हैं और पाण्डव आदि राजागण श्रीकृष्ण के साथ हो जाते हैं। कुरुक्षेत्र में महासंग्राम शुरू हो जाता है, लाखों-लाखों लोग मारे जाते हैं।

उत्तरपुराण में कहा है कि 'मनुष्यों का जो आगम में अकालमरण बतलाया गया है, उसकी अधिक से अधिक संख्या यदि हुई थी, तो उसी युद्ध में हुई थी।

अंत में क्रोध से भरे अर्धचक्री जरासंध ने अपना चक्ररत्न श्रीकृष्ण के ऊपर चला दिया, वह भी श्रीकृष्ण की तीन प्रदक्षिणा देकर उनकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया तब उसी चक्र से श्रीकृष्ण ने जरासंध का शिर छेद डाला। उसी समय

आकाश से पुष्प बरसने लगे और देवों द्वारा वाद्य बजाए जाने लगे।

उस समय श्रीकृष्ण नवमें नारायण-तीनखण्ड के स्वामी प्रसिद्ध हो गए और बलदेव नवमें बलभद्र हो गए। हजारों राजाओं, विद्याधरों से सेवित पुनः ये सभी द्वारावती में रहते हुए तीन खण्डों की प्रजा पर एकछत्र सार्वभौम शासन करने लगे।

श्रीकृष्ण की आयु एक हजार वर्ष की थी, दश धनुष (10×4=40 हाथ) ऊँचा शरीर था, नील वर्ण था। चक्ररत्न, शक्ति, गदा, शंख, धनुष, दण्ड और नंदक नाम का खड्ग ये सात रत्न थे। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि 8 पट्टरानियाँ व सोलह हजार रानियाँ थीं। बलदेव के रत्नमाला, गदा, हल, मूसल ये चार महारत्न थे एवं आठ हजार रानियाँ थीं। दोनों भाई परस्पर अखंड प्रेम धारण कर समस्त वसुधा पर शासन कर रहे थे।

**5.10.4 भगवान नेमिनाथ—**

किसी समय भगवान नेमिनाथ विवाह हेतु करोड़ों हरिवंशियों के साथ जूनागढ़ पहुँचे थे। वहाँ पशुओं के बंधन को देखकर विरक्त हुए और लौकांतिक देवों द्वारा स्तुत्य दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगे। प्रभु ने गिरनार के सहस्राम्रवन में श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन बांस वृक्ष के नीचे दीक्षा ली थी। इन्होंने वहीं आश्विन शुक्ला प्रतिपदा के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया है।

भगवान के समवसरण में समय-समय पर श्रीकृष्ण, बलदेव आदि जा-जाकर प्रभु के धर्मोपदेश को श्रवण करते रहते थे। किसी समय देवकी ने समवसरण में भगवान को नमस्कार कर हाथ जोड़कर प्रश्न किया— भगवन्! आज मेरे महल में दो मुनियों का युगल तीन बार आया और फिर-फिर से उन्होंने तीन बार आहार लिया, प्रभो! जब मुनियों की आहार बेला एक है, एक बार ही वे भोजन लेते हैं, तो तीन बार कैसे आये ? अथवा वे तीन मुनियों का युगल अत्यंत रूप की सदृशता से मुझे भ्रम हो रहा हो। प्रभो! आश्चर्य इस बात का है कि उन सभी में मेरा पुत्रों के समान स्नेह उमड़ रहा था।

देवकी रानी के इस प्रश्न के बाद प्रभु की दिव्यध्वनि खिरी और गणधरदेव श्रीवरदत्त ने कहा—

महारानी! वे छहों ही मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं। श्रीकृष्ण के पहले तीन बार युगलिया पुत्र जन्मे थे, कंस के भय से देव ने इन्हें भद्रिलपुर के सुदृष्टि सेठ की सेठानी अलका के यहाँ पहुँचाया था। वे छहों ही भाई मेरे समवसरण में दीक्षित होकर मुनि हुए हैं। वे इसी जन्म से मोक्ष को प्राप्त करेंगे। यही कारण है कि तुम्हारा उनमें पुत्रत्व प्रेम उमड़ रहा था। अनंतर देवकी रानी ने वहीं समवसरण में विराजमान उन पुत्ररूप मुनियों को नमस्कार किया तथा श्रीकृष्ण आदि ने भी उन्हें नमस्कार कर उनकी स्तुति की।

भगवान के समवसरण में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न आदि ने, अनेक रानियों ने व अनेक राजा, महाराजाओं ने दीक्षा ली है। भगवान नेमिनाथ के गर्भ व जन्मकल्याणक शौरीपुर में हुए हैं तथा दीक्षा, केवलज्ञान व मोक्ष ये तीन कल्याणक गिरनार में हुए हैं।

श्री बलभद्र—बलदेव भी आगे तपश्चरण करके महाशुक्र स्वर्ग में देव हुए हैं। ये भी आगे भविष्य में तीर्थंकर होंगे तथा श्रीकृष्ण भी आगे इसी भरतक्षेत्र में श्री निर्मलनाथ नाम के सोलहवें तीर्थंकर होवेंगे। इन भावी तीर्थंकरों को भी मेरा नमस्कार होवे।

**नाभेयादि-जिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः**
**श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश।**
**ये विष्णु-प्रतिविष्णु-लाङ्गलधराः सप्तोत्तरा विंशति-**
**स्त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते ( मे ) मङ्गलम्।।**

## 5.11 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-बलभद्र के.....रत्न तथा नारायण के महारत्न.....होते हैं।

(क) 3, 7 ☐ (ख) 8, 9 ☐ (ग) 14, 6 ☐

**प्रश्न 2**-विमलनाथ भगवान के समय कौन से बलभद्र हुए हैं ?

(क) सुप्रभ ☐ (ख) सुधर्म ☐ (ग) अचल ☐

**प्रश्न 3**-प्रतिनारायण की मृत्यु किनके द्वारा होती है ?

(क) बलभद्र ☐ (ख) नारायण ☐ (ग) कोई नहीं ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-बलभद्र, नारायण एवं प्रतिनारायण कितने होते हैं, नाम लिखिए ?

**प्रश्न 2**-'इन्हें मत मारो' इस वाक्य के माध्यम से इस कथा को पूर्ण कीजिए ? यह कथा किस नारायण से संबंधित है ?

**प्रश्न 3**-सीता की अग्निपरीक्षा कैसे और क्यों हुई, स्पष्ट कीजिए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-बलदेव एवं श्रीकृष्ण किनके पुत्र थे? इनकी कथा का सम्पूर्ण विवरण बताइए ?

## इकाई–3 प्रमुख जैन तीर्थ एवं पर्व

**इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-**

**(1) तीर्थ का स्वरूप एवं महत्व**

**(2) तीर्थंकर पंचकल्याणक तीर्थ**

**(3) कतिपय ऐतिहासिक प्रमुख तीर्थ**

**(4) प्रमुख जैन पर्व, पर्व का अर्थ एवं महत्व**

## पाठ-1–तीर्थ का स्वरूप एवं महत्व

### दिगम्बर जैन तीर्थ एवं मन्दिर-एक संक्षिप्त इतिहास

1.1 'तीर्थ' शब्द की व्याख्या करते हुए जैनाचार्यों ने लिखा है-

"तीर्यते संसार सागरो येनासौ तीर्थ:" अर्थात् जिसके द्वारा संसाररूपी महासमुद्र को तिरा जावे-पार किया जावे उसे तीर्थ कहा जाता है। उस तीर्थ के प्रथमत: दो भेद किये हैं—भावतीर्थ और द्रव्यतीर्थ। आत्मा के परमशुद्ध परिणाम को भावतीर्थ कहते हैं, क्योंकि शुद्ध भावों से ही जीव परमात्मपद को प्राप्त करता है।

महापुरूषों की चरणरज से पवित्र भूमियाँ द्रव्यतीर्थ के रूप में मानी जाती हैं। इनकी यात्रा को समाप्त करने की भावना भाते हैं।

इस प्रकार से तीर्थों की महिमा को बतलाते जो पुण्यस्थल हैं उन्हें तीर्थ कहते हैं। उन तीर्थों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—1. तीर्थक्षेत्र 2. सिद्धक्षेत्र, 3. अतिशयक्षेत्र।

तीर्थंकर भगवन्तों के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान कल्याणकों से पवित्र स्थल वास्तविक तीर्थक्षेत्र की श्रेणी में आते है तथा अन्य महापुरुषों के भी जन्म अथवा दीक्षा आदि से पावन भूमि को भी तीर्थ की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। जैसे—अयोध्या, पावापुर, गिरनार, सोनागिरि, मांगीतुंगी, कुंथलगिरि आदि।

जहाँ से तीर्थंकर भगवान अथवा कोई महामुनि आदि मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं वे स्थान सिद्धक्षेत्र कहे जाते हैं। जैसे—सम्मेद शिखर, चम्पापुर, पावापुर, गिरनार, सोनागिरि, मांगीतुंगी, गजपंथा इत्यादि।

जिस ग्राम-नगर या स्थान पर भूगर्भ से प्राचीन प्रतिमाएं निकलती हैं अथवा वहाँ कोई चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। उन्हें अतिशयक्षेत्र के रूप में माना जाता है। जैसे—श्री महावीरजी, तिजाराजी, चमत्कारजी, चांदखेड़ी आदि।

इस प्रकार के तीर्थक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र वर्तमान में भारत की धरती पर सैकड़ों की संख्या में हैं। उनमें से अयोध्या और सम्मेदशिखरजी ये दो तीर्थ शाश्वततीर्थ के रूप में जैन आगम ग्रंथों में माने गये हैं, क्योंकि अनादिकाल से हमेशा इस धरती पर चतुर्थकाल में होने वाले 24-24 तीर्थंकर अयोध्या में ही जन्मे हैं और आगे अनन्तकाल तक अयोध्या में ही जन्मेंगे।

इसी प्रकार से सभी तीर्थंकरों ने सम्मेदशिखर पर्वत से ही निर्वाणधाम को प्राप्त किया है और आगे भी वहीं से निर्वाण प्राप्त करेंगे।

**1.2 वर्तमान युग में भी सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की वन्दना का महत्व जैन समाज में अत्यधिक माना जाता है-**

परन्तु यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि वर्तमान युग हुण्डावसर्पिणी काल के नाम से जाना जाता है। यह असंख्यातों कल्पकालों के बाद एक बार आता है और इसमें कई प्रकार के अनहोने कार्य होते हैं। जैसे—

1. हमेशा तो चतुर्थकाल में तीर्थंकर जन्म लेते थे किन्तु इस बार तीसरे काल में ही प्रथम तीर्थंकर भगवान

ऋषभदेव (आदिनाथ) का जन्म हो गया और तृतीयकाल के अन्त में ही उनका निर्वाण भी हो गया। पुनः चतुर्थ काल में भगवान अजितनाथ से महावीर तक 23 तीर्थंकर हुए।

2. चौबीस तीर्थंकर में से पाँच तीर्थंकर (ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ और अनंतनाथ) भगवान ही अयोध्या में जन्मे हैं तथा अन्य 19 तीर्थंकरों ने अन्यत्र स्थानों पर जन्म ले लिया। इसलिए वर्तमान में 24 तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियाँ है।

3. इसी प्रकार शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र से वर्तमान चौबीसों के 20 तीर्थंकर भगवान मोक्ष गये है, शेष 4 तीर्थंकर कैलाशपर्वत, चम्पापुर, गिरनार और पावापुर से मोक्ष चले गये। इसलिए आज 24 भगवान की 5 निर्वाण भूमियाँ मानी जाती है।

4. प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के 101 पुत्रों में से भरत प्रथम चक्रवर्ती बने, बाहुबली प्रथम कामदेव बने, वृषभसेन प्रथम गणधर मुनिराज बने, अनंतवीर्य मोक्षगामी हुए, ब्राह्मी-सुन्दरी कन्याएँ प्रथम आर्यिका बनीं।

किन्तु बाहुबली के द्वारा चक्रवर्ती भरत का पराभव-अपमान हुआ यह हुण्डावसार्पिणी काल का दोष समझना चाहिए।

इसी प्रकार के कुछ दोष इस युग में उत्पन्न हो गये हैं, फिर भी अनेकानेक धर्म तीर्थों एवं धर्मगुरुओं के कारण जिनधर्म की प्रभावना आज भी निर्बाधरूप से हो रही है और आगे पंचमकाल के अन्त तक होती रहेगी।

तीन प्रकार के भेदों में विभक्त तीर्थ वर्तमान में लगभग 350 की संख्या में पाये जा रहे हैं।

जैन इनसाइक्लोपीडिया (www.encyclopediaofjainism.com) में इन तीर्थों के सचित्र वर्णन भी आप प्राप्त कर सकते हैं।

## 1.3 जिनमंदिर और मूर्ति निर्माण का इतिहास-

दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों के अनुसार जिनमंदिर और मूर्तियों के निर्माण की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, क्योंकि जब-जब तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म होने से पूर्व स्वर्ग से इन्द्र धरती पर आते थे तब वे अयोध्या नगरी में सर्वप्रथम चारों दिशाओं में और नगर के मध्यभाग में इस प्रकार पाँच जिनालयों की स्थापना करके ही महल की रचना करते थे एवं उसमें होने वाले तीर्थंकर के माता-पिता का मंगल प्रवेश कराते थे तथा समय-समय पर आकर तीर्थंकर के कल्याणक मनाना, रत्नवृष्टि करना आदि अपने कर्तव्य की पूर्ति करते थे।

श्रीजिनसेनाचार्य रचित महापुराण के अन्तर्गत आदिपुराण में भी वर्णन आया है—

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारों दिशाओं में और नगर के मध्य में पाँच देवालयों या जिनायतनों की रचना करके जिनायतनों का निर्माण करने और उसमें मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओतप्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथों, गोपुरों, राजप्रासाद के द्वारों और ड्यौढ़ियों में लटकवाये।

किन्तु इतने से सम्राट भरत के मन को सन्तुष्टि नहीं हुई। इससे भगवान की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता था तब उन्होंने इन्द्र द्वारा बनाये गए जिनायतनों से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाशगिरि पर 72 जिनायतनों का निर्माण कराया और उनमें अनर्घ्य रत्नों की प्रतिमायें विराजमान कराई अतः साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असंगत न होगा कि नागरिक सभ्यता के विकास-काल की उषा-बेला में ही मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य में मन्दिरों और मूर्तियों के उल्लेख विभिन्न स्थलों पर प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों ओर परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लंकाधिपति रावण इन मन्दिरों के दर्शनों के लिए कई

बार आया था। लंका में एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमें रावण पूजन किया करता था और लंका विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

पं. श्री बलभद्र जी ने "जैनधर्म का प्राचीन इतिहास"(भाग 1) में उल्लेख किया है कि—

साहित्य में ईसा पूर्व 600 से पहले के मन्दिरों के उल्लेख मिलते हैं। भगवान पार्श्वनाथ के काल में किसी कुवेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद में देवनिर्मित बौद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कुवेरा देवी ने इस प्रस्तर को खण्डों और ईंटों से बनवा दिया। विविध तीर्थ कल्प-मथुरापुरी कल्प की। इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख कंकाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित मिलता है।

भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा-मन्दिर (लयण) बनवाये और उनमें पार्श्वनाथ की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान है। 'करकण्डु चरित्त' आदि ग्रन्थों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ-प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) में नाला खोदते समय जो तीर्थंकर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नहीं है। कुहनियों और घुटनों से भी खण्डित है। किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से इसे मौर्यकाल (320-185 ई0 पू0) की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिनप्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कहीं अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनों ने किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम तीर्थंकर-मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया।

एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथीगुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिंग नरेश खारवेल मगध नरेश वहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृगांरादि के साथ 'कलिंग जिन ऋषभदेव' की मूर्ति वापिस कलिंग लाये थे जिसे नन्द सम्राट कलिंग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट् खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य-काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिंगजिन' कहा जाता था।

मन्दिरों का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार जैन मन्दिरों का निर्माण काल जैन प्रतिमाओं के निर्माणकाल से प्राचीन प्रतीत नहीं होता। लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुरा आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं किन्तु अब तक सम्पूर्ण मन्दिर कहीं पर भी नहीं मिला इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरों का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुहामन्दिर, अजन्ता-एलोरा और बादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं कि गुफाओं को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुहामन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कहीं-कहीं गुफाओं में भित्ति-चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं।

गुहा मन्दिरों का सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा इसीलिये हम देखते हैं कि ईसा पूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नहीं है, जबकि गुहा-मन्दिर अब भी मिलते हैं।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पाँच मन्दिरों का निर्माण किया भरत चक्रवर्ती ने 72 जिनालय बनवाये। शत्रुघ्न ने मथुरा में अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोकों की रचना में कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों का पूजा-विधान जैन परम्परा में अब तक सुरक्षित है इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्व को ज्ञात जैन मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप-विधान कैसा था, इसमें अवश्य मतभेद दृष्टिगोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ में मन्दिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चात्काल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्कों पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप माना है। ई0 पू0 द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा-जिनालयों में दो विशषतायें दिखाई देती हैं — प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध में प्रो0 कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि मन्दिर के चारों ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी। इसे ही वेदिका कहा जाता था। बाद में यह वेष्टनों प्रस्तरनिर्मित होने लगी।

मौर्य और शुंग काल में जैन मन्दिरों का निर्माण अच्छी संख्या में होने लगा था। उस समय ऊँचे स्थान पर स्तम्भों के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी। शक-सातवाहन-काल (ई0 पू0 100 से 200 ई0) में मन्दिरों का निर्माण और अधिक संख्या में होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरों, उनके स्तम्भों और ध्वजाओं पर तीर्थंकर की मूर्ति बनाई जाने लगी। इस काल में प्रदक्षिणा-पथ भी बनने लगे जो प्राय: काष्ठ की वेष्टनी से बनाये जाते थे। कुषाण काल में ये पाषाण के बनने लगे।

कुषाण काल में जैन मन्दिर और भी अधिक बनने लगे। इस काल में मथुरा, अहिच्छत्र, कौशाम्बी, कम्पिला और हस्तिनापुर प्रमुख जैन केन्द्र थे।

गुप्त काल (ई. चौथी से छठी शताब्दी) में मन्दिरों का निर्माण प्रचुरता से होने लगा। सौन्दर्य और मन्दिरों के अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल में स्तम्भों को पत्रावली और मांगलिक चिन्हों से अलंकृत किया जाने लगा। तोरण और सिरदल के ऊपर तीर्थंकर मूर्ति बनाई जाने लगी। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनने लगा। बाहर स्तम्भों पर आधारित मण्डप की रचना होने लगी। बाह्य भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन होने लगा।

ईसवी सन् 600 के बाद उत्तर भारत में 'नागर शैली' और दक्षिण भारत में 'द्रविड़ शैली' का विशेष रूप से विकास हुआ। शिखर के अलंकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

इस प्रकार विभिन्न कालों में मन्दिरों के रूप और कला में विभिन्न परिवर्तन होते रहे। कला एकरूप होकर कभी स्थिर नहीं रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नहीं कर सकी। एक समय था, जब तीर्थंकर प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य युक्त बनाई जाती थी किन्तु आज तो तीर्थंकरों के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त सा हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है।

यह प्रकरण इसलिये दिया गया है, जिससे विभिन्न शैलियों के प्राचीन मन्दिरों के काल-निर्णय करने में पाठकों को मार्गदर्शक तत्वों की जानकारी हो सके।

## 1.4 तीर्थंकर चौबीस हैं—

प्रत्येक तीर्थंकर का एक चिन्ह है, जिसे लांछन कहा जाता है। तीर्थंकर-मूर्तियाँ प्राय: समान होती हैं। केवल ऋषभदेव की कुछ मूर्तियों के सिर पर जटायें पाई जाती हैं तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर सर्प का फण होता है। सुपार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियों के सिर के ऊपर भी सर्प का फण मिलते हैं। पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ के सर्प-फणों में साधारण सा अन्तर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर पाँच फण होते हैं और पार्श्वनाथ की मूर्तियों के सिर के ऊपर सात, नौ, ग्यारह अथवा सहस्र सर्प-फण पाये जाते हैं। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में

कोई अन्तर नहीं होता। उनकी पहचान चरण-चौकी पर अंकित उनके चिन्हों से ही होती है। चिन्ह न हो तो दर्शक को पहचानने में बड़ा भ्रम हो जाता है। कभी-कभी तो लांछनरहित मूर्ति को साधारण जन चतुर्थकाल की मान बैठते हैं, जबकि वस्तुतः श्रीवत्स लांछन और अष्ट प्रातिहार्य से रहित मूर्ति सिद्धों की कही जाती है इसलिये मूर्ति के द्वारा तीर्थंकर की पहचान करने का एकमात्र साधन तीर्थंकर-प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित उसका चिन्ह ही है अतएव तीर्थंकर-मूर्ति-विज्ञान में चिन्ह या लांछन का अपना विशेष महत्व है।

**1.5 इन चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह निम्न प्रकार हैं—**

ऋषभदेव का वृषभ, अजितनाथ का हाथी, संभवनाथ का अश्व, अभिनन्दननाथ का बन्दर, सुमतिनाथ का चक्रवाक पक्षी, पद्मप्रभु का कमल, सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक, चन्द्रप्रभ का अर्धचन्द्र, पुष्पदन्त का मगर, शीतलनाथ का श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष), श्रेयान्सनाथ का गेंडा, वासुपूज्य का महिष (भैंसा), विमलनाथ का शूकर, अनन्तनाथ का सेही, धर्मनाथ का वज्रदण्ड, शान्तिनाथ का हिरण, कुन्थुनाथ का बकरा, अरनाथ का मछली, मल्लिनाथ का कलश, मुनिसुव्रतनाथ का कछुआ, नमिनाथ का नीलकमल, नेमिनाथ का शंख, पार्श्वनाथ का सर्प और महावीर का सिंह लांछन था।

यहाँ पर यह थोड़ा सा प्राचीन परिचय जिनमंदिर और मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में प्रदान किया गया है। वर्तमान में भी पूरे देश के अन्दर अतिशय सुन्दर शिल्पकलायुक्त मंदिरों के निर्माण हो रहे हैं और जिनमूर्तियों का शिल्प भी अब पूर्व काल की अपेक्षा काफी अच्छे रूप में निखर कर आया है।

मूर्ति निर्माण के संदर्भ में जयपुर की मूलचन्द रामचन्द्र नाठा फर्म भी अति प्रसिद्ध हुई है। इनके द्वारा बड़ी-बड़ी प्रतिमाएं निर्मित करवाकर अनेक स्थान पर विराजमान की गई हैं। उनमें से हस्तिनापुर के जम्बूद्वीप तीर्थ परिसर में सूरजनारायण नाठा की देखरेख में एक इंच की अष्ट धातु प्रतिमा से लेकर (तेरहद्वीप एवं तीनलोक रचना में विराजमान) 31-31 फुट उत्तुंग (भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथ की) खड्गासन प्रतिमाएं विशेष दर्शनीय हैं।

मंदिर एवं मूर्तियों की संख्या-अकृत्रिम जिनमंदिरों की गणना जो तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में कही है वह तीनों लोकों की अपेक्षा आठ करोड़ छप्पन लाख सत्तानवे हजार चार सौ इक्यासी (8,56,97,481) है तथा उन सबमें 108-108 प्रतिमाएं विराजमान रहती हैं अतः सब मिलाकर कुल नौ सौ पच्चीस करोड़, त्रेपन लाख, सत्ताईस हजार, नौ सौ अड़तालिस (925 53, 27, 948) प्रतिमाओं की संख्या मानी है। इसके अलावा भवन-व्यंतर और ज्योतिर्वासी देवों के भवनों की अपेक्षा असंख्यातों जिनमंदिर तथा असंख्यातों जिनप्रतिमाएँ जानना चाहिए।

वर्तमान में हम सभी को इन अकृत्रिम मंदिरों के दर्शन उपलब्ध नहीं हैं किन्तु कृत्रिम मंदिर बनाने की परम्परा भी जो प्राचीन काल से धरती पर चली आ रही है उन्हीं के विषय में यहाँ आप सभी को जानना है। भारतदेश की सीमा जो आज उपलब्ध हो रही है उसमें विभिन्न प्रदेशों के अन्दर दिगम्बर जैन तीर्थों की संख्या लगभग 300 है और दिगम्बर जैन मंदिर लगभग 12000 की संख्या में है।

**1.6 पद्मपुराण (जैनरामायण) में श्री रविषेणाचार्य ने 32 वें पर्व में कहा है—**

**भवनं यस्तु जैनेन्द्रं, निर्मापयति मानवः।**
**तस्य भोगोत्सवः शक्यः केन वक्तुं सुचेतसः।।172।।**
**प्रतिमां यो जिनेन्द्राणां, कारयत्यचिरादसौ।**
**सुरासुरोत्तमसुखं, प्राप्य याति परं पदम्।।173।।**
**व्रतज्ञान तपोदानैर्यन्युपात्तानि देहिनः।**
**सर्वैस्त्रिष्वपिकालेषु, पुण्यानि भुवनत्रये।।174।।**

**एकस्मादपि जैनेन्द्र बिम्बान् भावेन कारितान्।**
**यत्पुण्यं जायते तस्य न संमान्त्यतिमात्रतः।।175।।**

**अर्थ**—जो मनुष्य जिनमंदिर बनवाता है उस शुद्ध चित्तवाले मनुष्य के भोगोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है अर्थात् उसको संसार के इतने भोगोपभोग के साधन प्राप्त होते हैं जिनका वर्णन करना भी अशक्य है।।172।।

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा बनवाता है वह शीघ्र सुर तथा असुरों के उत्तम सुख प्राप्त कर परमपद को प्राप्त होता है अर्थात् वह कुछ भवों में ही मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है।।173।।

तीनों कालों और तीनों लोकों में व्रत-ज्ञान-तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्यकर्म संचित होते हैं वे भावपूर्वक एक जिनेन्द्र प्रतिमा बनवाने से उत्पन्न हुए पुण्य की बराबरी नहीं कर सकते हैं।।174-175।।

इसी प्रकार से आचार्य श्रीवसुनंदि स्वामी (बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं) ने अपने श्रावकाचार ग्रंथ में कहा है—

**कुत्थुंभरिदलमत्तं जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।**
**सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं।।481।।**

**जो पुण जिणिंदभवणं समुणणयं परिहि-तोरणसमग्गं।**
**णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वणिणउं सयलं।।482।।(1)**

जो मनुष्य कुंथुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है।।481-482।।

## 1.7 तीर्थ क्या है ?

तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं : शास्त्र, उपाध्याय, उपाय, पुण्य कर्म, पवित्र स्थान आदि। लोक में इस शब्द का अर्थ 'पवित्र स्थान' के रूप में रूढ़ हो गया है। जैन तीर्थों से अभिप्राय है : वे पवित्र स्थान जिनको जैन पूजते और मानते हैं।

संसार विरक्त महापुरुष प्रकृति के एकांत-शांत स्थानों में विचरते हैं। वे उच्च पर्वत मालाओं, मनोरम उपत्यकाओं, गहन गुफाओं एवं वनों में जाकर साधना में लीन होते हैं। जैनधर्म जीवमात्र को परमार्थ सिद्धि की साधना का उपदेश देता है, क्योंकि प्रत्येक जीवन सुख चाहता है। सुख संसार के प्रलोभनों में नहीं है। वह आत्मा का गुण है। संपत्ति तो छाया के समान है। छाया का पीछा करने से वह हाथ नहीं आती। उसके प्रति उदासीन हो जाइए। वह स्वतः आपके पीछे-पीछे चलेगी। महान बनने के लिए त्याग धर्म का ही अभ्यास करना कार्यकारी है। अर्थ और काम पुरुषार्थों की सफलता धर्म पुरुषार्थ पर ही निर्भर है इसलिए अन्य कार्यों के साथ तीर्थवंदना भी धर्म साधना का मुख्य कारण कहा गया है। वस्तुतः तीर्थ वह विशेष स्थान है, जहाँ पर किसी साधक ने साधना करके आत्मसिद्धि को प्राप्त किया है। वह स्वयं तारण-तरण हुआ है और उस क्षेत्र को भी अपनी भवतारण शक्ति से संस्कारित कर गया है। धर्ममार्ग के महान प्रयोग उस क्षेत्र में किए जाते हैं। मुमुक्षु जीव तिल-तुषमात्र परिग्रह का त्याग करके मोक्ष पुरुषार्थ के साधक बनते हैं, वे वहां पर आसन लगाकर तपश्चरण, ज्ञान और ध्यान का अभ्यास करते हैं। अंत में कर्म शत्रुओं तथा द्वेषादि का नाश करके परमार्थ को प्राप्त करते हैं। यहीं से वे मुक्त होते हैं इसलिए ही निर्वाण स्थान परम पूज्य हैं किन्तु निर्वाणस्थान के साथ ही जैनधर्म में तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणक के पवित्र स्थानों को भी सिद्ध तीर्थ कहा गया है। तीर्थंकर (कर्म) प्रकृति जैन कर्म सिद्धांत में एक सर्वोपरि पुण्य प्रकृति कही गई है। जिस महानुभाव से यह पुण्य प्रकृति बंध हो प्राप्त होती है, अन्य सभी पुण्य प्रकृतियाँ उसकी अनुसारिणी हो जाती हैं। यही कारण है कि भावी तीर्थंकर के माता के गर्भ में आने के छह मास पूर्व से और गर्भावस्था के नौ मास तक, इस प्रकार 15 मास तक रत्न और स्वर्ण की वृष्टि होती है। उनका गर्भावतरण और जन्म स्वयं माता-पिता एवं अन्य जनों के लिए सुखकारी होता है। जिस समय तीर्थंकर भगवान तपस्वी

बनने के लिए पुरुषार्थी होते हैं, उस समय के प्रभाव का वर्णन करना दुष्कर है। वह महान अनुष्ठान है—संसार में सर्वतोभद्र है। उस समय कर्मवीर से धर्मवीर ही नहीं बल्कि वह धर्मचक्रवर्ती की प्रतिज्ञा करते हैं। उनके द्वारा महान लोकोपकार होने का पुण्य योग इसी समय से घटित होता है। तब फिर उनका तपोवन क्यों न पतितपावन हो ? उनके दर्शन करने से क्यों न धर्ममार्ग पर अग्रसर होने का उत्साह जागृत हो ?

उस पर केवलज्ञान कल्याणक की महिमा सीमा असीम है। इसी अवसर पर तीर्थंकरत्व का पूर्ण प्रकाश होता है। इसी समय तीर्थंकर भगवान को धर्मचक्रवर्तित्व प्राप्त होता है। उनके ज्ञानपुंज रूप, दिव्य आत्मप्रकाश के सामने सहस्रों सूर्यों का प्रकाश भी लज्जित है। यही वह कल्याणक है, जिसमें लोकोपकार के बहाने तीर्थंकर भगवान द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन होता है। यही वह पुण्य स्थान है, जहां जीव मात्र को सुखकारी धर्मदेशना कर्णगोचर होती है और यहां से एक स्वर्ण बेला में तीर्थंकर भगवान का विहार होता है, जिसके आगे–आगे धर्मचक्र चलता है। सारे आर्यखंड में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जिनेंद्र प्रभु का विहार और धर्मोपदेश होता है अतः आयुकर्म के निकट अवसान में वह जीवनमुक्त परमात्मा किसी पुण्य क्षेत्र पर आ विराजमान होते हैं। यहीं से लोकोत्तर ध्यान साधना में अघातिया कर्मों का भी नाश करके अशरीरी परमात्मा हो जाते हैं। वह क्षेत्र ज्ञान किरण से संस्कारित हो जाता है। देवेन्द्र वहां आकर निर्वाणकल्याणक की पूजा करता है और उस स्थान को अपने वज्रदंड से चिन्हित कर देता है। भक्तजन ऐसे पवित्र स्थानों पर चरण–चिन्ह स्थापित करके उपर्युक्त दिव्य घटनाओं की पुनीत स्मृति को स्थायी बना देते हैं। मुमुक्षु उनकी वंदना करते हैं और उस आदर्श से शिक्षा ग्रहण करके आत्मकल्याण करते हैं।

किन्तु तीर्थंकर भगवान के कल्याणक स्थानों के अतिरिक्त सामान्य केवली महापुरुषों के निर्वाण स्थान भी तीर्थवत् पूज्य हैं। वहां निरन्तर यात्रीगण आते–जाते हैं, उस स्थान की विशेषता उन्हें वहां ले जाती है। वह एकमात्र आत्मसाधना के चमत्कार की द्योतक होती है। उस पवित्र क्षेत्र पर या तो किसी पूज्य साधु ने उपसर्ग सहन कर अपने आत्मबल का चमत्कार प्रकट किया होगा अथवा वह स्थान अगणित आराधकों की धर्माराधना और सल्लेखनाव्रत की पालना से दिव्य रूप पा लेता है। वहां पर अद्‌भुत और अतिशयपूर्ण दिव्य मूर्तियां और मन्दिर मुमुक्षु के हृदय पर ज्ञान–ध्यान की शांतिपूर्ण मुद्रा अंकित करने में कार्यकारी होते हैं, इन्हें अतिशय क्षेत्र कहा जाता है।

जैनसिद्धांत साक्षात् धर्म विज्ञान है। उसमें अंधेरे में निशाना लगाने का उद्योग कहीं नहीं है। वह साक्षात सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों की देन है इसलिए उनमें पद–पद पर वैज्ञानिक निरूपण मिलता है। हर कोई जानता है कि जिसने किसी मनुष्य को देखा नहीं वह उसको पहचान नहीं सकता। मोक्षमार्ग के पर्यटक का ध्येय परमात्म स्वरूप प्राप्त करना होता है। तीर्थंकर भगवान उस परमात्म स्वरूप के प्रत्यक्ष आदर्श जीवन मुक्त परमात्मा होते हैं अतएव उनका दर्शन करना एक मुमुक्षु के उपादेय है। इस काल में उनका दर्शन उसे परमात्मदर्शन कराने में कारणभूत होता है। इस काल में उनका प्रत्यक्ष दर्शन सुलभ नहीं है इसलिए ही उनकी तदाकार स्थापना करके मूर्तियों द्वारा उनका दर्शन किया जाता है। तीर्थस्थानों में उनकी उस ध्यानमयी शांत मुद्रा को धारण करने वाली मूर्तियां विराजमान हैं। वे मूर्तियां भक्तजनों के हृदय में सुख और शांति की पुनीत धारा बहा देती हैं। भक्तहृदय उन मूर्तियों के सम्मुख पहुंचते ही अपने आराध्यदेव का साक्षात अनुभव करता है। उनका गुण गाकर अलभ्य आत्मतुष्टि पाता है। पाठशाला में बच्चे भूगोल पढ़ते हैं। उन देशों का ज्ञान नक्शे के द्वारा कराया जाता है जिनको उन्होंने देखा नहीं है। उस अतदाकार स्थान अर्थात् नक्शे के द्वारा वह उन विदेशों का ठीक ज्ञान उपार्जन करते हैं। ठीक इसी तरह जिनेन्द्र की प्रतिमा भी उनका परिज्ञान कराने में कारणभूत है इसीलिए जिनमंदिरों में जिनप्रतिमाएं होती हैं। उनके आधार से एक गृहस्थ ज्ञान मार्ग में आगे बढ़ता है। तीर्थस्थानों पर भी इसीलिए अति मनोज्ञ और दर्शनीय मूर्तियों का निर्माण किया गया है।

पहले तो तीर्थस्थान स्वयं पवित्र हैं। उस पर वहां आत्मसंस्कारों को जागृत करने वाली बोलती सी जिनप्रतिमाएं होती हैं। उनके दर्शन से तीर्थयात्री को महत्ती निराकुलता का अनुभव होता है। वह साक्षात् सुख का अनुभव करता है।

### 1.8 तीर्थ का महत्त्व —

तीर्थ वह स्थान है जिससे संसार सागर तरा जाए। उसके समागम में पहुंचकर मुमुक्षु संसार सागर से तिरने का उद्योग उपक्रम करता है। तीर्थस्थान योगियों की योग निष्ठा, ज्ञान–ध्यान और तप–साधना से पवित्र हो चुके होते हैं। उनमें भी निर्वाण क्षेत्र का महत्व सर्वोपरि है। वे तो महातीर्थ हैं इन क्षेत्रों में बड़े–बड़े प्रसिद्ध पुरुष सिद्ध हुए हैं। पुराण पुरुष अर्थात् तीर्थंकरों के आश्रय स्थानों अथवा उनके निमित्त कल्याणक स्थानों में ध्यान की विशेष सिद्धि होती है। ध्यान ही वह अमोघ अस्त्र है जो पापशत्रु को नष्ट करता है। मुमुक्षु पाप से डरता है। पाप में पीड़ा है और पीड़ा से सब बचना चाहते हैं। इस पीड़ा से बचने के लिए भव्य जीव तीर्थों की शरण लेते हैं। लोकविश्वास के अनुसार तीर्थवंदन से पापमल धुल जाता है। लोगों को यह श्रद्धान सार्थक है परन्तु यह विवेकपूर्ण होना चाहिए। तीर्थ के स्वरूप, महत्व और उसकी वंदना के रहस्य को समझे बिना तीर्थदर्शन मात्र पर्याप्त नहीं होता। लोक में सागर, सरोवर, नदी आदि को तीर्थ मानकर उनमें स्नान कर लेने मात्र से बहुधा पवित्र हुआ माना जाता है। यह धारणा गलत है। बाहरी शरीर मल के धुलने से आत्मा पवित्र नहीं होती। आत्मा तब ही पवित्र होती है, जबकि क्रोधादि अंतर्मल दूर हों अतएव तीर्थ वही कहा जा सकता है और वही तीर्थ वंदना हो सकती है, जिसकी निकटता में पापमल दूर होकर अंतरंग शुद्ध हो। जिनमार्ग में वही तीर्थ वंदना है, जिसके दर्शन और पूजन करने से पवित्र उत्तम क्षमादि धर्म, विशुद्ध सम्यक्दर्शन, निर्मल संयम और यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो। जहां से मनुष्य शांतिभाव का पाठ उत्तम रीति से ग्रहण कर सकता है, वही तीर्थ है। जैनमत के माननीय तीर्थ उन महापुरुषों के पावन स्मारक हैं, जिन्होंने आत्मशुद्धि की पूर्णता प्राप्त की है। लौकिक शुद्धि विशेष कार्यकारी नहीं है। साबुन लगाकर, मल मल कर नहाने से शरीर भले ही शुद्ध सा दिखने लगे परन्तु लोकोत्तर शुचिता उससे प्राप्त नहीं हो सकती। वह तो तब ही प्राप्त हो सकती है जब अंतरंग से क्रोधादि कषाय मैल धो दिया जाए। इसको धोने के लिए धर्म उपादेय है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म की आराधना ही लोकोत्तर शुचिता की आधारशिला है। इस रत्नत्रय धर्म के धारक साधुजनों के आधार रूप निर्वाण आदि तीर्थस्थान हैं। वे तीर्थ ही इस कारण लोकोत्तर शुचित्व के योग्य उपाय हैं, प्रबल निमित्त हैं इसीलिए शास्त्रों में तीर्थों की गणना मंगलों में की गई है–वे क्षेत्रमंगल हैं। कैलाश, सम्मेदाचल, ऊर्जयंत (गिरनार), पावापुर, चंपापुर आदि तीर्थस्थान अर्हंतादि के तप, केवलज्ञानादि गुणों के उपजने के स्थान होने के कारण क्षेत्र मंगल हैं।

### 1.9 तीर्थ की वंदना —

इन पवित्र क्षेत्रों का स्तवन और पूजन 'क्षेत्रस्तवन' है। तीर्थस्थल के दर्शन होते ही हृदय में पवित्र आह्लाद की लहर दौड़ती है। हृदय भक्ति से भर जाता है। उस पुण्यभूमि को देखते ही यात्री का मस्तक झुक जाता है। वह उस तीर्थ की पवित्र प्रसिद्धि का गुणगान मधुर स्वरलहरी से करता हुआ आगे बढ़ता है। जिनमंदिरों में जाकर वह जिनदर्शन करता है, सुविधानुसार अष्ट द्रव्यों से जिनेन्द्र का और तीर्थ का पूजन करता है। तीनों समय सामायिक वंदना करता है। शास्त्र स्वाध्याय और धर्मचर्चा करने में निरत रहता है। बार–बार जाकर पर्वतादि क्षेत्र की वंदना करता है। चलते–चलते यही भावना करता है कि भव–भव में मुझे ऐसा ही पुण्य योग मिलता रहे। सारांश यह है कि यात्री अपना सारा समय धर्म पुरुषार्थ की साधना में ही लगाता है। वह तीर्थ स्थान पर रहते हुए अपने मन में बुरी भावना उठने ही नहीं देता। इन पवित्र स्थानों पर यात्रीगण कड़ी से कड़ी प्रतिज्ञाएं सहर्ष ले लेते हैं, अन्यत्र वे शायद ही उन्हें कर सकें। यह सब तीर्थ का माहात्म्य है। ऐसे पवित्र स्थान को किसी तरह अपवित्र न बनाना ही उत्तम है।

### 1.10 तीर्थयात्रा से लाभ —

घर बैठे ही कोई अपने धार्मिक पवित्र स्थानों के महत्व और प्रभाव को नहीं जान सकता। सारे भारतवर्ष में जैन तीर्थ बिखरे हुए हैं। उनका दर्शन करके धर्म महिमा की मुहर अपने हृदय पर अंकित हो जाती है। वह उसके भावी जीवन

को समुज्ज्वल बनाती है। यह तो हुआ धर्मलाभ परन्तु इसके साथ ब्याजरूपी देशाटनादि के लाभ भी होते हैं। देशाटन में बहुत सी नई बातों का अनुभव होता है और नई वस्तुओं को देखने का अवसर मिलता है। यात्री का वस्तुज्ञान और अनुभव बढ़ता है और उसमें कार्य करने की चतुरता और क्षमता आती है। घर में पड़े रहने से बहुधा मनुष्य संकुचित विचारों का कूपमंडूक बना रहता है। तीर्थयात्रा करने से हृदय से विचार–संकीर्णता दूर हो जाती है। उसकी वृत्ति उदार होती है। वह आलस्य और प्रमाद का नाश करके साहसी बन जाता है, परहित के लिए वह तत्पर रहता है।

जैन लोग अपने पूर्वजों के गौरवमय अस्तित्व का परिचय प्राचीन स्थानों का दर्शन करके ही पा सकते हैं। यह तीर्थयात्रा में सुलभ है। साथ ही जैन समाज की उपयोगी संस्थाओं : जैसे—जैन महाविद्यालय, छात्रावास, श्राविकाश्रम, अनाथाश्रम आदि देखने का अवसर मिलता है। इस दिग्दर्शन से दर्शक के हृदय में आत्मगौरव की भावना जागृत होना स्वाभाविक है। वह अपने गौरव को जैन समाज का गौरव समझेगा और ऐसा उद्योग करेगा जिसमें धर्म और संघ की प्रभावना हो। तीर्थयात्रा में मुनि–आर्यिका आदि साधु पुरुषों के दर्शन और उनकी भक्ति करने का भी सौभाग्य प्राप्त होता है। अनेक स्थानों के सामाजिक रीति–रिवाजों और भाषाओं का ज्ञान भी सुगमता से होता है। यात्रा के दौरान उसे घर–धंधे की आकुलता से छुट्टी मिल जाती है इसलिए यात्रा करते समय भाव बहुत शुद्ध रहते हैं। विशाल जैन मंदिरों और भव्य प्रतिमाओं का दर्शन करने पर बड़ा आनंद मिलता है। अनेक शिलालेखों को पढ़ने से इतिहास का ज्ञान होता है। संक्षेप में तीर्थयात्रा से मनुष्य को लाभ ही लाभ है।

## 1.11 प्रश्नावली–

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

**प्रश्न 1**–आत्मा के परमशुद्ध परिणाम को.....कहते हैं ?

(क) द्रव्य तीर्थ ☐ (ख) भावतीर्थ ☐ (ग) सिद्धक्षेत्र ☐

**प्रश्न 2**–इनमें से कौन सा सिद्धक्षेत्र है ?

(क) महावीर जी ☐ (ख) तिजारा जी ☐ (ग) सम्मेदशिखर ☐

**प्रश्न 3**–भगवान महावीर का जन्म कहाँ हुआ ?

(क) कुण्डलपुर ☐ (ख) पावापुर ☐ (ग) कौशाम्बी ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न–

**प्रश्न 1**–तीर्थ किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं एवं तीर्थ को कितने भागों में विभक्त किया गया है ?

**प्रश्न 2**–वर्तमान युग किस काल के नाम से जाना जाता है ? इस काल में होने वाले अनहोने कार्यों में से किन्हीं दो को समझाइए ?

**प्रश्न 3**–भगवान ऋषभदेव के कितने पुत्र और पुत्रियाँ थे ? उनमें से कामदेव, चक्रवर्ती एवं गणधर का नाम बताइए ?

**प्रश्न 4**–तीर्थंकर कितने होते हैं ? उनके नाम चिन्ह सहित लिखो ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

**प्रश्न 1**–तीर्थंकर की प्रतिमा पर चिन्ह क्यों आवश्यक है ? इस पर प्रकाश डालिए।

## पाठ 2—तीर्थंकर पंचकल्याणक तीर्थ

**2.1** वर्तमान युग में 24 तीर्थंकर भगवन्तों के पाँचों कल्याणकों से पवित्र अनेकों तीर्थ हैं, जिनमें 16 जन्मभूमियाँ-1 दीक्षाभूमि, 3 केवलज्ञानभूमि एवं 5 निर्वाणभूमियाँ हैं। दीक्षाभूमि 1 एवं केवलज्ञान भूमि 3 होने का कारण यह है कि अधिकांश तीर्थंकरों के उन-उनकी जन्मभूमि में ही दीक्षा एवं केवलज्ञानकल्याणक हुए हैं। यहाँ सर्वप्रथम 24 तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियों के संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

### 2.2 सोलह जन्मभूमियाँ—

#### 2.2.1 तीर्थंकर ऋषभदेव जन्मभूमि अयोध्या तीर्थ (शाश्वत तीर्थ एवं वर्तमानकालीन पाँच तीर्थंकरों की जन्मभूमि)—

अयोध्या फैजाबाद से 5 किमी. है। यह दिल्ली-लखनऊ-मुगलसराय रेलवे लाइन पर उत्तर रेलवे का स्टेशन है। सड़क मार्ग से लखनऊ से 139 किमी. और इलाहाबाद से 160 किमी. है। मुगलसराय, वाराणसी और लखनऊ व दिल्ली से सीधी गाड़ियाँ आती हैं।

जैन मान्यता के अनुसार अयोध्या शाश्वत नगरी है। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के गर्भ और जन्मकल्याणक यहीं हुए। चार तीर्थंकरों—दूसरे अजितनाथ, चौथे अभिनंदननाथ, पाँचवें सुमतिनाथ और चौदहवें अनंतनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक यहीं पर हुए। इस प्रकार 18 कल्याणक सम्पन्न होने का सौभाग्य इस नगरी को प्राप्त है।

इसी नगरी में भगवान ऋषभदेव ने छः कर्मों (असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य) का ज्ञान समाज को दिया। अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुंदरी को लिपि और अंक विद्या का ज्ञान दिया। भरत जी को बहत्तर कलाओं का शिक्षण दिया, सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की, राजनैतिक सुव्यवस्था की दृष्टि से पुर, ग्राम, खेट, नगर आदि की व्यवस्था की। समूचे राष्ट्र को उन्होंने 52 जनपदों में बांटा था।

भगवान के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने यहीं से सम्पूर्ण भरत-खंड पर विजय प्राप्त कर प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् होने का गौरव प्राप्त किया।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के कारण अयोध्या को विशेष गौरव मिला। श्रीराम ने संसार में लोकमान्य मर्यादाओं की रक्षा, पितृभक्ति, बंधुत्व, जन सामान्य के महत्व 7आदि आदर्श उपस्थित किए।

अयोध्या से अनेकानेक महत्वपूर्ण घटनाओं का संबंध है लोकमानस पर उनकी गहरी छाप है।

यहाँ कुल नव दि. जैन मंदिर हैं—3 मंदिर रायगंज परिसर में (बड़ा मंदिर, तीन चौबीसी मंदिर, समवसरण मंदिर),1 मंदिर कटरा में और पाँच टोकों पर सुन्दर जिनमंदिर के निर्माण हुए हैं।

अयोध्या तीर्थ पर सभी जैन मंदिरों के निर्माण भारतगौरव आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज एवं पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (जम्बूद्वीप रचना की पावन प्रेरिका) की प्रेरणा से सम्पन्न हुए हैं।

रायगंज परिसर के बड़ा मंदिर में भगवान ऋषभदेव की 31 फुट उत्तुंग विशाल खड्गासन प्रतिमा विराजमान है।

#### 2.2.2 तीर्थंकर संभवनाथ जन्मभूमि श्रावस्ती तीर्थ—

श्रावस्ती बलरामपुर-बहराइच रोड पर स्थित है। यह अयोध्या से गोंडा, बलराम होते हुए 109 किमी. है। गोंडा, अयोध्या से 50 किमी. और वहाँ से बहराइच 42 किमी. है। वहाँ से यह स्थान 17 किमी. है। यह प्राचीन नगर है किन्तु अब तो गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर खंडहरों के रूप में है। रेल या बस-टैक्सी आदि से श्रावस्ती पहुँचा जा सकता है।

बलरामपुर-बहराइच मार्ग पर बसें खूब मिलती हैं। बलरामपुर से टैक्सी, जीप आदि भी मिलती है। बलरामपुर में एक जैन धर्मशाला भी बनी हुई है।

यह तीसरे तीर्थंकर भगवान संभवनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान का कल्याणक क्षेत्र है। भगवान का प्रथम समवसरण यहीं लगा था। भगवान महावीर का समवसरण भी यहाँ कई बार आया था।

श्रावस्ती आजकल सहेठ-महेठ कहलाता है। संभवत: यह मुनि मृगध्वज और मुनि नागदत्त की मुक्तिस्थली है यहीं पर जैन राजा सुहृद्ध्वज ने सैयद सालार यसऊद गाजी को हराया था।

अलाउद्दीन खिलजी ने यहाँ के मंदिरों, विहारों, स्तूपों, मूर्तियों को ध्वज किया था। भगवान संभवनाथ का मंदिर अब एक खंडहर के रूप में ही है। आजकल यह सोमनाथ मंदिर के नाम से जाना जाता है। सहेठ वह स्थान है, जहाँ पर जेतवन था। उस स्थान पर बौद्ध विहार था। महेठ प्राचीन श्रावस्ती था। इसके पश्चिमी भाग में जैन अवशेष प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यहाँ बहुत से जैन मंदिर थे। खुदाई में प्राप्त मूर्तियाँ, सिक्के, ताम्रपत्र व अभिलेख लखनऊ और कलकत्ता के संग्रहालयों में रखे हैं।

श्रावस्ती बौद्धों का भी तीर्थस्थल है। क्षेत्र पर (बहराइच जाने वाली सड़क पर) नवीन जैन मंदिर निर्मित हुआ है।

### 2.2.3 तीर्थंकर पद्मप्रभ जन्मभूमि कौशाम्बी तीर्थ—

इलाहाबाद से कौशाम्बी 60 किमी. दूर दक्षिण-पश्चिम दिशा में यमुना तट पर स्थित है। कौशाम्बी पहुँचने के दो मार्ग हैं।

इलाहाबाद से सराय अकिल (42 किमी.) होते हुए सड़क से 60 किमी. पर यह क्षेत्र है। दूसरे रास्ते से इलाहाबाद से 32 किमी. भखारी रेलवे स्टेशन है वहाँ से क्षेत्र 32 किमी. दक्षिण की ओर है। प्राचीन वैभवसम्पन्न कौशाम्बी की जगह दो छोटे गाँव हैं—गढ़वा कौसमइनाम और कौसमखिराज। ये यमुना तट पर हैं। कौसमइनाम से क्षेत्र 1 किमी. है।

छठे तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभ के गर्भ-जन्म, तप और ज्ञानकल्याणक यहीं पर हुए थे। दूसरी महत्वपूर्ण घटना यहाँ तब घटी जब भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्ति से पहले यहाँ पधारे थे। यहीं पर पारणा के लिए निकलने पर चंदनबाला जो सेठ वृषभसेन की पत्नी द्वारा बंधन में डाल दी गई थी, ने उनके दर्शन किए और उसके बंधन खुल गए। यहीं पर भगवान महावीर ने चंदनबाला के हाथों कोदों का आहार ग्रहण किया था। आगे चलकर भगवान महावीर के समवसरण में 36000 आर्यिकाओं के संघ की प्रमुख यही चंदनबाला हुई।

भगवान महावीर कौशाम्बी कई बार पधारे थे। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा खुदाई कराने पर यहाँ बड़ी संख्या में जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुईं। वे सब प्रयाग संग्रहालय में रखी हुई हैं। यह जैनधर्म का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।

### 2.2.4 तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ एवं पार्श्वनाथ जन्मभूमि वाराणसी तीर्थ का परिचय—

वाराणसी जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र है। इसका प्राचीन नाम काशी है। यहाँ दो तीर्थंकरों—भगवान सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान कल्याणक हुए। भेलूपुर में तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का तथा भदैनी घाट में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। भेलूपुर में विशाल दिगम्बर जैन मंदिर है, जिसे भगवान पार्श्वनाथ का जन्मस्थान मान जाता है, यहाँ दो और दिगम्बर जैन मंदिर भी हैं। इनके अतिरिक्त बूलानाले पर एक पंचायती मंदिर और अन्यत्र तीन चैत्यालय हैं। जौहरी जी के चैत्यालय में हीरे की एक प्रतिमा अति मनोज्ञ है। मैदागिन में विशाल दिगम्बर जैन मंदिर और धर्मशाला है।

भदैनी घाट (गंगातट) पर श्री स्याद्वाद महाविद्यालय दिगम्बर जैनों का एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र है। यहाँ संस्कृत और जैन सिद्धान्तों की उच्चकोटि की शिक्षा दी जाती है। हिन्दू विश्वविद्यालय के समीपस्थ 'सन्मति निकेतन' नामक स्थान है

जहाँ पर एक जैन मंदिर और छात्रावास है।

जैन परम्परा के अनुसार स्वामी समंतभद्र ने काशी में ही अपना रोग शांत किया और धर्मप्रभावना की थी। यहीं पर कविवर वृंदावन जी ने साहित्य साधना और काव्य रचना की थी। यहीं पर उनके पिता ने धर्मद्रोहियों का मानमर्दन कर जिनचैत्यालय बनवाया था।

स्थानीय भारत कला भवन में पुरातत्व संबंधी बहुमूल्य सामग्री संग्रहीत है। यह सामग्री विभिन्न युगों से संबंधित है। कलाभवन में पाषाण और धातु की अनेक मूर्तियाँ भी हैं।

हिन्दू मान्यता के अनुसार वाराणसी सप्त महापुरियों में है। यह भगवान शिव की नगरी कहलाती है। यहाँ अनेक शिवमंदिर हैं। काशी का संबंध सत्यवादी महाराजा हरिश्चंद्र, संत कबीर और गोस्वामी तुलसीदास से भी रहा है। काशी में प्राचीन विद्या के पठन-पाठन की परम्परा अभी भी है।

यहाँ गंगा के तट पर महामना मालवीय जी के प्रयासों से स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दर्शनीय है।

**2.2.5 तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जन्मभूमि चन्द्रपुरी तीर्थ—**

यह मेनलाइन पर कादीपुर स्टेशन से 5 किमी. दूर गंगा तट पर है। सड़क मार्ग द्वारा यह वाराणसी से 20 किमी. तथा सिंहपुरी से 17 किमी. है। यह मुख्य सड़क से 2 किमी. अंदर है।

चंद्रपुरी अत्यंत रमणीक स्थान है। यहाँ आठवें तीर्थंकर भगवान चंद्रप्रभ के गर्भ-जन्म, तप और केवलज्ञानकल्याणक हुए। यहाँ गंगा तट पर दिगम्बर जैन मंदिर है, जिसे भारत सरकार के पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने सुरक्षित क्षेत्र घोषित किया हुआ है।

**2.2.6 तीर्थंकर पुष्पदंत जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ—**

वर्तमान का खुखुंदू ही प्राचीन किष्किंधापुर या काकंदी नगर है। नूनखार स्टेशन से 3 किमी. पड़ता है। पश्चिम से आने वाले यात्रियों को देवरिया और पूर्व से आने वाले यात्रियों को सलेमपुर स्टेशन है। दोनों ही स्थानों से यह 14 किमी. पर है।

यहाँ तीन टीले और अनेक प्राचीन तालाब हैं। प्राचीन मंदिरों एवं भवनों के भग्नावशेष यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

इस स्थान का संबंध मुख्यत: नौवें तीर्थंकर भगवान पुष्पदंतनाथ से है। यहीं उनके गर्भ एवं जन्म तथा इसी नगर के पुष्पकवन में दीक्षाकल्याणक हुए थे। भगवान महावीर का समवसरण भी यहाँ कई बार आया था। यह स्थान अभयघोष मुनि का निर्वाणस्थल है। यहीं से अनेक जैन मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की। खुदाई में यहाँ से अनेक जैन मूर्तियाँ, यक्षमूर्ति, चैत्यवृक्ष, स्तूप-अंश आदि प्राप्त हुए हैं। 2010 में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की पावन प्रेरणा से भव्य मंदिर का निर्माण कर भगवान पुष्पदंतनाथ की 9 फुट अवगाहना की पद्मासन प्रतिमा विराजमान की गई है।

**2.2.7 तीर्थंकर शीतलनाथ जन्मभूमि भद्दिलपुर तीर्थ ( भद्रिकापुरी )-**

गया से कोल्हुआ पहाड़ 67 किमी. है। इसे जैनी पहाड़ या पारसगिरि भी कहते हैं। गया से घंघरी, हंटरगंज व दंतारगांव होकर इस तीर्थ पर जाया जा सकता है। दंतारगांव में जैन धर्मशाला है, वहाँ से डेढ़ किमी. चलकर पर्वत की चढ़ाई आरंभ होती है, जो लगभग 3 किमी. है। मार्ग पगडंडी का ही है।

कोल्हुआ पहाड़ समुद्रतल से 500 मीटर ऊँचा है। पहाड़ पर ध्वस्त प्राकार मिलते हैं। एक छोटा जैन मंदिर और विशाल सरोवर भी है।

कोल्हुआ पहाड़ से 8-10 किमी. दूर मोंदल गांव है। यही प्राचीन भद्रिकापुरी है। यहाँ भगवान शीतलनाथ के गर्भ और जन्मकल्याणक हुए थे। उनके दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक कोल्हुआ पहाड़ पर हुए थे। कोल्हुआ पहाड़ पर अनेक दर्शनीय प्राचीन प्रतिमाएँ हैं।

**2.2.8 तीर्थंकर श्रेयांसनाथ जन्मभूमि सिंहपुरी तीर्थ—**

सिंहपुरी (सारनाथ) वह स्थान है, जहाँ ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ के गर्भ-जन्म, दीक्षा और केवलज्ञानकल्याणक हुए। यह वाराणसी से सड़क द्वारा 6 किमी. है। यहाँ आने के लिए बसें, टैक्सी आदि हर समय मिलती हैं। यहाँ रेलवे स्टेशन भी है। स्टेशन से लगभग आधा किमी. की दूरी पर दिगम्बर जैन मंदिर और धर्मशाला है।

जैन मंदिर के निकट ही एक विशाल स्तूप है। इसकी ऊँचाई लगभग 33 मीटर है। यह स्तूप 2200 वर्ष पुराना बताया जाता है। इसका निर्माण 'सम्राट प्रियदर्शी' ने कराया था। स्तूप के सामने के सिंहद्वार के दोनों स्तंभों पर सिंहचतुष्क बना है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र है, जिसके दाई तरफ बैल और घोड़े की मूर्तियाँ अंकित हैं। इस स्तंभ की सिंहत्रयी को भारत सरकार ने राजचिन्ह के रूप में स्वीकारा है तथा धर्मचक्र को राष्ट्रध्वज पर अंकित किया है। इस स्तूप के बारे में मतभेद हैं। कुछ लोग इसे जैन स्तूप मानते हैं क्योंकि बनवाने वाले का नाम 'देवानां प्रिय' ही दिया गया है। पुरातत्व विभाग ने इसको सम्राट अशोक द्वारा निर्मित माना है। 'देवानां प्रिय' और स्तूप निर्माण ईसा के कुछ समय पूर्व तक जैनों में बहुत प्रचलित था। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से यहाँ भगवान श्रेयांसनाथ की 11 फुट पद्मासन श्यामवर्णी मनोहारी प्रतिमा मंदिर प्रांगण में विराजमान की गई हैं।

बौद्ध मान्यता के अनुसार यह तीर्थ बहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ पर भगवान बुद्ध ने पंचवर्गीय शिष्यों को उपदेश देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। इसे सारनाथ के नाम से जाना जाता है।

यहाँ के संग्रहालय में बहुत सी जैन मूर्तियाँ हैं।

**2.2.9 तीर्थंकर वासुपूज्य जन्मभूमि चम्पापुर तीर्थ—**

गुणावां से नवादा केवल दो किमी. है। वहाँ से नाथनगर 190 किमी. है। यहां एक ही परिसर में क्षेत्र का कार्यालय, धर्मशाला और मंदिर हैं। खुला चौक पार करने पर पुराना दिगम्बर जैन मंदिर है। दो प्राचीन मानस्तंभ भी बने हैं। नाथनगर ही प्राचीन चंपापुर है। यहाँ बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य के पाँचों कल्याणक हुए थे। केवल यही एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ किन्हीं तीर्थंकर के पाँचों कल्याणक हुए हों। यह अतीत में भारत का अतिप्रसिद्ध सांस्कृतिक नगर रहा है। भगवान ऋषभदेव द्वारा स्थापित 52 जनपदों में से अंग जनपद की राजधानी होने का इसे गौरव प्राप्त है। बौद्ध युग में इसकी गणना छः महानगरियों में की जाती थी।

यहीं पर कभी प्रख्यात हरिवंश की स्थापना हुई थी। यह नगर गंगातट पर बसा हुआ था, जहाँ धर्मघोष मुनि ने समाधिमरण किया था। गंगा नदी के एक नाले पर जिसका नाम चंपा नाला है, एक प्राचीन जिनमंदिर दर्शनीय है। नाथनगर के निकट तीन दिगम्बर जैन मंदिर हैं यह सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से पद्मरथ, अंचल, अशोक आदि अनेक मुनि मुक्त हुए हैं। यहाँ के तेरहपंथी मंदिर के विशाल प्रांगण में सन् 2013 में भगवान वासुपूज्य की भव्य खड्गासन 31 फुट प्रतिमा विराजित हुई है।

**2.2.10 तीर्थंकर विमलनाथ जन्मभूमि कम्पिल जी तीर्थ—**

शिकोहाबाद से रेल द्वारा कायमगंज जाना चाहिए। कायमगंज फर्रुखाबाद जिले की एक तहसील है। कम्पिला जी कायमगंज से 8 किमी. दूर है। सड़क पक्की है।

कंपिला जी ही प्राचीन काम्पिल्य है। यहाँ तेरहवें तीर्थंकर भगवान विमलनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञानकल्याणक हुए थे। यह राजा द्रुपद की राजधानी थी। यहीं पर द्रौपदी का स्वयंवर हुआ था। हरिषेण चक्रवर्ती ने यहाँ पर जैन रथ निकलवाकर धर्मप्रभावना की थी। भगवान महावीर का समवसरण भी यहाँ आया था। बस्ती के बीच में एक अतिप्राचीन मंदिर (निर्माण काल 492 ई.) है। इसमें भगवान विमलनाथ की मूलनायक प्रतिमा है। पहले इस मंदिर में जमीन के नीचे बनी एक कोठरी में भगवान विमलनाथ के चरणचिन्ह थे। अब वह कोठरी बंद कर दी गई है और चरण-

पादुका बाहर विराजमान कर दी गई हैं। भगवान विमलनाथ की मूर्ति अतिशयपूर्ण है।

कम्पिला जी में चारों ओर खण्डित जिनप्रतिमाएँ बिखरी पड़ी हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ और भी मंदिर थे।

**2.2.11 तीर्थंकर धर्मनाथ जन्मभूमि रतनपुरी तीर्थ—**

रतनपुरी (रौनाही ग्राम) वह पवित्र स्थान है, जहाँ 15वें तीर्थंकर भगवान धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और ज्ञानकल्याणक हुए थे। यहीं पर उन्होंने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। मंदिर के अलावा प्राचीन शिखरबंद स्तूप है जिस पर भगवान धर्मनाथ के चरण-चिन्ह स्थापित हैं। महासती मनोरमा ने यहीं पर अपनी दर्शन प्रतिज्ञा का पालन करते हुए गजमुक्ता चढ़ाए थे। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के वनगमन के समय ग्रामवासियों के करुण रुदन के कारण गांव का नाम रौनाही पड़ गया। यह स्थान फैजाबाद-बाराबंकी सड़क मार्ग पर अयोध्या से 29 किमी. है।

**2.2.12 तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरहनाथ जन्मभूमि हस्तिनापुर तीर्थ-**

खेकड़ा से मेरठ 53 (दिल्ली से 62) किमी. है। मेरठ उत्तर रेलवे का प्रमुख स्टेशन है। यहाँ काफी संख्या में जैन रहते हैं तथा कई दर्शनीय जिनमंदिर हैं। मेरठ से 37 किमी. दूर हस्तिनापुर है। दिल्ली व मेरठ से बसें चलती हैं।

महाभारत काल में यह नगरी कुरुप्रदेश की राजधानी बताई जाती थी। कौरव-पांडव यहीं के थे। हस्तिनापुर ही वह तीर्थ है जहाँ इस युग के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का विहार हुआ था। उन्होंने एक वर्ष के उपवास के बाद यहाँ पदार्पण किया। तब यहाँ के राजा श्रेयांस थे। उन्होंने भगवान को इक्षुरस का आहार देकर पुण्यलाभ प्राप्त किया था। वह तिथि थी अक्षय तृतीया। तब से ही अक्षय तृतीया का पर्व संचालित हो गया। इस प्रकार श्रेयांस को दान का आद्यप्रवर्तक कहा जाने लगा। इस क्षेत्र में भगवान आदिनाथ का समवसरण कई बार आया था। बाद में यहीं पर तीन पद के धारी (चक्रवर्ती, कामदेव, तीर्थंकर) श्री शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ इन तीन तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञानकल्याणक हुए थे। इन तीर्थंकरों ने छह खंड पृथ्वी की दिग्विजय करके चक्रवर्ती की विभूति पाई थी किन्तु उसको तृणवत् समझ, उसका त्याग कर दिया और इस प्रकार वे धर्मचक्रवर्ती हुए। यह तीर्थ हमें त्याग धर्म की शिक्षा देता है। श्री मल्लिनाथ का समवसरण भी यहाँ आया था। कुछ विद्वानों के मतानुसार भगवान पार्श्वनाथ का भी यहाँ पदार्पण हुआ था।

बलि और उसके मंत्रियों द्वारा अकम्पनाचार्य और अन्य 700 मुनियों पर यहीं उपसर्ग किया गया था। उस उपसर्ग को मुनि विष्णुकुमार ने वामन रूप धारण कर दूर किया था। तभी से रक्षाबंधन का पर्व प्रारंभ हुआ।

ई. सन् 1974 में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का इस तीर्थ पर पदार्पण हुआ, तभी से हस्तिनापुर ने नए इतिहास की रचना प्रारंभ कर दी, आज सम्पूर्ण विश्व इस तीर्थ को 'जम्बूद्वीप रचना' के कारण जानता है। विश्व की इस अद्वितीय रचना में जितने भी मंदिर हैं, अद्वितीय और स्वयं में अनूठे हैं। तीनमूर्ति मंदिर, कमल मंदिर, तीनलोक रचना आदि अनेकानेक मंदिर विशेष दर्शनीय और वंदनीय हैं। यहाँ करोड़ों वर्ष पूर्व भगवान ऋषभदेव के प्रथम आहार की स्मृति कराता "भगवान ऋषभदेव पारणा मंदिर" भी है। पर्यटन विभाग द्वारा "धरती का स्वर्ग" कहे जाने वाले इस पवित्र स्थल पर देश के ही नहीं विदेश के भी पर्यटक आकर असीम शांति की अनुभूति करते हैं। यहीं जैन भूगोल के समग्र स्वरूप को प्रदर्शित करने वाली अद्वितीय स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना भी निर्मित है।

उत्तर भारत के गौरव का प्रतीक माना जाने वाला जम्बूद्वीप अपने आप में एक परिपूर्ण आध्यात्मिक केन्द्र है। सन् 1985 से राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय आकर्षण केन्द्र के रूप में उभरे इस तीर्थ को दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान नामक संस्था संचालित करती है। शिक्षा प्रेमियों के लिए यहाँ लगभग 15 हजार पुस्तकों के भण्डारण का 'जम्बूद्वीप पुस्तकालय' तथा 'गणिनी ज्ञानमती शोधपीठ' के द्वारा विभिन्न जैन साहित्य पर शोधकार्य चलता है। हजारों मुद्रित ग्रंथों के साथ-साथ उक्त पुस्तकालय में अनेक प्राचीन प्राकृत एवं संस्कृत की पांडुलिपियाँ भी धरोहर के रूप में विद्यमान हैं। आबाल-

गोपाल सभी की रुचि को ध्यान में रखते हुए इस परिसर के अंदर हीरक जयंती एक्सप्रेस में 24 तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियों का दिग्दर्शन, जम्बूद्वीप रेल, झूले आदि मनोरंजन के साधन एवं हरे-भरे लान आदि प्राकृतिक सौन्दर्य अद्भुत एवं दर्शनीय है। यहाँ होली, दीपावली, कार्तिक पूर्णिमा, अक्षय तृतीया, शरदपूर्णिमा आदि विशेष अवसरों पर विशेष मेला लगता है जिसमें दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के संगठन का परिचय प्राप्त होता है।

हस्तिनापुर में प्राचीन दि. जैन बड़ा मंदिर है, जिसमें अनेकों भव्य मंदिर हैं, कैलाशपर्वत की मनोहारी रचना है। श्वेताम्बर मंदिर भी है, जिसके अन्तर्गत अष्टापद बना हुआ है।

यहाँ कार्तिक आष्टान्हिका के पर्व पर विशाल मेला होता है। फाल्गुनी आष्टान्हिका और ज्येष्ठ कृष्णा 14 को भी मेले होते हैं। अक्षय तृतीया के दिन भी विशेष समारोह आयोजित होता है।

**2.2.13 तीर्थंकर मल्लिनाथ एवं नमिनाथ जन्मभूमि मिथिलापुरी तीर्थ—**

उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ की जन्मभूमि "मिथिलापुरी" है जो वर्तमान में नेपाल के अंदर मानी जा रही है। उत्तरपुराण ग्रंथ में मिथिला नगरी बंग देश (बंगाल) में वर्णित है अतः यह खोज का विषय है।

इस मिथिला नगरी में इन दोनों तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार-चार कल्याणक हुए हैं। भगवान मल्लिनाथ ने माता प्रजावती और पिता कुम्भराज से मगशिर शुक्ला एकादशी को जन्म लिया था। इन्होंने विवाह नहीं किया और बालब्रह्मचारी रहकर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली थी। पुनः सम्मेदशिखर पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया था और भगवान नमिनाथ ने पिता विजय और माता वर्मिला से आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में जन्म लेकर मिथिलापुरी को पवित्र किया था तथा उन्होंने भी सम्मेदशिखर पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया था। कुछ लोगों ने इस मिथिलानगरी का अस्तित्व काठमाण्डू (नेपाल) में मानकर वहाँ जैनमंदिर का निर्माण भी किया है किन्तु उसका निर्विवाद अस्तित्व जनता के समक्ष अवश्य आना चाहिए।

**2.2.14 तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ जन्मभूमि राजगृही तीर्थ—**

राजगृही नालंदा से 13 किमी. और बिहारशरीफ से 23 किमी. है। यह बख्त्यारपुर-राजगृही रेलवे लाइन का आखिरी स्टेशन है। नई दिल्ली से सीधे ट्रेन चलती है। यहाँ गया से नवादा होते हुए भी आया जा सकता है। भागलपुर से क्यूल जंक्शन होते हुए नवादा या बख्त्यारपुर उतरकर भी यहाँ पहुँचा जा सकता है।

तीर्थ के रूप में राजगृही की प्रसिद्धि भगवान महावीर के पहले से है। यहाँ बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। राजगृही पाँच पहाड़ियों का समूह है इसलिए इसे पंचशील या पंचपहाड़ी भी कहते हैं। इन पाँच पहाड़ियों के नाम हैं : विपुलाचल, रत्नगिरि, उदयगिरि, अरुणगिरि (स्वर्णगिरि) और वैभारगिरि। इन्हीं पाँच पहाड़ियों से अनेक मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है, यथा—मुनिराज जीवंधर, श्वेत सुंदार्व, वैशाख, विद्युच्चर, गंधमादन, प्रीतिकर, धनदत्त आदिइसलिए राजगृही सिद्धक्षेत्र माना जाता है। भगवान महावीर का समवसरण यहाँ अनेक बार आया और राजा श्रेणिक ने अपनी शंकाओं का निवारण किया।

राजनैतिक दृष्टि से यह नगरी मगध की राजधानी रही है। महाराज श्रेणिक बिंबसार और उनके पुत्र कुणिक अजात-शत्रु की राजधानी भी यहीं थी। महाभारत काल में यह जरासंघ की राजधानी थी। उस युग में सामाजिक दृष्टि से इसका काफी महत्व था।

गौतम बुद्ध के संघ भी यहाँ कई बार आए। तत्कालीन श्रमण तीर्थंकरों और चिंतकों की यह क्रीड़ाभूमि थी। राजगृही प्राचीनकाल से ही जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। भगवान महावीर का धर्मचक्र प्रवर्तन इसी पवित्र स्थान पर हुआ। यहाँ श्रेणिक नामक राजा भगवान की शरण में आए और राजा एवं भगवान के अन्य भक्त जैनधर्म के उपासक

बने। नि:संदेह यह स्थान पतितोद्धारक है। यहाँ निर्मल गरम जल के झरने हैं जिनमें नहाने के बाद थकान मिट जाती है।

सबसे पहले विपुलाचल पर्वत आता है, जिस पर चार जिनंदिर हैं। भगवान मुनिसुव्रतनाथ के चार कल्याणकों का स्मारक इसी पर्वत पर है। यहीं भगवान महावीर की देशनास्वरूप एक स्तंभ में चारों ओर प्रतिमाएँ स्थापित हैं। उपरांत उदयगिरि पर जाना चाहिए। इस पर दो मंदिर हैं। खुदाई में यहाँ दो प्राचीन दिगम्बर मंदिर भी निकले हैं। इनकी मूर्तियाँ नीचे लालमंदिर में पहुँचा दी गई हैं। यहाँ से तलहटी में होकर तीसरे पर्वत श्रमणगिरि पर जाना चाहिए। यहाँ पर तीन मंदिर हैं। पहाड़ से उतरकर चौथे पहाड़ के रास्ते में सोन भंडार गुफा मिलती है। यहाँ दीवारों पर प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। अंतिम पर्वत वैभारगिरि है। जिस पर पाँच मंदिर हैं। यहाँ एक विशाल प्राचीन मंदिर निकला है, जिसमें 24 कक्ष हैं। यह लगभग 1200 वर्ष पुराना है। इसमें कई मूर्तियाँ विराजमान हैं। इन सब मंदिरों के दर्शन करके यहाँ से डेढ़ किमी. दूर गणधर भगवान के चरणों की वंदना करने जाना चाहिए। पहाड़ की तलहटी में सम्राट श्रेणिक के महलों के चिन्ह मिले हैं।

राजगृही में दो प्राचीन जिनमंदिर हैं, जिसमें लाल मंदिर जी में ई. सन् 2003-2004 में कमलाकार जिनमंदिर में भगवान मुनिसुव्रतनाथ की श्यामवर्णी खड्गासन प्रतिमा विराजमान हुई है तथा विपुलाचल पर्वत की तलहटी में मानस्तंभ का भी निर्माण हुआ है।

**2.2.15 तीर्थंकर नेमिनाथ जन्मभूमि शौरीपुर तीर्थ—**

फिरोजाबाद से बस द्वारा शिकोहाबाद पहुँचकर शौरीपुर-बटेश्वर पहुँचा जा सकता है। बटेश्वर शिकोहाबाद से 25 किमी. है। बटेश्वर से शौरीपुर 2 किमी. है।

शौरीपुर यादववंशी राजा शूरसेन की राजधानी था। यह स्थान बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के गर्भ और जन्मकल्याणक का स्थान है। यह श्रीधन्य, यम, विमलासुत केवलियों की मुक्तिभूमि और बहुत से मुनियों की केवलज्ञान भूमि भी है।

नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। नेमिनाथ के पिता का नाम महाराजा समुद्रविजय था। उस समय यह नगर बड़ा समृद्ध था। बाद में श्रीकृष्ण की लीलाभूमि मथुरा हो गई। राजगृही अधिपति जरासंध के आक्रमणों से त्रस्त होकर यदुवंशी इस क्षेत्र का त्याग करके द्वारिका जा बसे।

शौरीपुर में कई प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर हैं। मुख्य मंदिर दो मंजिला है। दूसरा मंदिर वरुआमठ सबसे प्राचीन है। यहाँ कई मनोज्ञ प्रतिमाएँ हैं। एक बड़े परकोटे के भीतर कई प्राचीन टोंकें व छत्रियाँ हैं। एक छत्री में मुनि धन्य एवं यम की चरण पादुकाएँ हैं। दालान में भगवान नेमिनाथ की मूंगई पाषाण की एक प्रतिमा अत्यन्त मनोहारी एवं अतिशययुक्त है। यहाँ एक प्राचीन कुआं भी है, जिसका जल स्वास्थ्यवर्धक है।

शौरीपुर बटेश्वर होकर ही पहुँचना होता है। बटेश्वर यमुना तट पर स्थित प्रमुख शैव-तीर्थ है। यहाँ बटेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मंदिर है और यमुना के किनारे एक सौ एक शिव मंदिर हैं। यहाँ यमुनातट पर एक विशाल जैन मंदिर है, जिसके साथ धर्मशाला भी है। इसमें श्री अजितनाथ भगवान की विशालकाय प्रतिमा है। इस मंदिर का निर्माण यहाँ के भट्टारकों ने कराया था। यहाँ श्री जगतभूषण आदि भट्टारकों का पट्ट (गादी) भी रहा है। यमुना के चढ़ जाने पर मंदिर का एक भाग जलमग्न हो जाता है। यहाँ भूगर्भ से प्रतिमाएँ मिलती रहती हैं। 3 जून 1976 को इस क्षेत्र के लगभग 80 दस्युओं ने इसी मंदिर के प्रांगण में आत्मसमर्पण किया था।

**2.2.16 तीर्थंकर महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर तीर्थ—**

बिहार शरीफ से नालंदा 12 किमी. है। नालंदा बौद्ध विश्वविद्यालय के लिए विख्यात है किन्तु अब इसके ध्वंसावशेष ही मिलते हैं। नालंदा से बड़गाँव नामक गाँव तीन किलोमीटर की दूरी पर है। गांव के बाहर एक 150 वर्ष प्राचीन जिनमंदिर है। यही स्थान भगवान महावीर की जन्मभूमि (कुण्डलपुर) माना जाता रहा है। यहाँ पर एक प्राचीन

मंदिर है एवं भगवान के चरण विराजमान हैं। इसे भगवान की गर्भ एवं जन्मभूमि माना जाता है।

भगवान महावीर जन्मूभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) में 'नंद्यावर्त महल' नाम से निर्मित तीर्थ परिसर में 108 फुट ऊँचा कलात्मक शिखर वाला विश्वशांति भगवान महावीर मंदिर है तथा उसके आजू-बाजू में भगवान ऋषभदेव मंदिर, नवग्रहशांति मंदिर हैं। महल के ठीक सामने तीन मंजिल ऊँचा विशाल त्रिकाल चौबीसी मंदिर है तथा दूसरी ओर भगवान महावीर के जन्म की याद दिलाता नंद्यावर्त महल है। नंद्यावर्त महल परिसर प्राचीन क्षेत्र के निकट है। सन् 2003-2004 में विकसित इस तीर्थ की महिमा अद्भुत है। सम्मेदशिखर, राजगृही आदि तीर्थ की वंदना करने वाले यात्री इस तीर्थ की चरण रज से स्वयं को धन्य मानते हैं।

## 2.3 दीक्षा-केवलज्ञान एवं निर्वाण तीर्थ—

### 2.3.1 इलाहाबाद-प्रयाग—

कानपुर से इलाहाबाद 200 किमी. है। इलाहाबाद (प्रयाग) गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम पर बसा है। यह भारत का अतिपवित्र तीर्थ माना जाता है हिन्दू इसे तीर्थराज कहते हैं। यह शिक्षा और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र है। संगम के निकट ही इलाहाबाद का प्रसिद्ध किला है। किले के अंदर एक वटवृक्ष है। यह अक्षय वट कहलाता है। कहते हैं कि तीर्थंकर ऋषभदेव ने इसी वटवृक्ष के नीचे तप किया था। यहीं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था इसीलिए इसे अक्षयवट कहते हैं। इस नगर में चार शिखरबंद मंदिर हैं जिनमें प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। मंदिरों की बनावट मनोहारी है। चाहचंद मुहल्ले में जैन धर्मशाला है। यहाँ किला, विश्वविद्यालय, संगम, आनंदभवन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन, उच्च न्यायालय आदि अनेक दर्शनीय स्थल हैं।

यहाँ बारहों महीने यात्री आते रहते हैं। हर बारहवें वर्ष 'कुंभ' और छठे वर्ष 'अर्धकुंभ' पड़ता है। उस समय यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। लाखों की संख्या में स्नानार्थी आते हैं।

**प्रयाग तपस्थली**—तीर्थंकर ऋषभदेव ने जिस सिद्धार्थ वन में जाकर वटवृक्ष के नीचे दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की थी वह स्थान इलाहाबाद में त्रिवेणी संगम के पास किले के अंदर है और वहाँ प्राचीन वटवृक्ष है। उसी से प्रभावित होकर इलाहाबाद से वाराणसी जाते समय तेरह किमी. पर प्रयाग तपस्थली का निर्माण सन् 2001 में हुआ है। यहाँ दीक्षा तपोवन, समवसरण रचना, कैलाशपर्वत, गुफा मंदिर व कीर्तिस्तंभ के दर्शन होते हैं। कुल पाँच मंदिर हैं।

### 2.3.2 अहिक्षेत्र या अहिच्छत्र—

मुरादाबाद से चंदौसी लाइन पर आंवला स्टेशन से रामनगर (जिला-बरेली) केवल 18 किमी. है। रामनगर ही अहिक्षेत्र है। आंवला स्टेशन से अहिक्षेत्र के लिए जीप व टैम्पो आदि मिलते हैं। बरेली, बदायूं, रामपुर व दिल्ली से बस सेवा उपलब्ध है।

भगवान पार्श्वनाथ कुमारावस्था में वाराणसी में गंगातट पर घूम रहे थे। उन्होंने कमठ के जीव को अग्नि जलाकर पंचाग्नि तप करते हुए देखा। अपने अवधिज्ञान से उन्होंने जान लिया कि एक लकड़ी में सर्पयुगल है। लकड़ी चीरने पर वह सर्पयुगल निकला। उन्हें मरणासन्न जान भगवान ने सम्बोधन दिया। यह सर्प युगल स्वर्ग में धरणेंद्र और पद्मावती हुये।

भगवान पार्श्वनाथ दीक्षा के उपरान्त इस क्षेत्र में आकर तपस्या में लीन हुए। तापस के जीव कमठ ने उन पर घोर उपसर्ग किया। वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। धरणेन्द्र और पद्मावती ने आकर अपने 'नागफण मंडलरूप' छत्र लगाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की। उपसर्ग दूर हुआ। भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। यहीं से उनके प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ। उपसर्ग की अवस्था में सौ फण का छत्र होने के कारण धरणेन्द्र ने इस स्थान का नाम अहिच्छत्र या

अहिक्षेत्र प्रकट किया।

'महाभारत' में पांचाल जनपद का उल्लेख मिलता है। उसके दो भाग बताए गए हैं। उत्तर भाग की राजधानी अहिक्षेत्र और दक्षिण भाग की राजधानी कांपिल्य। पहले पूरे पांचाल पर द्रुपद का राज्य था। द्रोणाचार्य ने उसे जीत लिया। फिर दो भागों में विभाजित कर दिया। उत्तम पांचाल पर स्वयं राज्य करने लगे। दक्षिण पांचाल द्रुपद को दे दिया।

यहां एक प्राचीन किला भी है, जो महाभारतकालीन बताया जाता है। यहां विस्तृत भूभाग में यत्र–तत्र प्राचीन खंडहर तथा कई शिलालेख और जैन मूर्तियां मिली हैं। यह क्षेत्र जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां जैन राजाओं का दीर्घकाल तक राज्य रहा है। राजा वसुपाल ने यहां एक सुन्दर सहस्रकूट जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। उसमें कसौटी के पाषाण की भगवान पार्श्वनाथ की नौ हाथ ऊंची लेपदार प्रतिमा विराजमान की थी। आचार्य पात्रकेशरी ने यहीं पर पद्मावती देवी द्वारा फणमंडप पर लिखित अनुमान के लक्षण पर अपनी शंका का निवारण किया था और जैनधर्म की दीक्षा ली थी। यह घटना राजा अवनिपाल के शासनकाल की है। राजा इस घटना से प्रभावित हुआ और उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। जिस समय गिरनार पर्वत पर भगवान नेमिनाथ का निर्वाणकल्याणक मनाया गया था, उसी समय यहां के राजा ने भी निर्वाणोत्सव मनाया था।

यहां एक प्राचीन शिखरबंद मन्दिर है। इसमें एक वेदी 'तिखाल वाले बाबा' की कहलाती है। बाबा का बड़ा चमत्कार है। इस मूर्ति की बड़ी मान्यता है। अनेक लोग मनौती मनाने आते हैं।

यहां कुल तीन मन्दिर हैं। रामनगर गांव में एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर है। यहाँ का तीस चौबीसी मंदिर विशेष दर्शनीय है।

यहां पर एक कुंए के जल में विशेष गुण है। उस जल के पीने से अनेक रोग शांत हो जाते हैं। प्राचीन काल में समीपस्थ क्षेत्रों के राजा, नवाब आदि इस कुएं का जल मंगवाते थे। उत्तराभिधाना बावड़ी के जल में स्नान करने से कुष्ट रोग दूर हो जाता है। यहां के वन से अनेक प्रकार की औषधियाँ प्राप्त होती हैं।

### 2.3.3 मंदारगिरि—

मंदारगिरि भागलपुर से 49 कि. मी. दूर है। यह भगवान वासुपूज्य का तप और मोक्षकल्याणक स्थान है। भागलपुर से मंदारगिरि को रेल और बस दोनों जाती हैं।

गांव का नाम बौंसी है। रेलवे स्टेशन के सामने बस स्टैंड से आधे किलोमीटर की दूरी पर दिगम्बर जैन मंदिर और धर्मशाला है। क्षेत्र का कार्यालय भी यहीं है। क्षेत्र कार्यालय से मंदारगिरि पर्वत 3 कि.मी. है। तलहटी से पर्वत की चढ़ाई डेढ़ कि. मी. से कुछ अधिक है। रास्ते में मंदिर और जलकुंड है। पर्वत शिखर पर दो बड़े मंदिर हैं : 'बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर' और 'छोटा दिगम्बर जैन मन्दिर' जहां भगवान वासुपूज्य की खड्गासन दिव्य प्रतिमा विराजमान है। पास ही एक गुफा भी है। तीनों जगह भगवान वासुपूज्य के चरणचिह्न अंकित हैं।

हिंदू मान्यता के अनुसार समुद्रमंथन के समय इसी पर्वत (मंदराचल) को राई बनाया गया था।

### 2.3.4 प्रभाषगिरि-पभोसा—

यह कल्याणक क्षेत्र है। छठे तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभ के दीक्षा और ज्ञानकल्याणक का स्थान है। पभोसा कौशाम्बी का ही भाग माना जाता है। यहाँ एक विशाल दिगम्बर जैन मंदिर है। कुछ प्राचीन मूर्तियाँ भी जो खेतों से मिली थीं, यहाँ विराजमान हैं। मूलनायक प्रतिमा अतिशययुक्त है। यह दिन के बढ़ने-घटने के साथ रंग बदलती दिखाई देती है। एक चमत्कार यह भी बताया जाता है कि यहाँ केशर बरसती है, विशेष रूप से कार्तिक सुदी 13 और चैत्र सुदी 15 को।

यह क्षेत्र दीर्घकाल तक जैनों का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ का राजा उदयन बड़ा मंदिर था। उसके समय में यहाँ पर जैनधर्म बहुत उन्नति पर था। यहाँ आसपास में जैन पुरातत्त्व संबंधी सामग्री और मूर्तियाँ बहुतायत से मिली हैं।

### 2.3.5 गिरनार—

गिरनार तीर्थक्षेत्र को आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में मंगल–क्षेत्र माना है। इस क्षेत्र में बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के तीन कल्याणक—दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुए हैं। गिरनार जूनागढ़ से केवल 5 कि. मी. है। जूनागढ़ में बंडीलाल दिगम्बर जैन कारखाना नाम से क्षेत्र का कार्यालय है। इसी में मंदिर और मानस्तंभ भी हैं। यहीं बड़ी धर्मशाला है। धर्मशाला से कुछ दूर चलने पर पहाड़ पर चढ़ने की सीढ़ियां शुरू हो जाती हैं। 4400 सीढ़ियां चढ़कर पहली टोंक है। यहां पर 4 दिगम्बर जैन मंदिर और धर्मशाला हैं। निकट ही राजुल गुफा है। कहा जाता है कि राजुलमती ने यहीं तपस्या की थी। गुफा अंधेरी है और बैठकर जाना पड़ता है। फिर 109 सीढ़ी चढ़कर गोमुख कुंड आता है। वहां दीवार में 24 चरण बने हुए हैं।

गोमुख से आगे खंगार का किला और अनेक श्वेताम्बर मंदिर हैं। पहली टोंक से 100 सीढ़ी चढ़कर अनिरुद्धकुमार की टोंक और निकट में अंबादेवी का मंदिर है। (यह मंदिर अब हिन्दुओं के अधिकार में है)। फिर 700 सीढ़ी चढ़कर शंभुकुमार की टोंक और उसके बाद 2500 सीढ़ी चढ़कर पांचवी टोंक भगवान नेमिनाथ की है। यहां पण्डों ने अनधिकृत कब्जा किया हुआ है। चौथी टोंक प्रद्युम्नकुमार की है। इस प्रकार भगवान नेमिनाथ की टोंक तक पहुंचने में 9999 सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। वापसी में पहली टोंक से 1499 सीढ़ियों द्वारा सहस्राम्र वन जाते हैं।

इस क्षेत्र पर ही आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदंत एवं भूतबलि ने षट्खंडागम ग्रंथ की रचना की थी। पर्वत की तलहटी में निर्मल ध्यान केन्द्र में भव्य जिनालय दर्शनीय है। जूनागढ़ शहर में भी ऊपर कोट के पास दिगम्बर जैन मंदिर है।

## 2.4 श्री सम्मेदशिखर (मधुवन)—

श्री सम्मेदशिखर रेलवे स्टेशन का नाम पारसनाथ है, यह स्टेशन हावड़ा–दिल्ली रेलवे लाइन पर स्थित है, कस्बे का नाम ईसरी बाजार है। यहाँ तेरापंथी और बीसपंथी दो धर्मशालाएँ हैं। जिनमें भव्य दिगम्बर जैन मंदिर हैं। इसी के पास जैन सन्त गणेशप्रसाद जी वर्णी की समाधि है, साथ ही दिगम्बर जैन मंदिर है। यहाँ त्यागी आश्रम भी है। यहाँ से सम्मेदशिखर पर्वत दिखाई देता है। बस या टैक्सी द्वारा पहाड़ की तलहटी मधुवन पहुँचना चाहिए। ईसरी से मधुवन 22 किमी. है। ईसरी में कुल चार दिगम्बर जैन मंदिर हैं।

मधुवन में तेरापंथी और बीसपंथी कोठियों के अधीन कई धर्मशालाएँ हैं। जिनमें भव्य दिगम्बर जैन मंदिर हैं। कुन्दकुन्द मार्ग पर शाश्वत ट्रस्ट भवन, शाश्वत बिहार, उत्तरप्रदेश प्रकाश भवन एवं और भी कई धर्मशालाएँ हैं। इसी सड़क पर भगवान आदिनाथ व शीतलनाथ के मंदिर हैं। बीसपंथी कोठी के सामने मध्यलोक की रचना, तीर्थक्षेत्र कमेटी का कार्यालय, आचार्य श्री विमलसागर जी की समाधि, तीस चौबीसी का मंदिर व समवसरण रचना मंदिर दर्शनीय है।

सम्मेदाचल महापवित्र तथा अत्यन्त प्राचीन सिद्धक्षेत्र है। यह अनादि तीर्थ माना जाता है। इसकी वंदना करके प्रत्येक जैन अपना अहोभाग्य समझता है। अनंत तीर्थंकर भगवान अपनी अमृतवाणी और दिव्यदर्शन से इस तीर्थ को पवित्र बना चुके हैं। अनंतानंत मुनिगण यहाँ से मुक्त हुए हैं। इस युग के 20 तीर्थंकर भी यहीं से मोक्ष पधारे हैं। मधुकैटभ जैसे दुराचारी प्राणी भी यहाँ के पवित्र वातावरण में आकर पवित्र हो गये और स्वर्ग सिधारे। नि:संदेह इस तीर्थराज की महिमा अपार है। इंद्रादिक देव इसकी वंदना करके ही अपना जीवन सफल हुआ समझते हैं। यदि कोई भव्य जीव इस तीर्थ की यात्रा–वंदना भाव सहित करे तो उसे पूरे पचास भव भी धारण नहीं करने पड़ते। इस क्षेत्र का इतना प्रबल प्रभाव है कि वह 49 भवों में ही संसार भ्रमण से छूटकर मोक्षलक्ष्मी का अधिकारी होता है। पं. द्यानतराय जी ने तो यहाँ तक कहा है—

**एक बार वंदे जो कोई। ताहि नरक पशुगति नहिं होई।।**

एक अन्य कवि ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

**''पुण्यवान पाते हैं दर्शन, छुटें नरक पशुगति के बंधन''**

इस गिरिराज की वंदना करने से परिणामों में निर्मलता होती है। फलतः पुण्य-कर्मबंध होता है, आत्मा में वह पुनीत संस्कार अत्यन्त प्रभावशाली हो जाता है कि जिससे पाप पंक में वह गहरा नहीं फंसता है। दिनोंदिन परिणामों की विशुद्धि होने से एक दिन वह प्रबल पौरुष प्रकट होता है, जो उसे आत्म स्वातंत्र्य अर्थात् मुक्ति दिलाता है। सम्मेदाचल की वंदना करते समय इस धर्म सिद्धांत का ध्यान रखें और बीस तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र और गुणों में अपना मन लगाए रखें।

इस सिद्धाचल पर देवेन्द्र ने आकर जिनेन्द्र भगवान के निर्वाणस्थल चिन्हित कर दिए थे। उन स्थानों पर 'चरण चिन्ह' सहित सुंदर टोंक निर्मित की गई थीं। कहते हैं कि सम्राट श्रेणिक के समय में वे अतीव जीर्ण अवस्था में थीं। यह देखकर उन्होंने स्वयं उनका जीर्णोद्धार कराया और भव्य टोंकें निर्मित करा दीं। कालदोष से वे भी नष्ट हो गईं, जिस पर अनेक दानवीरों ने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग जीर्णोद्धार में लगाकर किया। सन् 1678 में यहाँ पर दिगम्बर जैनों का एक महान जिनबिम्ब प्रतिष्ठोत्सव हुआ था। पहले पालगंज के राजा इस तीर्थ की देखभाल करते थे। बाद में दिगम्बर जैनों का यहाँ जोर हुआ किन्तु मुसलामानों के आक्रमण में यहाँ का मुख्य मंदिर नष्ट हो गया। तब एक स्थानीय जमींदार भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा को अपने घर उठा ले गया। वह यात्रियों से कर वसूल करके उनको दर्शन कराता था। सन् 1820 ई. में कर्नल मैकेंजी ने अपनी आँखों से यह दृश्य देखा था। पर्याप्त यात्रियों के एकत्र होने पर वह कर वसूल करके दर्शन कराता था। जो कुछ भेंट चढ़ती थी सब वह ले लेता था। पार्श्वनाथ की टोंक वाले मंदिर में दिगम्बर जैन प्रतिमा ही प्राचीनकाल से रही है।

अब दिगम्बर, श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के जैन इस तीर्थ को पूजते हैं और मानते हैं।

उपरैली कोठी से ही पर्वत वंदना का मार्ग प्रारंभ होता है। वंदना प्रातः चार बजे से प्रारंभ होती है। 3 किमी. चढ़ाई चढ़ने पर गंधर्व नाला पड़ता है। फिर दो किमी. आगे चढ़ने पर दो मार्ग हो जाते हैं। बाईं तरफ का मार्ग पकड़ना चाहिए क्योंकि वह सीतानाला होकर गणधर टोंक को गया है। दूसरा रास्ता पार्श्वनाथ की टोंक से आता है। यहाँ से तीन किमी. की चढ़ाई पर चोपड़ा कुण्ड का दिगम्बर जैन मंदिर पड़ता है जिसमें भगवान पार्श्वनाथ, भगवान चन्द्रप्रभु व भगवान बाहुबली जी की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। वहाँ से गणधर टोंक 1 किमी. है। कुल चढ़ाई 9 किमी. है।

सबसे पहले गणधर टोंक की वंदना की जाती है। कहा भी है कि—

**जिनवाणी की व्याख्या करके जीवों का उपकार किया।**
**इसीलिए श्री गणधर जी का सबने जय-जयकार किया।।**
**जिनराजों की टोंक से पहले वन्दन है श्री गणधर का।**
**जिनके तेजस्वी प्रकाश से तिमिर मिटे जीवन भर का।।**

पर्वतराज पर कुल 21 प्राचीन टोंक हैं। एक गणधर की और 20 विभिन्न तीर्थंकरों की हैं। दिगम्बर आम्नाय की इन सभी टोंकों में चरण-चिन्ह स्थापित हैं। जिस प्रकार गीली मिट्टी पर चलने से चरणों के चिन्ह बन जाते हैं उसी प्रकार यह चरण चिन्ह बने हैं।

पहले गौतम स्वामी की टोंक की वंदना करके बाएं हाथ की तरफ वंदना करते हैं। दसवीं श्री चन्द्रप्रभ जी की टोंक बहुत ऊँची है। श्री अभिनंदननाथ जी की टोंक से उतरकर तलहटी में जलमंदिर में जाते हैं और फिर गणधर की टोंक पर पहुँचकर पश्चिम दिशा की ओर वंदना करते हैं। अंत में भगवान पार्श्वनाथ की स्वर्णभद्र टोंक पर पहुँचते हैं। यह टोंक सबसे ऊँची है और यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुहावना है। यहाँ पहुँचते ही यात्री अपनी थकान भूल जाता है और

जिनेन्द्र पार्श्व की चरण-वंदना करते ही आत्माह्लाद में निमग्न हो जाता है। यहाँ दर्शन-पूजन, सामायिक करके लौट आना चाहिए। नीचे उतरते समय 500 मीटर पर डाक बंगले में दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी की ओर से रात्रि विश्राम और दिन में भोजन की व्यवस्था रहती है। सीतानाले पर जलपान गृह है, जिसका जीर्णोद्धार दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी ने कराया है। कोठियों की ओर से यात्रियों के लिए स्वल्पाहार व चाय का प्रबंध रहता है।

पर्वत समुद्र तल से लगभग 1500 मीटर ऊँचा है। इस पर्वतराज का प्रभाव अचिंत्य है। कुछ भी थकान मालूम नहीं होती है। नीचे मधुवन में लौटने पर वहाँ के मंदिरों के दर्शन करना चाहिए। मनुष्य जन्म पाने की सार्थकता तीर्थयात्रा करने में है और सम्मेदाचल की वंदना करके मानव कृतार्थ हो जाता है।

## 2.5 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकरों की कितनी जन्मभूमियाँ हैं ?

(क) चौबीस ☐ (ख) बीस ☐ (ग) सोलह ☐

**प्रश्न 2**-भगवान ऋषभदेव द्वारा जिन षट्कर्मों का उपदेश प्रजा को दिया गया, उसमें से चौथा कर्म—

(क) मसि ☐ (ख) कृषि ☐ (ग) विद्या ☐

**प्रश्न 3**-भगवान महावीर के समवसरण में कितनी आर्यिकाएँ थीं ?

(क) 36000 ☐ (ख) 25000 ☐ (ग) 35000 ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-अक्षय तृतीया पर्व कब से और क्यों मनाया जाता है ? संक्षिप्त कथानक बताइए ?

**प्रश्न 2**-भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा कहाँ ली थी एवं केवलज्ञान की प्राप्ति कहाँ की, उस स्थान का परिचय लिखें ? उसका पुनर्निर्माण कब हुआ ?

**प्रश्न 3**-भगवान पार्श्वनाथ को दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे और कहाँ हुई ? उसके पीछे छिपे कथानक का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 4**-चौबीसों तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, केवलज्ञानभूमि एवं निर्वाणभूमियों के नाम बताइए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-दिगम्बर जैन ग्रन्थानुसार शाश्वत-अनादि सिद्धक्षेत्र कौन सा है, उसका विस्तृत परिचय बताइए ?

## पाठ-3 – कतिपय ऐतिहासिक प्रमुख तीर्थ

3.1 यहाँ कुछ प्रमुख ऐतिहासिक तीर्थों से आपको परिचित कराया जा रहा है। इन तीर्थों को दो भागों में विभक्त किया गया है — (1) उत्तर भारत के तीर्थ (2) दक्षिण भारत के तीर्थ।

प्रथमत: आप पढ़ेंगे उत्तर भारत के तीर्थों के बारे में —

## उत्तर भारत के प्रमुख ऐतिहासिक तीर्थ

### 3.2 उत्तरप्रदेश-उत्तराखंड —

**मथुरा चौरासी —**

दिल्ली-आगरा के बीच मथुरा, रेल लाइन एवं रोड से जुड़ा है। मथुरा-दिल्ली से 145 किमी. है। मथुरा अति प्राचीन काल से भारत का महान तीर्थ रहा है। हिन्दू, बौद्ध और जैनों में इसकी बड़ी मान्यता रही है। हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार मथुरा की गणना सप्त महापुरियों में की जाती है। श्रीकृष्ण की जन्मस्थली एवं लीलाभूमि होने के नाते यहाँ देश-विदेश के लाखों यात्री प्रतिवर्ष आते हैं।

चौरासी सिद्धक्षेत्र मथुरा स्टेशन से 4 किमी. और सड़क मार्ग बाईपास पर अवस्थित है। यहाँ अंतिम केवली श्री जम्बूस्वामी संघ सहित पधारे थे। उनके साथ महामुनि विद्युच्चर और पाँच सौ मुनिराजों ने भी तप किया था। किसी धर्मद्रोही ने उन पर उपसर्ग किया। मुनिराजों ने उसे समताभाव से सहा। अंत में उनका समाधिमरण हुआ। उनकी स्मृति में यहाँ पाँच सौ स्तूप बने हुए थे। सोलहवीं शताब्दी तक उनका उल्लेख मिलता है। सम्राट अकबर के समय में अलीगढ़वासी साहू टोडर ने उनका जीर्णोद्धार किया था। कालांतर में वे भी नष्ट हो गये। वहीं पर एक स्तूप भगवान पार्श्वनाथ के समय का बना हुआ था, इसे 'देवनिर्मित' कहा जाता था। श्री सोमदेवसूरि ने उनका उल्लेख अपने 'यशस्तिलकचंपू' में किया है। जम्बूस्वामी के निर्वाण के कारण यह स्थान (चौरासी) सिद्धक्षेत्र माना जाता है। चौरासी में भव्य जैन मंदिर, ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम और उद्यान में 6 मीटर ऊँची ग्रेनाइट पाषाण की बनी प्रतिमा विराजमान है।

मथुरा में समय-समय पर की गई खुदाई में शिलालेखों, आयागपट्टों, मूर्तियों आदि की विपुल सामग्री मिली है। यहाँ बहुत सारे टीले हैं, जिनमें कंकाली टीला अति प्रसिद्ध है। यह सात टीलों का समूह है और कंकाली देवी के मंदिर के कारण कंकाली टीला कहलाता है। इस स्थान से स्तूप, मूर्तियाँ, सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ, शिलालेख, आयागपट्ट, धर्मचक्र, तोरण, स्तंभ, वेदिकाएँ आदि जैन पुरातत्व की बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हुई हैं। कतिपय अन्य स्थानों से भी काफी सामग्री प्राप्त हुई है। यह सामग्री ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से ईसा की बारहवीं शताब्दी तक की है और इस समय मथुरा के राष्ट्रीय संग्रहालय (कर्जन म्यूजियम) में सुरक्षित है। जैनधर्म की प्राचीनता समझने के लिए इस संग्रहालय का अवलोकन अवश्य करना चाहिए।

मथुरा के दर्शनीय स्थलों में श्रीकृष्ण जन्मस्थान, श्री द्वारिकाधीश का मंदिर, वृंदावन के श्रीरंगजी और बांकेबिहारी जी के मंदिरों का उल्लेख किया जा सकता है। श्रीकृष्ण की लीलाओं के संबंध होने के कारण समीपवर्ती स्थान — गोकुल, नंदगांव, बरसाना, दाऊजी, गोवर्धन, राधाकुंड आदि भी तीर्थ माने जाते हैं। यहाँ भी हर समय यात्रियों का आना-जाना बना रहता है।

मथुरा नगर में चार दिगम्बर जैन मंदिर और एक चैत्यालय है। घीया मंडी में दिगम्बर जैन धर्मशाला भी है। वृंदावन में भी एक दिगम्बर जैन मंदिर है।

**त्रिलोकपुर—**

अतिशयक्षेत्र त्रिलोकपुर बाराबंकी जिले में बिंदौरा रेलवे स्टेशन से 5 किमी. है। सड़क मार्ग द्वारा यह अयोध्या से 167 व रतनपुरी से 143 किमी. है। बाराबंकी से 20 किमी. बिंदौरा नहर से 6 किमी. पड़ता है।

यहाँ दो जैन मंदिर हैं। भगवान नेमिनाथ का मंदिर अतिशयक्षेत्र कहा जाता है। इसमें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्णी कसौटी पाषाण की 55 सेमी. की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। प्रतिमा अति मनोज्ञ है। इसके चमत्कारों और अतिशयों की नाना किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। सुबह से शाम तक मूर्ति का भाव परिवर्तन होता दिखाई देता है। दूसरा मंदिर भगवान पार्श्वनाथ का है। यहाँ प्रतिवर्ष कार्तिक शुक्ला षष्ठी को मेला होता है।

**ललितपुर ( क्षेत्रपाल )—**

ललितपुर को जैन तीर्थों का जंक्शन कहा जाता है। यह चारों ओर से उत्कृष्ट जैन कला तीर्थों से घिरा हुआ है, यथा—देवगढ़, सैरोन, चंदेरी, थुबौन जी, पपौरा, आहारजी आदि।

यहाँ सात शिखरबंद जिनालय और तीन चैत्यालय हैं। रेलवे स्टेशन से नगर को जाते हुए कुछ ही दूरी पर क्षेत्रपाल स्थित है। यहाँ एक कोट के अंदर पाँच अत्यंत रमणीक मंदिर बने हुए हैं, उनमें भगवान अभिनंदननाथ की प्रतिमा बड़ी मनोज्ञ है। इन मंदिरों में से एक मंदिर भूगर्भ (भोंयरे) में है। वहाँ 12 प्रतिमाएँ तीर्थंकरों की तथा 35 देवी-देवताओं की हैं। यहाँ क्षेत्रपाल के चमत्कार बहुत प्रसिद्ध हैं अतः इसे क्षेत्रपाल मंदिर के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है।

**नवागढ़—**

यह ललितपुर की तहसील महरौनी से 20 किमी. सौजना से 5 किमी. तथा सागर-टीकमगढ़ बस मार्ग पर स्थित बड़ागाँव क्षेत्र से 8 किमी. की दूरी पर स्थित सुरम्य प्राकृतिक सौन्दर्ययुक्त अतिशय क्षेत्र है।

यहाँ मूलनायक भगवान अरनाथ प्रभु से ग्रामीण अंचल की जैन-जैनेतर समाज की अगाध श्रद्धा जुड़ी है। प्राकृतिक आपदा, असाध्य बीमारी, पशु पीड़ा का निदान भक्तजनों को निष्काम साधना से निरन्तर प्राप्त होता है।

**कारीटोरन—**

श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कारीटोरन में भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरहनाथ की 3 खड्गासन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। यहाँ जाने के लिए ललितपुर से सायं 5 बजे वाया महरौनी बस सुविधा उपलब्ध है।

**सेरोन—**

ललितपुर से 21 किमी. सेरोन है। भगवान शांतिनाथ की पाँच मीटर ऊँची प्रतिमा मूलनायक प्रतिमा है। भव्य मानस्तंभ व धर्मशाला है। परकोटे के भीतर 6 मंदिर हैं। लगभग 150 मूर्तियाँ हैं। पास में मंदिरों और मूर्तियों के भग्नावशेष मिलते हैं।

**पवा जी ( पावागिरि )—**

यह झांसी से 41 किमी. और ललितपुर से 48 किमी. है। रेलमार्ग से बसई स्टेशन या तालबेहट उतरकर 14 किमी. पड़ता है। यहाँ पर 13वीं-14वीं शताब्दी की मनोज्ञ मूर्तियाँ और तीन नवीन जिनालय हैं। लगभग 10 मीटर ऊँचा मानस्तंभ है। बाहुबली स्वामी की एक मूर्ति भी विराजमान की गई है। इस क्षेत्र की मान्यता अतिशयक्षेत्र के रूप में रही है। कुछ समय से कतिपय विद्वानों का मत है कि स्वर्णभद्र आदि मुनि जिस पावागिरि से मोक्ष गए थे वह स्थान यही है। यहाँ मुनियों की छत्रियाँ भी बनी हुई हैं।

**करगुआं ( झांसी )—**

यह झांसी से 5 किमी. दूर लखनऊ वाली सड़क पर है। यह अतिशयक्षेत्र माना जाता है। यहाँ क्षेत्र के सामने मेडिकल कॉलेज है। कॉलेज के गेट नं. 2 के सामने अंदर की ओर जाना होता है। क्षेत्र एक प्राचीन परकोटे में है। मंदिर

भूगर्भ (भोंयरे) में है, जिसमें बड़ी-बड़ी प्रतिमाएँ हैं। यहाँ मूलनायक प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है। इसके अलावा चार मंदिर और हैं।

## 3.3 हरियाणा—

**रानीला-**

यहाँ 18-10-1991 को दशहरे के दिन रेत के टीले से भगवान आदिनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त हुई। प्रतिमा के तीन ओर फलक पर अन्य तेईस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं, साथ ही एक अन्य प्रतिमा चक्रेश्वरी देवी की भी मिली है। सभी मूर्तियाँ एक बड़े कक्ष में विराजमान की गई हैं। श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी यहाँ के विकास कार्यों में संलग्न है। विशाल भूखण्ड पर जिनालय व धर्मशाला निर्मित हो गई है। यात्रियों के भोजन आदि की समुचित व्यवस्था है। यह स्थान दिल्ली से रोहतक होते हुए 118 किमी. पक्की सड़क से जुड़ा है।

**हांसी (पुण्योदय तीर्थ)—**

यहाँ 19-1-1982 को पुराने किले की दीवार से एक घड़े में अष्टधातु की 57 प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं। यह सभी प्रतिमाएँ स्थानीय दिगम्बर जैन मंदिर में विराजमान हैं। तीर्थ के विकास हेतु एक बहुत बड़े भूखण्ड पर विशाल जिनालय बनाने का कार्य प्रगति पर है। हांसी नगर दिल्ली-हिसार रोड पर अवस्थित है। यात्रियों के लिए सभी सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। एक प्राचीन मंदिर भी है।

## 3.4 बिहार, झारखंड—

**श्री कमलदह जी (पटना)—**

मौर्यकाल का पाटलीपुत्र यही है। कुसुमपुर आदि नामों से भी इसका उल्लेख मिलता है। यह नगर संस्कृति और राजनीति का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ चाणक्य द्वारा नंद वंश के उन्मूलन के बाद मौर्यवंश की स्थापना की गई थी। गुलजारबाग स्टेशन के पास दिगम्बर जैन मंदिर है। जहाँ मूलनायक प्रतिमा भगवान नेमिनाथ की है। जैन शास्त्रों में कमलदहजी को सिद्धक्षेत्र माना जाता है। यहीं से मुनि सुदर्शन ने निर्वाण प्राप्त किया था। गुलजारबाग के निकट ही सुदर्शन मुनि की टेकरी है, जहाँ चरणपादुकाएँ विराजमान हैं।

पटना में कुल मिलाकर पाँच दिगम्बर जैन मंदिर और एक चैत्यालय है। यहाँ तीन संग्रहालय हैं—राज्य संग्रहालय, जालान संग्रहालय और कनोडिया संग्रहालय। इनके अतिरिक्त राजभवन, विधानसभा, कदम कुआं, पाटलीपुत्र के ध्वंसावशेष, शहीद स्मारक और हैवतजंग का मकबरा भी दर्शनीय हैं।

कहा जाता है कि श्री इन्द्रभूति गौतम और सुधर्माचार्य के सम्मुख शिशुनाग वंश के राजा अजातशत्रु जैनधर्म में दीक्षित हुए थे। पाटलीपुत्र नगर को अजातशत्रु के पौत्र उदयन ने बसाया था। उन्होंने अनेक जिनमंदिरों का भी निर्माण कराया था।

**गुणांवाजी—**

पावापुरी के मोड़ से 22 कि.मी. की दूरी पर गुणांवा है। यह पवित्र स्थान गणधर इंद्रभूति गौतम निर्वाण स्थल माना जाता है। यह सिद्धक्षेत्र है। यहां भी एक सरोवर है जिसके मध्य में एक मंदिर बना है। मंदिर तक पहुँचने के लिए लगभग 60 मीटर लंबा पुल है। मंदिर में गणधर गौतम स्वामी के चरण हैं। यहां सड़क के किनारे भी एक दिगम्बर जैन मंदिर है।

**मंदारगिरि—**

मंदारगिरि भागलपुर से 49 किमी. दूर है। यह भगवान वासुपूज्य का तप और मोक्षकल्याणक स्थान है। भागलपुर

से मंदारगिरि को रेल और बस दोनों जाती हैं।

गांव का नाम बौंसी है। रेलवे स्टेशन के सामने बस स्टैण्ड से आधे किलोमीटर की दूरी पर दिगम्बर जैन मंदिर और धर्मशाला है। क्षेत्र का कार्यालय भी यहीं है। क्षेत्र कार्यालय से मंदारगिरि पर्वत 3 किमी. है। तलहटी से पर्वत की चढ़ाई डेढ़ किमी. से कुछ अधिक है। रास्ते में मंदिर और जलकुण्ड है। पर्वत शिखर पर दो बड़े मंदिर हैं 'बड़ा दिगम्बर जैन मंदिर' और 'छोटा दिगम्बर जैन मदिंर' जहाँ भगवान वासुपूज्य की खड्गासन दिव्य प्रतिमा विराजमान है। पास ही एक गुफा भी है। तीनों जगह भगवान वासुपूज्य के चरणचिन्ह अंकित हैं।

हिन्दू मान्यता के अनुसार समुद्रमंथन के समय इसी पर्वत (मंदराचल) को राई बनाया गया था।

## 3.5 गुजरात—

**महुआ ( विघ्नहर पार्श्वनाथ )—**

यह अतिशयक्षेत्र है। सूरत जिले के बारडोली स्टेशन से 15 किमी. दूर यह पूर्णा नदी के तट पर स्थित है। बारडोली, नवसारी और सूरत सड़क मार्ग से यहाँ पहुँचा जा सकता है। यह सूरत से 44 किमी. दूर है। गर्भगृह में भगवान पार्श्वनाथ की अतिशयसम्पन्न प्रतिमा है। यहाँ पर हिन्दू भी बड़ी संख्या में मनौती मनाने आते हैं तथा गाजे-बाजे के साथ नारियल आदि चढ़ाते हैं।

इस क्षेत्र को तीन बार भीषण आग और बाढ़ का सामना करना पड़ा। यहाँ दो मंदिर (चंद्रप्रभ और पार्श्वनाथ) थे, जिनमें लकड़ी पर सुन्दर नक्काशी का काम था। मंदिर तो अधिकांश नष्ट हो गये, कुशल है कि किसी मूर्ति को क्षति नहीं पहुँची। मंदिर विशाल हैं।

**अमीझरो पार्श्वनाथ—**

अमीझरो पार्श्वनाथ अतिशयक्षेत्र है। अहमदाबाद-खेडब्रह्मा रेल मार्ग पर बड़ाली स्टेशन है। बड़ाली ग्राम में दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र अमीझरो पार्श्वनाथ है।

बड़ाली ग्राम में एक प्राचीन मंदिर है। इसमें अमीझरो पार्श्वनाथ की लगभग 1 मीटर अवगाहना की मूलनायक प्रतिमा है। मंदिर के भीतर बावड़ी और धर्मशाला है।

बड़ाली हिम्मतनगर से 44 किमी. और ईडर से 14 किमी. है। ईडर के आसपास कई अतिशय क्षेत्र अथवा मंदिर उपेक्षित दशा में हैं। ईडर से 5 किमी. पर मुडेठी ग्राम में प्राचीन शिखरबंद जिनालय है, जिसमें चिंतामणि पार्श्वनाथ की बड़ी मनोज्ञ प्रतिमा है। टाकाटू और बोईडा के बीच नदी के किनारे आदीश्वर भगवान का शिखरबंद प्राचीन मंदिर है।

**अंकलेश्वर—**

सूरत और बड़ौदा (बड़ोदरा) के बीच में अंकलेश्वर स्टेशन है। स्टेशन से अंकलेश्वर ग्राम 1 किमी. है। बड़ौदा से अंकलेश्वर 79 किमी. है।

नगर में चार दिगम्बर जैन मंदिर हैं यहाँ भोंयरे में भगवान पार्श्वनाथ की अतिशयसम्पन्न मूर्ति है। यह चिंतामणि पार्श्वनाथ के नाम से विख्यात है। आम धारणा है कि इनके दर्शन से समस्त चिंताएं दूर हो जाती हैं। यहाँ पर जैन और जैनेतर बंधु भारी संख्या में मनौती मांगने जाते हैं। इसके अलावा नेमिनाथ मंदिर, आदिनाथ मंदिर और महावीर मंदिर भी हैं। महावीर मंदिर बड़ा मंदिर कहलाता है।

श्रुतधारी आचार्य धरसेन ने अंगश्रुत का विच्छेद हो जाने की आशंका से उस ज्ञान को सुपात्र विद्वानों को देना चाहा। पुष्पदंत और भूतबलि ने उनसे ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् इन दो साधुओं ने पहला चातुर्मास अंकलेश्वर में किया। वहीं पर इन दोनों मुनियों ने श्रुत के प्रचार पर चिंतन किया। इस प्रकार अंकलेश्वर पुष्पदंत और भूतबलि की चरण-रज से

पवित्र हुआ था। नगर में दिगम्बर जैन धर्मशाला है।

**पावागढ़ (पावागिरि)—**

अंकलेश्वर से बड़ौदा पहुँचकर सड़क द्वारा पावागढ़ पहुँचा जा सकता है। पश्चिम रेलवे के बड़ौदा-रतलाम मार्ग पर स्थित चांपानेर से पावागढ़ के लिए छोटी लाइन भी जाती है। पावागढ़ सिद्धक्षेत्र माना जाता है। यहाँ से रामचंद्र जी के दो पुत्र (लव और कुश) और असंख्य मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की थी। यहाँ एक दिगम्बर जैन धर्मशाला है, जो स्टेशन और बस स्टैण्ड दोनों जगहों से बराबर फासले (एक किमी.) पर है। एक मंदिर और मानस्तंभ धर्मशाला के अंदर है। धर्मशाला के बाहर भी एक मंदिर है।

प्राचीनकाल में पावागढ़ (तत्कालीन नाम पावागिरि) अति प्रसिद्ध तीर्थ था। तलहटी में चांपानेर नगर बसाया गया था। पहाड़ पर दुर्ग था। सूचनापट्ट के अनुसार यह 20 किमी. लंबा शहर था। नगर के चारों ओर कोट बना था जिसका कुछ भाग अब भी है। कालविशेष में इस नगर के राजा ने 52 जिनालय बनवाए थे। पर्वत पर भी कुछ जैन मंदिर और भवन बनवाए गए थे।

प्राचीनकाल में यहाँ 17 गढ़ थे, जिनके भग्न द्वार अब भी विद्यमान हैं। पर्वत पर पक्की सड़क है। लॉज, रेस्तरां, गेस्ट हाउस आदि भी हैं। कालीदेवी के मंदिर के कारण यहाँ हिन्दू यात्री भी भारी संख्या में आते हैं। नगाड़खाना पार कर एक किमी. की दूरी पर पहाड़ के शिखर पर एक विशाल ताल है। कुछ आगे तीन जैन मंदिर हैं, जिनमें बहुत सी प्रतिमाएँ हैं, निकट ही चौथा मंदिर (चंद्रप्रभ मंदिर) है। इस मंदिर के सामने तेलिया तालाब के किनारे एक भग्न मंदिर है, इसकी बाह्य भित्तियों पर तीर्थंकर चित्र अंकित हैं। आसपास कई जिनालयों के खंडहर हैं। तीन प्राचीन मंदिर और हैं जिनमें अनेक प्रतिमाएँ हैं।

**पालीताना शत्रुंजय—**

पालीताना भावनगर से 29 किमी. है। यहाँ शत्रुंजयगिरि निर्वाणक्षेत्र है। यहाँ से तीन पांडव (युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन) तथा असंख्य राजादि मुक्त हुए थे। नगर में दिगम्बर जैन मंदिर हैं।

नगर से शत्रुंजय पहाड़ी की तलहटी डेढ़ किमी. है। फिर पर्वत की चढ़ाई लगभग 4 किमी. है। पक्की सड़क और सीढ़ियाँ हैं।

पहाड़ पर श्वेताम्बरों के लगभग 3500 मंदिर और मंदिरियाँ हैं। कई मंदिरों का शिल्प और स्थापत्य अनूठा है।

इस पर्वत पर दो मुख्य टोंक हैं। प्रथम टोंक पर कोई दिगम्बर जैन मंदिर नहीं है। दूसरी टोंक पर श्वेताम्बर मंदिरों के केन्द्र में परकोटे के भीतर एक प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर है। इसमें नौ वेदियाँ हैं। यहाँ की प्रतिमाएँ भी अतिप्राचीन हैं। कहा जाता है कि दिगम्बर मंदिर ही प्राचीन है। श्वेताम्बरों के मंदिर बाद के बने हैं। नगर में आवास और भोजन की समुचित व्यवस्था है।

**तारंगा—**

तारंगा सिद्धक्षेत्र है। वरदत्त, सागरदत्त आदि तीस करोड़ मुनि यहाँ से मोक्ष गये थे।

महेसाणा जंक्शन से तारंगा हिल 57 किमी. है। तारंगा हिल रेलवे स्टेशन के निकट दिगम्बर जैन धर्मशाला है, वहाँ से तारंगा क्षेत्र 9 किमी. है।

क्षेत्र पर 14 दिगम्बर जैन मंदिर हैं। यह स्थान पहाड़ की तलहटी में है। यहाँ पर कोटिशिला और सिद्धशिला नामक दो पहाड़ियाँ हैं। धर्मशाला के पीछे से कोटिशिला की चढ़ाई है। तालाब, गुफाएँ, चरण आदि मिलते हैं। ऊपर लगभग डेढ़ मीटर के शिलाफलक में बनी भगवान नेमिनाथ की खड्गासन प्रतिमा है। शिलालेख के अनुसार इसकी प्रतिष्ठा श्री सिद्धचक्रवर्ती जयसिंह देव के शासनकाल में हुई थी। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र इन्हीं के दरबार में थे।

क्षेत्र पर मूलनायक प्रतिमा भगवान संभवनाथ की है।

कोटिशिला से उतरकर धर्मशाला के दूसरी ओर सिद्धशिला को जाते हैं। यहाँ भी टोंक, चरण आदि हैं। मुख्य टोंक पर लगभग डेढ़ मीटर ऊँची भगवान मल्लिनाथ की खड्गासन प्रतिमा विराजमान है। इस मूर्ति का प्रतिष्ठाकाल सं. 1192 है। भगवान नेमिनाथ और भगवान मल्लिनाथ दोनों की मूर्तियाँ शाह लखन द्वारा प्रतिष्ठित हुई हैं। दिगम्बर जैन धर्मशाला के निकट 9 श्वेताम्बर जैन मंदिर हैं।

## 3.6 राजस्थान—

### ऋषभदेव केशरिया जी—

यह उदयपुर से 65 किमी. है। गांव का नाम धुलेव है। यहाँ एक कंगूरेदार कोट के भीतर प्राचीन मंदिर और धर्मशालाएँ हैं। मूलनायक प्रतिमा भगवान ऋषभदेव की है। यह श्यामवर्ण पाषाण की लगभग एक मीटर ऊँची मनोहर प्रतिमा है। यह अतिशययुक्त है। श्यामवर्ण की होने के कारण भील लोग इसे कालाजी या कारिया बाबा भी कहते हैं। यहाँ केशर चढ़ाने की परम्परा होने के कारण क्षेत्र केशरिया जी के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस मंदिर के चारों ओर 52 जिनालय या देवकुलिकाएँ बनी हुई हैं। प्रवेश द्वार विशाल है। यहाँ अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं। यहाँ के चमत्कारों और अतिशयों की कथाओं के कारण लोग यहाँ दर्शन करने और मनौती मनाने आते हैं।

यह मंदिर मूलत: दिगम्बर है। बहुत काल तक भट्टारक गद्दी भी यहाँ रही, पर अब नहीं है। वर्तमान में यहाँ की व्यवस्था राजकीय है। दिगम्बर जैन ही नहीं श्वेताम्बर जैन, हिन्दू, भील आदि भी बड़ी संख्या में दर्शनार्थ आते हैं। यहाँ दिगम्बर जैन, श्वेताम्बर जैन और हिन्दू तीनों रीतियों से पूजा होती है।

पास में ही भट्टारक यशकीर्ति गुरुकुल और मनोज्ञ दिगम्बर जैन मंदिर है।

### नागफणी पार्श्वनाथ—

नागफणी पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र है। ऋषभदेव (केशरिया जी) से बीछीवाड़ा होते हुए 50 किमी. है। नदी पर पहुँचकर मौदर गांव से पहले ही नदी के किनारे बाईं ओर लगभग 200 मीटर चलने पर पहाड़ पर मंदिर दिखाई देने लगता है। लगभग 50 सीढ़ी चढ़कर मंदिर आता है। सीढ़ियाँ चढ़ने से पहले जलकुंड है। इसका जल अभिषेक और पीने के काम आता है।

मूलनायक अति प्राचीन प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है। प्रतिमा के सिर पर सप्तफण-मंडप बना है, इसमें तीन फण खंडित हैं। यहाँ के अतिशय की बहुत मान्यता है।

### अंदेश्वर पार्श्वनाथ—

यह एक छोटी सी पहाड़ी पर है। चारों ओर सघन वन है। दाहोद से उत्तर की ओर 50 किमी. है। यहाँ के कई अतिशयों की मान्यता है।

यहाँ कोई बस्ती नहीं है। केवल दो दिगम्बर जैन मंदिर हैं, दोनों ही पार्श्वनाथ मंदिर कहलाते हैं, एक मंदिर में भगवान पार्श्वनाथ की चमत्कारसम्पन्न प्रतिमा विराजमान है। दूसरे में चौबीसी है। इस क्षेत्र की अजैनों में भी काफी श्रद्धा है।

### चित्तौड़गढ़—

चित्तौड़गढ़ रेल और सड़क से पूरे देश से जुड़ा है। उदयपुर से 117 किमी. है। भारतीय इतिहास में चित्तौड़ का नाम अमर है। यह स्वाधीनता की रक्षा के लिए आत्मबलिदान का प्रतीक है।

गढ़ निर्माण की वास्तुकला की दृष्टि से चित्तौड़गढ़ एक अनुपम उदाहरण है। समुद्रतल से 600 मीटर ऊँची पहाड़ी पर यह किला कोई 16 किमी. लंबा और एक किमी. चौड़ा है। इस गढ़ के सात पाल (फाटक) हैं और इसके अंदर बहुत

से दर्शनीय स्थान हैं। यह सब भारत के ऐतिहासिक तीर्थ हैं।

दुर्ग के द्वार, सिसौदिया फत्ता का स्मारक, सतबीस देवरा (श्वेताम्बर जैन मंदिर), महाराणा कुंभा के महल, जयमहल और फत्ता के भग्नमहल, विजयस्तंभ, कीर्तिस्तंभ, दिगम्बर जैन मंदिर, मीराबाई का मंदिर, पद्मिनी का महल, जौहर-स्थल आदि दर्शनीय हैं।

चित्तौड़गढ़ में दिगम्बर जैन कीर्तिस्तंभ है। यह लगभग 24 मीटर ऊँचा है। यह सात मंजिला स्तंभ शिल्प कला का अनुपम उदाहरण है। चारों कोनों पर भगवान आदिनाथ की डेढ़ मीटर अवगाहना की दिगम्बर मूर्तियाँ स्थित हैं। इसके निर्माता साहू जीजा बघेरवाल जाति के दिगम्बर जैन थे। इस कीर्तिस्तंभ के समीपस्थ ही दिगम्बर जैन मंदिर है।

नगर में एक दिगम्बर जैन मंदिर और दो चैत्यालय हैं।

**चांदखेड़ी—**

यह अतिशयक्षेत्र है। झालावाड़-बारां सड़क पर स्थित खानपुर से 2 किमी. के फासले पर चांदखेड़ी स्थित है। इस स्थान से अटरू स्टेशन (बीना-कोटा लाइन पर) 35 किमी. और झालावाड़ रोड स्टेशन (पश्चिमी रेलवे) 62 किमी. है। सभी ओर से खानपुर पहुँचना होता है।

इस क्षेत्र का निर्माण औरंगजेब के शासनकाल में महाराज किशोरसिंह (कोटा) के दीवान शाह विशनदास बघेरवाल ने कराया था। इस स्थान के चमत्कारों का वर्णन मिलता है। मूलनायक प्रतिमा भगवान आदिनाथ की है। यह लगभग दो मीटर ऊँची और पौने दो मीटर चौड़ी है। प्रतिमा पर संवत् 512 अंकित है।

क्षेत्र के प्रवेश द्वार में घुसते ही एक अहाता है, जिसमें जिनमंदिर है। एक समवसरण मंदिर भी है। यहाँ अनेक प्रतिमाएँ हैं। यहाँ चैत्र कृष्णा पंचमी से नवमी तक मेला लगता है।

**केशोरायपाटन (केशवराय पाटन)-**

चंबल नदी के तट पर अवस्थित केशोरायपाटन अतिशयक्षेत्र है। यह बूंदी से 43 किमी., कोटा से 14 किमी. और केशवराय पाटन स्टेशन से 3 किमी. है।

परम्परा के अनुसार यहाँ प्राचीन काल में (9वीं-10वीं शताब्दी से पूर्व) भगवान मुनिसुव्रतनाथ की एक मूर्ति थी, जिसके चमत्कारों की ख्याति दूर-दूर तक फैली थी। शोध के आधार पर विद्वानों का मत है कि वर्तमान केशोरायपाटन प्राचीन नगर है। इस स्थान का नाम केशोरायपाटन विष्णु के विग्रह के कारण पड़ा था। इस मूर्ति का सं. 336 प्रतिष्ठाकाल बताया जाता है।

यहाँ के चमत्कारों की अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि मुहम्मद गौरी की आज्ञा से मूर्ति को तोड़ने का प्रयास किया गया, पर कुछ नहीं बिगड़ा। जब टांकी से काटना चाहा तो अंगूठे से दूध की प्रबल धारा निकली। कुछ समय पहले यहाँ भयंकर रूप से प्लेग फैला था। तब नगरवासी भयभीत होकर जंगलों में चल गये। कुछ श्रद्धालु दर्शनार्थ आए। वे भगवान के सामने जोत (दीपक) जला गए। जब महामारी शांत हुई और लोग लौटे तो देखा कि 3-4 माह बाद भी जोत जल रही थी।

जिनालय चंबल नदी के तट पर 12 मीटर ऊँची चौकी पर बना है। बाढ़ आदि से सुरक्षा के लिए मजबूत दीवार बनाई गई हैं। मूलनायक प्रतिमा भगवान मुनिसुव्रतनाथ की है। यह कृष्ण वर्ण है और लगभग पौने दो मीटर ऊँची पद्मासन प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी मूर्तियाँ हैं। अधिकांश मूर्तियाँ सातवीं-आठवीं शताब्दी की हैं। मंदिर में ऊपर और भूगर्भ में छः-छः वेदियाँ हैं। कहा जाता है कि ब्रह्मदेव मुनि ने 'वृहद् द्रव्य संग्रह' की टीका इसी स्थान पर लिखी थी।

**चंवलेश्वर पार्श्वनाथ—**

चंबलेश्वर भीलवाड़ा से 45 किमी. पूर्व में स्थित है। यह अतिसुंदर प्राकृतिक स्थान है। चंवलेश्वर क्षेत्र पहाड़ी पर है। कहते हैं कि केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ की पहली समवसरण रचना यहीं हुई थी।

मंदिर का शिखर दूर से ही दिखाई पड़ता है। भूगर्भ से प्राप्त मूलनायक प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है। इसके अतिशय की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। एक मंदिर पहाड़ की तलहटी में भी है उसमें भगवान पार्श्वनाथ की विशाल अवगाहना की खंडित प्रतिमा है।

**चमत्कार जी—**

सवाईमाधोपुर रेलवे स्टेशन से लगभग 5 किमी. की दूरी पर चमत्कार जी अतिशयक्षेत्र है। अनुश्रुति के अनुसार विक्रम सं. 1887 में भाद्रपद कृष्णा द्वितीया को नाथ संप्रदाय के एक योगी को स्वप्न हुआ। फलस्वरूप भूगर्भ से भगवान आदिनाथ की स्फटिक प्रतिमा प्राप्त हुई। वहाँ पर जैनों ने मंदिर का निर्माण कराया। जिस स्थान पर प्रतिमा निकली थी वहाँ भगवान के चरण बने हुए हैं।

यहाँ के चमत्कारों की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं इसलिए अनेक जैन और जैनेतर बंधु यहाँ मनौती मनाने आते हैं। यहाँ के दर्शन कर सवाईमाधोपुर के श्री नसीरुद्दीन और श्री सफरुद्दीन की मनोकामना पूर्ण हुई थी। उन्होंने यहाँ छतरियों का निर्माण कराया था। वे छतरियाँ अब भी विद्यमान हैं।

**श्री महावीरजी ( चांदनपुर )—**

यह अतिशयक्षेत्र है। पश्चिम रेलवे पर भरतपुर और गंगापुर स्टेशनों के बीच 'श्री महावीरजी' स्टेशन है। यहां प्राय: सभी गाड़ियां रुकती हैं। ग्राम का नाम चांदनपुर है और यहां के मन्दिर का क्षेत्र 'श्री महावीरजी' है। स्टेशन से श्री महावीरजी को क्षेत्र की ओर से नि:शुल्क बस सेवा है। यहां विशाल दिगम्बर जैन मंदिर है, जिसमें टीले से प्राप्त भगवान महावीर की दसवीं शताब्दी की मनोज्ञ प्रतिमा मूलनायक है और भी कई वेदियां हैं। मूल मंदिर के नीचे ध्यान केन्द्र में हीरे–पन्ने आदि की लगभग 200 प्रतिमा दर्शनीय हैं। प्रतिमाओं का यह संग्रह बेजोड़ है।

इस क्षेत्र की बड़ी मान्यता है। बड़ी संख्या में यात्री प्राय: वर्ष भर यहां दर्शन को आते हैं। जैनों के अलावा मीणा, गूजर, जाट आदि बड़ी संख्या में भगवान के दर्शन करने आते हैं। भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव (दीपावली) पर बड़ी संख्या में दिगम्बर जैन यात्री यहां निर्वाण लाडू चढ़ाने आते हैं।

यहां ब्रह्मचारिणी कमलाबाई जी द्वारा स्थापित महाविद्यालय है, जिसमें कक्षा एक से स्नातकोत्तर की शिक्षा दी जाती है। इस विद्यालय में समीपवर्ती सभी जातियों की लड़कियां शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को आदर्श जीवन बनाती हैं। छात्रावास में कांच के मंदिर में भगवान पार्श्वनाथ की अनुपम प्रतिमा है।

प्राकृतिक चिकित्सालय के पास कृष्णाबाई द्वारा स्थापित भव्य दिगम्बर जैन मंदिर और शिक्षण संस्था है। नदी के दूसरी ओर शांतिवीर नगर है जहाँ भगवान शांतिनाथ की लगभग 9 मीटर ऊंची प्रतिमा और चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं। जैन गुरुकुल और कीर्तिस्तंभ भी हैं।

मुख्य मंदिर के पीछे की ओर भगवान की चरण छतरी है। यहां से भगवान महावीर की वह मूर्ति निकली थी जो इस मंदिर में विराजमान है। इस मूर्ति की भव्यता अन्यत्र नहीं मिलती है।

**चूलगिरि—**

जयपुर नगर से लगभग 3 किमी. दूर खानिया में राणाओं की नसिया के पास पहाड़ पर चूलगिरि पार्श्वनाथ मंदिर है। यह जैनों का तीर्थ और अतिशयक्षेत्र है। मंदिर में अनेक टोंक और वेदियाँ हैं, मंदिर तक सड़क व सीढ़ियाँ बनी हैं।

**पदमपुरा ( बाड़ा )—**

जयपुर से खानिया–गोनेर होते हुए पदमपुरा 24 कि.मी. है। शिवदासपुरा रेलवे स्टेशन से क्षेत्र 6 कि.मी. है।

पदमपुरा (बाड़ा) अतिशयक्षेत्र है। कहा जाता है कि छोटे से गांव बाड़ा में एक व्यक्ति को भैरोंजी की सवारी आती थी। बाड़ा में गंभीर जल संकट था। एक दिन उस व्यक्ति से लोगों ने पूछा कि गांव का जल संकट कब दूर होगा। 'जब भूगर्भ से बाबा की चमत्कारी मूर्ति निकलेगी'–उस व्यक्ति का उत्तर था।

कुछ समय पश्चात् मूला जाट नामक व्यक्ति गांव में आकर रहने लगा। वहां उसने मकान बनवाया। जमीन खोदते समय मूला का फावड़ा एक पत्थर से टकराया जिसकी ध्वनि ने उसे आश्चर्यचकित कर दिया। सावधानीपूर्वक मिट्टी हटाने पर वहां भगवान पद्मप्रभ की मूर्ति मिली। तभी से गांव के कष्ट दूर होते चले गए। इस मूर्ति की बड़ी मान्यता है और इसके अतिशय की अनेक कथाएँ हैं। विशेषत: भूतबाधा दूर करने के लिए क्षेत्र की बड़ी मान्यता है। यहां का नवनिर्मित मंदिर अनूठे ढंग का है। यह मंदिर गोलाकार है और लगभग 65×65 मीटर का है और गुंबद जमीन से 26–27 मीटर ऊंचा है। जहां से प्रतिमा निकली थी, उस स्थान पर चरण छतरी बन गई है।

**तिजारा ( देहरा-तिजारा )—**

तिजारा (देहरा–तिजारा) अतिशयक्षेत्र है। दिल्ली, रेवाड़ी, अलवर, फिरोजपुर–झिरका आदि स्थानों से यह सड़क मार्ग से जुड़ा है।

प्राचीन रिकार्डों में इस स्थान का नाम देहरा लिखा है। पहले यह पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र के रूप में जाना जाता था। सन् 1956 की खुदाई में यहाँ भगवान चंद्रप्रभ की श्वेत प्रतिमा प्रकट हुई। तब से इस क्षेत्र की ख्याति बढ़ती गई। यहाँ अनेक लोग मनौती मनाने आते हैं। जनता का विश्वास है कि यहाँ आने पर मनोकामना पूर्ण होती है। विशेष रूप से भूत–प्रेत, व्यंतर आदि के कष्ट दूर करने के संदर्भ में इस क्षेत्र की बड़ी प्रसिद्धि है।

क्षेत्र पर विशाल कलापूर्ण मंदिर में भगवान चन्द्रप्रभ की अतिशयकारी मूर्ति विराजमान है। दो वेदियाँ और हैं। मंदिर में 500 व्यक्ति एक साथ बैठकर पूजन–भजन कर सकते हैं। पीछे की ओर चरण–छतरी है जहाँ से प्रतिमा प्राप्त हुई थी। मंदिर परिसर के पास एक उद्यान में ग्रेनाइट पाषाण की पद्मासन प्रतिमा लगभग 4 मीटर ऊंची और इतनी ही चौड़ी खुले आकाश में एक भव्य सिंहासन पर विराजमान है। इसके अलावा गांव में भी एक प्राचीन मंदिर है।

## 3.7 मध्यप्रदेश—

**सिंहौनिया जी—**

सिंहौनिया मुरैना से 30 किमी. दूर है। यह एक अतिशयक्षेत्र है। संभवत: मध्ययुग में यह एक समृद्ध नगर था। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इसे ग्वालियर के संस्थापक राजा सूरजसेन के पूर्वजों ने बसाया था। इसका सिंहौनिया नाम काफी बाद में पड़ा। यहाँ जैनों के अनेक मंदिर थे। दसवीं शताब्दी के बाद आक्रमणों और अव्यवस्था के कारण यह नगर नष्ट हो गया। लगभग 9वीं शताब्दी तक यह पूर्णरूपेण उपेक्षित रहा। बीसवीं शताब्दी में जैनों का ध्यान इसके पुनरुद्धार की ओर गया। यहाँ भगवान शांतिनाथ की भूगर्भ से प्राप्त 5 मीटर ऊँची भव्य प्रतिमा है। इस प्रतिमा के अतिशय के कारण ही सिंहौनिया तीर्थ बना है। इस मूर्ति के दोनों ओर भगवान कुंथुनाथ और भगवान अरनाथ की मूर्तियाँ हैं। यहाँ भूगर्भ से कुछ अन्य मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी की बताई जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दसवीं शताब्दी तक यह समृद्ध नगर था और यहाँ 11 दिगम्बर जैन मंदिर रहे हैं।

**ग्वालियर गोपाचल—**

ग्वालियर; आगरा और झांसी के बीच स्थित है। यह नगर तीन भागों में विभाजित है : ग्वालियर, लश्कर और

मुरार। ग्वालियर में 4 मंदिर, 4 चैत्यालय और 2 जैन धर्मशालाएँ हैं। लश्कर में 20 मंदिर, 3 चैत्यालय और 9 धर्मशालाएँ हैं। मुरार में 2 मंदिर, 2 चैत्यालय हैं।

गोपाचल–ग्वालियर का किला देश का अति प्राचीन 5000 वर्ष पुराना किला माना जाता है। एक हजार वर्ष पूर्व के शिलालेखों में इसका उल्लेख मिलता है। इसकी लंबाई 3 कि.मी. तथा चौड़ाई 180 से 870 मीटर तक है। ग्वालियर के किले में पहाड़ी पर जैन मूर्तियों की संख्या लगभग 1500 है। ये मूर्तियां अत्यन्त भव्य एवं दर्शनीय हैं। मूर्तियां पांच समूहों में हैं। उरवाही समूह, उत्तर–पश्चिम समूह, उत्तर–पूर्व समूह, दक्षिण–पश्चिम समूह और दक्षिण–पूर्व समूह। सबसे विशाल मूर्ति भगवान आदिनाथ की 17.5 मीटर ऊंची खड्गासन में है। यह उरवाही दरवाजे के बाहर है। दूसरी विशाल प्रतिमा भगवान सुपार्श्वनाथ की है जो एक पत्थर की बावड़ी में है। यह पद्मासन प्रतिमा है और 10.5 मीटर ऊंची है। उरवाही समूह में 40 खड्गासन, 24 पद्मासन और स्तंभों और दीवारों में उकेरी हुई 840 प्रतिमाएं हैं।

किले में मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य कई दर्शनीय स्थल हैं। मान मंदिर, गूजरी महल (जहां संग्रहालय है), बावड़ी, करण मंदिर, विक्रम मंदिर, जहांगीर महल, शाहजहानी महल, कई दर्शनीय हिंदू मंदिर भी हैं—सूर्यदेव, ग्वालिया, चतुर्भुज, तेली का मंदिर, सास–बहू (बड़ा मंदिर)। सास–बहू मंदिर के बीच एक महत्त्वपूर्ण जैन मंदिर भी है। लश्कर की नई सड़क पर दिगम्बर जैन धर्मशाला है। ग्वालियर का तेरहपंथी स्वर्ण मंदिर एवं बीसपंथी मंदिर भी दर्शनीय है।

**सोनागिरि—**

सोनागिरि को स्वर्णगिरि, श्रमणगिरि आदि नामों से भी जाना जाता है, यह सिद्धक्षेत्र है। यहां से नंग–अनंग आदि पांच कोटि–करोड़ मुनि मुक्त हुए हैं। यहां अनेक मुनियों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ है। भगवान चंद्रप्रभु का समवसरण भी यहां आया था।

यह क्षेत्र मध्य रेलवे के सोनागिरि स्टेशन से 5 कि.मी. और दतिया से 11 कि.मी. है। क्षेत्र के मुख्य द्वार से मंदिरों और धर्मशालाओं की श्रृंखला आरंभ हो जाती है। तलहटी में 17 मंदिर, 5 छतरी और 15 धर्मशालाएं हैं।

पहाड़ पर 77 जैन मंदिर और 13 छतरियां हैं। मंदिर नं. 57, जिसमें भगवान चंद्रप्रभ की 3 फीट ऊंची मूलनायक प्रतिमा है, यहां का मुख्य मंदिर है। मंदिर अतिविशाल और मूर्ति अतिभव्य एवं अतिशयसंपन्न है। मंदिर के निकट एक छतरी में नंग–अनंग मुनियों के चरणचिन्ह अंकित हैं।

यहां मंदिरों के अतिरिक्त आकर्षण के दो प्रमुख केन्द्र हैं : नारियल कुंड और बजनी शिला। इन दोनों स्थानों के लिए मंदिर नं. 67 के बाद एक मार्ग जाता है। नारियल कुंड नारियल के आकार का है। इसके बारे में लोगों में एक विश्वास है, यदि कोई नि:संतान व्यक्ति इसमें बादाम डाले और वह तैरने लगे, तो उस व्यक्ति को संतान की प्राप्ति हो जाती है। बजनी शिला एक पहाड़ी शिला है। इसे बजाने से मधुर ध्वनि निकलती है।

यह क्षेत्र अतिप्राचीन है। इस क्षेत्र की सबसे प्राचीन मूर्ति मंदिर नं. 16 में विराजमान है। कुछ विद्वानों के अनुसार भगवान चंद्रप्रभु मंदिर का शिलालेख 1035 का है। क्षेत्र पर चारों ओर पुरातत्व सामग्री है। कुछ सामग्री मंदिर नं. 76 के संग्रहालय में रखी है।

**थूवौन—**

गुना से 45 किमी. की दूरी पर अशोकनगर है। अशोकनगर–चंदेरी सड़क पर अशोकनगर से 68 किमी. की दूरी पर थूवौन है। यह पुरानी चंदेरी से 14 किमी. है। ललितपुर से चंदेरी (34 किमी.) होते हुए 55 किमी. है। यह अतिशय क्षेत्र है।

यहाँ सबसे ऊँची प्रतिमा मंदिर नं. 15 में भगवान ऋषभदेव की कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इसकी ऊँचाई 8 मीटर है। इसी प्रतिमा के अतिशय के कारण यह क्षेत्र अतिशयक्षेत्र कहलाता है। अन्य मंदिरों में मंदिर नं.1 में भगवान पार्श्वनाथ की (लगभग 4.5 मीटर ऊंची), मंदिर नं. 2 में (पौने चार मीटर ऊँची), मंदिर नं. 50 में भगवान शांतिनाथ की (5.5 मीटर ऊँची), मंदिर नं. 6 में भगवान आदिनाथ की (पौने दो मीटर ऊंची) तथा मंदिर नं. 70 में भगवान पार्श्वनाथ की (4.5 मीटर ऊँची), मंदिर नं. 14 में भगवान अजितनाथ की (5 मीटर ऊँची), मंदिर नं. 17 में भगवान अभिनंदननाथ की (5 मीटर ऊंची) तथा मंदिर नं. 25 में भगवान ऋषभदेव की (5 मीटर ऊँची) प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

**चंदेरी —**

चंदेरी थूवौन से 22 किमी. दूर है। चंदेरी बस स्टैण्ड से एक किमी. दूरी पर बड़ा जैन मंदिर है। इसी मंदिर में 24 तीर्थंकरों की अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमाएँ विराजमान हैं। प्रत्येक प्रतिमा पृथक् गर्भगृह में है और उसी वर्ण की है जिसे शास्त्रों में सम्बद्ध तीर्थंकर का वर्ण बताया गया है। चंदेरी की यह चौबीसी सर्वाधिक प्रसिद्ध चौबीसी है। इस मंदिर का निर्माण सवाईसिंह जी ने कराया था। मूर्तियों की प्रतिष्ठा सं. 1893 में हुई थी। नगर में भी एक जैन मंदिर तथा एक चैत्यालय है।

चंदेरी जैन संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। इसके आसपास अनेक स्थल हैं, जहाँ प्राचीन मूर्तियाँ और मंदिर हैं। इनमें से कुछ ये हैं — खंदार जी (चंदेरी के समीपस्थ पर्वत पर), गुरीलागिरि (चंदेरी से 7 किमी.), आमनचार (चंदेरी से मुंगावली रोड पर 29 किमी.), बिठता (चंदेरी से 19 किमी.), भामौन (चंदेरी से 16 किमी.) तथा भियांदांत (चंदेरी से 14 किमी.)।

**पपौरा —**

यह अतिशयक्षेत्र टीकमगढ़ से 5 किमी. तथा ललितपुर स्टेशन से 85 किमी. है।

वृक्षावली से घिरे मैदान में एक परकोटे के अंदर 107 मंदिर हैं। कुछ मंदिरों में पृथक्-पृथक् गर्भगृहों को पृथक् मंदिर मान लिया गया है। यदि ऐसा न माना जाये तो मंदिरों की संख्या 60 है। ये मंदिर बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के बताये जाते हैं। सभी मंदिर शिखरबंद हैं। यहाँ बाहुबली मंदिर विशेष दर्शनीय है।

**खजुराहो —**

खजुराहो न केवल भारत के अपितु विश्व के प्रसिद्ध पर्यटक केन्द्रों में गिना जाता है। इसकी प्रसिद्धि इसके उत्कृष्ट शिल्प और भव्य मंदिरों के कारण है। यहाँ अनेक जैन एवं हिन्दू मंदिर हैं। यहाँ एक अहाते में 32 जैन मंदिर हैं। कहते हैं कभी यहाँ 85 मंदिर थे। 50 मंदिर नष्ट हो गए। जैन मंदिरों का यह समूह बस स्टैण्ड से लगभग 3 किमी. की दूरी पर है।

खजुराहो में चंदेलकालीन शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना मिलता है। यहाँ के मंदिरों को तीन समूहों में रखा जा सकता है — पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिणी। पश्चिमी समूह में हिन्दुओं के प्रसिद्ध मंदिर, चौंसठ योगिनी मंदिर, महादेव मंदिर, कंदारिया मंदिर आदि प्रसिद्ध मंदिर हैं। कंदारिया मंदिर खजुराहो के मंदिर समूह में सबसे बड़ा मंदिर है। पूर्वी समूह में हिन्दुओं का प्रसिद्ध मंदिर हनुमान मंदिर और 4 प्रसिद्ध जैन मंदिर हैं — आदिनाथ, पार्श्वनाथ, शांतिनाथ और घंटई। जैन मदिरों में पार्श्वनाथ मंदिर सबसे सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दक्षिणी समूह में दूल्हादेव और चतुर्भुज मंदिर है।

मंदिरों की भीतर और बाहरी भित्तियों, शिखरों, द्वार शाखाओं पर तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त शासन देव-देवियों, सुर-सुंदरियों, गंधर्व-मिथुनों और व्यालों की भी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। यहाँ के मंदिरों की मूर्तियों में 1000 वर्ष पुरानी अनेक मूर्तियाँ हैं। शांतिनाथ मंदिर में भगवान शांतिनाथ की मूर्ति लगभग 5 मीटर ऊँची है और अतिमनोज्ञ है। पार्श्वनाथ

मंदिर के खुले मैदान में एक संग्रहालय है जिसमें प्राचीन जैन मूर्तियाँ संग्रहीत हैं।

**आहार जी—**

टीकमगढ़ से आहार जी 20 किमी. है। यह अतिशयक्षेत्र है। यहाँ भगवान शांतिनाथ का मंदिर है। इसका निर्माण पाड़ाशाह ने कराया था। मूलनायक प्रतिमा भगवान शांतिनाथ की है, जो लगभग 5 मीटर ऊंची है। हाल में 92 दीवार वेदियाँ, तीन चौबीसी और 20 विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। गर्भगृह के बाहर चार वेदियाँ हैं।

मुख्य मंदिर के अतिरिक्त 6 मंदिर तथा 2 मानस्तंभ और हैं। क्षेत्र से लगभग 400 मीटर के फासले पर पहाड़ी पर 6 लघु मंदिर हैं। क्षेत्र पर एक संग्रहालय है, जिसमें निकटवर्ती क्षेत्र से प्राप्त पुरातत्व सामग्री संग्रहीत है। इनमें अनेक मूर्तियाँ 11वीं-12वीं शताब्दी की बताई जाती हैं।

**द्रोणगिरि—**

बड़ा मलहरा से द्रोणगिरि 7 कि.मी. है। सागर, हरपालपुर, महोबा, सतना से भी बड़ा–मलहरा पहुंचा जा सकता है। यह इन सभी जगह से लगभग 100 कि. मी. पड़ता है। गांव का नाम सेंदपा है। द्रोणगिरि क्षेत्र पहाड़ी पर है। सेंदपा बस अड्डे से 90 मीटर दूर गांव के भीतर गुरुदत्त जैन संस्कृत विद्यालय है।

यह निर्वाणक्षेत्र माना जाता है। यहां से गुरुदत्त आदि साढ़े आठ करोड़ मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया था। पर्वत पर पहुंचने के लिए 232 सीढ़ियां हैं। पर्वत पर 28 जिनालय हैं।

**नैनागिरि ( रेशिंदीगिरि )—**

यह निर्वाणक्षेत्र है। लगभग ईसा पूर्व नौवीं शताब्दी में यहां पार्श्वनाथ का समवसरण आया था। साथ ही पंच ऋषिराजों ने यहां से मोक्ष प्राप्त किया था। खुदाई में 13 प्रतिमाओं सहित मंदिर निकला था। बड़ा–मलहरा से दलपतपुर (64 कि.मी.) है। वहां से रेशिंदीगिरि 12 कि.मी. है। सड़क के एक ओर (पहाड़ी पर) क्षेत्र है, दूसरी ओर गांव है। पर्वत पर 38 और तलहटी में 13 मंदिर हैं। तलहटी के मंदिरों में जलमंदिर अतिभव्य है।

**पजनारी—**

पजनारी अतिशयक्षेत्र है। सागर से कानपुर रोड पर 22 किमी. पर कंदारी ग्राम है। वहाँ से 5 किमी. पर पजनारी क्षेत्र है। मंदिर में भगवान शांतिनाथ की सवा मीटर ऊँची पद्मासन प्रतिमा है। दोनों पार्श्वों में भगवान कुंथुनाथ और भगवान अरनाथ की लगभग पौने दो मीटर ऊँची खड्गासन मूर्तियाँ हैं।

**बीना बरहा—**

यह भी अतिशयक्षेत्र है, जो सागर से देवरीकला होकर 72 किमी. है। क्षेत्र पर 6 जैन मंदिर हैं। मुख्य मंदिर भगवान शांतिनाथ का है। उनकी खड्गासन प्रतिमा साढ़े चार मीटर अवगाहना की है। इस प्रतिमा के अतिशयों की अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं।

क्षेत्र पर प्रवेश करने के लिए नदी पार करनी होती है। ग्राम में प्राचीन भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। कई मकानों में इन भग्नावशेषों का उपयोग उदारतापूर्वक किया गया है। गांव की सीमा पर यह क्षेत्र है। कोई प्रवेश द्वार या अहाता नहीं है।

**कुंडलपुर ( कुंडलगिरि )—**

कुंडलपुर अतिशयक्षेत्र है। जब से इसे अंतिम अनुबद्ध केवली श्रीधर की निर्वाण भूमि कहा जाने लगा है, तब से इसे सिद्धक्षेत्र भी मानते हैं। यह स्थान दमोह से पटेरा होते हुए 38 कि.मी. है।

कुंडलाकार पर्वतमाला से घिरा यह स्थान अत्यंत रमणीक है। यहीं वर्धमान सागर नामक सरोवर की एक ओर मंदिरों की श्रृंखला है और तीन ओर पर्वतमाला। पर्वत पर मंदिरों की संख्या 61 है। एक मानस्तंभ भी है। मुख्य मंदिर पहाड़ी पर मंदिर नं. 11 है। इसे बड़े बाबा का मंदिर कहा जाता है।

इसमें बड़े बाबा की लगभग 4 मीटर ऊंची पद्मासन प्रतिमा है। धारणानुसार यह मूर्ति भगवान महावीर की मानी जाती है किन्तु लक्षणादि से यह भगवान आदिनाथ की प्रतिमा है।

इस स्थान से महाराज छत्रसाल का संबंध रहा है। कहते हैं, उन्होंने यहां मनौती मनाई थी। फलतः उन्हें विजय प्राप्त हुई। विजयोपरांत उन्होंने यहां पक्का घाट बनवाया। मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। पीतल का दो मन का घंटा तथा अन्य वस्तुएं भेंट कीं। उनके सान्निध्य में एक विशाल समारोह भी हुआ था।

**मढ़िया—**

मढ़िया जी एक अतिशयक्षेत्र है, यह पिसनहारी की मढ़िया के नाम से प्रसिद्ध है। जबलपुर से 6 किमी. दूर है। सड़क के किनारे ही धर्मशाला तथा महावीर जिनालय है। उसके सामने एक मानस्तंभ है। मंदिर एक पहाड़ी पर है। यहाँ कुल 37 मंदिर हैं। यहाँ नंदीश्वर द्वीप की रचना अनुपम है।

**कोनी ( कुण्डलगिरि )—**

यह अतिशयक्षेत्र है। जबलपुर-दमोह मार्ग पर जबलपुर से 32 किमी. की दूरी पर पाटन है। वहाँ से 4 किमी. दूर बासन ग्राम है। कोनी बासन से 2 किमी. है। यहाँ कुल 10 मंदिर हैं। गर्भमंदिर अतिशयसम्पन्न है। इस मंदिर में सहस्रकूट चैत्यालय है। यहीं नंदीश्वर जिनालय भी दर्शनीय है।

**पनागर—**

यह स्थान जबलपुर से कटनी-जबलपुर रोड पर 16 किमी. की दूरी पर है। जबलपुर-सागर रेलमार्ग के देवरी स्टेशन से पनागर केवल 1 किमी. पड़ता है। यहाँ भगवान शांतिनाथ की सातिशय मूर्ति है। यह लगभग ढाई मीटर ऊँची है। इस नगर में कुल 17 मंदिर हैं। पंचायती मंदिर में भगवान ऋषभदेव की कायोत्सर्गासन में लगभग ढाई मीटर ऊँची अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमा है। इसके अतिशयों के कारण ही यह क्षेत्र प्रसिद्ध हुआ है। यहाँ सम्मेदशिखर की रचना दर्शनीय है।

**बहोरी बंध—**

यह जबलपुर से 64 किमी. और सिहोरा रोड रेलवे स्टेशन से 24 किमी. है। मध्यकाल में यह प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र और समृद्ध नगर था। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों के मंदिर यहाँ थे। जैनों का तो बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। यहाँ एक हजार वर्ष पुरानी भगवान शांतिनाथ की 4 मीटर ऊँची प्रतिमा है। यहाँ तीन मंदिर हैं। भगवान शांतिनाथ की मूर्ति के कारण इस क्षेत्र की गणना अतिशयक्षेत्रों में की जाती है। खुदाई में 16 मूर्तियाँ निकली हैं।

**मक्सी पार्श्वनाथ—**

यह अतिशयक्षेत्र भोपाल-उज्जैन रेल लाइन पर मक्सी स्टेशन से 3 किमी. दूर है। स्टेशन से लगभग 200 मीटर के फासले पर दिगम्बर जैन धर्मशाला है। उज्जैन से यह 38 किमी. और इंदौर से 72 किमी. है।

क्षेत्र पर दो मंदिर हैं। बड़ा मंदिर भगवान पार्श्वनाथ का है। उन्हीं के अतिशय के कारण यह अतिशयक्षेत्र बना है। मंदिर में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही अपनी मान्यतानुसार दर्शन-पूजन करते हैं। पुजारियों पर कोई प्रतिबंध नहीं है। दिगम्बर लोग पूजन प्रातः 6 से 9 बजे तक करते हैं।

छोटा मंदिर भगवान सुपार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर है।

**उदयगिरि गुहा मंदिर—**

विदिशा से 6 किमी. और सांची से 8 किमी. पर है। पहाड़ काटकर गुफाओं का निर्माण किया गया है। बीस गुफाएँ हैं, जिनमें नं. 1 और नं. 20 की गुफा जैन है, शेष शैव और वैष्णव हैं।

**बावनगजा ( चूलगिरि )—**

इंदौर से सड़क द्वारा 150 कि.मी. बड़वानी है, वहां से यह क्षेत्र 7 कि.मी. है। बस क्षेत्र तक जाती है। यह सिद्धक्षेत्र

है। माना जाता है कि इंद्रजीत, कुंभकरण आदि अनेक मुनि यहां से मोक्ष पधारे थे।

यहां पाषाण में भगवान आदिनाथ की लगभग 27 मीटर ऊंची प्रतिमा उकेरी हुई है। (यह प्रतिमा 52 हाथ ऊंची है, पहले संभवत: एक हाथ को गज कहते थे इसलिए यह बावनगजा कहलाती है) अनुमान है कि यह मूर्ति 13वीं शताब्दी से पहले की है। पहाड़ी पर 11 और तलहटी में 15 मंदिर हैं।

**पावागिरि (ऊन)—**

यह सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से स्वर्णभद्र आदि मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति हुई थी। यहाँ के चमत्कारों के बारे में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। ऊन इंदौर से 145 किमी., खण्डवा से 104 किमी., सनावद से 83 किमी. है।

यहाँ तीन मंदिर हैं। ग्वालेश्वर या शांतिनाथ मंदिर क्षेत्र से दो फर्लांग पर है। लौटने के मार्ग में पंच पहाड़ी नामक एक टीला है। उस पर पाँच लघु मंदिर हैं। ऊन नगर में 11वीं-12वीं शताब्दी के मंदिर और मूर्तियाँ हैं।

**सिद्धवरकूट—**

ऊन से सनावद होते हुए मांधाता पहुँचना चाहिए। यह दूरी कुल 88 किमी. है। मांधाता से सिद्धवरकूट जाना होता है। इंदौर-खण्डवा रेलमार्ग पर बड़वाह स्टेशन से यह क्षेत्र केवल 19 किमी. है। सिद्धवरकूट नर्मदा और कावेरी नदियों का संगम स्थल है। मांधाता में क्षेत्र की धर्मशाला है। धर्मशाला के मैनेजर से नाव आदि की पूरी जानकारी मिल जाती है। सिद्धवरकूट क्षेत्र को नाव द्वारा ही जाया जाता है। यहाँ दोनों नदियों के मध्य पर्वत आ गया है। उसी पर्वत पर प्रसिद्ध ओंकारेश्वर वैष्णव तीर्थ है। अब नदी पर बांध बंध जाने से सीधा सड़क संपर्क हो गया है।

सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से 2 चक्रवर्ती, 10 कामदेव और असंख्य मुनि मुक्त हुए हैं। यहाँ 10 जिनालय और 14 धर्मशालाएँ हैं।

## दक्षिण भारत के प्रमुख ऐतिहासिक तीर्थ

### 3.8 तमिलनाडु—

**श्रीमनारगुडी क्षेत्र—**

श्रीमनारगुडी क्षेत्र तंजौर जिले में है। यह निडमंगलम् दक्षिण रेलवे स्टेशन से लगभग 14 किमी. दूर है। यह स्थान श्री जीवंधर स्वामी का जन्मस्थान बताया जाता है। कहते हैं सन् 1800 में यहाँ एक मुनि पर्णकुटी में तपस्या किया करते थे। उन्होंने ही यहाँ भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान की थी। जब इसका पता कुंभकोनम के जैनों को चला तो उन्होंने यहाँ आकर मंदिर का निर्माण कराया। तब से अद्यतन यहाँ वैशाख मास में 10 दिन तक यात्रोत्सव सम्पन्न होता है। मंदिर में श्री मल्लिनाथ स्वामी की भव्य प्रतिमा विराजमान है।

**मदुरै—**

मदुरै नगर पांड्या वंश की राजधानी रहा है। यह तमिल संस्कृति-साहित्य का प्रमुख केन्द्र रहा है। मदुरै के आसपास की प्राय: सभी पहाड़ियों पर जैन साधुओं के वास के लक्षण-शैय्याएँ, शिलालेख आदि अब भी हैं। आवेमलै, तीरुपरनकुंद्रम्, कोंकरपुलिनकुलम्, मुथुपती, विक्रममंगलम्, अन्नामलै, करुणकलनगुडी, कीज्हाकुडी, मेत्तुपत्ती आदि अनेक स्थानों में ऐसे लक्षण हैं। कई स्थानों पर तीर्थंकर मूर्तियाँ भी हैं।

मदुरै एक प्रसिद्ध धार्मिक और पर्यटन स्थल है। शिलालेखों आदि से प्रतीत होता है कि कभी इस क्षेत्र में बहुत महत्त्व का जैन मठ रहा होगा। इस क्षेत्र का संबंध जैन आचार्यों से रहा है। अरिष्टनेमि, माघनंदि, गुणसेन, वर्धमान, कनकनंदी आदि आचार्यों का उल्लेख मिलता है। महान आचार्या अज्जनंदी (आर्यनंदी) द्वारा जैनधर्म के उन्नयन के प्रयास महत्वपूर्ण रहे हैं।

**तिरूनेलवेली-कजहगुमलै—**

तिरूनेलवेली जिले में कोबिलपट्टी तालुक में कलगुमलै (कजहगुमलै) ग्राम के पास पहाड़ी गुफाएँ हैं। चट्टानों पर 60 से अधिक तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं, कला की दृष्टि से भी यह स्थान महत्वपूर्ण और दर्शनीय है। यहाँ कई शिलालेख और मूर्तियाँ भी हैं। इतना ही नहीं, यहाँ की प्राकृतिक रम्यता और नैसर्गिक छटा अत्यन्त हृदयहारी है।

**विजयमंगलम्-मेत्तपुथूर—**

ऐरोडे के किट, विजयमंगलम् रेलवे स्टेशन से 5 किमी. पर मेत्तपुथूर नामक समृद्ध गांव में एक महत्वपूर्ण मंदिर है। यह स्थान कोयंबटूर से चेन्नई जाने वाली सड़क पर कोयंबटूर से 67 किमी. है।

कोयंबटूर-एरोडे का क्षेत्र, जो कभी कोंगुनडू (कोगु क्षेत्र) कहलाता था, जैनों का प्रभावशाली स्थान रहा है। यह अनेक प्रख्यात जैन कवियों और संतों की जन्मभूमि है। इनमें कोंगुवेलर, कारमेख पुलावार, मुनिवर भावनंदी, अतीयरकुन्नालर, विल्लीपुथुर, महामुनिवर गुणवीर के नाम उल्लेखनीय हैं।

परम्परानुसार कोंगु क्षेत्र में 75 जैन मंदिर थे जिनमें विजयमंगलम् बड़ा मंदिर कहलाता था। कालगति में प्रायः सभी मंदिर नष्ट हो गए।

## 3.9 कर्नाटक—

**स्तवनिधि (तावंदी)—**

कोल्हापुर से 40 किमी. पर निपानी नामक कस्बा है, जहाँ पर 200 घर जैनों के हैं और 2 मंदिर हैं। वहाँ से तावंदी 5 किमी. है। बस स्टैण्ड से कोई 100 मीटर पर ही पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल है। गुरुकुल में जैन मंदिर है, जिसमें भगवान पार्श्वनाथ की पौने दो मीटर अवगाहन वाली मनोज्ञ प्रतिमा है।

गुरुकुल से सवा किमी. पर स्तवनिधि क्षेत्र है। वहाँ पर एक धर्मशाला और चार मंदिर हैं। ब्रह्मदेव की एक विशाल मूर्ति है। इसकी काफी मान्यता है।

**बेलगांव—**

तावंदी से 66 किमी. पर बेलगांव है। इस नगर में 9 जिनमंदिर हैं। कर्नाटक क्षेत्र में मंदिर को वसदि और धर्मशाला को बोर्डिंग हाउस, छोटे को चिक और बड़े को दोड्डु कहते हैं।

यहाँ नौ मंदिर हैं। (1) किले के अंदर भाग में कमलवसदि, (2) रोही गली में, (3) दोड्डु बस्ती में नेमिनाथ मंदिर, (4) शोरी गली में चंद्रप्रभ मंदिर, (5) चिक वसदि, (6) हसूर में, (7) शाहपुर में, (8) तड़कबाड़ी में और (9) गोम्मट्टनगर में। यहाँ मंदिरों पर शिखर नहीं हैं।

**हुबली—**

धारवाड़ से 20 किमी. पर हुबली है। बस स्टेशन से लगभग एक किमी. पर जैन बोर्डिंग है। उसमें एक छोटा सा जैन मंदिर भी है। बोगार गली में तीन जैन मंदिर हैं। चंद्रनाथ स्वामी, शांतिनाथ स्वामी और आदिनाथ स्वामी। वहाँ से कोई डेढ़ किमी. दूर अनंतनाथ और पार्श्वनाथ के दो और मंदिर हैं।

**गोम्मटगिरि—**

यह मैसूर से 16 किमी. की दूरी पर स्थित है। एक बहुत छोटी पहाड़ी पर भगवान बाहुबली की साढ़े पाँच मीटर ऊँची मनोज्ञ मूर्ति है। भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव के समय यहाँ पर एक धर्मशाला बनवाई गई है। यदि कोई संघ चाहे तो एकाध दिन ठहरकर एकांतवास और भगवान बाहुबली के दर्शन-पूजन का सुयोग प्राप्त कर सकता है।

**श्रवणबेलगोल ( जैनबद्री )—**

श्रवणबेलगोल जैनों का अति प्राचीन और परमपावन तीर्थ है। जैन इतिहास में इसका विशिष्ट स्थान है। उत्तरवासी इसे 'जैनबद्री' कहते हैं। यह 'जैन काशी' और 'गोमट्टतीर्थ' नामों से भी प्रसिद्ध रहा है। यह कर्नाटक राज्य के हासन जिले में स्थित है और बंगलौर से 140 कि.मी. हासन से 52 कि.मी. तथा मैसूर से 83 कि.मी. है। यहां पर श्री बाहुबली स्वामी की लगभग 18 मीटर (57 फीट) ऊंची अद्वितीय एवं अतिशयसंपन्न विशाल प्रतिमा है। ऐसी प्रतिमा संसार में अन्यत्र नहीं है। लगभग 15–16 कि.मी. दूर से ही यह दिव्य मूर्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। मूर्ति पर दृष्टि पड़ते ही यात्री अपूर्व शांति का अनुभव करने लगता है। धन्य है वह व्यक्ति, जिसे भगवान बाहुबली की इस भव्य प्रतिमा के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है। और धन्य हैं वह महाभाग चामुंडरायजी, जिन्होंने दसवीं शताब्दी में इस मनोज्ञ मूर्ति का निर्माण कराया था। इस मूर्ति का निर्माण उन्होंने अपनी मातेश्वरी की इच्छानुसार कराया था।

चामुंडराय जी कर्नाटक राज्य के सम्राट गंगराज श्री रच्चमल के महामात्य थे। अपने गुणों एवं पराक्रम के कारण वह महाबलाधिपति, समरधुरंधर, सत्य युधिष्ठिर आदि उपाधियों से अलंकृत थे। उन्होंने भगवान बाहुबली की उपर्युक्त प्रतिमा बनवाकर इंद्रगिरि पर्वत पर प्रतिष्ठित कराई थी। यह उत्सव आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ था।

श्रवणबेलगोल गांव के दोनों ओर दो मनोहर पर्वत विंध्यगिरि (इंद्रगिरि) और चंद्रगिरि हैं। गांव के बीच में कल्याणी सरोवर है इसलिए यहां की प्राकृतिक छटा चित्ताकर्षक है। इंद्रगिरि को यहां के लोग दोड्ड–वेट्ट (बड़ा पहाड़) कहते हैं इस पर चढ़ने के लिए पांच सौ सीढ़ियां बनी हुई हैं। इस पर्वत पर चढ़ते ही पहले ब्रह्मदेव मंदिर पड़ता है जिसकी अटारी में पार्श्वनाथ स्वामी की एक मूर्ति है। पर्वत की चोटी पर पत्थर की प्राचीन दीवार का घेरा है जिसके अंदर बहुत से प्राचीन जिनमंदिर हैं। घुसते ही 'चौबीस तीर्थंकर वसदि' एक छोटा–सा मंदिर है। इसमें चौबीसी पट्ट विराजमान हैं। इसकी स्थापना सन् 1648 में हुई थी। इस मंदिर के उत्तर–पश्चिम में एक कुंड है। उसके पास 'चेन्नण्ण बसदि' नामक एक दूसरा मंदिर है। इसमें भगवान चंद्रप्रभ की मनोज्ञ प्रतिमा है। मंदिर के सामने एक मानस्तंभ है। यह मंदिर लगभग 1673 ई. में चेन्नगण ने बनवाया था।

इसके आगे चबूतरे पर बना हुआ 'ओदेगल बसदि' नामक मंदिर है। यह कड़े कंकड़ का बना हुआ है और होयसल काल का है। इस मंदिर की छत के मध्य भाग में एक बहुत ही सुन्दर कमल लटका हुआ है। श्री आदिनाथ भगवान की जिनप्रतिमा दर्शनीय है। श्री शांतिनाथ और नेमिनाथ की भी सुंदर प्रतिमाएँ हैं।

इस विंध्यगिरि पर्वत पर ही एक छोटे घेरे में श्री बाहुबली (गोम्मट) स्वामी की विशालकाय मूर्ति विराजमान है। इस घेरे के बाहर भव्य संगतराशी का त्यागद् 'ब्रह्मदेव स्तंभ' नामक सुंदर स्तंभ छत से अधर लटका हुआ है। इसे गंगवंश के राजमंत्री सेनापति चामुंडराय ने बनवाया था, जो 'गोम्मटसार' के रचयिता श्री नेमिचंद्राचार्य के शिष्य थे। गुरु और शिष्य की मूर्तियाँ भी उस पर अंकित हैं। इस स्तंभ के सामने ही गोम्मटेश की मूर्ति के प्राकार में घुसने का अखंड द्वार है। वह एक शिला का बना हुआ है। इस द्वार के दाहिनी ओर बाहुबली जी का छोटा सा मंदिर और बाईं ओर भरत भगवान का मंदिर है। पास वाली चट्टान पर सिद्ध भगवान की मूर्तियाँ हैं। वहीं पर 'सिद्धर वसदि' है। पास ही दो सुंदर स्तंभ हैं। वहीं पर 'ब्रह्मदेव स्तंभ' है और गुल्लकायि जी की मूर्ति है। गुल्लकायिजी चामुंडराय के समय में ही हुई थीं। वह बड़ी धर्मवत्सला महिला थीं। लोकश्रुति है कि चामुंडराय ने बड़े धूमधाम से गोम्मट स्वामी के अभिषेक की तैयारी की थी। परन्तु अभिषिक्त दूध जांघों के नीचे नहीं उतरा। कारण यह था कि चामुंडराय जी को थोड़ा सा अभिमान हो गया था। एक वृद्धा भक्तिन गुल्लकायि नारियल में दूध भरकर लाई। उसने भक्तिपूर्वक अभिषेक किया तो वह सर्वांग सम्पन्न हुआ। चामुंडराय जी ने गुल्लकायिजी की मूर्ति बनवाकर उनकी भक्ति को चिरस्थाई बना दिया।

'जैनमठ' में मैनेजिंग कमेटी का कार्यालय है और स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति जी कमेटी के अध्यक्ष हैं। इसके द्वार मंडप के स्तंभों पर कौशलपूर्ण खुदाई का काम है। मंदिर में तीन गर्भगृह हैं, जिनमें अनेक जिनबिम्ब विराजमान हैं। इसमें 'नवदेवता' की मूर्ति अनूठी है। पंचपरमेष्ठियों के अतिरिक्त इसमें जैनधर्म को एक वृक्ष के द्वारा सूचित किया गया है। व्यास पीठ (चौकी) जिनवाणी का प्रतीक है। चैत्य एक जिनमूर्ति द्वारा और जिनमंदिर एक देवमंडप द्वारा दर्शाए गए हैं। सबकी दीवारों पर सुंदर चित्र बने हुए हैं। पास ही बालक-बालिकाओं के लिए अलग-अलग जैन पाठशालाएँ हैं। यहाँ पर इंजीनियरिंग कॉलेज है। इस तीर्थ की मान्यता मैसूर के विगत शासनाधिकारी राजवंश में पुरातन काल से है।

**धर्मस्थल—**

धर्मस्थल बेलूर से 105 किमी., हासन से 70 किमी. है। मंगलौर से चारमाडी जाने वाली सड़क पर 64 किमी. पर उजरे पड़ता है, वहाँ से 9 किमी. पर धर्मस्थल है। उजरे से 2 किमी. की दूरी पर नेत्रवती नदी है। यात्री इस नदी में स्नान करके धर्मस्थल को जाते हैं। यहाँ पर मंजुनाथ स्वामी (शिव का एक रूप) एक मुख्य मंदिर है और जैनों का चंद्रनाथ स्वामी (भगवान चन्द्रप्रभ) का मंदिर है। बड़ी संख्या में हिन्दू, जैन, मुसलमान और ईसाई उस स्थान पर आते हैं और धर्म का लाभ प्राप्त करते हैं। इस स्थान की बड़ी मान्यता है। क्षेत्र की ओर से विशाल धर्मशालाएँ, भोजनशाला निर्मित करायी गयी है। आसपास में क्षेत्र की ओर से कई कॉलेज, स्कूल, गुरुकुल चल रहे हैं।

यहाँ के धर्माधिकारी डॉ. डी. वीरेन्द्र हेगड़े (जैन) हैं। यह क्षेत्र धार्मिक सद्भाव का स्थान है। इस सारे क्षेत्र में डॉ. हेगड़े जी का विशेष मान है। आसपास की जनता के आपसी विवाद में हेगड़े जी का निर्णय सर्वमान्य होता है, उसकी अपील नहीं की जा सकती।

यहाँ भगवान बाहुबली की 12 मीटर ऊँची प्रतिमा एक पहाड़ी पर विराजमान है। इसका निर्माण कारकल में हुआ था।

**वेणूर—**

मंगलौर से 53 किमी. और धर्मस्थल से 36 किमी. की दूरी पर वेणूर है। यह जैनों का प्राचीन केन्द्र है। यहाँ एक जैन धर्मशाला और कई जैन मंदिर हैं। यहाँ के राजा वीर निम्मराज ने सन् 1604 में भगवान बाहुबली की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी और शांतिनाथ मंदिर का निर्माण कराया था। यहाँ बड़ी संख्या में सुंदर मूर्तियाँ हैं।

**मूडबिद्री—**

यह मंगलौर से 34 कि.मी. और वेणूर से 20 कि.मी. दूर है। वेणूर से कारकल जाने वाली बसें जैन धर्मशाला के सामने से गुजरती हैं इसलिए बस स्टैंड पर न उतरकर धर्मशाला के सामने ही उतर जाना चाहिए। होयसल काल में मूडबिद्री जैनों का प्रमुख केन्द्र था। कई राजा जैनधर्म के अनुयायी थे। यहां जैन व्यापारियों आदि का वास था। इस कस्बे में 18 जैन मंदिर हैं, जिनमें त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि, जो भगवान चंद्रनाथ (चंद्रप्रभ) को समर्पित है, सबसे बड़ा है। यह सन् 1429–30 में निर्मित हुआ था। सन् 1442 में यहां प्रसिद्ध यात्री अब्दुल रज्जाक का आगमन हुआ था। उसने इसे संसार का सबसे शानदार मंदिर लिखा है। यह मंदिर तीन मंजिला है। नीचे की मंजिल में मूलनायक की पंचधातु की प्रतिमा लगभग पौने तीन मीटर ऊंची है। कतिपय अन्य मूर्तियां भी इस मंदिर में हैं जो अति मनोज्ञ हैं। सामने साढ़े बारह मीटर ऊंचा मानस्तंभ है। यहां छोटे–बड़े तथा उत्कीर्ण कुल मिलाकर 1000 खंभे हैं।

गुरु वसदि में मूलनायक भगवान पार्श्वनाथ की विशाल मूर्ति है। सिद्धान्त वसदि में 'षट्खंडागम', धवला, जयधवला आदि की ताड़पत्र पर मूल प्रतियां हैं, जिसे सिद्धान्त दर्शन कहते हैं तथा 35 मूर्तियां हीरा, पन्ना आदि रत्नों की है। इनके दर्शनों के लिए पहले कहना पड़ता है। अन्य मंदिरों में भी मनोज्ञ प्रतिमाएं हैं। संध्या को आरती के समय

चित्ताकर्षक रोशनी की जाती है।

मूडबिद्री में भट्टारक गद्दी भी है। वर्तमान भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी महाराज क्षेत्र की उन्नति की ओर ध्यान दे रहे हैं। यहां साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा स्थापित श्री रमारानी जैन रिसर्च इंस्टीट्यूट भी है। इस संस्था द्वारा साहित्यिक शोधकार्य को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। पांडुलिपियों का एक विशाल भंडार है।

**कारकल—**

मंगलौर से 53 किमी. और मूडबिद्री से 16 किमी. दूर कारकल अतिशयक्षेत्र है। यहाँ भट्टारक जी का मठ है। उसी में धर्मशाला है, जो बस स्टैण्ड से एक किलोमीटर के फासले पर है। सामने श्राविकाश्रम है। थोड़ी दूर पहाड़ी पर बाहुबली स्वामी की 13 मीटर ऊँची प्रतिमा है। इस मूर्ति का निर्माण सन् 1432 में कारकल नरेश वीर पांडव ने कराया था। यहाँ के भरव ओड़िया वंश के राजा जैन थे। सन् 1334 में कुमुदचंद्र भट्टारक के द्वारा बनवाए शांतिनाथ मंदिर को महाराजाधिराज लोकनाथ रस की बहनों ने दान दिया था। शक सं. 1588 में इम्मडिभैरवराज ने 'चतुर्मुख वसदि' नामक विशाल मंदिर बनवाया था। इस मंदिर में चारों ओर द्वार हैं। यहाँ लगभग साढ़े छः मीटर ऊंची 12 प्रतिमाएँ विराजमान हैं। कारकल में कुल मिलाकर 23 जैन मंदिर हैं।

**वारांग—**

वारांग कारकल से 25 किमी. दूर है। यह छोटा सा कस्बा है। इस क्षेत्र का प्रबंध हुमचा के भट्टारक जी के हाथ में है। बस स्टैण्ड से थोड़ी दूर पर जैन मठ और धर्मशाला है। धर्मशाला में केवल एक दालान है। यहाँ तीन मंदिर हैं। एक और मंदिर एक तालाब में है, जो जल मंदिर कहलाता है। इसमें लगभग एक मीटर ऊँची चौमुखी प्रतिमा है। इस मंदिर तक छोटी नाव द्वारा जाते हैं।

**कुन्दकुन्दबेट्ट ( कुंद्रादि पर्वत )-**

कहा जाता है कि यहीं से कुंदकुंदाचार्य विदेहक्षेत्र में गए थे और वहाँ पर 8 दिन तक भगवान सीमंधर के समवसरण में धर्म का साक्षात् श्रवण किया था परन्तु शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलते। वारांग से 16 किमी. पर सोमेश्वर नामक स्थान है। वहाँ से 24 किमी. लंबी ओगंबे घाटी शुरू होती है, इस घाटी में छोटी बसें (14 सवारी वाली) ही जाती हैं। 10 किमी. जाने पर ओगंबे पहुँचते हैं, जहाँ से बड़ी बसें चलती हैं। शिमोगा वाली सड़क पर 10 किमी. जाने पर गुडडकेरी गांव पड़ता है (शिमोगा से आने वाले गुडडकेरी आते हैं)।

**हुमचा—**

हुमचा (हुंबुज पद्मावती) तीर्थक्षेत्र है। शिमोगा से यह स्थान कोई 60 किमी. पड़ता है।

यहाँ का मठ प्राचीन है। वारांग आदि कई स्थान इसी मठ से निर्देश प्राप्त करते हैं। यहाँ के मठाधिपति कुंदकुदान्वय के नंदी संघ से संबंध रखते हैं। इस मठ का संबंध कई महान आचार्यों से रहा है। जिनमें आचार्य समंतभद्र, विद्यानंदि, विशालकीर्ति, मुनि नेमिचंद्र प्रमुख हैं।

यहाँ पर मुख्य मंदिर पद्मावती का है। इस इलाके में पद्मावती जी की बड़ी मान्यता है। बहुत से लोग उनका आशीर्वाद लेने यहाँ आते हैं।

पहाड़ी के ऊपर बाहुबली मंदिर है तथा कई मंदिर और भी हैं। हुमचा अतिशययुक्त क्षेत्र माना जाता है। यहाँ के अतिशय हैं—1. लक्की का वृक्ष जो सदा हरा रहता है, 2. मुतीन केरे तालाब (जिसमें सदा जल रहता है), 3. कुमुदवती नदी, जो सतुंगभद्रा में मिलती है एवं यहीं से निकलती है। पहाड़ी में एक छेद से जल निकलता है और गर्मी के मौसम में भी पानी बहता है। इस क्षेत्र द्वारा कई संस्थाएं संचालित हैं।

**हुबली—**

सागर से 160 किमी. की दूरी पर हुबली है। यहाँ ठहरने का उचित प्रबंध नहीं है इसलिए अधिकांश लोग बागलकोट (बादामी से 41 किमी.) में ठहरते हैं। इस इलाके में तीन स्थान—बादामी, ऐहोले और पट्टदकल प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान हैं।

**बीजापुर—**

यहाँ राम गली में श्रीराम मंदिर के सामने दिगम्बर जैन मंदिर है। बाबानगर में भगवान पार्श्वनाथ की सातिशय प्रतिमा लगभग पांचवीं शताब्दी की है। 1008 सर्पफणों से सुशोभित होने के कारण यह प्रतिमा सहस्रफणी कहलाती है। हर फण भीतर ऐसी कलाकारी से जुड़ा हुआ है कि अभिषेक का जल हर फण से उतरते हुए प्रतिमा का अभिषेक करता है।

बीजापुर आदिलशाही वंश की राजधानी रहा है। (1565 में बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा और बीदर से मिलकर विजयनगर को परास्त किया था) यहाँ कई दर्शनीय स्थल हैं। सबसे प्रमुख 'गोल गुंबज' है, जो विश्व में अपना एकमात्र उदाहरण है। इस गुंबज का क्षेत्रफल 18,377 वर्ग फुट है और यह 40 मीटर ऊँचा (अंदर का नाप) है। इसमें एक ऐसा भाग है, जहाँ आवाज गूंजती है। यहाँ इब्राहीम रोजा, जामा मस्जिद, असर महल आदि दर्शनीय स्थल हैं।

## 3.10 आंध्रप्रदेश—

**कुलपाक—**

यह अतिशय क्षेत्र हैदराबाद-काजीपेट रेल मार्ग पर है। हैदराबाद से 79 किमी. पर आलेर स्टेशन है। वहाँ से लगभग 6 किमी. पर प्राचीन क्षेत्र है। यहाँ भगवान आदिनाथ की अतिशयसम्पन्न दिगम्बर मूर्ति विराजमान थी जो माणिक स्वामी के नाम से विख्यात थी। इस प्रतिमा की चोरी हो गई। अब यहाँ हरे रंग की एक प्रतिमा विराजमान है। इस समय इस क्षेत्र पर श्वेताम्बरों का अधिकार है।

**वारंगल—**

हैदराबाद से 152 किमी. काजीपेट से 11 किमी. और विजयवाड़ा से 111 किमी. की दूरी पर वारंगल है। स्टेशन से 8 किमी. पर वारंगल का विशाल दुर्ग है। दुर्ग में चार जैन मंदिर एवं कतिपय कलापूर्ण वस्तुएँ हैं। ऐसा लगता है कि राजधानी बनने से पहले वारंगल बड़ी जैन बस्ती थी।

**गोलकुंडा—**

किले में कई खंडित जैन मूर्तियाँ हैं। आसपास अनेक स्थानों पर अवशेष मिलते हैं।

**कुलचारम—**

यहाँ पर 1984 में भूगर्भ से प्राप्त 11 फुट 3 इंची की विशाल खड्गासन भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है। यह स्थान मेदक जिले के जोगीपेठ जिले में स्थित है। हैदराबाद से 80 किमी. दूर है। बस द्वारा जाया जा सकता है।

## 3.11 महाराष्ट्र—

**रामटेक—**

नागपुर से रामटेक 48 किमी. दूर है। यह श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र है। यहाँ एक अहाते में 15 जिनालय बने हैं। मुख्य मंदिर भगवान शांतिनाथ का है। इसमें भगवान शांतिनाथ की पीले पाषाण की लगभग

4 मीटर ऊंची खड्गासन प्रतिमा है। यह प्रतिमा अत्यन्त मनोज्ञ है। चरण चौकी जमीन के अंदर है।

कहते हैं कि श्री अप्पा साहब भोसला के राज्यमंत्री वर्धमान सावजी जैन श्रावक थे। एक दिन राजा अप्पा साहब रामटेक आए। मंत्री जी उनके साथ थे। राजा ने श्रीराम मंदिर के दर्शन कर भोजन कर लिया परन्तु मंत्री वर्धमान ने भोजन नहीं किया। कारण यह था कि उन्होंने देवदर्शन नहीं किए थे। इस पर राजा ने जैन मंदिर का पता लगवाया। काफी खोजबीन के बाद जंगल में झाड़ियों से ढकी हुई एक तीर्थंकर मूर्ति का पता चला। मंत्री उसके दर्शन कर अति आनंदित हुए। फिर उन्होंने वहाँ कई मंदिर बनवाए।

कहते हैं इस स्थान पर श्री रामचंद्र जी का आगमन हुआ था। एक किंवदंती के अनुसार यह वही स्थान है जिसके सुरम्य वनों का वर्णन महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में किया है। शासन ने यहाँ पर्वत पर कालिदास स्मारक बनवाया है।

**मुक्तागिरि ( मेंढागिरि )—**

अमरावती से मुक्तागिरि की दूरी 65 किमी. है। खरपी से 6 किमी. दूर स्थित इस क्षेत्र को सड़क जाती है।

यहाँ तलहटी में एक जैन धर्मशाला और एक मंदिर है। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अपूर्व है। तलहटी से डेढ़ किमी. की चढ़ाई है। पहाड़ पर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। कहते हैं कि इस स्थान पर मेंढदेव ने बहुत से मोतियों की वर्षा की थी, इसलिए इसका नाम मुक्तागिरि पड़ा है। वंशस्थल 40वें मंदिर के पास है। अधिक उपयुक्त यह जान पड़ता है कि निर्वाणक्षेत्र होने के कारण यह मुक्तागिरि कहलाया। इस पर्वत से साढ़े तीन करोड़ मुनि मुक्त हुए इसलिए यह सिद्धक्षेत्र माना जाता है।

पर्वत पर 52 अति मनोज्ञ मंदिर हैं। अधिकांश मंदिर प्राय: 15वीं शताब्दी के या बाद के बने हुए हैं। अचलपुरी के एक ताम्रपत्र में इस पवित्र स्थान पर सम्राट श्रेणिक बिंबसार द्वारा गुफा मंदिर बनवाने का उल्लेख है। अचलपुर (ऐलिचपुर) यहाँ से 13 किमी. है। यहाँ दसवें नम्बर का मंदिर 'मेंढागिरि मंदिर' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें नक्काशी का काम बहुत अच्छा है। स्तंभों और छत की रचना अपूर्व है। भगवान शांतिनाथ की प्रतिमा दर्शनीय है। इस मंदिर के समीप 60-65 मीटर की ऊँचाई से पानी की धारा पड़ती है, जिससे एक रमणीय जलप्रपात बन गया है। मंदिर प्रपात के नाले के दोनों ओर बने हुए हैं। मंदिरों की पंक्ति बहुत ही भव्य लगती है। पार्श्वनाथ भगवान का पहला मंदिर भी प्राचीन शिल्प का नूमना है। प्रतिमा सप्तफणमंडित एवं प्राचीन है। जनश्रुति के अनुसार यहाँ पर केशर की वर्षा होती थी।

**अंतरिक्ष पार्श्वनाथ ( सिरपुर )—**

कारंजा से मंगलरूलपीर मालेगांव (दूरी 84 किमी.) होते हुए सिरपुर पहुँचा जा सकता है। सिरपुर, मालेगांव से 7 किमी. है। सिरपुर, अकोला से 74 किमी. तथा अकोला जिले में सिरपुर ग्राम में स्थित है। वाशिम रेलवे स्टेशन (खण्डवा-पूर्णा लाइन) से 31 किमी. है।

अंतरिक्ष पार्श्वनाथ अतिशयक्षेत्र और उसके अधिष्ठाता अंतरिक्ष पार्श्वनाथ भारत भर में प्रसिद्ध हैं। क्षेत्र की ख्याति तो इस मूर्ति विशेष के विराजमान होने के पहले से थी। जैन कथा साहित्य के आधार पर रामचंद्र जी के समय में भी यह क्षेत्र था। सिरपुर के पार्श्वनाथ की ख्याति ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों से रही है। एक धारणा के अनुसार यहाँ के मंदिर का निर्माण चोलवंशी श्रीपाल नरेश ने कराया था। सिरपुर ग्राम के बाहर वह स्थान है, जहाँ पर राजा श्रीपाल को कुष्ट रोग से मुक्ति मिली। यहाँ के चमत्कारों की कई कथाएँ हैं। यहाँ उत्खनन में अनेक मूर्तियाँ आदि पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है। कहते हैं कि यहाँ की पुरानी ईंट पानी में तैरती है।

मूल मंदिर गांव के मध्य में एक गली में है। प्रवेश द्वार छोटा है। उसमें झुककर ही जाया जा सकता है। प्रवेश करने पर प्रांगण है। उसके तीन ओर बरामदे हैं। इस प्रांगण में ऊपर से ही झरोखे द्वारा अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के दर्शन होते हैं।

**जिंतूर नेमिगिरि—**

यह स्थान शिरड शहापुर से केवल 45 किमी. है। पहले यह नगर जैनपुर कहलाता था। काचेगुडा-मनमाड रेल लाइन पर परभणी स्टेशन से 42 किमी. जिंतूर नगर है।

क्षेत्र, जिंतूर नगर से 4 किमी. की दूरी पर सहयाद्रि पर्वत पर है। यह श्री नेमिनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र के रूप में जाना जाता है। क्षेत्र पर एक अहाते में गुफा मंदिर है। यहाँ कुल 6 गुफाएँ या तल प्रकोष्ठ हैं। भगवान नेमिनाथ की लगभग 2 मीटर ऊँची पद्मासन प्रतिमा है। इनके अतिरिक्त यहाँ भगवान पार्श्वनाथ, भगवान बाहुबली आदि की मूर्तियाँ भी विराजमान हैं। भगवान पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा पाषाण के एक जरा से टुकड़े पर टिकी है इसलिए इसे अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कहते हैं। शिलालेख से पता चलता है कि इन मूर्तियों के प्रतिष्ठाचार्य आचार्य कुमुदचंद्र थे। यहाँ राजुलमती का प्राचीन मंदिर भी है।

हिजरी सन् 631 में इस नगर पर कादरी नामक अफगान ने हमला किया था। उसी ने इसका नाम जिंतूर रखा। तब यहाँ अनेक जैन मंदिर थे। कादरी ने उनमें से अनेक को नष्ट-भ्रष्ट किया और कुछ को मस्जिद बना दिया।

संवत् 1532 में वीर संघवी का यहाँ आगमन हुआ। उन्होंने मंदिरों का जीर्णोद्धार किया। पहले गांव में 14 जैन मंदिर थे लेकिन अब दो हैं। दोनों मंदिरों में 1024 मूर्तियाँ (1000+24) हैं।

**एलोरा (वेरूल)—**

ये जगतविख्यात गुफाएँ और गुहा मंदिर औरंगाबाद से 30 किमी. हैं। ऐलोरा ग्राम (वर्तमान नाम वेरुल) गुफाओं से डेढ़ किमी. दूर है। बस कैलाश नामक गुहा मंदिर के सामने रुकती है। यहाँ पर उप गुफाएँ, गुहा मंदिर हैं। जिनमें 12 (नं. 1 से 12 तक) बौद्धधर्म की गुफाएँ हैं, 17 (नं. 13 से 29 तक) हिन्दू (शैव) धर्म की हैं और 5 (नं. 30 से 34 तक) जैनधर्म की हैं।

जैन गुहा मंदिरों में तीर्थंकरों के अलावा अन्य मूर्तियाँ भी बनी हुई हैं। कई गुफाएँ दो मंजिली हैं। छोटा कैलाश, इंद्रसभा और जगन्नाथ नाम की जैन गुफाओं में उत्कृष्ट कला देखने को मिलती है।

गुफा नं. 30 अधबनी है। इसकी प्रतिमाएं खड्गासन हैं। इसी में से एक फर्लांग चलकर इसी गुफा का दूसरा भाग मिलता है जहाँ एक स्तंभ में एक विशाल खड्गासन मूर्ति है। दुंदभिवादक पुष्पवर्षा करते हुए देव दिखाई देते हैं। यहाँ बहुत सी मूर्तियाँ हैं। एक ढाई मीटर ऊँची अलंकार धारण किए हुए इंद्र की नृत्यमुद्रा में मूर्ति है। इस गुफा को छोटा कैलाश कहते हैं।

गुफा नं. 31 छः स्तंभों पर आधारित मंडप है। यहाँ दो मीटर की भगवान पार्श्वनाथ की खड्गासन प्रतिमा है। देवी-देवताओं, यक्षों आदि की मूर्तियाँ भी हैं। एक प्रतिमा बाहुबली की है जो लगभग 2 मीटर ऊँची है।

गुफा नं. 32 को इंद्रसभा कहते हैं। यह दो मंजिला है और यहां की जैन गुफाओं में सबसे बड़ी है। छतों में भी चित्रकारी है जो अपने वैशिष्ट्य के कारण प्रसिद्ध है। यहाँ अनेक मूर्तियाँ आदि हैं। भगवान पार्श्वनाथ की एक साढ़े तीन मीटर ऊँची प्रतिमा दीवार में है। एक कोष्ठक में साढ़े तीन मीटर ऊँची बाहुबली स्वामी की प्रतिमा है। यह स्थान कलाकृतियों से भरा पड़ा है। ऊपर की मंजिल का मंडप दो स्तंभों पर आधारित है। यहाँ अनेक मूर्तियाँ हैं। ढाई मीटर ऊँची अर्द्ध-पद्मासन प्रतिमाएँ हैं।

गुफा नं.-33 और गुफा नं. 34 कलाकृतियों से भरी है। गुफा नं. 33 में भगवान पार्श्वनाथ की साढ़े तीन मीटर ऊँची मूर्ति है। यह गुफा दो मंजिला है। इसी गुफा से गुफा नं. 34 में जाते हैं।

हिन्दू गुफाओं में कैलाश सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। शिल्प और वास्तुकला का यह एक उत्कृष्ट नमूना है। शायद इस प्रकार का इतना बड़ा गुहा मंदिर कहीं और नहीं हैं।

सारी गुफाएँ 3 किमी. के क्षेत्र में है।

**पार्श्वनाथ मंदिर**— गुफा नं. 3 से एक चौड़ा मार्ग पहाड़ी से ऊपर गया है। उससे आधा किमी. पर पार्श्वनाथ मंदिर है। मंदिर आधुनिक है, प्राचीन मंदिर के स्थान पर बनाया गया है। पाँच मीटर ऊँची भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति है। यह मंदिर गुफाओं से अलग एकांत में बना है। इस पर्वत को चारणाद्रि या कनकाद्रि कहते हैं।

दर्शन के बाद लगभग 8 सीढ़ियाँ उतरकर एक गुफा है, जिसमें यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ हैं। फिर एक खाली गुफा मिलती है। इसके आगे एक छोटी गुफा मिलती है जिसमें जलकुंड बना हुआ है। इसके दाएं-बाएं तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। फिर जल से भरी एक गुफा मिलती है।

फिर एलोरा (वेरुल) ग्राम है। यह क्षेत्र कहलाता है। यहाँ पर श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल है। छात्रावास, विद्यालय-भवन, अतिथि-गृह एवं निर्माणाधीन जिनालय आदि हैं।

**अजंता—**

औरंगाबाद से 103 किमी. की दूरी पर जगत-प्रसिद्ध अजंता की गुफाएँ हैं। जलगांव से यह स्थान 59 किमी. है। (जलगांव मनमाड़ से 160 किमी. और मुम्बई से 420 किमी. है।)

अर्द्ध-चंद्राकार पहाड़ी पर 30 गुफाएं हैं। इनमें से 5 (नं. 9, 10, 19, 26 और 29) को चैत्य की संज्ञा दी जाती है और बाकी को विहार की। यों तो सभी में कुछ न कुछ विशेषता है पर गुफा नं. 1, 2, 9, 10, 16, 17, 19 एवं 26 औरों से अधिक महत्वपूर्ण है। गुफा नं. 1, 2, 16, 17 एवं 19 में प्रसिद्ध चित्र हैं।

**पैठण (प्रतिष्ठानपुर)—**

औरंगाबाद से दक्षिण की ओर से 51 किमी. पर पैठण (प्राचीन नाम प्रतिष्ठान) है। यह भगवान मुनिसुव्रतनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र है। मूलनायक भगवान मुनिसुव्रतनाथ के नाम पर ही मंदिर का नामकरण हुआ है। क्षेत्र गोदावरी नदी के निकट ऊँचाई पर है। मंदिर दो मंजिला है यहाँ मूलनायक मुनिसुव्रतनाथ के अतिरिक्त 50 मूर्तियाँ हैं।

यहाँ भगवान मुनिसुव्रत की बड़ी मान्यता है। जैन और जैनेतर भाई बड़ी संख्या में कल्याण लाभ के लिए यहाँ आते हैं।

**कुंथलगिरि—**

कुंथलगिरि उस्मानाबाद से सड़क मार्ग द्वारा 52 किमी. है। यहाँ येडशी या वार्शी टाउन से भी पहुँचा जा सकता है। येडशी से यह 40 किमी. तथा वार्शी टाउन से 58 किमी. पड़ता है। मोड़ से यह स्थान तीन किमी. है।

कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से कुलभूषण एवं देशभूषण मुनि मुक्त हुए थे। यहाँ एक पहाड़ी पर सात मंदिर हैं—

(1) कुलभूषण-देशभूषण का मंदिर (2) शांतिनाथ मंदिर (3) बाहुबली मंदिर (लगभग साढ़े पाँच मीटर ऊँची खड्गासन प्रतिमा) (4) आदिनाथ मंदिर (5) अजितनाथ मंदिर (6) चैत्य (7) नंदीश्वर जिनालय। शांतिनाथ मंदिर के पास ही आचार्य शांतिसागर जी के चरणचिन्ह स्थापित हैं। यहीं उनका समाधिमरण हुआ था।

तलहटी में चार मंदिर हैं—(1) नेमिनाथ मंदिर, (2) महावीर मंदिर (3) रत्नत्रय मंदिर, (4) समवसरण मंदिर।

**बाहुबली (कुंभोज)**—यह दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र है। यह दक्षिण मध्य रेलवे की मिरज-कोल्हापुर लाइन पर हातकलंगणे स्टेशन से 6 कि.मी. है। क्षेत्र का नाम बाहुबली है। (वहां से 2 कि.मी. पर कुंभोज नामक नगर है)। मीरज से सड़क द्वारा भी जा सकते हैं। कोल्हापुर से यह 27 कि.मी. पड़ता है।

अनुश्रुति है कि कई शताब्दी पूर्व मुनि बाहुबली विहार करते हुए पधारे और एकांत देखकर एक गुफा में तपस्या के लिए ठहर गए। कई-कई दिन के बाद वे आहार के लिए उठते थे। इस इलाके में जैन कृषक काफी संख्या में थे और उनकी स्त्रियां उनका भोजन लेकर खेत पर जातीं; वे ही मुनिवर को आहार दे देती थीं। उनके नग्न रूप को देखकर कुछ

शरारती युवक मुनिवर को परेशान करने लगे। मुनिराज पहाड़ी पर लौट गए। एक व्याघ्र आकर चुपचाप उनके सामने बैठ गया। शरारती युवक जब वहां पहुचे तो समझ गए कि वह तो पहुंचे हुए संत हैं।

मुनिराज बाहुबली के चमत्कारों की और भी कथाएं हैं। उनकी स्मृतिस्वरूप उनके चरण चिन्ह यहां अंकित हैं।

प्रवेशद्वार में घुसने पर एक ओर दो धर्मशालाएं, यांत्रिक विद्यालय, अतिथि निवास और विद्यापीठ के गुरुजनों के निवास हैं और दूसरी ओर प्रतीक्षागृह, छात्रावास, विद्यालय भवन और क्रीड़ाक्षेत्र हैं। 50 सीढ़ियों के बाद मार्बल का चबूतरा है जहां भगवान बाहुबली की 9 मीटर ऊंची श्वेत संगमरमर की भव्य प्रतिमा है (इसकी प्रतिष्ठा सन् 1963 में हुई थी)। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रतिमाएं एवं मंदिर भी हैं।

मंदिरों के पास से पहाड़ी पर रास्ता जाता है। 386 सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंचते हैं। क्षुल्लिका पार्श्वमती, मुनि वर्धमान सागर और एक अन्य मुनि के चरण बने हुए हैं।

यहां पहले चार दिगम्बर जैन मंदिर थे। वे गिरा दिए गए हैं और उनके स्थान पर नए मंदिरों का निर्माण हो गया है। इन मंदिरों के उत्तर की ओर श्वेतांबर मंदिर बना हुआ है। इस क्षेत्र पर बाहुबली स्वामी की ढ़ाई मीटर ऊंची खंडित प्रतिमा है। तलहटी के मंदिरों से पौन कि.मी. दूर प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर है। जिसमें भगवान आदिनाथ, नेमिनाथ और महावीर की अत्यंत मनोज्ञ प्रतिमाएं हैं। एक मुनि गुफा भी है, जहां आचार्य शांतिसागर जी और अन्य मुनियों ने तपस्या की थी।

यहां श्री बाहुबली ब्रह्मचर्याश्रम चल रहा है (यह कारंजा ब्रह्मचर्याश्रम के बाद स्थापित हुआ है) क्षेत्र के मंदिरों की संख्या 66 है।

**दही गांव—**

यह दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र नातेपुते और बालचंद्र नगर के मध्य अवस्थित है। यह नातेपुते से 6 किमी. और बालचंद्र नगर से 13 किमी., बारामती रेलवे स्टेशन से 35 किमी. और लोणंद से 65 किमी. है। पंढरपुर-नीरा से भी 65 किमी. है। इस नाम के कई स्थान हैं इसलिए यह याद रखना जरूरी है कि तीर्थ दहीगांव वही है जो नातेपुते बालचंद नगर मार्ग पर है।

लगभग सन् 1800 में यहाँ महतीसागर जी पधारे थे। उन्हीं की प्रेरणा पर यहाँ जिनमंदिर का निर्माण हुआ। इससे पूर्व यहाँ कोई मंदिर नहीं था। फिर ब्र. जी की समाधि के बाद उनकी चरण-पादुका विराजमान कराई गई। लोकविश्वास है कि इनके दर्शन से मनोकामना पूर्ण हो जाती हैं। इस मान्यता के आधार पर यह क्षेत्र कालांतर में अतिशयक्षेत्र बन गया।

मंदिर की मुख्य वेदी में पौने दो मीटर ऊँची भगवान महावीर की पद्मासन प्रतिमा मूलनायक प्रतिमा के रूप में विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा संवत् 1910 में हुई थी। इस वेदी पर धातु की 50 मूर्तियाँ भी विराजमान हैं।

गर्भगृह, कमरों, प्रकोष्ठों और तलघर में बहुत सी प्रतिमाएँ हैं। सभामंडप के अतिरिक्त यहाँ शास्त्रभंडार भी हैं। एक गुरुकुल भी चल रहा है।

**मांगीतुंगी—**

मांगीतुंगी एक प्रमुख पावन सिद्धक्षेत्र है। यह दक्षिण भारत का सम्मेदशिखर कहलाता है। यहां से राम, हनुमान, सुग्रीव, नील, महानील और असंख्य मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया। जैन मान्यतानुसार नारायण श्रीकृष्ण का अंतिम संस्कार उनके बड़े भाई बलराम जी ने यहीं पर किया था। तदनंतर संन्यास लेकर यहीं पर उन्होंने तप किया। भीषण दुर्भिक्ष की आशंका से संघ सहित दक्षिण की ओर जाते समय आचार्य भद्रबाहु यहां पधारे थे। इस घटना की स्मृति में एक गुफा में यहां पर उनकी ध्यानस्थ मूर्ति विराजमान है।

एक पहाड़ के दो शिखर हैं : एक मांगी और दूसरा तुंगी। क्षेत्र तहाराबाद से 10 कि.मी. दूर है। मुंबई की ओर से आने वाले नासिक से सटाणा (80 कि. मी.) और वहां से तहाराबाद (80 कि.मी.) पहुंचते हैं। मनमाड़ से सीधी बस सर्विस मांगीतुंगी के लिए है।

क्षेत्र की तलहटी में तीन मंदिर हैं। दो में मूलनायक भगवान पार्श्वनाथ हैं और एक में भगवान आदिनाथ। इस स्थान से 3 कि.मी. पर मुल्हेड़ है।

तलहटी के मंदिरों के पीछे एक किलोमीटर चलकर सीढ़ियां शुरू होती हैं। दोनों शिखरों पर जाने के लिए 2500 सीढ़ियां हैं। कुछ सीढ़ियां चढ़ने पर दो गुफाएं मिलती हैं, जो शुद्ध–बुद्ध जी की गुफाएं कहलाती हैं। इन दोनों में तीर्थंकर प्रतिमाएं विराजमान हैं। कई प्रतिमाएं दीवार में भी उत्कीर्ण हैं।

आगे बढ़कर पाषाण द्वार है। दाईं ओर का समतल मार्ग तुंगी को जाता है और बाईं ओर का सीढ़ियों का मार्ग मांगी को। प्रायः यात्री पहले मांगी के दर्शन करते हैं।

मांगी शिखर पर दो तथा तुंगी शिखर पर एक गुफा है। इनका पलस्तर कराकर या टाइल लगवाकर मंदिरों का रूप दे दिया गया है। इन दीवारों में मुनियों, महंतों एवं तीर्थंकरों की 600 मूर्तियां हैं। कुछ आदिवासियों की सूचना के अनुसार मांगी–तुंगी शिखरों के पीछे जंगल में अनेक जैन मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं। यहां सहस्रकूट मंदिर में 1008 प्रतिमाएं हैं। मांगी पर्वत पर 7 व तुंगी पर 4 मंदिर हैं।

यहाँ पहाड़ पर 108 फीट ऊँची भगवान ऋषभदेव की मूर्ति निर्माणाधीन है। यह भारत की सबसे अधिक विशालकाय खड्गासन जैन मूर्ति होगी। कार्य प्रगति पर है।

**गजपंथा—**

चांदवाड़ से सटाणा पहुंचकर गजपंथा पहुंचा जा सकता है। गजपंथा क्षेत्र नासिक–डिंडोरी रोड पर म्हसरूल नामक गांव ही है।

गजपंथा सिद्धक्षेत्र है। यहां से सात बलभद्र और असंख्य मुनि मुक्त हुए। नासिक से म्हसरूल गांव 6 कि.मी. है। नासिक रोड रेलवे स्टेशन से 16 कि.मी. है। म्हसरूल गांव में उत्तर की तरफ जैन मंदिर हैं। मंदिर के पास से ही पर्वत पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां हैं। सीढ़ियां प्रायः 60 से.मी. ऊंची और खड़ी हैं। पर्वत पर चढ़कर एक फाटक आता है। उसमें घुसते ही बलभद्रों के चरणों के दर्शन होते हैं। एक नवनिर्मित जिनालय है जिसमें भगवान पार्श्वनाथ की तीन मीटर ऊंची पद्मासन प्रतिमा है और पार्श्वनाथ गुफा है। गुफाएं, मंदिर, पैनल, मूर्तियां हैं। इसके निकटस्थ लगभग 20–25 कि.मी. क्षेत्र में जैन पुरातत्त्व की सामग्री बड़ी मात्रा में है।

गुफाओं को इस क्षेत्र में लेनी कहते हैं इसीलिए यह क्षेत्र 'चाम्मार लेनी' के नाम से प्रसिद्ध है।

**पोदनपुर ( बोरीवली )—**

यह मुंबई का उपनगर है। यह मुंबई सेंट्रल रेलवे स्टेशन से लोकल ट्रेन द्वारा 30 कि.मी. है। स्टेशन से नेशनल पार्क 2 कि.मी. है। उसी पार्क में गांधी स्मारक से कुछ आगे चलकर भगवान आदिनाथ बाहुबली दिगम्बर जैन मंदिर, पोदनपुर है। इसे स्थानीय बोलचाल में तीनमूर्ति मंदिर भी कहा जाता है। यहां भगवान आदिनाथ की मूर्ति 10 मीटर ऊँची और उसके दोनों तरफ भरत चक्रवर्ती और भगवान बाहुबली की मूर्तियां 5–5 मीटर ऊँची हैं।

इन मूर्तियों के पृष्ठ भाग में 24 वेदियों में 24 तीर्थंकरों के दर्शन मिलते हैं। कई आचार्यों के चरण भी विराजमान हैं। अपनी भव्यता के कारण यह स्थान एक क्षेत्र ही हो गया है।

## 3.12 प्रश्नावली—

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न—**

**प्रश्न 1**-अंतिम केवली श्री जम्बूस्वामी किस पवित्र स्थल से मोक्ष पधारे ?

(क) मथुरा चौरासी ☐ (ख) महलका जी ☐ (ग) ललितपुर ☐

**प्रश्न 2**-त्रिलोकपुर अतिशयक्षेत्र में कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा विराजमान है ?

(क) पार्श्वनाथ ☐ (ख) नेमिनाथ ☐ (ग) महावीर स्वामी ☐

**प्रश्न 3**-मुनि सुदर्शन कुमार ने कहाँ से निर्वाण पद प्राप्त किया ?

(क) गुणांवा जी ☐ (ख) कमलदह (पटना) ☐ (ग) मंदारगिरि ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-मूडबिद्री तीर्थ कहाँ अवस्थित है ? यहाँ की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

**प्रश्न 2**-आंध्रप्रदेश में स्थित तीर्थों के नाम बताते हुए किन्हीं दो का परिचय बताइए ?

**प्रश्न 3**-सिरपुर स्थित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का परिचय एवं कथानक का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 4**-गिरनार सिद्धक्षेत्र किस प्रान्त में है, यहाँ से किन तीर्थंकर भगवान एवं मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया, संक्षिप्त परिचय बताइए ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-राजस्थान एवं मध्यप्रदेश में स्थित तीर्थों के नाम बताते हुए दोनों प्रांतों के तीर्थों में से 5-5 का परिचय दीजिए ?

# पाठ-4—प्रमुख जैन पर्व

## 4.1 सोलहकारण पर्व—

चैत्र, भादों तथा माघ महीनों में पूरे 30 दिन तक यह पर्व मनाया जाता है और सोलहकारण की पूजा तथा व्रत किये जाते हैं। यह अनादिनिधन पर्व है जिसमें जैनधर्म में बतलाई गई दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप आदि सोलह प्रकार की तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली सोलहकारण भावनाओं की आराधना की जाती है।

## 4.2 आत्मशुद्धि का पर्व, दशलक्षण पर्व—

पर्यूषण पर्व का अर्थ है वह काल जिसमें हर प्रकार से, सब ओर से कर्मों का नाश कर आत्मा पवित्र की जाये और कर्मों से मुक्त आत्मा मोक्षगामी बने। पर्यूषण:—परि+ऊषण अर्थात् पर भाव से विरत होकर स्वभाव में रमण करना। धर्म का अर्थ भी स्व-स्वभाव में लौटना है इसलिए यह पर्व हमें विकारी भावों के त्याग एवं उदात्त भावों के ग्रहण करने, कर्मादि विकारों का दहन कर अपनी आत्मा में ही निवास करने की प्रेरणा देता है। इस पर्व को दशलक्षण पर्व भी कहते हैं। इसके माध्यम से हम अपनी भूलें सुधार सकते हैं।

दशलक्षण पर्व के प्रथम दिन उत्तम क्षमा को स्थान दिया गया है और अंतिम दिन क्षमावाणी पर्व मनाया जाता है क्योंकि क्षमा धर्म से ही क्रोध पर काबू पाया जा सकता है। भूल होना मानव का स्वभाव है पर जानकर भूल करना नादानी है। दशलक्षण पर्व को मनाना हमारा तभी सार्थक होगा जब हिंसात्मक प्रवृत्तियों से बचने के साथ परिणामों में निर्मलता लाकर अपनी कषायों को कम करें व संयम की डगर पर चलें। क्षमा वीरों का आभूषण है। यह अंतरंग का विषय है। क्षमा के अभाव में त्याग, तपस्या, नियम सब व्यर्थ हैं। यह पर्यूषण पर्व वर्ष में तीन बार आता है—

1. माघ शुक्ला 5 से माघ शुक्ला 14 तक
2. चैत्र शुक्ला 5 से चैत्र शुक्ला 14 तक
3. भादों शुक्ला 5 से भादों शुक्ला 14 तक

श्वेतांबर जैन लोग भाद्रपद कृष्णा द्वादशी से भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी तक आठ दिन एवं दिगंबर जैन लोग भाद्रपद शुक्ला पंचमी से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी तक दस दिन यह पर्व मनाते हैं।

पर्यूषण पर्व को आठ अथवा दस दिन तक सीमित करने के पीछे एक कारण है। जैन मतानुसार दुख से सुख की ओर बढ़ने वाला कालचक्र का पहिया उत्सर्पिणी काल और सुख से दुख की ओर का काल अवसर्पिणी काल माना गया है। वर्तमान अवसर्पिणी काल है। इस अवनति काल में मनुष्य के पास न तो दृष्टि का भाव रहता है और न ही समय, इसीलिए धर्माचार्यों ने आत्मशुद्धि की नित्य चलने वाली प्रक्रिया के लिए आठ और दस दिन का सीमित काल निश्चित कर दिया ताकि आत्मशुद्धि की दिशा में वर्ष भर न सही इतने ही समय के लिए प्राण-प्रण से सत्प्रयास कर सकें।

वर्षाकाल में पर्यूषण पर्व के कुछ अन्य पहलू भी हैं। चातुर्मास का समय होने से साधुओं का आवागमन स्थगित रहता है अत: उनका सतत् सानिध्य एक ही स्थान पर मिल जाता है। वर्षाकाल में वाणिज्यिक गतिविधियां भी शिथिल सी हो जाती हैं। वर्षा ऋतु में ऊर्जा का क्षय कम हो जाता है। पेट की अग्नि भी मंद हो जाने से पाचन शक्ति प्रभावित होती है अतएव इस काल में उपवास तथा अन्य तपश्चर्या तुलनात्मकरूप से सरलता से संभव है।

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन एवं उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार के धर्म कहे गये हैं। आत्मकल्याण के लिये एक ही धर्म पर्याप्त है तब ये दश

धर्म क्यों ? वास्तव में धर्म तो एक ही है उसे समझाने की विधि भिन्न-भिन्न हैं। जैसे मकान तो एक ही है पर उसमें दरवाजे और खिड़कियां अनेक हैं। किसी भी दरवाजे से प्रवेश करें, प्रवेश मकान के अंदर ही होगा। इसी प्रकार इन दश धर्मों में से किसी एक का भी पालन कर लें तो समस्त धर्मों का पालन स्वयमेव हो जाता है।

## 4.3 दशधर्म—

**उत्तम क्षमा—**

सामान्यतः किन्हीं अप्रिय और अनचाही घटना पर क्रोध न करना क्षमा है। क्षमा आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जब आत्मा अपने स्वभाव से च्युत होकर विभाव में पहुंच जाती है तब रागी, द्वेषी, क्रोधी आदि कहलाती है। क्रोध मनुष्य को अंधा बना देता है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य कुछ से कुछ कर डालता है। उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, भले-बुरे का अंतर नहीं समझ पाता। क्रोध को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थिर होना क्षमा है। क्षमा दुर्घटनाओं से बचाती है, सबको मार्ग देती है। क्षमा की भावना मानसिकरूप से संतुलित करती है।

**क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां देहस्थितो देहविनाशनाय।**
**यथा स्थितः काष्ठगतो हि वन्हिः, स एव वन्हिर्दहते च काष्ठम्।।**

मनुष्य के शरीर में छिपा हुआ क्रोध ऐसे ही देह के नाश का हेतु बन जाता है जैसे काष्ठ के भीतर छिपी हुई आग उसी को नष्ट कर देती है। क्रोध, क्रोधकर्ता को मार डालता है। क्षमा जीवन है।

**उत्तम मार्दव—**

**मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवः**

मानसिक कोमलता का नाम मार्दव है। चित्त में कोमलता और व्यवहार में नम्रता होना मार्दव धर्म है। मार्दव का अर्थ है मान का नाश करना। मार्दव की आधारशिला विनय है। यह आत्मा का स्वाभाविक परिणाम है। जब तक ये मार्दव धर्म मन में निवास करता है तब तक प्राणी अपने मारने वाले का भी घात नहीं करता। जब यह धर्म मन से निकल जाता है तब पिता और पुत्र का भी परस्पर में घात देखा जाता है। दया धर्म का मूल ये मार्दव धर्म निर्मलता का कारण है, सब का हितकारक है।

**उत्तम आर्जव—**

**'ऋजोर्भावः आर्जवम्'**

सरल भाव को आर्जव कहते हैं। इसका विलोम मायाचार है। मायाचार को त्यागना ही उत्तम आर्जव भाव कहा है। अपने मन में जैसा विचार हो वैसा ही दूसरों से वचन कहो, उसी प्रकार के कार्य की चेष्टा करो, यही सुख देने वाला आर्जव धर्म है। मन, वचन, काय इन योगों का वक्र न होना ही आर्जव धर्म है।

**उत्तम सत्य—**

जैसा हुआ हो, वैसा ही कहना सत्य का सामान्य लक्षण है परन्तु अध्यात्म मार्ग में स्व-पर अहिंसा की प्रधानता होने से हित, मित व प्रिय वचनों को सत्य कहा जाता है, भले ही किंचित् असत्य क्यों न हो। राग, द्वेष, मोह के कारण असत्य वचन न बोलना तथा दूसरों को संताप देने वाले सत्य वचन को छोड़ना सत्यव्रत है। हास्य, क्रोध अथवा लोभ से प्रेरित होकर मन, वचन, काय से किसी भी समय विश्वासघातक एवं पीड़ाकारक वचन न बोलना सत्यव्रत का पालन करना है। व्यवहारिक जीवन में प्रामाणिक, सत्य, स्व-परहितकारी मीठे वचन बोलना चाहिए। अपने सेवक, दीन, दरिद्र व्यक्तियों से भी पीड़ाकारक कठोर वचन नहीं कहने चाहिए।

**उत्तम शौच—**

धन, पत्नी आदि वस्तुएँ मेरी हैं, ऐसी अभिलाषा बुद्धि ही सर्व संकटों में मनुष्य को गिराती है। इस ममत्व को हृदय से दूर करना ही शौच धर्म है। जो समभाव और संतोषभावरूपी जल से तृष्णा और लोभरूपी मल के समूह को धोता है तथा भोग का लोभ नहीं करता वह शौच धर्म का पालन करता है। शौच का अर्थ है पवित्रता, स्वच्छ होना, शुद्ध होना, निर्मल होना, निर्लोभ होना। पवित्र स्वभाव को छूकर जो पर्याय स्वयं पवित्र हो जाए उस पर्याय का नाम ही शौच धर्म है। शौच धर्म की विरोधी लोभ कषाय बताई गयी है।

**उत्तम संयम—**

संयम जीवन का कर्णधार है। जैसे कर्णधार के बिना नौका एक तट से दूसरे तट तक सुरक्षित एवं समयानुसार नहीं पहुंच सकती है उसी प्रकार संयम के बिना प्राणी सुखी जीवन नहीं जी सकता है।

**संयमेन विना प्राणी, पशुरेव न संशयः।**
**योग्यायोग्यं न जानाति, भेदस्तत्र कुतो भवेत्।।**

संयम के बिना मनुष्य को पशु बताया गया है। संयम ही योग्य और अयोग्य में अन्तर करना सिखाता है। मन इन्द्रियप्रदत्त विषयों का भोग करता है। बाह्य जगत् के साथ संबंध स्थापित करने का काम इन्द्रियों का है। इन्द्रियों की उच्छृंखलता बड़े-बड़े गम्भीर संकटों को निमंत्रण दे सकती है। इन्द्रियों पर अंकुश का अभाव युद्ध तक को जन्म देता है। इन्द्रियों को कसने वाले यह व्रत रूपी बांध विषम परिस्थितियों से जूझते हुये मानव को उबार लेते हैं और अपार धन, जन की हानि होने से बच जाती है।

**उत्तम तप—**

कर्म शत्रुओं का नाश करना तप कहलाता है। कर्मों को शान्तिपूर्वक भोगना, जीव हिंसा न करना तप कहलाता है। चारित्र में जो उद्यम एवं उपयोग किया जाता है उसको तप की संज्ञा दी गई है। तप को संयम का एक अंग माना गया है। जो चारित्र अर्थात् संयम की आराधना करते हैं उनके अवश्य ही नियम से तप की भी आराधना हो जाती है और जो तप की आराधना करते हैं उनको चारित्र की आराधना होती है। ध्यान करना तथा कषायों का त्याग करना तप है।

**उत्तम त्याग—**

संसार में हम जो कुछ प्राप्त करते हैं वह नहीं बल्कि जो कुछ हम त्यागते हैं वह हमें धनी बनाता है। दुनिया को प्रेम, मैत्री, त्याग भावना से ही जीता जा सकता है। शस्त्र से हम किसी को हरा सकते हैं जीत नहीं सकते। जैसे-जैसे परिग्रह का त्याग होता है वैसे-वैसे हृदय में आनन्द की तरंगें उठती जाती हैं।

त्याग विश्व की समस्त संस्कृतियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द है। त्याग की प्रवृत्ति ग्रहण की निवृत्ति पर ही निर्भर करती है। ग्रहण अर्थात् प्राप्ति की अभिलाषा के कारण ही वासना में वृद्धि होती है तथा तृप्ति में कमी हो जाती है। असंतोष उपजता है। असंतोष के कारण राग, द्वेष मन को निर्बल बनाते हैं। प्रतिक्षण ग्रहण की इच्छा मन को विराम नहीं देती और तनाव को जन्म देती है। जिससे तन व मन दोनों निर्बल होते हैं। त्याग की प्रवृत्ति मनुष्य के मन को इच्छापूर्ति के जाल में उलझने से रोक कर अद्भुत संतुष्टि को जन्म देती है।

सूर्य अपनी प्रज्वलित अनन्त किरणें प्रतिक्षण त्याग कर लोक को प्रकाशित करता है। यदि यह त्याग न हो तब पेड़-पौधों से लेकर जीव-जन्तु मानव कोई भी जीवित न रहें। ऐसे ही मनुष्य यदि स्वार्थवश संग्रह प्रवृत्ति को ही अपनाये और त्याग या विसर्जन न करे तो जैसा कि आज हो रहा है, विश्व में आर्थिक विषमता बढ़ने के साथ-साथ आर्थिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाये। राग और क्रोध की निवृत्ति अपने अधिकार के त्याग से ही संभव है। संसार की दासता मन से निकाल देना ही त्याग है। त्याग के अभिमान का त्याग ही वास्तविक त्याग है।

**उत्तम आकिंचन्य —**

आकिंचन्य एवं अपरिग्रह परस्पर पूरक हैं। अपरिग्रह व्रत है और आकिंचन्य आत्मा का धर्म है, स्वभाव है। अपरिग्रह परिग्रह का निषेध है। आकिंचन्य का अर्थ परिग्रहशून्यता मात्र नहीं है, परिग्रहशून्यता के मनोभावों की सहज स्वीकृति भी है। मनुष्य की आशायें जैसे-जैसे पूर्ण होती जाती है वैसे-वैसे उसकी इच्छायें बढ़ती जाती हैं, कभी विराम नहीं लेती हैं। संसार में ऐसा कोई भी नहीं है जिसे सुख नहीं चाहिए। सबके मन में सुख की चाहत है। प्रत्येक प्राणी की तृष्णा इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि समस्त विश्व की सम्पत्ति भी उसे प्राप्त हो जाये तो भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होगी। आशाओं की कोई सीमा नहीं होती, परिग्रह का कोई अन्त नहीं है इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वो अपनी आकांक्षाओं की सीमा बनाकर आकिंचन्य धर्म का पालन करे।

**उत्तम ब्रह्मचर्य —**

समस्त विषय वासना का निरोधकर निज आत्मा में चरना, रमना उत्तम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के दो मार्ग बताये गये हैं — एक साधु मार्ग और दूसरा गृहस्थ मार्ग। साधु का धर्म निवृत्तिमूलक धर्म है। गृहस्थ को अपने सभी प्रकार के दायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। उसकी अपनी एक सीमा है। गृहस्थ त्याग के मार्ग में पूरी तरह नहीं बढ़ सकता। गृहस्थ के लिए ब्रह्मचर्य की साधना स्वदार संतोष व्रत धारण करना बताया है अर्थात् एक पत्नीव्रत का पालन करते हुये सामाजिक मर्यादाओं का पालन करे।

पहले चार धर्म — उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच क्रमशः हमारे अंदर के क्रोध, मान, माया, एवं लोभ को शमन करते हैं। इसी तरह उत्तम सत्य धर्म आत्मबल में वृद्धि एवं उत्तम संयम धर्म अनुशासित बने रहने के लिये अनिवार्य है। उत्तम तप धर्म से इंद्रिय एवं मन पर नियंत्रण रहता है।

उत्तम त्याग धर्म जीवन में संवेदनशीलता, सहिष्णुता एवं उदारता में वृद्धि करने में सहायक होता है। उत्तम आकिंचन अर्थात् अपरिग्रह धर्म परिग्रह के अभाव के साथ-साथ क्रोध, मान, माया एवं लोभ आदि विकारों, "जो पदार्थ में आसक्ति के कारण उत्पन्न होते हैं" को शमन करता है। उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म आत्मलीनतापूर्वक पाँचों इंद्रियों के विषयों का त्याग, आत्मविश्वास, आत्मबल एवं गृहस्थाचार को नियमित करने का धर्म है।

यह दश धर्म चारित्र सुधार की निर्मल पर्याय हैं। इनके साथ लगा उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य सत्ता का सूचक है अर्थात् ये चारित्र की निर्मल दशायें सम्यग्ज्ञानी को ही प्रकट होती है। दश धर्मों की भावना भाते हुए, उनको आत्मसात करते हुए हम अपनी निर्मलता को प्राप्त होते हैं। हमारे अंतर में समस्त प्राणीमात्र के प्रति क्षमा भाव उत्पन्न होते हैं। पर्यूषण पर्व ही ऐसा पर्व है जो अपनी क्षमादि दश धर्मरूपी तरंगों से जीवन को शीतल एवं साफ-सुथरा बनाता है। विकारी भावों का परित्याग एवं उदात्त भावों का ग्रहण इस पर्व का आधार है।

## 4.4 क्षमावाणी —

पर्यूषण पर्व के समापन पर क्षमावाणी का कार्यक्रम सामूहिक रूप से मैत्री दिवस के रूप में मनाया जाता है। क्षमा पर्व हमें सहनशीलता से रहने की प्रेरणा देता है। क्रोध को उत्पन्न न होने देना और अगर हो भी जाये तो अपने विवेक से, नम्रता से उसे विफल कर देना। अपने भीतर आने वाले क्रोध के कारण को ढूंढ कर, क्रोध से होने वाले अनर्थों के बारे में सोचना और अपने क्रोध को क्षमारूपी अमृत पिला कर अपने आपको और दूसरों को भी क्षमा की दृष्टि से देखना। अपने से अनजाने में हुई गलतियों के लिये स्वयं को क्षमा करना और दूसरों के प्रति भी उसी भाव को रखना इस पर्व का महत्व है।

इस दिन स्वयं के पापों की आलोचना करते हुए भविष्य में उनसे बचने की प्रतिज्ञा करते हैं। समस्त जीवों से क्षमा मांगते हुए उन्हें यह सूचित करते हैं कि उनका किसी से कोई वैर नहीं है। उन्होंने समस्त जीवों को क्षमा कर दिया है। उन जीवों को उनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। मन, वचन और काय से जाने या अनजाने में वे किसी भी हिंसा की

गतिविधि में भाग न तो स्वयं लेंगे, न दूसरों को लेने को कहेंगे और न लेने वालों का अनुमोदन करेंगे। क्षमा मांगकर जहां हम खुद का बोझ उतारते हैं, वहीं किसी को क्षमा करके दोनों का मन निर्मल करते हैं।

**खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।**
**मित्ती मे सव्वभूदेषु वेर मज्झं ण केण वि।।**

यह वाक्य परम्परागत अवश्य है मगर विशेष आशय रखता है। इसके अनुसार क्षमा मांगने से अधिक आवश्यक है क्षमा करना। क्षमा देने से हम अन्य समस्त जीवों को अभयदान देते हैं और उनकी रक्षा करने का संकल्प लेते हैं। ऐसा करने से आत्मिक शांति का अनुभव होता है और सभी जीवों और पदार्थों के प्रति मैत्री भाव उत्पन्न होता है। आत्मा तभी शुद्ध रह सकती है जब वह अपने से बाहर हस्तक्षेप न करे और बाहरी तत्व से विचलित न हों। क्षमा भाव इसका मूलमंत्र है। इस तरह पर्यूषण पर्व आत्मशुद्धि के साथ-साथ मनोमालिन्य दूर करने का सुअवसर प्रदान करने वाला महापर्व है। यह पर्व सबका है। भले ही इसे जैन समुदाय के लोग ही मनाते हैं। जब क्रोध ही नहीं रखा तो क्षमा करें और अच्छा सोचें। छोटी-छोटी बातों के लिए मन में वैर क्यों रखें ? **क्षमा करना चाहे जितना भी मुश्किल होता हो लेकिन यह दुख के पहाड़ को ढोने से ज्यादा आसान होता है।**

### 4.5 महावीर जयंती—

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, भगवान महावीर की जन्मकल्याणक तिथि है। इस दिन भारतवर्ष के सभी जैन अपना कारोबार बंद रखकर अपने-अपने स्थानों पर बड़ी धूमधाम से महावीर जयंती मनाते हैं। प्रात:काल जुलूस निकालते हैं और रात्रि में सार्वजनिक सभा का आयोजन होता है। भारत भर में बहुत सी प्रान्तीय सरकारों ने अपने प्रान्त में महावीर जयंती की छुट्टी घोषित कर दी है। केन्द्रीय सरकार से भी जैनों की यही मांग है।

### 4.6 अक्षय तृतीया पर्व—

भगवान आदिनाथ ने दीक्षा के समय छः मास का उपवास लिया था। उपवासोपरान्त उन्होंने आहार हेतु विहार किया किन्तु उन्हें छह माह उन्तालिस दिन आहार प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि दान की विधि किसी को मालूम नहीं थी। एक दिन भगवान आदिनाथ को देखकर हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को अपने पूर्व भव का स्मरण हो जाने से दान की विधि मालूम हो गई थी और उन्होंने भगवान को प्रथम बार विधिवत् पड़गाहन कर इक्षुरस (गन्ने का रस) का आहार दिया था। उस दिन वैशाख शुक्ला तृतीया थी। उस दान के निमित्त से उस दिन राजा की रसोई में भोजन अक्षीण (जो कभी क्षीण नहीं होता है) हो गया था अत: आज भी वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन जैन समाज ही नहीं अपितु समस्त समाज में अत्यन्त शुभ माना जाता है, जिसे सभी अक्षय तृतीया पर्व के नाम से मनाते हैं।

### 4.7 श्रुतपंचमी—

दिगम्बर परम्परा में धीरे-धीरे जब अंगज्ञान लुप्त हो गया, तो अंगों और पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए। वे सोरठ देश के गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में ध्यान करते थे। उन्हें इस बात की चिंता हुई कि उनके बाद श्रुतज्ञान का लोप हो जायेगा अत: उन्होंने महिमा नगरी में होने वाले मुनि सम्मेलन को पत्र लिखा, जिसके फलस्वरूप वहाँ से दो मुनि उनके पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी बुद्धि की परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पढ़ाया और उनका अलग विहार करा दिया। उन दोनों मुनियों का नाम पुष्पदन्त और भूतबलि रखा गया। उन्होंने वहाँ से आकर षट्खण्डागम नामक सिद्धान्त ग्रंथ की रचना की। रचना हो जाने पर भूतबलि आचार्य ने उसे पुस्तकारूढ़ करके "ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी" के दिन चतुर्विध संघ के साथ उसकी पूजा कराई, जिससे श्रुतपंचमी तिथि दिगम्बर जैनियों में प्रख्यात हो गयी। उस तिथि को वे शास्त्रों की पूजा करते हैं। उनकी देखभाल करते हैं, धूल तथा जीव-जन्तु से उनकी सफाई करते हैं।

उक्त पर्वों के अतिरिक्त प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण के दिन कल्याणक दिन कहे जाते हैं। उन दिनों में भी जगह-जगह उत्सव मनाये जाते हैं। अनेक नगरों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की, पार्श्वनाथ की जन्मजयंती एवं निर्वाण तिथि मनायी जाती है।

### 4.8 अष्टान्हिका पर्व—

दिगम्बर परम्परा का दूसरा महत्वपूर्ण पर्व अष्टान्हिका पर्व है। यह पर्व कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अंत के आठ दिनों में मनाया जाता है। जैन मान्यता के अनुसार मध्यलोक की अकृत्रिम रचना में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अन्दर आठवां नंदीश्वरद्वीप है। उस द्वीप में 52 जिनालय बने हुए हैं। उनकी पूजा करने के लिए स्वर्ग से चारों प्रकार के देवगण उक्त दिनों में जाते हैं। चूँकि मनुष्य वहाँ तक जा नहीं सकते इसलिए उक्त दिनों में आष्टान्हिका पर्व मनाकर यहीं पर नंदीश्वर द्वीप के मंदिरों की पूजा कर लेते हैं। इन दिनों में सिद्धचक्र, इन्द्रध्वज, नंदीश्वर आदि पूजा विधान का आयोजन किया जाता है। यह पूजा महोत्सव दर्शनीय होता है।

### 4.9 वीरशासन जयंती—

जैनों के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर को वैशाख शु. दशमी को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर 66 दिन के बाद उनकी सबसे पहली धर्मदेशना मगध की राजगृही नगरी के विपुलाचल पर्वत पर प्रातःकाल के समय खिरी थी। उसी के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को वीरशासन जयंती मनायी जाती है।

### 4.10 सलूनो या रक्षाबंधन—

दूसरा उल्लेखनीय सार्वजनिक त्योहार, जिसे जैन लोग भी बड़ी श्रद्धा से मनाते हैं, सलूनो या रक्षाबंधन पर्व है। साधारणतः इस त्योहार के दिन घरों में सेमई की खीर बनती है।

साथ ही साथ उत्तर भारत में एक प्रथा और है। उस दिन हिन्दू मात्र के द्वार पर दोनों ओर मनुष्य के चित्र बनाये जाते हैं उन्हें 'सौन' कहते हैं। पहले उन्हें जिमाकर उनके राखी बांधी जाती है, तब घर के लोग भोजन करते हैं।

जैन पुराणों में रक्षाबंधन की कथा मिलती है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी समय उज्जैनी नगरी में श्रीधर्म नाम का राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे—बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद। एक बार दिगम्बर जैन मुनि अकम्पनाचार्य सात सौ मुनियों के संघ के साथ उज्जैनी में पधारे। मंत्रियों के मना करने पर भी राजा मुनियों के दर्शन के लिए गया। उस समय सब मुनि ध्यानस्थ थे। लौटते हुए मार्ग में एक मुनि से मंत्रियों का शास्त्रार्थ हो गया। मंत्री पराजित हो गये। क्रुद्ध मंत्री रात्रि में तलवार लेकर मुनियों को मारने के लिए निकले। मार्ग में गुरु की आज्ञा से उसी शास्त्रार्थ के स्थान पर ध्यान में मग्न अपने प्रतिद्वन्द्वी मुनि को देखकर मंत्रियों ने उन पर वार करने के लिए जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, उनके हाथ ज्यों के त्यों कीलित हो गये। दिन निकलने पर राजा ने मंत्रियों को देश से निकाल दिया। चारों मंत्री अपमानित होकर हस्तिनापुर के राजा पद्म की शरण में आये। वहाँ बलि ने अपने रण-कौशल से पद्म राजा के एक शत्रु को पकड़कर उसके सुपुर्द कर दिया। राजा पद्म ने प्रसन्न होकर उसे मुंहमांगा वरदान दिया। समय आने पर बलि ने वरदान मांगने के लिए कह दिया।

कुछ समय बाद मुनि अकम्पनाचार्य का संघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आया और वहीं वर्षावास कर लिया। जब बलि आदि को इस बात का पता चला तो वे बहुत घबराये, पीछे उन्हें अपने अपमान का बदला चुकाने की युक्ति सूझ गयी। उन्होंने वरदान का स्मरण दिलाकर राजा पद्म से सात दिन का राज्य मांग लिया। राज्य पाकर बलि ने मुनि संघ के चारों ओर एक बाड़ा खड़ा कर दिया और उसके अन्दर हवन यज्ञ करना शुरू कर दिया।

इधर मुनियों पर यह उपसर्ग प्रारंभ हुआ, उधर मिथिला नगरी में तपस्यारत एक निमित्तज्ञानी मुनि को इस उपसर्ग का पता लग गया। उनके मुंह से 'हा-हा' निकला। पास में बैठे एक क्षुल्लक ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने सब हाल

बतलाया और कहा कि विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न हो गई है वे इस संकट को दूर कर सकते हैं। क्षुल्लक तत्काल अपनी विद्या के बल से मुनि विष्णुकुमार के पास गये और उनको सब समाचार सुनाया। विष्णुकुमार मुनि हस्तिनापुर के राजा पद्म के भाई थे। वे तुरन्त अपने भाई पद्म के पास पहुँचे और बोले, 'पद्मराज! तुमने यह क्या कर रखा है ? अपनी कुलपरम्परा में ऐसा अनर्थ कभी नहीं हुआ। यदि राजा ही तपस्वियों पर अनर्थ करने लगे तो उसे कौन दूर कर सकेगा ? यदि जल ही आग को भड़काने लगे तो फिर उसे कौन बुझा सकेगा ?' उत्तर में पद्म ने बलि को राज्य दे देने का सब समाचार सुनाया और कुछ कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब विष्णुकुमार मुनि वामनरूप धारण करके बलि के यज्ञ में पहुँचे और बलि के प्रार्थना करने पर तीन पैर धरती उससे मांगी। जब बलि ने दान का संकल्प कर दिया तो विष्णुकुमार ने विक्रियाऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को बढ़ाया। उन्होंने अपना पहला पैर सुमेरु पर्वत पर रखा, दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर रखा और तीसरा पैर स्थान न होने से आकाश में डोलने लगा। तब सर्वत्र हाहाकार मच गया, देवता दौड़ पड़े और उन्होंने विष्णुकुमार मुनि से प्रार्थना की, 'भगवन्! अपनी इस विक्रिया को समेटिये। आपके तप के प्रभाव से तीनों लोक चंचल हो उठे हैं। तब उन्होंने विक्रिया को समेटा। मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ और बलि को देश से निकाल दिया गया।

बलि के अत्याचार से सर्वत्र हाहाकार मच गया था और लोगों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब मुनियों का संकट दूर होगा तो उन्हें आहार कराकर ही भोजन ग्रहण करेंगे। संकट दूर होने पर सब लोगों ने सेमइयों की खीर का हल्का भोजन तैयार किया क्योंकि मुनि कई दिन के उपवासे थे। मुनि केवल सात सौ थे अतः वे केवल सात सौ घरों पर ही पहुँच सकते थे इसलिए शेष घरों में उनकी प्रतिकृति बनाकर और उसे आहार देकर प्रतिज्ञा पूरी की गई। सबने परस्पर में रक्षा करने का बंधन बांधा, जिसकी स्मृति त्योहार के रूप में अब तक चली आ रही है। दीवारों पर जो चित्र रचना की जाती है उसे 'सौन' कहा जाता है, यह 'सौन' शब्द 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। प्राचीनकाल में जैन साधु श्रमण कहलाते थे। इस प्रकार से सलूनो या रक्षाबंधन त्योहार जैन त्योहार के रूप में जैनों में आज भी मनाया जाता है। उस दिन विष्णुकुमार और सात सौ मुनियों की पूजा की जाती है। उसके बाद परस्पर में राखी बांधकर दीवारों पर चित्रित 'सौन' को आहारदान दिया जाता है। तब सब भोजन करते हैं और गरीबों को दान भी देते हैं।

## 4.11 दीपावली—

ऊपर जो जैन पर्व बतलाये गये हैं वे ऐसे हैं जिन्हें केवल जैन धर्मानुयायी ही मानते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पर्व ऐसे भी हैं जिन्हें जैनों के सिवाय हिन्दू जनता भी मानती है। ऐसे पर्वों में सबसे अधिक उल्लेखनीय दीपावली का पर्व है। यह पर्व कार्तिक मास की अमावस्या की संध्या को मनाया जाता है। साफ सुथरे मकान कार्तिकी अमावस्या की संध्या को दीपों के प्रकाश से जगमगा उठते हैं। घर-घर लक्ष्मी का पूजन होता है। सदियों से यह त्योहार मनाया जाता है, कोई इसका संबंध रामचन्द्र जी के अयोध्या लौटने से लगाते हैं। कोई इसे सम्राट अशोक की दिग्विजय का सूचक बतलाते हैं किन्तु रामायण में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, इतना ही नहीं किन्तु किसी हिन्दू पुराण वगैरह में भी इस संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध धर्म में तो यह त्योहार मनाया नहीं जाता, रह जाती है जैन संस्कृति। इस समाज में शक सं. 705 (वि. सं. 840) का रचा हुआ हरिवंशपुराण है। उसमें भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन करते हुए लिखा है—'महावीर भगवान् भव्य जीवों को उपदेश देते हुए पावानगरी में पधारे और वहाँ के एक मनोहर उद्यान में चतुर्थ काल के तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रह जाने पर कार्तिकी अमावस्या के प्रभातकालीन बेला के समय, योग का निरोध करके कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए। चारों प्रकार के देवताओं ने आकर उनकी पूजा की और दीपक जलाये। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से पावानगरी का आकाश प्रदीप्त हो रहा था। उसी समय से भक्त लोग जिनेश्वर की पूजा करने के लिए भारतवर्ष में प्रतिवर्ष उनके निर्वाण दिवस के उपलक्ष्य में दीपावली मनाते हैं।

जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन सायंकाल में उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को पूर्णज्ञान—

केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। मुक्ति और ज्ञान को जैनधर्म में सबसे बड़ी लक्ष्मी माना है और प्रायः मुक्तिलक्ष्मी और ज्ञानलक्ष्मी के नाम से ही शास्त्रों में उनका उल्लेख किया गया है अतः संभव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मी के पूजन की प्रथा ने धीरे-धीरे जनसमुदाय में बाह्य लक्ष्मी के पूजन का रूप ले लिया हो। बाह्यदृष्टिप्रधान मनुष्य समाज में ऐसा प्रायः देखा जाता है। लक्ष्मी पूजन के समय मिट्टी का घरौंदा (हटड़ी) और खेल-खिलौने भी रखे जाते हैं। इस बारे में लोग कहा करते हैं कि यह हटड़ी भगवान् महावीर अथवा उनके शिष्य गौतम गणधर की उपदेश सभा (समवसरण) की यादगार में है और चूँकि उनका उपदेश सुनने के लिए मनुष्य, पशु सभी जाते थे अतः उनकी यादगार में उनकी मूर्तियाँ (खिलौने) रखे जाते हैं। इस तरह दीपावली के प्रकाश में हम प्रतिवर्ष भगवान की निर्वाण लक्ष्मी का पूजन करते हैं और जिस रूप में उनकी उपदेश सभा लगती थी, उसका साज सजाते हैं। परम्परागत रूप से गौतम गणधर को प्राप्त केवल ज्ञानलक्ष्मी के प्रतीक में भी लक्ष्मी पूजन की जाती है।

दीपावली के प्रातःकाल में सभी जैन मंदिरों में महावीर निर्वाण की स्मृति में बड़ा उत्सव मनाया जाता है और निर्वाणलाडू चढ़ाकर भगवान की विशेष पूजा की जाती है। इस ढंग की पूजा का आयोजन केवल इसी दिन होता है। इससे घर-घर में उस दिन जो मिष्ठान्न बनता है, उसका उद्देश्य भी समझ में आ जाता है।

## 4.12 वीर निर्वाण सम्वत्-

कार्तिक कृष्णा अमावस्या सन् 527 बी.सी. को भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। उस तिथि से वीर निर्वाण सम्वत् प्रारम्भ हुआ है। यह विक्रम सम्वत् से 470 वर्ष और ईसवी सन् से 526 वर्ष पुराना है। आजकल ईसवी सन् 2014 और विक्रम सम्वत् 2071 है अतः आजकल वीर निर्वाण सम्वत् 2014+526 या 2070+470=2540 चल रहा है।

## 4.13 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-षट्खण्डागम नामक सिद्धान्त ग्रंथ के रचयिता थे ?

(क) आचार्य पुष्पदंत, आचार्य भूतबलि ☐
(ख) आचार्य धरसेन ☐
(ग) आचार्य उमास्वामी ☐

**प्रश्न 2**-तीर्थंकर के कितने कल्याणक होते हैं ?

(क) 3 ☐ (ख) 5 ☐ (ग) 4 ☐

**प्रश्न 3**-भगवान महावीर को निर्वाण कब हुआ ?

(क) कार्तिक शुक्ला अमावस्या ☐
(ख) वैशाख शु. पंचमी ☐
(ग) कार्तिक कृष्णा अमावस्या ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-पर्यूषण पर्व का शाब्दिक अर्थ बताइए ?

**प्रश्न 2**-जैन परम्परा के अनुसार दीपावली पर्व क्यों मनाया जाता है ?

**प्रश्न 3**-अक्षय तृतीया पर्व किस तिथि को और क्यों मनाया जाता है ?

**प्रश्न 4**-श्रुत पंचमी पर्व का महत्त्व बताइए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-उत्तम क्षमादि दश धर्मों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कीजिए ?

# इकाई–4 भगवान महावीर शासन के प्रमुख प्राचीन आचार्य

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) गौतम गणधर आदि केवली-श्रुतकेवली परम्परा एवं मूलसंघ परम्परा

(2) जैनागम में सरस्वती की महिमा

(3) जैनशासन के प्रभावक आचार्य

(4) आर्ष परम्परा के संवाहक बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज

## पाठ-1–गौतम गणधर आदि-केवली-श्रुतकेवली परम्परा एवं मूलसंघ परम्परा

### पंचमकाल में गौतम स्वामी आदि

1.1 "जिस दिन भगवान महावीर सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। ये बारह वर्षों तक केवलीपद में रहकर सिद्धपद को प्राप्त हुए उसी दिन सुधर्मास्वामी केवली हुए, ये भी बारह वर्षों तक केवली रहकर मुक्त हुए तब जम्बूस्वामी केवली हुए, ये अड़तीस वर्षों तक केवली रहे, अनंतर मुक्त हो गये। पुनः कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुए। यह 12+12+38=62 वर्ष का काल अनुबद्ध केवलियों के धर्मप्रवर्तन का माना गया है।

केवलियों में अंतिम केवली 'श्रीधर' कुण्डलगिरी से सिद्ध हुए हैं और चारण ऋषियों में अंतिम ऋषि सुपार्श्व नामक हुए हैं। प्रज्ञाश्रमणों में अंतिम वज्रयश नामक प्रज्ञाश्रमण मुनि और अवधिज्ञानियों में अंतिम श्री नामक ऋषि हुए हैं। मुकुटधरों में अंतिम चंद्रगुप्त ने जिनदीक्षा धारण की। इससे पश्चात् मुकुटधारी राजाओं ने जैनेश्वरी दीक्षा नहीं ली है।'

अनुबद्ध केवली के अनंतर नंदी, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए हैं। इनका काल 'सौ वर्ष' प्रमाण है, पुनः विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दशपूर्व के धारी हुए हैं। इन सबका काल 'एक सौ तिरासी' वर्ष है। अनंतर नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए हैं। इनका काल 'दो सौ बीस' वर्ष है, पुनः सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए हैं। ये चारों आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के एकदेश के भी ज्ञाता थे। इनका काल 'एक सौ अठारह' वर्ष है।

इस प्रकार गौतमस्वामी से लेकर आचारांगधारी आचार्यों तक का काल 62+100+183+220+118=683 छह सौ तिरासी वर्ष प्रमाण है। इसके अनंतर 20317 वर्षों तक धर्मप्रवर्तन के लिए कारणभूत ऐसा श्रुततीर्थ चलता रहेगा, पुनः काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा। इतने मात्र समय में अर्थात् 683+20317=21000 इक्कीस हजार वर्षों के समय में चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा किन्तु लोग प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूचक, सात भय व आठ मदों से संयुक्त, शल्य एवं गारवों से सहित, कलहप्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एवं क्रोधी होंगे।"

**शक राजा की उत्पत्ति**—"वीर भगवान के मोक्ष चले जाने के बाद छह सौ पाँच वर्ष, पाँच मास के अनन्तर शक राजा उत्पन्न हुए।"

अन्यत्र भी कहा है—"श्री वीरप्रभु के मोक्ष जाने के बाद छह सौ पाँच वर्ष पाँच माह बीत जाने पर विक्रम नाम का शक राजा उत्पन्न हुआ और इसके बाद 394 वर्ष 7 माह बीत जाने पर प्रथम कल्की उत्पन्न हुआ है" अर्थात् (605,5+394,7) 1000 वर्ष बाद कल्की की उत्पत्ति हुई है।

अन्य ग्रंथों में भी यही है—"भगवान महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष, पाँच मास बीत जाने पर शक राजा होगा और हजार-हजार वर्ष बाद एक-एक कल्की राजा होता रहेगा, जो जैनधर्म का विरोधी होगा।"

चूँकि भगवान वीर के निर्वाण के पश्चात् 605 वर्ष 5 माह बीत जाने पर शक राजा हुआ है और इस समय (सन् 2014 में) शक संवत् 1936 चल रहा है अतः इस मतानुसार वीर प्रभु को मोक्ष गये आज (605+1936) 2541 (पच्चीस सौ इकतालिस) वर्ष और 5 माह व्यतीत हुए हैं।

अभी वीर प्रभु के धर्मतीर्थकाल में कुल 2540 वर्ष व्यतीत हुए हैं और लगभग साढ़े अठारह हजार वर्ष बाकी है। तब तक यह धर्मतीर्थ चलता ही रहेगा।

**राज्य परम्परा**—"जिस काल में वीर भगवान ने निःश्रेयस सम्पत्ति को प्राप्त किया उसी समय 'पालक' नामक अवन्तिसुत का राज्याभिषेक हुआ। 60 वर्ष तक पालक का, 155 वर्ष विजयवंशियों का, 40 वर्ष मुरुंडवंशियों का और 30 वर्ष तक पुष्यमित्र का राज्य रहा। पुनः 60 वर्ष तक वसुमित्र-अग्निमित्र, 100 वर्ष गंधर्व, 40 वर्ष नरवाहन, 242 वर्ष भृत्य-आंध्र और 231 वर्ष तक गुप्तवंशियों ने राज्य किया। अनन्तर इन्द्र नामक राजा का पुत्र कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख आयु 70 वर्ष और राज्यकाल 42 वर्ष प्रमाण रहा है। ये सब 60+155+40+30+60+100+40+242+231+42=1000 वर्ष हो जाते हैं।"

आचारांगज्ञानियों के पश्चात् (683 वर्ष पश्चात्) 275 वर्षों के व्यतीत होने पर कल्की नरपति को पट्ट बांधा गया था और इसका राज्यकाल 42 वर्ष प्रमाण था। 683+275+42=1000 वर्ष।

यह कल्की अपने योग्य जनपदों को सिद्ध करके लोभ को प्राप्त हुआ मुनियों के आहार में से भी अग्रपिंड को शुल्करूप में मांगता है। तब श्रमण अग्रपिंड को देकर 'यह अन्तरायों का काल है' ऐसा समझकर निराहार चले जाते हैं। उस समय उनमें से किसी एक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है। पश्चात् कोई असुरदेव अवधिज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर उस धर्मद्रोही कल्की को मार डालता है। तब अजितंजय नामक पुत्र 'रक्षा करो' ऐसा कहकर देव की शरण लेता है और देव 'धर्मपूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कहकर उसकी रक्षा करता है। इसके पश्चात् दो वर्ष तक लोगों में समीचीन धर्म की प्रवृत्ति रही है पुनः काल के माहात्म्य से दिन-प्रतिदिन हीन होती चली गई है।

इस प्रकार एक-एक हजार वर्षों के पश्चात् एक-एक कल्की तथा पाँच सौ वर्षों के पश्चात् एक-एक उपकल्की होते हैं। प्रत्येक कल्की के समय एक-एक दुःषमकालवर्ती साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उस समय चातुर्वर्ण्य संघ भी अल्प हो जाते हैं। अनंतर अंत में अंतिम कल्की के समय वीरांगज मुनि होंगे। उनके हाथ के आहार को शुल्क में मांगने पर वे चतुर्विध संघ सहित सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे और उसी दिन से धर्म का, राजा का और अग्नि का अभाव हो जावेगा। पुनः छठा काल प्रवेश करेगा।

**विशेष**—जब भगवान महावीर स्वामी मोक्ष पधारे हैं, तब इस चतुर्थ काल के अंत में तीन वर्ष, आठ महीने और पंद्रह दिन बाकी थे। उसी दिन गौतमस्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, वे बारह वर्ष तक केवली रहे, अर्थात् आठ वर्ष और साढ़े तीन महीने तक वे पंचम काल में केवलीपद में विहार करते हैं। "वास्तव में चतुर्थ काल के जन्मे हुए पंचमकाल में मोक्ष जा सकते हैं किन्तु पंचमकाल के जन्मे हुए पंचम काल में मोक्ष नहीं जा सकते हैं।"

## 1.2 गुर्वावली (मूलसंघ के अन्तर्गत नंदिसंघ के आचार्यों की नामावली)—

"समस्त राजाओं से जिनके पादकमल पूजित हैं, जो मुनिवर भद्रबाहु के पदकमल को विकसित करने में सूर्य हैं, ऐसे 'श्री गुप्तिगुप्त' इस नाम से प्रसिद्ध श्रीमान् महामुनि आप लोगों के निर्मल संघ की वृद्धि को करें।

श्री मूलसंघ में नंदिसंघ हुआ है उसमें अतिरमणीय बलात्कारगण प्रसिद्ध है। उस गण में पूर्वों के अंश को जानने वाले मनुष्य और देवों से वंदनीय ऐसे 'श्रीमाघनंदी' स्वामी हुए हैं। उनके पट्ट पर श्रेष्ठ मुनि 'जिनचंद्र' हुए हैं और इनके पट्ट पर पाँच नाम के धारक मुनियों में चक्रवर्ती ऐसे 'श्री पद्मनंदी' स्वामी हुए। कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदि ये पाँच नाम उनके प्रसिद्ध हैं। उनके पट्टधर 'उमास्वाति'—उमास्वामी आचार्य हुए, जो कि तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता

हैं और मिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान हैं। उनके पट्ट पर देवों से पूज्य जातरूपधारी 'लोहाचार्य' हुए जो कि समस्त अर्थ का बोध करने में विशारद थे।

यहाँ से इस नंदीसंघ में पूर्व और उत्तर के भेद से दो पट्ट हो गये हैं। उन यतीश्वरों के नाम को अनुक्रम से कहता हूँ— यश:कीर्ति, यशोनंदी, देवनंदी अपरनाम पूज्यपाद और गुणनंदी। तार्किकशिरोमणि और वज्र के सदृश कठोर चर्या के धारक ऐसे वज्रनंदी, कुमारनंदी, लोकचन्द्र, वचनों की निधि ऐसे प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनंदी, सिंहनंदी, जटाधर, वसुनंदी, वीरनंदी, कामदेव के भेदन करने वाले ऐसे रत्ननंदी, माणिक्यनंदी, मेघचन्द्र, महायशस्वी, शांतिकीर्ति, मेरुकीर्ति, महाकीर्ति, विद्वानों में श्रेष्ठ विष्णुनंदी, श्रीभूषण, शीलचन्द्र, श्रीनंदी, देशभूषण, अनंतकीर्ति और शासन को वृद्धिंगत करने वाले ऐसे धर्मनंदी हुए।

विद्यानंदी रामचन्द्र, निर्दोषभावी ऐसे रामकीर्ति, अभयचन्द्र, नरचंद्र, स्थिरव्रती नागचन्द्र, नयनन्दी, हरिश्चन्द्र, मलदोषों से रहित महीचन्द्र, माधवचन्द्र, लक्ष्मीचन्द्र, गुणों के आश्रयभूत ऐसे गुणकीर्ति, गुणचन्द्र, वासवचन्द्र, सुतत्त्वों के वेत्ता लोकचन्द्र, त्रैविद्य और वैयाकरण भास्कर ऐसे श्रुतकीर्ति, भावचन्द्र, महाचन्द्र, क्रियाओं में अग्रणी माघचन्द्र, विश्वनन्दी, शिवनन्दी, तपोधन के धारक विश्वचन्द्र, सिद्धांतवेत्ता हरिनन्दी, भावनन्दी, सुरकीर्ति, विद्याचन्द्र (विद्यानंद) और लक्ष्मी के भंडार ऐसे सूरचन्द्र आचार्य हुए।

माघनन्दी, ज्ञाननन्दी, गंगनन्दी, सिंहकीर्ति, हेमकीर्ति, मनोज्ञ बुद्धि वाले चारुनन्दी, नेमिनन्दी, नाभिकीर्ति, नरेन्द्रकीर्ति, श्रीचन्द्र, पद्मकीर्ति, वर्धमानमुनीश्वर, अकलंकचन्द्र, ललितकीर्ति, त्रैविद्यज्ञानी केशवचन्द्र, चारुकीर्ति, महातपस्वी अभयकीर्ति और सिद्धांतपारंगत वनवासी, व्याघ्र, सर्प आदि से सेवित शील के सागर ऐसे बसंतकीर्ति आचार्य हुए।

वनवासी इन बसंतकीर्ति सूरि के शिष्य विशालकीर्ति हुए जिनकी कीर्ति भुवन में विख्यात हो गई, ये अनेक गुणों के आलय थे, शम-दम, ध्यानरूपी नदियों के सागर, परवादी रूपी हाथियों के मदवारण करने में सिंहतुल्य, त्रैविद्यविद्या के आस्पद अतिप्रसिद्ध हुए हैं। इनके पट्ट पर शुभकीर्ति आचार्य हुए जो चारित्रमूर्ति थे, एकान्तर आदि उग्र तपश्चरण के विधाता थे और सन्मार्गविधि के विधान में ब्रह्मा के समान थे। इनके पट्ट पर हमीर राजा से पूजित श्री धर्मचन्द्र हुए, जो कि संयम समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा के समान, सैद्धान्तिक और प्रख्यात माहात्म्य के अवतारस्वरूप थे।

इनके पट्ट पर "रत्नकीर्ति" आचार्य हुए जो स्याद्वादविद्या के समुद्र थे, जिनके शिष्य अनेक देशों में फैले हुए थे, धर्म कथाओं में आसक्त मति वाले, पाप समूह के बाधक बाल ब्रह्मचारी थे। तपस्या के प्रभावपूजित और कारुण्य के पूर्ण आशय वाले थे। समस्त संघों में तिलक श्री नंदिसंघ है उसमें विशाल कीर्ति वाला सरस्वतीगच्छ है। उसमें जिनकी शुभ कीर्ति के बखान से आकाशतल व्याप्त हो रहा है, चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति के धारक ऐसे ये रत्नकीर्ति आचार्य जयवंत रहें।

इनके पट्ट पर प्रभाचंद्र आचार्य हुए। इनके पट्ट पर जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराने वाले श्री 'पद्मनंदी' हुए। ये निर्ग्रन्थ महामुनि अनेकों गुणों से विभूषित थे।

उनके पट्ट पर शुभचंद्रसूरि हुए, उनके पट्ट पर पद्मनंदी पुनः उनके पट्ट पर जिनचंद्र सूरि हुए, पुनः उनके पट्ट पर प्रभाचंद्राचार्य हुए।

'श्री पद्मनंदी' गुरु बलात्कारगण में अग्रणी हुए हैं। इन्होंने ऊर्जयंतगिरि पर पाषाण से बनी हुई सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था। इसी हेतु से सारस्वतगच्छ (सरस्वती गच्छ) प्रसिद्ध हुआ है इसलिए मैं श्री पद्मनंदी मुनीन्द्र को नमस्कार करता हूँ।"

और भी अनेक गुर्वावलियों में और प्रशस्तियों में परम्परागत अनेकों आचार्यों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त न जाने कितने मुनि हुए हैं। जिनकी संख्या को जानने के लिए अपने पास कोई साधन नहीं है। तमाम आचार्यों के ग्रंथों से, उनमें

लिखी हुई प्रशस्तियों से और शिलालेखों से बहुत से साधुओं के नाम और परिचय जानने को भी मिल रहे हैं।

गुणधर, धरसेन और कुंदकुंद आदि आचार्यों ने ताड़पत्रों पर कितने श्रम से ग्रंथ लिखे हैं। अपने ध्यान से समय निकालकर महान् परोपकार की भावना को हृदय में धारण करते हुए ही इन आचार्यों ने परम करुणा बुद्धि से हम लोगों के लिए तमाम ग्रंथों का सृजन किया है।

श्री इंद्रनंदि आचार्य के श्रुतावतार में 'लोहार्य' तक की गुरु परम्परा के पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्यों का उल्लेख किया है। ये सभी आचार्य अंगों और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् 'अर्हद्बलि आचार्य' का उल्लेख किया है।

अर्हद्बलि आचार्य बहुत बड़े संघ के नायक थे। इन्होंने भिन्न-भिन्न रूप से संघ व्यवस्था की थी। यथा—

"पूर्व देश के श्री पुंड्रवर्धनपुर में श्री अर्हद्बलि नाम के मुनि हुए, ये आचार्य प्रसारणा, धारणा आदि सत्क्रियाओं में उद्युक्त, अष्टांग महानिमित्तज्ञानी, संघ के अनुग्रह और निग्रह में समर्थ थे। ये पाँच वर्ष के अनन्तर युगप्रतिक्रमण करते थे। इसमें सौ योजन के अंतर्गत सभी मुनि सम्मिलित होते थे। एक समय इस युगप्रतिक्रमण के समय भगवान अर्हद्बलि ने मुनिसमुदाय को पूछा कि क्या सभी साधु आ गये ? उन साधुओं ने भी कहा—'हाँ, भगवन्! हम लोग अपने-अपने संघ सहित आ गये।' इस उत्तर को सुनकर आचार्यदेव ने विचार किया कि इस पंचमकाल में अब से लेकर यह जैनधर्म गण के पक्षपात रूप भेदों से ही रह सकेगा, उदासीनभाव से नहीं।

ऐसा सोचकर गुरुदेव ने 'गुफा' से आये हुए यतीश्वरों में से कुछ को 'नंदि' और कुछ को 'वीर' ऐसा नाम किया। 'अशोकवाटिका' से जो मुनीश्वर आये थे, उनमें से कुछ को 'अपराजित' और कुछ को 'देव' यह नाम दिया। जो पंचस्तूप्य निवास से आये हुए अनगारी थे, उनमें से किन्हीं का 'सेन' और किन्हीं का 'भद्र' यह नाम रखा। जो यति शाल्मली महावृक्ष के नीचे से आए हुए थे उनमें से किन्हीं को 'गुणधर' और किन्हीं को 'गुप्त' ऐसा नाम दिया तथा जो मुनि खंडकेशर वृक्षों के तले से आये थे, उनमें से किन्हीं का 'चंद्र' ऐसा नाम किया। इस प्रकार से ये अर्हद्बलि आचार्य मुनिसंघ के प्रवर्तक हुए हैं।

इसके बाद श्रीमाघनंदि आचार्य भी अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता हुए हैं। अनंतर सौराष्ट्र देश में गिरिनगर पुर के निकट ऊर्जयंतगिरि की चंद्रगुफा में रहते थे। ये परमतपस्वी और महामुनियों में मुख्य थे। ये अग्रायणीय पूर्व के अंतर्गत पंचम वस्तु के चतुर्थ महाकर्म प्राभृत के ज्ञाता थे, किसी समय अपनी आयु अल्प जानकर और श्रुतविच्छेद की चिंता से चिंतित हुए। उस समय वेणाकतटीपुर में महामहिम महोत्सव के प्रसंग पर बहुत यति सम्मिलित हुए थे उनके पास ब्रह्मचारी के द्वारा एक पत्र भेजकर दो शिष्य बुलाए। विधिवत् उनकी परीक्षा करके योग्य जानकर शुभ मुहूर्त में अध्ययन प्रारंभ करके आषाढ़ सुदी एकादशी के दिन अध्ययन पूर्ण किया पुनः इन शिष्यों को अन्यत्र चातुर्मास हेतु भेज दिया। जिनके नाम पुष्पदंत और भूतबलि थे।

अनन्तर पुष्पदंत महामुनि ने जिनपालित नाम के अपने भानजे को मुनिदीक्षा देकर उसे पढ़ाने हेतु षट्खण्डागम के कुछ सूत्र बनाए और जिनपालित मुनि को देकर श्री भूतबलि मुनिराज को अभिप्राय जानने हेतु भेज दिया। भूतबलि ने भी पुष्पदंत मुनि की आयु थोड़ी जानकर आगे के सूत्रों की रचना करके षट्खण्डागम ग्रंथ तैयार किया पुनः ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन इस महान ग्रंथराज की चातुर्वर्ण्य संघ के समक्ष महापूजा की गई। तभी से आज भी श्रुतपंचमी के दिन श्रुत की पूजा की जाती है।"

"इस प्रकार षट्खण्डागम की उत्पत्ति का निरूपण करके अनन्तर इन्द्रनन्दि आचार्य ने कषायप्राभृत ग्रंथ की उत्पत्ति का विस्तार किया है। पुनः एक श्लोक दिया है कि "कषायप्राभृत के कर्ता श्री गुणधर आचार्य और श्रीधरसेनाचार्य की गुरु परम्परा की हमें जानकारी नहीं है।"

यतिवृषभाचार्य ने इस 'कषायप्राभृत' ग्रंथ की गाथा पर चूर्णिसूत्र रचे हैं।

अनन्तर इस श्रुतावतार में बताया है कि कुंदकुन्दपुर में श्री पद्मनंदि मुनि ने गुरु परम्परा से इन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागम सूत्र पर बारह हजार श्लोक प्रमाण में परिकर्म नाम की टीका रची है। श्री समन्तभद्र स्वामी ने इन ग्रंथों का अध्ययन करके षट्खण्डागम के पाँच खंडों पर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण में विस्तृत टीका लिखी है। इस श्रुतावतार में इन दोनों सिद्धान्त ग्रंथों के विषय में और भी टीकाकारों के नाम आये हुए हैं। पुनः श्री एलाचार्य गुरु के निकट सकल सिद्धान्त का अध्ययन करके श्री वीरसेन आचार्य ने षट्खण्डागम सिद्धान्त पर धवला टीका रची और चूर्णिसूत्रसमन्वित कषायप्राभृत ग्रंथ पर जयधवला टीका रची है।"

वर्तमान में कतिपय विद्वान आचार्य परम्परा के विषय में अन्वेषण करते हुए ऐसा लिखते हैं कि "कसायपाहुड" ग्रंथ के प्रणेता श्री गुणधर आचार्य 'अर्हद्बलि' आचार्य से पूर्व हुए हैं तथा षट्खण्डागम के व्याख्याता श्रीधरसेनाचार्य से भी दो सौ वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इस तरह आचार्य गुणधर का समय वि.पू. प्रथम शताब्दी सिद्ध हो जाता है इसलिए सूत्ररूप से ग्रंथ के रचयिता ये आचार्य इस युग में सबसे प्रथम माने जाते हैं।

नीतिसार में आचार्य श्री इंद्रनंदि ने चार संघ के नामों का उल्लेख किया है। यथा—"अर्हद्बलि गुरु ने सिंहसंघ, नंदिसंघ, सेनसंघ और देवसंघ इस प्रकार से चार संघ व्यवस्थापित किये। स्थान-स्थिति की विशेषता से उनमें से गण, गच्छादि भेद हो गये जो कि स्व पर को सौख्यदायी थे। इनमें दीक्षा आदि क्रियाओं, प्रतिक्रमण विधि आदि में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। कुछ काल के बाद श्वेताम्बर मत उत्पन्न हुआ। द्राविड, यापनीय और काष्ठासंघ भी हुए।

गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीय और निःपिच्छिक ये पाँच जैनाभास माने गये हैं। इन लोगों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार गलत सिद्धान्त रच करके जिनेन्द्रदेव के मार्ग में भेद डाल दिया है।

उपर्युक्त सिंह, नंदि आदि चार प्रकार के संघों में जो भेद भावना करते हैं, वे सम्यग्दर्शन से रहित हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं।"

मूलसंघ के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि यह कब कायम हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान महावीर का संघ, जो उनके समय और उनके बाद में निर्ग्रन्थ महाश्रमण के रूप में प्रसिद्ध था। वही निर्ग्रन्थ संघ ही अनेक भेद-प्रभेदों के हो जाने पर स्वयं 'मूलसंघ' इस नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।

उपर्युक्त चारों संघ मूलसंघ के अन्तर्गत हैं। "इस संघ के अन्तर्गत सात गणों के नाम मिलते हैं—देवगण, सेनगण, देशोगण, सूरस्थगण, बलात्कारगण, क्राणूरगण और निगमान्वय। इन गणों के नामकरण मुनियों के नामान्त शब्दों से तथा प्रान्त और स्थान विशेष के कारण हुए हैं।

नीतिसार में कहा है कि—

श्री भद्रबाहु, श्रीचन्द्र, जिनचन्द्र, गृद्धपिच्छाचार्य, लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, सिंहनंदी, जिनसेन, वीरसेन, गुणनंदी, समंतभद्र, श्रीकुंभ शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, गुणभद्र, अकलंकदेव, सोमदेव, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिपुंगवों के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रंथ करने योग्य हैं और इनके अतिरिक्त (उपर्युक्त चार संघ के आचार्यों से अतिरिक्त) विसंघ्य-परम्परा विरुद्धजनों के द्वारा रचित ग्रंथ साधु—अच्छे होकर भी प्रमाण नहीं हैं।

क्योंकि परम्परागत पूर्वाचार्यों के वचन सर्वज्ञ भगवान के वचनों के सदृश हैं। उन्हीं से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनों में पूज्य होता है।

वृन्दावन कवि ने गुर्वावली वंदना में कुछ गुरुओं के नाम और उनके बनाये हुए ग्रंथों का वर्णन बहुत ही मधुर ढंग से किया है। उसमें भी उन्होंने "भगवान महावीर के निर्वाण के बाद से लेकर हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन स्वामी तक अनेकों आचार्यों के ग्रंथों का नामोल्लेख किया है और उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया है।"

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने दिगम्बर आरातीय आचार्यों की परम्परा को निम्नलिखित पाँच भागों में विभक्त करके विवेचन किया है—

1. श्रुतधराचार्य।
2. सारस्वताचार्य।
3. प्रबुद्धाचार्य।
4. परम्परापोषकाचार्य।
5. कवि और लेखक—आचार्यतुल्य।

1. जिन्होंने दिगम्बर मुनि अवस्था में केवली और श्रुतकेवलियों की परम्परा को प्राप्त कर अंग या पूर्वों का एकदेश ज्ञान प्राप्त किया था। उन्हीं आचार्यों को इन्होंने श्रुतधर आचार्य की परम्परा में लिया है। ये आचार्य मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त थे और परम्परा को जीवित रखने की दृष्टि से ग्रंथ प्रणयन में संलग्न रहते थे। श्रुत की यह परम्परा अर्थश्रुत और द्रव्यश्रुत के रूप में ईसवी सन् पूर्व की शताब्दियों से आरंभ होकर ई. सन् की चतुर्थ-पंचम शताब्दी तक चलती रही है। इन आचार्यों में क्रम से "आचार्य गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, वज्रयश, चिरंतनाचार्य, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, वप्पदेव, कुंदकुंद, वट्टकेर, शिवार्य, स्वामिकुमार (कार्तिकेय), गृद्धपिच्छाचार्य, समंतभद्र, सिद्धसेन, देवनंदि-पूज्यपाद, पात्रकेसरी, जोइन्दु-योगीन्द्रदेव, विमलसूरि, ऋषिपुत्र, मानतुंग, रविषेण, जटासिंहनंदि, अकलंकदेव, एलाचार्य, वीरसेन, जिनसेन, विद्यानंद, देवसेन, अमितगति प्रथम, अमितगति द्वितीय, अमृतचंद्रसूरि, नेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्ती, नरेन्द्रसेन और नेमिचंद्र मुनि"। इतने आचार्यों का परिचय, संवत् और उनके द्वारा रचित ग्रंथों का वर्णन किया है।

2. जिन्होंने श्रुतपरम्परा का मौलिक ग्रंथप्रणयन और टीका साहित्य द्वारा प्रचार और प्रसार किया, उन्हें सारस्वताचार्य की संज्ञा दी गई है। इन आचार्यों में आचार्य सिंहनंदि, सुमति, कुमारनंदि, श्रीदत्त, कुमारसेन गुरु, वज्रसूरि, यशोभद्र आदि का वर्णन किया है।

3. प्रबुद्धाचार्यों में जिनसेन, गुणभद्र, वादीभसिंह, वीरनंदि, इन्द्रनंदि आदि लगभग 40 आचार्यों का वर्णन किया है।

4. परम्परापोषकाचार्यों के नाम से बृहत्प्रभाचंद्र, भास्करनंदि आदि लगभग 50 आचार्यों का वर्णन है।

5. कवि और लेखकों में महाकवि धनंजय, चामुंडराय, आशाधर आदि लगभग 150 कवि और लेखकों का वर्णन किया है।"

पं. परमानंद शास्त्री ने ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक के विद्वान् आचार्यों में आचार्य दौलामस (धृतिसेन), मुनिकल्याण, आचार्य गुणधर, अर्हद्बली, धरसेन, माघनन्दी सैद्धांतिक, पुष्पदंत, भूतबली, भद्रबाहु (द्वितीय), कुन्दकुन्दाचार्य, गुणवीर पंडित, उमास्वाति, समंतभद्र, शिवार्य और सिद्धसेन इन पन्द्रह आचार्यों को लिया है।

पुनः पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक आचार्यों में गुहनन्दि तुंबुलूराचार्य, वीरदेव, चन्द्रनन्दि, श्रीदत्त, यशोभद्र, देवनन्दि (पूज्यपाद) आदि लगभग 58 आचार्यों का इतिवृत्त कहा है।

नवमीं शताब्दी और दशवीं शताब्दी के आचार्यों में विजयदेव, महासेन, सर्वनंदि आदि 89 आचार्यों का परिचय दिया है।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्यों में अर्हनन्दि, धर्मसेनाचार्य, वादिराज, दिवाकरनन्दि आदि 147 मुनियों के जीवन पर और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला है।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के आचार्यों, विद्वानों एवं कवियों के परिचय में कनकचंद्र मुनीन्द्र आदि 91 विद्वानों का वर्णन किया है और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला है।

पुनः 15वीं, 16वीं, 17वीं और 18वीं शताब्दी के आचार्य, भट्टारक तथा कवियों का परिचय देते हुए कवि रइधू,

भट्टारक पद्मनन्दी आदि 90 विद्वानों का इतिहास बताया है और उनके द्वारा रचित रचनाओं का वर्णन किया है।

भट्टारकों की परम्परा को बतलाते हुए सेनगण के कालानुक्रम से प्रारंभ किया है। उसमें चन्द्रसेन, आर्यनंदि, वीरसेन आदि से प्रारंभ किया है। ये वीरसेनाचार्य सं. 873 में हुए हैं। इन्होंने शक सं. 738 में धवला टीका को पूर्ण किया है।

अतः सं. 873 से भट्टारकों की परम्परा प्रारंभ करके सं. 1995 तक 52 आचार्यों का उल्लेख किया है।

पुनः बलात्कारगण को प्राचीन सिद्ध करते हुए श्रीनन्दि, श्रीचन्द्र आदि को लेकर धर्मभूषण पर्यन्त 27 भट्टारकों (आचार्यों) का वर्णन किया है।

7. इनको सं. 1070 से 1442 तक में घटित किया है। आगे चलकर अमरकीर्ति आदि को लेकर देवेन्द्रकीर्ति तक भट्टारकों का वर्णन किया है। इनको सं. 1598 से लेकर सं. 1973 तक में घटित किया है। आगे और भी तमाम भट्टारकों का वर्णन किया है।"

भट्टारकों के नाम से आप यह न समझिये कि ये सभी वस्त्रधारी ही थे। ये परम्परागत गुरु के पट्ट पर आसीन आचार्यशिरोमणि थे। हाँ, आगे कुछ वस्त्रधारी भट्टारक भी हुए हैं।

प्रवचनसार आदि ग्रंथों में भगवान को भट्टारक कहा है। श्री वीरसेन स्वामी कषायप्राभृत के कर्ता 'गुणधर' आचार्य को भट्टारक कहते हैं। "जिन्होंने इस आर्यावर्त में अनेक नयों से युक्त, उज्ज्वल और अनन्त अर्थों से व्याप्त कषायप्राभृत का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया है, उन गुणधर भट्टारक को मैं वीरसेन आचार्य नमस्कार करता हूँ।" और भी अनेकों उदाहरण आगम में भरे हुए हैं।

"सं. 1264 में बसंतकीर्ति आचार्य हुए हैं। शायद इन्होंने वस्त्र धारण की प्रथा डाली है, ऐसा कथन भट्टारक संप्रदाय पुस्तक में आया है।"

"पुनः आगे स्पष्टतया कहा है कि सं. 1572 में पद्मनंदी के शिष्य यशःकीर्ति हुए हैं, जो कि नैर्ग्रन्थ्य रूप आर्हत मुद्रा को धारण करने वाले थे।"

कहने का अभिप्राय यही है कि अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु के अनंतर आचार्य गुणधर आदि से लेकर आज तक दिगम्बर मुनि होते आये हैं और पंचम काल के अंत तक वीरांगज नाम के मुनि होंगे। श्री गौतम स्वामी भी पंचमकाल में ही मोक्ष गये हैं। ऐसा नियम है कि पंचमकाल में जन्म लेने वाले जीव पंचमकाल में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं किन्तु चतुर्थकाल में जन्मे हुए पुरुष पंचमकाल में मोक्ष जा सकते हैं क्योंकि पंचम काल के प्रारंभ होने में जब तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष मात्र काल बाकी रह गया था, तब भगवान महावीर मोक्ष गये हैं और उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ था। अनंतर बारह वर्ष बाद वे मोक्ष गये हैं।

वर्तमान में कुन्दकुन्दान्वय का अतीव महत्त्व है। प्रशस्ति या गुरुपरम्परा में "कुन्दकुन्दाम्नाये मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे" इत्यादि रूप से ही मूर्तियों में या ग्रंथों में प्रशस्तियाँ रहती हैं। वे कौन हैं ? पढ़िए—

## 1.3 कुन्दकुन्द आदि आचार्य—

### 1.3.1 भगवान कुन्दकुन्दाचार्य—

**मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।**
**मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।**

श्री कुन्दकुन्द स्वामी मूलसंघ के अग्रणी आचार्य हैं, यही कारण है कि वर्तमान में मंगलहेतु कुंदकुंद का नाम गौतमस्वामी के अनंतर लिया जाता है। विद्वानों के निर्णयानुसार इनका जन्म दक्षिण भारत में माना गया है। 'कौण्डकुन्दपुर' नामक ग्राम में कर्मण्डु की पत्नी श्रीमती के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। इनके समय के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है।

"नंदीसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि. सं. 49 में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। 44 वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। 51 वर्ष 10 महीने तक उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु 95 वर्ष 10 महीने 15 दिन की थी।"

"कुन्दकुन्द स्वामी की परम्परा वाले मूलसंघ को अर्हद्बलि आचार्य ने चार संघ में विभक्त किया है, ऐसा भी एक शिलालेख में कथन है।"

तथा कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने बोधपाहुड़ में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहकर उनका जयघोष किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली के अनन्तर ही हुए हैं। यथा—

"जिनेन्द्रदेव—भगवान महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्दविकार को प्राप्त हुआ—शब्दों में ग्रथित हुआ। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों को उसी रूप से जाना है और उसी रूप से कहा है जो द्वादश अंग के ज्ञानी हैं, चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करने वाले हैं। ऐसे श्रुतकेवली भद्रबाहु गमकगुरु भगवान् जयवंत होवें।"

"नंदीसंघ की पट्टावली में भी—1. भद्रबाहु द्वितीय (4), 2. गुप्तिगुप्त (26), 3. माघनंदी (36), 4. जिनचंद्र (40), 5. कुन्दकुन्दाचार्य (49), 6. उमास्वामी (101), इत्यादि। इसमें भी भद्रबाहु का परम्परा शिष्य कुन्दकुन्द को कहा है।"

इनके विषय में विदेहक्षेत्र में गमन, चारणऋद्धि प्राप्ति, पाषाण की देवी को बुलवाना आदि कई बातें प्रसिद्ध हैं और पट्टावली में इनके पाँच नाम माने हैं, उनका भी कई जगह समर्थन है। पाँच नाम—

**आचार्यः कुंदकुंदाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।**
**एलाचार्यो गृध्रपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः।।**

कुंदकुंद, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृध्रपिच्छ और पद्मनंदि ये पाँच नाम हैं।

वि. सं. 990 में विद्यमान देवसेन आचार्य ने दर्शनसार में इनके विदेहगमन की बात कही है। यथा—

"यदि पद्मनंदि स्वामी सीमंधर स्वामी के दिव्यज्ञान से सम्बोधन न प्राप्त करते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते ?"

श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय प्राभृत के प्रारंभ में कहा है—

"जो श्री कुमारनंदि सैद्धांतिक देव के शिष्य हैं, प्रसिद्ध कथा के न्याय से पूर्वविदेह में जाकर वीतराग, सर्वज्ञ, सीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव का दर्शन करके और उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थ समूहों से ज्ञान को प्राप्त कर आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण करके पुनः यहाँ आये हुए श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य देव, जिनका अपरनाम पद्मनंदी है.....।"

यहाँ इनके गुरु का नाम कुमारनंदी दिया है। नंदिसंघ की पट्टावली में इनके गुरु का नाम 'जिनचन्द्र' कहा है। यथा—"मूलसंघ में नंदिसंघ हुआ, उसमें बलात्कारगण है। उसमें पूर्व पदों के अंश के ज्ञाता माघनंदी आचार्य के पट्ट पर जिनचन्द्र हुए, पुनः उनके पद पर पाँच नाम को धारण करने वाले पद्मनंदी मुनि हुए।"

श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत की टीका में प्रत्येक प्राभृत की समाप्ति में विदेहगमन की बात कही है। यथा—"श्री पद्मनंदी कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से विराजित चतुरंगुल आकाशगामी ऋद्धिधारी, पूर्वविदेह की पुंडरीकिणी नगरी में सीमंधर स्वामी अपरनाम स्वयंप्रभ जिनदेव की वंदना करने वाले, उनके द्वारा श्रुतज्ञान से भारतवर्ष के भव्यजनों को सम्बोधित करने वाले श्री जिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्ट के आभरणस्वरूप और कलिकाल सर्वज्ञ".....इत्यादि।

इस प्रकार देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य और श्रुतसागरसूरि इन तीन आचार्यों ने श्री कुन्दकुन्ददेव के विदेहगमन की बात कही है।

चारणऋद्धि के विषय में देखिए—

**तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनंदी प्रथमाभिधानः।**
**श्री कुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।।5।।**

श्री श्रुतसागर सूरि ने षट्प्राभृत ग्रंथ के प्रत्येक पाहुड़ की टीका की समाप्ति में कहा ही है—

ऐसा प्रसिद्ध है कि "श्री कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित यात्रा हेतु गिरनार पहुँचे। वहाँ पर श्वेताम्बर साधुओं का भी संघ पहुँचा। पहले वंदना कौन करे इस पर विवाद होने पर कुन्दकुन्ददेव ने वहाँ पर स्थित सरस्वतीदेवी की मूर्ति को मंत्र के बल पर बुलवा दिया।"

यथा—"बलात्कारगण के अग्रणी श्री पद्मनंदिगुरु हुए हैं, जिन्होंने पाषाण से निर्मित श्री सरस्वती को बुलवा दिया।"

"जिन्होंने इस कलिकाल में ऊर्जयंतगिरि के ऊपर पाषाण से घटित ब्राह्मी देवी को बुलवा दिया। वे कुंदकुंदगणी हमारी रक्षा करें।"

बहुत सी प्रशस्तियों में भी श्री कुन्दकुन्द देव की ऋद्धि आदि का वर्णन आता है। यथा—

**''श्रीपद्मनंदीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।**
**द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चारित्रसंजातसुचारणर्द्धिः।।4।।''**
**''वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः**
**कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः।।**
**यश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीकश्चक्रे**
**श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्।।5।।''**
**''श्री कोण्डकुंदादिमुनीश्वराख्यस्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।।4।।''**
**'तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृत-**
**संतुष्टचित्तश्रीकुन्दकुन्दाचार्याणाम्।।5।।''**
**''तत्पट्टोदयाद्रिदिवाकरश्रीएलाचार्यगृध्रपिच्छ-**
**वक्रग्रीवपद्मनंदिकुन्दकुन्दाचार्यवर्याणाम्।।2।।**

इस सब प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द स्वामी महान् तपस्वी, गणनायक और मंत्रों के विशेष ज्ञाता थे तथा विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधर भगवान का साक्षात् दर्शन करके आये थे।

**शंका**—चन्द्रगुप्त के स्वप्न के फल में पंचमकाल में ऋद्धिधारी के आने का निषेध है। यथा—

"देवताओं के विमान को वापस जाता हुआ देखने से पंचमकाल में देवता, विद्याधर तथा चारणमुनि नहीं आवेंगे।"

**समाधान**—इस कथन से ऋद्धि होने का सर्वथा निषेध नहीं है अतः पंचमकाल के प्रारंभ में श्री कुन्दकुन्ददेव को चारण ऋद्धि मानना बाधित नहीं है।

इन महिमाशाली आचार्य की अनेकों रचनाएँ आज हमें सर्वज्ञ भगवान के वचनों का अमृतपान करा रही हैं। चूँकि वीरसेन, विद्यानंद आदि आचार्यों ने सूत्रकारों को सर्वज्ञवचनतुल्य प्रमाणीक कहा है।

**श्री कुन्दकुन्द की रचनाएँ**—चौरासी पाहुड़, षट्खण्डागम टीका, दशभक्ति , अष्टपाहुड़, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसअणुपेक्खा, समयसार, मूलाचार और कुरलकाव्य।

मूलाचार को कुछ विद्वान् कुन्दकुन्द की कृति नहीं मानते हैं किन्तु कुछ विद्वानों ने इसके बारे में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

"मूलाचार की एक टीका श्री मेघचन्द्राचार्य कृत "मुनिजनचिन्तामणि" नाम की है जो कि कर्नाटक भाषा में है।

जिसमें प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में इसे "श्री कुंदकुंदाचार्य कृत' लिखा है तथा कर्नाटक टीका के प्रारंभ में भी श्लोक के अनन्तर गद्य में "कोण्डकुन्दाचार्य" नाम दिया है।"

"दूसरी टीका संस्कृत में है जो कि सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री वसुनन्दि आचार्य द्वारा बनाई हुई है।" इसके प्रारंभ में टीकाकार ने 'श्रीवट्टकेराचार्यः' ऐसा कहा है और टीका के अंत में "इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुंदकुंदाचार्यप्रणीत-मूलाचाराख्यविवृत्तिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।" ऐसा उल्लेख है अतः इन्हीं कुंदकुंदाचार्य को ही 'वट्टकेराचार्य' नाम से वसुनन्दि आचार्य ने कहा है, ऐसा स्पष्ट है। चूँकि इन्होंने षट्खण्डागम के तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नाम की वृत्ति लिखी है। मालूम होता है कि इसी हेतु से इनका 'वृत्तिकार' — वट्टकेर नाम प्रसिद्ध हो गया है। कुछ भी हो यह मूलाचार कृति श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृत ही है।

वर्तमान युग में इन आचार्यों के ये ग्रंथ ही हम लोगों के लिए मोक्षमार्गप्रदर्शक हैं। कहा भी है—

इस कलिकाल में भरतक्षेत्र में सर्वज्ञ देव नहीं हैं किन्तु उनकी वाणी मौजूद है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले सच्चे दिगम्बर साधु भी मौजूद हैं जो कि मोक्षमार्ग को प्रशस्त किये हुए हैं।"

**1.3.2 यतिवृषभाचार्य—**

"यतिवृषभ कषायपाहुड़ की चूर्णिसूत्रों के कर्ता हैं और तिलोयपण्णत्ति के भी कर्ता हैं अतएव इनका समय वि.सं. 526 से पूर्व होना सुनिश्चित है। ये आर्यमंक्षु और नागहस्ति के अन्तेवासी कहे हैं।" उसमें आर्यमंक्षुक का समय ई. सन् प्रथम शताब्दी और नागहस्ति का समय ई. सन् 100-150 तक माना गया है। यही इनका समय निश्चित होता है। कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी मानने वालों ने यतिवृषभ को कुन्दकुन्द से पूर्व का माना है।"

**1.3.3 शिवकोटि आचार्य—**

शिवार्य (शिवकोटि आचार्य) भगवती आराधना के कर्ता हैं। इनका समय कुछ विद्वान् उमास्वामी के पूर्व का निर्णय करते हैं।

**1.3.4 उमास्वामी आचार्य—**

इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। मूलसंघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वामी 40 वर्ष 8 दिन तक नन्दिसंघ के पट्ट पर रहे हैं। श्रवणबेलगोला के 65वें शिलालेख में इन्हें कुन्दकुन्द के पट्ट पर माना है।

**तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।**
**श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः।।5।।**
**अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।**
**तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी।।6।।**

इन्हीं का अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य भी है। अन्यत्र पट्टावली में भी कहा है—"श्री कुन्दकुन्द के पवित्र आम्नाय में उमास्वाति आचार्य हुए। प्राणी रक्षा में तत्पर इन्होंने गृध्र के पंखों को धारण किया तभी से ये गृध्रपिच्छाचार्य कहलाये हैं। इनकी परम्परा में (पट्ट पर) महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए हैं। इनके शरीर के संसर्ग से विषमयी हवा भी उस समय अमृत (निर्विष) हो जाती थी।"

**1.3.5 समन्तभद्राचार्य—**

श्री समन्तभद्र स्वामी को श्रुतमुनि की पट्टावली में उमास्वामी के शिष्य के पट्ट पर माना है। इसके बाद श्री समंतभद्र स्वामी हुए हैं।

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि—"भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त, इनके वंशज पद्मनंदि अपरनाम कुन्दकुन्द मुनिराज, इनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य, इनके शिष्य बलाकपिच्छाचार्य और उनके समन्तभद्र हुए।"

"बहुत कुछ विद्वानों ने ऊहापोह करके ईसवी सन् की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में इनके होने का अनुमान किया है।"

दक्षिण भारत के उरगपुर (उरैपुर) में चोल राजवंश के राजा के ये पुत्र थे, ऐसा एक आप्तमीमांसा प्रति के अन्त में लिखा हुआ है—"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमंतभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्" इससे स्पष्ट है कि ये क्षत्रियवंशी थे।

मुनिदीक्षा के पश्चात् इन्हें भस्मक व्याधि हो जाने से गुरु से समाधिमरण की आज्ञा माँगी किन्तु गुरु ने इन्हें भविष्णु जानकर आदेश देते हुए कहा कि 'आपसे धर्म और साहित्य को बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुनः दीक्षा लेना। गुरु के आदेशानुसार समन्तभद्र नाग्न्यपद छोड़कर सन्यासी बन गये। इधर-उधर विचरण करते हुए वाराणसी में शिवकोटि राजा के भीमलिंग नामक शिवालय में जाकर शिवजी को खिलाने की बात कहते हुए कुछ दिन नैवेद्य स्वयं खाने लगे। नैवेद्य के उपभोग से रोग शमन होने लगा, फलस्वरूप नैवेद्य बचने लगा, जिससे राजा के समक्ष वास्तविकता प्रकट हो गई। भेद खुल जाने से राजा के निमित्त से उपसर्ग समझकर चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति प्रारंभ की, जब ये चन्द्रप्रभ स्वामी की स्तुति कर रहे थे कि शिवपिण्डी से चन्द्रप्रभ स्वामी की मनोज्ञ प्रतिमा प्रगट हो गई। समन्तभद्र स्वामी के इस माहात्म्य से बहुत ही धर्म की प्रभावना हुई।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में लिखा है—

**वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावती देवता-**
**दत्तोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः।।**
**आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ।**
**जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहुः।।**

जो अपने भस्मक व्याधि को दूर करने में चतुर हैं, पद्मावती नामक देवी की दिव्यशक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्र वचनों से चन्द्रप्रभ को प्रगट किया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र बार-बार वन्दना किये जाने योग्य हैं। यह लेख शक संवत् 1022 का है। कवि वृन्दावन भी कहते हैं—

**स्वामी समंतभद्रमुनिवर सों शिवकोटी हठ कियो अपार।**
**वंदन करो शंभुपिंडी को तब गुरु रच्यो स्वयंभू भार।।**
**वंदन करत पिंडिका फाटी प्रगट भये जिनचंद्र उदार।**
**सो गुरुदेव बसो उर मेरे बिघन हरण मंगल करतार।।2।।**

**समंतभद्र स्वामी की रचनाएँ**—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र—आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, रत्नकरंडश्रावकाचार, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृत टीका और गंधहस्तिमहाभाष्य।

इनमें बृहत्स्वयंभू स्तोत्र का चमत्कार तो प्रसिद्ध ही है। स्तुतिविद्या चित्रालंकार रूप है और देवागम तो अपने आप में एक विशेष ही महत्त्वपूर्ण कृति है। उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण—

**'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।**
**ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये।।'**

इस श्लोक के ऊपर 114 कारिकाओं में आप्त की मीमांसा—समीक्षा करते हुए सच्चे आप्त का निर्णय किया है। इसी आप्तमीमांसा के ऊपर श्री अकलंकदेव ने 'अष्टशती' नाम का भाष्य बनाया है और उस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानंद आचार्य ने "अष्टसहस्री" नाम की टीका की है, जो कि जैनदर्शन में सर्वोपरि ग्रंथ माना जाता है। इसका हिन्दी भाषानुवाद गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने किया है। स्याद्वादमय सप्त भंगों का जितना विस्तृत और सुन्दर विवेचन

इसमें है, उतना विस्तृत विवेचन वर्तमान के उपलब्ध अन्य ग्रंथों में नहीं पाया जाता है। इस प्रकार इन आचार्यों ने अपने युग में अतीव महान् कार्य करके वर्तमान के युग को एक विशेष देन दी है।

**1.3.6 सिद्धसेनाचार्य-**

कवि और दार्शनिक के रूप में सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएं इन्हें अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में इन्हें कैसा आदर दिया है।

देखिए—

**"कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः।**
**मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः।।39।।**
**प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः।**
**सिद्धसेनकविर्जीयात् विकल्पनखरांकुरः।।42।।**

पूर्व में सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूँ। पर दोनों में इतना ही अन्तर है, जितना कि पद्ममणि और कांच में होता है। जो प्रवादी रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह के समान हैं। नैगम आदि नय ही जिनके केसर—अयाल तथा अस्ति-नास्ति आदि विकल्प ही जिनके तीक्ष्ण नाखून थे, ऐसे वे सिद्धसेन कवि जयवन्त होवें।

"इनका समय कुछ विद्वानों ने विक्रम सं. 625 के लगभग माना है।" "सन्मति टीका के प्रारंभ में अभयदेवसूरि (12वीं शती ई.) ने भी इन्हें दिवाकर कहा है।"

इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—सन्मतिसूत्र और कल्याणमंदिरस्तोत्र। सन्मतिसूत्र की गाथाएँ तो धवला, जयधवला टीका में भी पाई जाती हैं और कल्याणमंदिर स्तोत्र भी भक्तामर स्तोत्र जैसा प्रभावशाली चमत्कारिक है बल्कि यह भक्तामर से पूर्व की रचना है।

इन आचार्य के विषय में भी ऐसा एक अतिशय प्रसिद्ध है—सेनगण की पट्टावली में निम्न वाक्य कहा है—

**"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकालसंस्थापनमहाकाललिंगमहीधरवाग्वज्रदण्डविष्ट्याविष्कृत श्री पार्श्वतीर्थेश्वर प्रतिद्वंद्व श्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम्।।14।।"**

उज्जयिनी नगरी में महाकाल मंदिर में संस्थापित महाकाल (रुद्र) के लिंगरूपी पर्वत को अपने वचनरूपी वज्रदण्ड के द्वारा स्फोटित करके पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बिम्ब को प्रगट करने वाले श्री सिद्धसेन भट्टारक की जय होवे।

ऐसा ही लेख श्वेताम्बरों के यहाँ कई स्थल पर है—पट्टावली सारोद्धार में—"तथा सिद्धसेनदिवाकरोऽपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्रलिंगस्फोटनं कृत्वा कल्याणमंदिरस्तवनेन श्री पार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्रीविक्रमादित्य-राजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिकशतचतुष्टये 470 विक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्यं संजातं।"

कवि वृन्दावन इस विषय में सभा में वाद-विवाद के प्रसङ्ग में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रगट हुई कहते हैं—

**"श्रीमत कुमुदचन्द्र मुनिवर सों, वाद पर्‌यो जहँ सभा मंझार।**
**तबहीं श्री कल्याणधामथुति, श्रीगुरु रचना रची अपार।।**
**तब प्रतिमा श्रीपार्श्वनाथ की, प्रगट भई त्रिभुवन जयकार।**
**सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघनहरण मंगल करतार।।7।।"**

**1.3.7 पूज्यपादाचार्य—**

कवि, वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनों व्यक्तियों का एकत्र समवाय देवनन्दि पूज्यपाद में पाया जाता है। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में इनके नामों के संबंध में उल्लेख मिलते हैं। यथा—

**यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या च जिनेन्द्रबुद्धिः।**
**श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं।।8।।**
**जैनेन्द्रे निजशब्दभोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा।**
**सिद्धांते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।।**
**छंदस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकस्वास्थ्यं यदीयं विदा-**
**माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः।।9।।**

अर्थात् जिनका देवनंदी यह प्रथम नाम था किन्तु बुद्धि की महत्ता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवताओं के द्वारा इनके पादयुगल पूजित होने से पूज्यपाद इस सार्थक नाम को प्राप्त हुए हैं। इन्होंने जैनेन्द्रव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक, छन्दग्रंथ समाधिशतक आदि ग्रंथों की रचना की है।

देवकीर्तिपट्टावली में इन श्लोकों के पूर्व 7वें श्लोक में समंतभद्र का नाम है। समंतभद्र के पट्ट पर देवनंदी को माना है अर्थात् इस पट्टावली में भद्रबाहु श्रुतकेवली, चंद्रगुप्त, कोंडुकंद, गृद्धपिच्छाचार्य, बलाकपिच्छ, समंतभद्र, पूज्यपाद—देवनंदि, अकलंक इत्यादि क्रम दिया गया है। श्रुतमुनि की पट्टावली में भी समंतभद्र के बाद पूज्यपाद पुनः अकलंकदेव ऐसा क्रम है।"

नंदिसंघ की पट्टावली में कुन्दकुन्द, उमास्वामी, लोहाचार्य, यशःकीर्ति, यशोनन्दी इनके बाद 'देवनंदि' को लिया है एवं विक्रम सं. 258 से 308 तक इन्हें आचार्य पट्ट पर माना है।

श्रुतमुनि की पट्टावली में इनके बारे में कहा है कि—

**"श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिः-**
**जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।**
**यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावा-**
**त्कालायसं किल तदा कनकीचकार।।187।।**

अर्थात् अप्रतिम औषधि ऋद्धि के धारी श्री पूज्यपाद मुनि जयशील होवें, विदेह क्षेत्र के जिनेन्द्र—सीमंधर भगवान के दर्शन से जिनका गात्र पवित्र हो चुका है और जिनके पाद प्रक्षालित जल के स्पर्श के प्रभाव से उस समय लोहा सोना हो गया था।

इनके बारे में बहुत अनुश्रुतियाँ हैं। जैसे—"पूज्यपाद स्वामी अपने पैरों में गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे, उस समय उनके शिष्य वज्रनंदि ने अपने साथियों के साथ झगड़ा करके द्रविड़ संघ की स्थापना की।"

पूज्यपाद स्वामी बहुत दिनों तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमान में बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी अतएव उन्होंने 'शांत्यष्टक' रचकर ज्यों की त्यों दृष्टि प्राप्त कर ली, यथा—

"श्रीप्रभाचन्द्राचार्य" भी शांत्यष्टक की टीका के प्रारंभ में कहते हैं—

श्रीपूज्यपादस्वामी संजातचक्षुस्तिमिरादिव्याधिस्तद्विनाशार्थं श्रीशांतिनाथस्य न स्नेहादित्यादिस्तुतिमाह"—जिनके नेत्रों में तिमिर आदि व्याधि उत्पन्न हो गई है ऐसे श्री पूज्यपादस्वामी उसको दूर करने के लिए श्री शांतिनाथ की 'न स्नेहात्' इत्यादि स्तुति करते हैं।

इस शांत्यष्टक के आठवें श्लोक में भी श्लेष अर्थ यही झलकता है।

**"शांतिं शांतिजिनेन्द्र! शांतमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्,**
**संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शांत्यर्थिनः प्राणिनः।**
**कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु,**
**त्वत्पादद्वयदैवतस्य गतदः शान्त्यष्टकं भक्तितः।।8।।**

अर्थात् हे शांतिजिनेन्द्र! बहुत से शांत्यर्थी प्राणी शांतचित्त से आपके चरण कमलों का आश्रय लेकर इस पृथ्वीतल पर शांति को प्राप्त हो चुके हैं। हे प्रभो! आपके पादयुगलरूपी देवता के भक्तिपूर्वक शान्त्यष्टक को पढ़ते हुए मुझ भाक्तिक पर आप करुणा करके दृष्टि को प्रसन्न कीजिए अथवा मुझ भाक्तिक की दृष्टि को प्रसन्न — तिमिर आदि दोषों से रहित निर्मल कीजिए।

अनुश्रुति ऐसी भी प्रचलित है कि एक बार ऋद्धि के बल से आकाशमार्ग से आ रहे थे। मार्ग में सूर्य की तीक्ष्ण किरणों से अकस्मात् नेत्रज्योति चली गई। आप नीचे उतरकर शांतिनाथ के चैत्यालय में बैठकर शांतिनाथ की स्तुति करने लगे, आठवें श्लोक को बोलते ही आपकी नेत्र ज्योति ज्यों की त्यों वापस आ गई। पुनः आपने साक्षात् नेत्रों से शांतिनाथ का दर्शन करके गद्गद होकर "शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं" इत्यादि रूप से स्तुति की जो कि आज शांत्यष्टक के साथ सम्मिलित है।

कुछ भी हो, यह तो निश्चित ही है कि इनके नेत्र का तिमिर आदि रोग इस शांति भक्ति को करने में निमित्त अवश्य था।

इनकी रचनाएं जो कि वर्तमान में उपलब्ध हैं —

दशभक्ति, जन्माभिषेक, सर्वार्थसिद्धि, समाधितंत्र, इष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण और सिद्धिप्रियस्तोत्र। इनमें से —

दशभक्ति का पाठ तो साधुओं की नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में आता ही है। उनमें से जो प्राकृत दश भक्तियाँ हैं वे कुन्दकुन्दाचार्य की बनाई हुई हैं और संस्कृत की दश भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित हैं।

अन्य विद्वान् भी कहते हैं —

"आपके जीवन की अनेक घटनाएं हैं — (1) विदेहगमन (2) नेत्र ज्योति का नष्ट हो जाना तथा शांत्यष्टक के निर्माण से पुनः उसकी संप्राप्ति (3) देवताओं द्वारा चरणों का पूजा जाना (4) औषधि ऋद्धि की उपलब्धि (5) पादस्पृष्ट जल से लोहे का सुवर्ण होना।

आपकी रचनाओं में वैद्यक शास्त्र और सारसंग्रह भी हैं। 'सारसंग्रह के विषय में धवलाटीका में श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है कि — "सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादै.....।"

पूज्यपादस्वामी का समय वि.सं. की पाँचवीं शताब्दी है क्योंकि आपके शिष्य वज्रनंदी ने वि.सं. 526 में (469 ईसवी) द्रविड संघ की स्थापना की ऐसा दर्शनसार में कहा है अतः सभी विद्वान् इन्हें छठी शताब्दी का ही मानते हैं।

### 1.3.8 अकलंकदेव —

मान्यखेट नगर के राजा शुभतुङ्ग के पुरुषोत्तम मंत्री के दो पुत्र थे — अकलंक और निष्कलंक। एक बार आष्टान्हिक पर्व में माता-पिता के साथ मुनि के पास ब्रह्मचर्य व्रत लिया। यौवनावस्था में पिता के आग्रह से भी विवाह न कर आजन्म बाल ब्रह्मचारी रहे। अकलंक एकपाठी और निष्कलंक दो पाठी थे। बौद्धों के धर्मद्वेष से निष्कलंक ने अपना बलिदान कर दिया। आप कलिंग देश के रत्नसंचयपुर में पहुँचे। वहाँ के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने आष्टान्हिकपर्व में अपना जैन रथ निकलवाने का निर्णय किया। शर्त यह हुई कि यदि कोई जैनगुरु शास्त्रार्थ में बौद्धगुरु को पराजित कर दे, तब जैनरथ निकल सकता है।"

रानी संकट के समय चतुराहार त्यागकर मंदिर में निश्चल बैठ गई। ध्यान के प्रभाव से अर्द्धरात्रि में पद्मावती देवी ने आकर बताया कि प्रातः ही यहाँ अकलंक देव आयेंगे और वे ही संघश्री बौद्धगुरु का दर्प चूर्ण करेंगे। रानी ने प्रसन्न होकर भगवान की स्तुति की और प्रातः होते ही महाभिषेक पूजन किया। प्रातः एक उद्यान में उनके दर्शन करके निवेदन किया। अकलंकदेव ने शास्त्रार्थ प्रारंभ किया। बौद्धगुरु ने अपने वश का न समझकर अपनी इष्ट तारावती को घट में स्थापित कर दिया और पर्दा डाल दिया। अकलंकदेव तारादेवी को बौद्धगुरु समझकर छह महीने तक शास्त्रार्थ करते रहे। अन्त में चक्रेश्वरी देवी के कहे अनुसार तारादेवी को पराजित करके जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना की।

**इनकी रचनाएँ**— स्वोपज्ञविवृति सहित लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय सविवृति, सिद्धिविनिश्चयसविवृति, प्रमाणसंग्रहसविवृति तथा टीका ग्रंथ तत्त्वार्थवार्तिकसभाष्य और अष्टशती हैं। इनका बनाया हुआ एक स्तोत्र भी अकलंक स्तोत्र नाम से प्रसिद्ध है।

इनके समय के बारे में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। जैनधर्म के प्राचीन इतिहास में परमानन्द शास्त्री ने इनका समय ईसवी सं. 720 से 780 सिद्ध किया है।

कई एक पट्टावलियों में अकलंक देव को पूज्यपाद का उत्तराधिकारी सिद्ध किया है। श्रुतमुनि की पट्टावली में "श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिः" इत्यादि 17वें श्लोक के बाद—

**"ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः।**
**मिथ्यांधकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः।।17।।**

अर्थात् पूज्यपाद स्वामी के बाद (उनके पट्ट पर) शास्त्रों के वेत्ता मुनियों में अग्रसर अकलंकदेव हुए हैं।"

देवकीर्ति पट्टावली में भी पूज्यपाद के अनंतर—'ततश्च' कहकर

**अजनिष्टाकलंकं यज्जिनशासनमादितः।**
**अकलंकं बभौ येन सोऽकलंको महामतिः।।10।।**

पूज्यपाद की छठी शताब्दी निर्णीत हो जाने से इनकी भी छठी या सातवीं शताब्दी मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

**1.3.9 मानतुंगाचार्य—**

"भट्टारक सकलचंद्र के शिष्य ब्रह्मचारी 'पायमल्ल' कृत भक्तामरवृत्ति में जो कि वि.सं. 1667 में समाप्त हुई है लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने 48 सांकलों को तोड़कर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का उपासक बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषणकृत भक्तामर चरित में भी इसी प्रकार बताई है कि 'आचार्य मानतुंग' ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से अड़तालीस कोठरियों के ताले तोड़कर अपना प्रभाव दिखलाया।"

इनके समय के बारे में भी विद्वानों की अनेक विचारधाराएं हैं। एक विद्वान् इन्हें ईसवीं सन् 7वीं शताब्दी का कहते हैं तो एक विद्वान् इन्हें 11वीं शताब्दी का कहते हैं। परमानन्द शास्त्री ने अपने जैनधर्म के प्राचीन इतिहास में इन्हें 11वीं शताब्दी का ही निश्चित किया है।

भक्तामर स्तोत्र और भयहर स्तोत्र ये दो रचनाएँ इनकी मानी गई है। भक्तामर स्तोत्र तो इतना प्रसिद्ध और अतिशयपूर्ण है कि शायद ही कोई ऐसा दिगम्बर या श्वेताम्बर जैन होगा जो कि इसे न जानता हो।

**1.3.10 श्री वीरसेनाचार्य—**

इसी प्रकार से "आचार्य श्री वीरसेन ने षट्खण्डागम और कषायपाहुड़ ग्रंथराज पर धवला और जयधवला नाम की टीकाएँ रची हैं। इनकी जयधवला टीका को पूर्ण करने का श्रेय आचार्य जिनसेन को रहा है। जिनसेन ने जयधवला टीका को शक संवत् 759 की फाल्गुन शुक्ला दशमी को पूर्ण किया है। इससे वीरसेन का समय ई. सन् की नवमी शताब्दी ही है।"

**1.3.11 जिनसेनाचार्य—**

जिनसेन स्वामी ने अविद्धकर्ण (कर्ण संस्कार के पूर्व) ही जैनेश्वरी दीक्षा ले ली थी, ऐसा जयधवला टीका के अंत में दी गई दो पद्य रचनाओं से स्पष्ट होता है। इनकी बनाई हुई तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—पार्श्वाभ्युदय, आदिपुराण और जयधवला टीका।

**1.3.12 गुणभद्राचार्य—**

जिनसेन स्वामी महापुराण के 42 पर्व तक लिखते हैं। अनंतर उनके पश्चात् उनके इस पुराण को श्री गुणभद्रसूरि पूर्ण करते हुए उत्तरपुराण की रचना करते हैं अर्थात् महापुराण में 5 पर्व की और रचना करके अनन्तर उत्तरपुराण की रचना की है अतः गुणभद्रसूरि का समय भी ईसवी सन् की दशवीं शताब्दी है। इनकी रचनाएं महापुराण का शेष और उत्तरपुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्त चरित काव्य ये तीन हैं।''

एक पंचामृताभिषेक पाठ भी इनका बनाया हुआ मुद्रित हो चुका है। पं. पन्नालाल जी सोनी ने अनेकों प्रमाणों से स्पष्ट कर दिया है कि पंचामृत अभिषेक के कर्ता 'गुणभद्रभदंत' ये ही हैं, भिन्न नहीं हैं।

चूँकि जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय में एक श्लोक है—

**''वीराचार्यसुपूज्यपाद जिनसेनाचार्यसंभाषितो।**
**यः पूर्वं गुणभद्रसूरि वसुनन्दीन्द्रादिनंद्यूर्जितः।।**
**यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसंधीरितः।**
**तेभ्यः स्वाहृतसारमार्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः।।19।।''**

पूजासार में भी कहते हैं—

**''वीरसेन जिनसेनसूरिणा पूज्यपादगुणभद्रसूरिणा।**
**इंद्रनंदिगुरुणैकसंधिना जैनपूजनविधिः प्रभाषितः।।**

जिनसंहिता में एक संधि लिखते हैं—

**''पूज्यपादगुणभद्रसूरिभिर्वज्रपाणिभिरपि प्रपूजितैः।**
**मंत्रबद्धमप्युदारितं शस्यतेऽत्र सकलेऽपि कर्मणि।।''**

इन सभी श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि जिनसेन के शिष्य गुणभद्रसूरि ने यह अभिषेक पाठ बनाया है।

**1.3.13 आचार्य विद्यानंद—**

आचार्य विद्यानंद भी एक महान तार्किक विद्वान् हो चुके हैं। विद्वानों ने इनका समय ईसवी सन् 775 से 840 तक प्रमाणित किया है अतः ये ई. सं. नवमशती के आचार्य हैं।

**इनकी रचनाएँ—** आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञविवृतिसहित, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र विद्यानन्द महोदय की ये स्वतंत्र कृतियाँ हैं और अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, युक्त्यनुशासन ये टीका ग्रंथ हैं।

**1.3.14 देवसेनाचार्य—**

ये आचार्य वि. सं. 990 में हुए हैं। दर्शनसार, भावसंग्रह, आलापपद्धति, लघुनयचक्र, आराधनासार और तत्त्वसार ये इनकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। दर्शनसार में जैनधर्म में अनेकों मत-मतान्तर कब और कैसे उत्पन्न हुए—इस पर प्रकाश डाला है। भावसंग्रह में भावों के माध्यम से गुणस्थानों का वर्णन करते हुए पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकों की क्रियाओं का पर्याप्त वर्णन किया है। आलपपद्धति और नयचक्र में नयों का वर्णन है। आराधनासार में चार आराधनाओं का तथा तत्त्वसार में स्वतत्त्व और परतत्त्व का विवेचन है।

**1.3.15 अमृतचन्द्रसूरि-**

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसार, समयसार कलश ग्रंथ लिखे हैं तथा समयसार टीका, प्रवचनसार टीका और पंचास्तिकाय की टीका लिखी है। इनका समय पट्टावली के अनुसार विक्रम सं. 962 है।

**1.3.16 आचार्य श्री नेमिचन्द्र—**

ये आचार्य षट्खण्डागम के ज्ञाता होने से 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' कहे जाते हैं। इनके रचित ग्रंथ—गोम्मटसार

जीवकांड, गोम्मटसार कर्मकांड, त्रिलोकसार, लब्धिसार और क्षपणासार प्रसिद्ध हैं। इनका समय वि.सं. की 11वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है।

इसी प्रकार से और भी अगणित आचार्य हुए हैं, जिन्होंने स्वहित साधना करते हुए परहित हेतु अनेकों ग्रंथ रचे हैं। जो कि आज हमें उपलब्ध होकर जिनवाणीरूपी अमृत का पान करा रहे हैं। बहुत से ऐसे भी आचार्य और दिगम्बर मुनि हुए हैं, जिन्होंने ग्रंथ रचना नहीं की है किन्तु संघ संचालन में ही निरत रहे हैं तथा कोई-कोई मात्र स्वहित में ही तत्पर रहे हैं।

## 1.4 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-श्री गौतम स्वामी कितने वर्ष तक केवली रहे ?

(क) बाईस वर्ष ☐ (ख) बारह वर्ष ☐ (ग) दस वर्ष ☐

**प्रश्न 2**-श्री कुन्दकुन्द स्वामी के पाँच नामों में से एक-

(क) श्री माघनन्दि ☐ (ख) श्री देवनन्दि ☐ (ग) श्री पद्मनन्दि ☐

**प्रश्न 3**-श्री यतिवृषभाचार्य ने इस.....ग्रंथ की गाथा पर चूर्णिसूत्र रचे हैं।

(क) कषायप्राभृत ☐ (ख) षट्खण्डागम ☐ (ग) अष्टपाहुड़ ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-सारस्वताचार्य की संज्ञा किन्हें दी गई है, उनमें से किन्हीं चार आचार्यों के नाम बताइए ?

**प्रश्न 2**-श्री कुन्दकुन्द आचार्य का जन्मस्थान एवं उनके माता-पिता का नाम बताते हुए उनके द्वारा रचित आठ रचनाओं के नाम बताइए ?

**प्रश्न 3**-नंदिसंघ की पट्टावली में देवनन्दि आचार्य का क्या क्रम है ? ये किस सं. में आचार्य पट्ट पर विराजित हुए ?

**प्रश्न 4**-आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कितने टीका ग्रंथों की रचना की ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-स्वामी समन्तभद्राचार्य के जीवन का विस्तृत वर्णन करते हुए उनके द्वारा रचित रचनाओं पर भी प्रकाश डालिए ?

## पाठ 2 – जैनागम में सरस्वती की महिमा

### 2.1 जयदु सुद देवदा ( वाग्देवी-श्रुतदेवी-जैन सरस्वती )—

यह प्राणी संसार सागर में परिभ्रमण करता हुआ अनेक कष्ट झेल रहा है, कुछ प्राणी हैं जो इस संसार-सागर से पार होकर स्थायी सुख की खोज में हैं। धर्मों और दर्शनों का उदय यहीं से माना जाना चाहिए। आज संसार में जितने धर्म और दर्शन हैं कुछेक को छोड़कर प्राय: सभी का उद्देश्य/लक्ष्य दु:खों की निवृत्ति कराकर स्थायी सुख की प्राप्ति कराना है। भारत में प्राय: नौ दर्शन पल्लवित-पुष्पित हुए। वेद प्रामाण्य और वेद अप्रामाण्य को बिन्दु बनाकर इन्हें आस्तिक और नास्तिक इन दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। चार्वाक, जैन और बौद्ध जहाँ नास्तिकों में परिगणित हैं वहीं सांख्य-योग, न्याय वैशेषिक, मीमांसा-वेदांत आस्तिकों में गिने जाते हैं। बाद के काल में यह परिभाषा असमीचीन हो गई और ईश्वर में आस्था और अनास्था आस्तिक और नास्तिक के विभाजक तत्त्व बने। इस दृष्टि से चार्वाक को छोड़कर बाकी आठ आस्तिक और चार्वाक नास्तिक दर्शन के रूप में जाना गया है।

जैन दर्शन/ धर्म सभी में इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि उसने जीवमात्र की स्वतंत्रता का द्वार खोला है यहाँ प्रत्येक जीव या आत्मा किसी के अधीन नहीं है, अपने कर्म का कर्ता और भोक्ता वह स्वयं है। सृष्टि को बनाने वाला या सुख-दुख देने वाला कोई ईश्वर नहीं है। सृष्टि अनादि और अनन्त है, जीव अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख प्राप्त करता है। यह आत्मा ही अपने गुणों का विकास कर परमात्मा बन सकता है।

अनादिनिधन जैन धर्म में निश्चयनय से चौबीस तीर्थंकर या मोक्षगामी सिद्ध पूज्य हैं किन्तु व्यवहार से अन्य देवी-देवता या महापुरुष भी सम्मान के पात्र हैं तथापि उनकी पूजा तीर्थंकरों के समकक्ष नहीं है।

जैन धर्म/ दर्शन सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकरूपता को मोक्ष का मार्ग निरूपित करता है। आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र का पहला सूत्र है **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:'**। सिद्धान्तानुसार सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं किन्तु सम्यक्चारित्र के संबंध में अनियम है, वह कभी दर्शन और ज्ञान के साथ उत्पन्न होता है और कभी कुछ समय बाद भी किन्तु होता दर्शन और ज्ञानपूर्वक ही है। ज्ञान और ज्ञानी की महिमा प्राकृत, संस्कृत और सभी क्षेत्रीय भाषाओं में विशद रूप से वर्णित है।

हिन्दी में पं. दौलतराम जी ने छहढ़ाला में लिखा है—

**'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।**
**इह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण।।'**
**कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म जरें जे।**
**ज्ञानी के छिन मांहि त्रिगुप्ति ते सहज टरें जे।।**

जैनदर्शन में संशय, विपर्यय आदि से रहित ज्ञान अथवा श्रुतज्ञानावरण के क्षय से होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया है। इसी से मिलता-जुलता शब्द श्रुतकेवली है। आत्मा को जानने वाले अथवा सफल श्रुत को जानने वाले अथवा अष्टप्रवचनमातृका को जानने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। श्रुत के अधिष्ठाता देव (जिन वाक्—वाणी) शास्त्र हैं। कहा भी गया है—

**'अरिहन्त भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं।**
**पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा।।**

अरिहंत द्वारा भाषित होने से इस श्रुतज्ञान को अरिहंतवाणी, अरहन्त वाणी, जिनवाणी, सरस्वती, भारती, शारदा, श्रुतदेवी, वाग्देवी, द्वादशांगवाणी आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। यथा—

**'प्रथमं भारती नाम द्वितीयं च सरस्वती।**
**तृतीयं शारदा देवी चतुर्थं हंसगामिनी ।।**
**पञ्चमं विदुषां माता षष्ठं वागीश्वरी तथा।**
**कुमारी सप्तमं प्रोक्ता अष्टमं ब्रह्मचारिणी।।**
**नवमं च जगन्माता दशमं ब्राह्मिणी तथा।**
**एकादशं तु ब्रह्माणी द्वादशं वरदा भवेत्।।**
**वाणी त्रयोदशं नाम भाषा चैव चतुर्दशम्।**
**पञ्चदशं श्रुतदेवी च षोडशं गौर्निगद्यते'।।**

कोषकारों ने भी सरस्वती के अनेक नामों का उल्लेख किया है। यथा—

**'ब्राह्मी भाषा ब्राह्मणी गौर्गिरा गी-**
**र्वाणी वाक् सरस्वत्यपीड़ा।**
**भारत्युक्ता शारदा शब्द देवी**
**भेद्यधीनं वाङ्मय तद्विकारे।।'** (कोषकल्पतरुः)

**'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती'** (अमरकोष )

**'बुद्धिर्मनीषा धिषणाः धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।।'** (अमरकोष )

जैन साहित्य में द्वादशांगवाणी को 'सुददेवदा' (श्रुतदेवता), सुददेवी (श्रुतदेवी) आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। महाबंध के मंगल स्मरण में लिखा गया है—

**'बारह अंगंगिज्झा वियलियमलमूढ़दंसणुत्तिलया।**
**विविह वर चरण भूसा पसियदु सुददेवदा सुचिरं।।'**

आचार्य नेमिचन्द्र ने श्रुतदेवी का सुंदर रूपक द्वारा चित्रण करते हुए कहा है कि श्रुतदेवी सम्यग्दर्शन को तिलक रूप में धारण करने वाली, सम्यक्चारित्र आदि रत्नत्रयय रूपी वस्त्र को धारण करने वाली है। सरस्वती देवी का आचारांग सिर, सूत्रकृतांग मुखमण्डल, स्थानांग सुन्दर कण्ठ, समवायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति दो सुन्दर भुजाएं, ज्ञातृकथांग तथा उपासकाध्ययनांग दो स्तन युगल, अंतःकृतदशांग और अनुत्तरोपपादिदशांग सुन्दर नाभि, प्रश्नव्याकरणांग सुन्दर नितम्ब एवं जघन तथा दृष्टिवाद चरण हैं। कहा गया है कि सरस्वती जिनेन्द्रदेव द्वारा दृष्ट सभी द्रव्यों और पर्यायों की अधिष्ठात्री देवी हैं। यह संसार सुख और मोक्ष को देने वाली तथा सभी दर्शनों और मतों के मानने वाले लोगों, विद्याधर आदि से पूजित विश्व की माता हैं। यही जगत् माता हैं। यह हमारी रक्षा करें।

प्रतिष्ठासारोद्धार में वाग्वादिनी देवी सरस्वती को भगवती तथा मयूरवाहिनी कहा गया है, यथा—

**'वाग्वादिनी भगवती सरस्वती, ह्रीं नमः इत्यनेन मूलमन्त्रेणवेष्टयेत्।**
**ओं ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः, इति वाग्देवतां स्थापयेत्।।'**

जैनागम में चार प्रकार के देवों या उनकी देवियों में श्रुतदेवता या श्रुतदेवी का कोई अलग उल्लेख या स्वरूप नहीं बताया गया है क्योंकि श्रुतदेवता इन सबसे ऊपर हैं वह तो भगवान की दिव्यध्वनि है, जो साक्षात् भव पार लगाने वाली है। आचार्य वीरसेन ने 'जयदु सुददेवदा' कहकर श्रुतदेवता/ श्रुतदेवी को एक अलग ही रूप दिया है, आचार्य पद्मनंदी ने भी इस तथ्य का उद्घाटन किया है।

जिनवाणी/ सरस्वती/ वाक्देवी/ श्रुतदेवी को लेकर प्राकृत-अपभ्रंश,संस्कृत, हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं में अनेक सूक्तियाँ पूजायें लिखी गई हैं। जिस प्रकार तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमायें स्थापना निक्षेप से निर्मित हुईं, उसी प्रकार

तीर्थंकर देवों के परिकर रूप में यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों का भी विपुल मात्रा में निर्माण हुआ। वाग्देवी सरस्वती की मूर्तियों का निर्माण अल्प मात्रा में ही हुआ। इसका कारण यह हो सकता है कि सरस्वती किसी तीर्थंकर की परिकर देवी के रूप में चित्रित नहीं की गई हैं अपितु उसे जिनवाणी/ द्वादशांगवाणी के रूप में अलग सम्मान दिया गया है। संभवत: इसी कारण कुछ मूर्तियों में सरस्वती की मूर्ति के दोनों ओर उसकी भी परिकर देवियों और ऊपर जिनबिम्ब का अंकन हुआ है। जैन सरस्वती की सबसे बड़ी पहचान है कि उसके हाथ में कमण्डलु, अक्षमाला, कमल आदि के साथ सिर पर जिनबिम्ब का और एक हाथ में शास्त्र लेने का अंकन हुआ है। ये दोनों चिह्न या पहचान ही जैन सरस्वती को अन्य सरस्वती बिम्बों से अलग करते हैं।

वैदिक/जैनेतर परम्परा में सरस्वती को वीणा हाथ में लिए हुए तथा हंस पर बैठे हुए दर्शाया गया है इसीलिए उसे हंसासना, हंसवाहिनी कहा गया है। शारदा आदि नाम तो उसके हैं ही। ऊपर जो भारती आदि नामों का उल्लेख किया गया है प्राय: दो-चार को छोड़कर वही नाम वैदिक सरस्वती के भी मिलते हैं। उसे श्वेत हंसवाहना, श्वेत पद्मासना, वीणावादिनी तो कहा ही गया है, मयूरवाहिनी भी कहा गया है। यद्यपि मयूरवाहिनी सरस्वती का कोई प्राचीन मूर्ति शिल्प उपलब्ध नहीं हो सका है।

सरस्वती शब्द का प्रयोग ऋग्देव में भी हुआ है। उसे वाजिनीवली (अन्नोत्पादन वाली देवी) कहा गया है। सरस्वती शब्द की — 'सर्वविषयेषु सरणं गतिरस्या अस्तीति वागधिष्ठात्री देवता' ऐसी व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। आप्टे के अनुसार सरस् शब्द से मतुप् प्रत्यय से सरस्वत् शब्द बनता है। सरस्वत् शब्द में ङीप् प्रत्यय लगाकर सरस्वती शब्द बना है जिसका अर्थ है वाणी और ज्ञान के अधिष्ठाता देवता। सरस्वती का वर्णन ब्रह्मा की पत्नी के रूप में भी किया गया है।

सरस्वती एक नदी के रूप में भी उल्लिखित है जो अब लुप्त हो गई है। सरस्वती शब्द के अन्य अर्थों में गाय, श्रेष्ठ स्त्री, दुर्गा का एक नाम, बौद्धों की एक देवी, सोमलता, ज्योतिष्मती नामक पौधा आदि अर्थ भी हैं। जैन साहित्य के अनुसार भी व्यन्तरेन्द्र गीतरति की वल्लभिका नं. 1 का नाम सरस्वती है। इसी प्रकार विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकर वज्रधर की माता सरस्वती हैं।

जैन साहित्य की तरह संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सरस्वती के शरीर की कल्पना एक रूपक के द्वारा की गई है। काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष का निरूपण किया गया है। यहाँ प्राकृत भाषा का भी उल्लेख हुआ है।

जैन मूर्त्यांकन परम्परा में सरस्वती के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं। जैन साहित्य विशेषत: श्वेताम्बर साहित्य में विद्या की सोलह देवियों का निरूपण किया गया है। ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को 'श्रुत पंचमी' कहा गया है। इस दिन दिगम्बर परम्परा में आचार्य पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा श्रुतलेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया था इस दिन सरस्वती की विशेष रूप से पूजा होती है किन्तु जिनवाणी को या अन्य किसी आगम ग्रन्थ को उच्चासन पर रखकर उसकी पूजा होती है। सरस्वती की मूर्ति की पूजा दिगम्बर परम्परा में प्राय: नहीं देखी जाती, न ही मंदिरों में सरस्वती की मूर्ति रखने का विधान है। सरस्वती की जो प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं कुछेक को छोड़कर वे मंदिरों के बाह्य भाग में प्राप्त हुई हैं। मन्दिरों के अन्दर भी वेदी पर उनकी स्थिति नहीं दिखाई गई है। प्राचीन जैन मूर्ति परम्परा में वीणा हाथ में लिए हुए सरस्वती का अंकन प्राय: नहीं हुआ है। हाथ में शास्त्र और सिर पर जिनप्रतिमा जैन सरस्वती की मूल पहचान है। जैन सरस्वती की मूर्तियाँ खड्गासन और पद्मासन दोनों आसनों में मिली हैं। कुछ मूर्तियां त्रिभंग खड्गासन में अपनी अलग ही छटा बिखेरती हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. मारुतिनन्दन तिवारी के अनुसार 'सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति' जैन परम्परा की है, जो मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुई और सम्प्रति राज्य संग्रहालय लखनऊ में संग्रहीत है। इसका समय 132 ई. है। सरस्वती का लाक्षणिक स्वरूप आठवीं शती ई. के बाद के जैन ग्रन्थों में विवेचित है। जैन शिल्प में यक्षी, अम्बिका एवं चक्रेश्वरी के बाद सरस्वती ही सर्वाधिक लोकप्रिय देवी रही हैं।'

कंकाली टीले से प्राप्त सरस्वती का सिर खंडित है, चौकोर आसन पर बैठी इस मूर्ति के बांये हाथ में बंधी पुस्तक है, दायां हाथ खंडित है, जिसमें अक्षमाला थी, अक्षमाला के कुछ मोती स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, दोनों कलाइयों पर एक-एक चूड़ी है। दोनों ओर केशसज्जा से युक्त दो उपासक खड़े हैं। लाल पत्थर से निर्मित मूर्ति के नीचे पादपीठ पर ब्राह्मी लिपि में लेख स्पष्ट पढ़ा जा रहा है जिसमें तिथि (132) ई. अंकित है। यह समय मथुरा के कुषाण शासक कुविष्क का रहा है।

देवगढ़ (ललितपुर-उ.प्र.) के 19वें मंदिर के बाह्य बरामदे के सरदल में सरस्वती की एक प्रतिमा का अंकन है, जिसकी चार भुजायें हैं। इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। सरस्वती की एक अत्यन्त आकर्षक प्रतिमा लाडनूं (राजस्थान) के दि.जैन बड़ा मंदिर में विराजमान है जो अपनी भाव-भंगिमा के कारण अलग ही छटा बिखेरती है। इसका समय बारहवीं शताब्दी है। श्वेत संगमरमर से बनी यह प्रतिमा एक फलक पर उत्कीर्ण की गई है। खड्गासन इस प्रतिमा की ऊँचाई लगभग 3.5 फुट है। त्रिभंग मुद्रा में खड़ी मूर्ति के पीछे किरणों से युक्त एक आभामण्डल दिखाई दे रहा है। सिर पर एक मुकुट है। जिसमें हीरा, मोती आदि जड़े हुए प्रतीत होते हैं। पाषाण फलक के बीचों-बीच एक छोटी सी जिनप्रतिमा है, जो इस मूर्ति को सरस्वती की मूर्ति घोषित करती है। कान, गले तथा कटि भाग में अलंकारों से अलंकृत देवी के ऊपरी दोनों हाथों के पास दोनों ओर उड़ते हुए दो मालाधर उत्कीर्ण हैं। हाथ में माला, कमण्डलु, पुस्तक व कमल हैं। जैनागम के अनुसार उसके चार हाथ प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोग इन चार अनुयोगों के प्रतीक हैं। नीचे पादपीठ पर लेख है, जिसमें सरस्वती शब्द आया है, लेख इस प्रकार है—

'संवत् 1219 वैशाख सुदी 3, शुक्रे श्रीमाथुरसंघे आचार्य श्री अनन्तकीर्ति भक्त श्रेष्ठी बहुदेव पत्नी आशादेवी सकुटुम्ब सरस्वतीम् प्रणमति।।" शुभमस्तु'।।

राजस्थान के पल्लू (बीकानेर) से दो सरस्वती प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं जिनमें एक राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में सुरक्षित है। त्रिभंगयुक्त अत्यन्त कलात्मक इस सरस्वती के हाथ में कमण्डलु, शास्त्र, अक्षमाला और कमल हैं। मुकुट के ऊपर छोटी सी जिनप्रतिमा विराजमान है। चेहरे पर सौम्यता एवं नवयौवन की आभा से युक्त यह मूर्ति आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित है। पल्लू से ही प्राप्त दूसरी सुन्दर मूर्ति राजकीय संग्रहालय, बीकानेर में प्रदर्शित है। त्रिभंग मुद्रा में खड़ी सरस्वती के हाथों में कमल, शास्त्र, अक्षमाला और कमण्डलु हैं। दोनों ओर चार-चार अन्य देवियाँ बनी हुई हैं। ऊपर शिरोभाग के दोनों ओर तथा सिर पर तीर्थंकर मूर्तियां विराजमान हैं।

उमता, जिला-मेहसाणा (गुजरात) से तथा फतेहपुर सीकरी (आगरा) उ.प्र. से दो खड्गासन सरस्वती देवी की सुन्दर मूर्तियां हाल ही में खुदाई में प्राप्त हुई हैं। इनका समय भी लगभग 11-12वीं शती है। धार (म.प्र.) की भोजकालीन एक सरस्वती प्रतिमा ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में है। इस प्रकार अनेक जैन सरस्वती मूर्तियों का निर्माण हुआ। ये पाषाण तथा धातु दोनों में ही निर्मित हैं। दक्षिण में कुछ काष्ठ की मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली की जैन सरस्वती पर विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर 10 जनवरी, 1975 को तथा विश्व तेलुगु सम्मेलन के अवसर पर 12 अप्रैल 1975 को भारत सरकार द्वारा डाक टिकट भी जारी किये गये थे। इससे संबंधित ब्रोशर में लिखा है—

...इस डाक टिकट में वाणी और विद्याओं की अधिष्ठात्री सरस्वती का चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय,दिल्ली द्वारा बीकानेर से प्राप्त बारहवीं शताब्दी की चौहानकालीन शिल्पकृति का है।...'

ग्रंथों में द्वादशांग जिनवाणी को सुयदेवदा (श्रुतदेवता) और 'सुयदेवी' (श्रुतदेवी) दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है अतः इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैन सरस्वती की मूर्ति के निर्माण की परम्परा प्रचीनतम है। यह बात मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त कुषाणकालीन (दूसरी शती ई.) मूर्ति से सिद्ध होती है। 11- 12 वीं शती के बाद की अनेक जैन सरस्वती की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। आज भी जैन सरस्वती की मूर्तियों के निर्माण और स्थापना की परम्परा विद्यमान है। हस्तिनापुर के जम्बूद्वीप तथा कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली में स्थापित मूर्तियां इसका प्रमाण हैं।

## 2.2 जल का आधार घट—ज्ञान का आधार सरस्वती—

जैनधर्म की संस्कृति एवं कला बहुत प्राचीन है-ऐसा सभी साहित्यकार, शास्त्रकार एवं विद्वत्गण स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन की प्राचीनता का सर्वप्रमुख कारण है उसकी कला, सिद्धान्तों की प्रामाणिकता, वस्तुस्वरूप का स्पष्टीकरण, जैनाचार्यों के विचारों की एकरूपता, अरिहंतों से गणधर तथा गणधरों से मुनियों की अविच्छिन्न उपदेश परम्परा।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव सरस्वती देवी की आराधना करते हुए कहते हैं कि उस श्रुतज्ञान रूपी महासमुद्र को भक्ति से युक्त होकर सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ, जो अरिहन्त द्वारा कहा गया है एवं गणधरों द्वारा सम्यक् प्रकार से रचा गया है। यथा—

**अरिहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।**
**पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा।।** (श्रीश्रुतभक्ति, 2)

जैनदर्शन में अरिहंतों की वाणी को जिनवाणी, सरस्वती, भारती, शारदा एवं श्रुतदेवी आदि सोलह नामों से पुकारा जाता है।

कोशकारों ने भी सरस्वती के अनेक नाम व उनकी स्पष्ट विवेचना की है—**ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती।** (अमरकोश, (1/6/1)

(व्याख्या- ब्राह्मी द्वारा लोक में प्रचारित होने से ब्राह्मी, भारत में बोली जाने से 'भारती', मुख से उच्चार्यमाण होने से 'भाषा', शब्दार्थों का निगरण करने से 'गीः' अथवा 'गिरा' उच्चारित होने से वाक शब्दार्थ के ... से 'वाणी' तथा गतिशील होने (सरकने) से 'सरस्वती' कहलाती है।)

**ब्राह्मी भाषा ब्राह्मणी गौर्गिरा गी-र्वाणी वाचा वाक् सरस्वत्यपीड़ा।**
**भारत्युक्ता शारदा शब्ददेवी। भेद्यधीनं वाङ्मयं तद्विकारे।।**

(कोषकल्पतरुः,धी.55)

**अर्थ**–ब्राह्मी, भाषा, ब्राह्मणी , गौः, गिरा, गीः, वाणी, वाचा, वाक , सरस्वती, इडा, भारती, शारदा आदि नामों से शब्ददेवी कही जाती हैं, उनके ही विभिन्न रूप वाङ्मय की सृष्टि करते हैं।

**वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती।**
**हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः।।**

(हर्षकीर्ति : शारदीय नाममाला 1/2)

**अर्थः**–वाग्देवी, शारदा, ब्राह्मी, भारती, गी, सरस्वती, हंसयाना, ब्रह्मपुत्री नाम वाली (देवी) सदा आप लोगों को वर प्रदान करने वाली हो।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित है कि जो यहाँ सरस्वती आदि के नाम हैं ये जिनवाणी के पर्यायवाची नाम हैं। ये सरस्वती आदि नाम चार प्रकार के (**देवाश्चतुर्णिकायाः**—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक) देव-देवियों में किसी भी देव-देवी का नाम नहीं है, यहाँ पर जो सरस्वती शब्द का सम्बोधन है, वह एकमात्र भगवान की वाणी का आकार-प्रकार व रूप देने के लिए एक प्रतीकात्मक चित्र अंकित किया गया है। प्रतिमा, मूर्ति, चित्र के माध्यम से अरिहंतों की वाणी द्वादशांग को स्पष्ट किया गया है। यथा—

**बारह-अंगंगिज्झा वियलियमलमूढदंसणुत्तिलया।**
**विविह वर चरण भूसा, पसियदु सुददेवदा सुचिरं।।**

(महाबन्ध मंगलस्मरण, ज्ञानपीठ, भाग-1)

**अर्थ**—बारह प्रकार के अंग (द्वादशांग) जिससे ग्रहण होते हैं, जिससे समस्त प्रकार के कर्ममल और मूढताएँ दूर

होती हैं–इस प्रकार के सम्यग्दर्शन की जो तिलकस्वरूप है, विविध प्रकार के श्रेष्ठ सदाचरणरूपी भाषा से युक्त है, जिसके चरण विविध प्रकार के आभूषणों से मण्डित हैं–ऐसी श्रुतदेवी दीर्घकाल तक के लिए मेरे ऊपर प्रसन्न हो।

इसी बात को आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक (पृष्ठ 361) में स्पष्ट किया है—

**बारह अंगंगिज्जा दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा।**
**चोद्दसपुव्वाहरणा ठावे दव्वाय सुददेवी।।1।।**

**अर्थ**—बारह अंगों (द्वादशांग) को ग्रहण करने वाली, सम्यक्दर्शन को तिलकस्वरूप धारण करने वाली, सम्यक्चारित्रादि रत्नत्रय रूपी वस्त्र को धारण करने वाली एवं चौदह पूर्वों को धारण करने वाली सरस्वती देवी का ध्यान करना चाहिए।

**आचारशिरसं सूत्रकृतवक्त्रां सुकंठिकाम्।**
**स्थानेन समवायांगव्याख्याप्रज्ञप्तिदोर्लताम्।।2।।**

**अर्थ:-** आचार ही जिनका सिर है, सूत्रकृत जिनका मुखमण्डल है, जो स्थानांग रूपी सुन्दर कण्ठ वाली है, समवायांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति जिनकी दो सुन्दर भुजाएँ हैं।

**वाग्देवतां ज्ञातृकथोपासकाध्ययनस्तनीम्।**
**अंतकृद्दशसन्नाभिमनुत्तरदशांगतः।।3।।**

अर्थ:- प्रश्नव्याकरणांग ही जिनके सुन्दर नितम्ब एवं सुन्दर जघन (जंघा) हैं, विपाकसूत्रांग तथा दृग्वाद (दृष्टिवाद) जिनके चरण हैं और जो चरणरूपी अम्बर-वस्त्र धारण करने वाली हैं।

**सम्यक्त्वतिलकां पूर्वचतुर्दशविभूषणाम्।**
**तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण-चारुपत्रांकुरश्रियम्।।5।।**

**अर्थ:-** सम्यक्त्व का तिलक धारण करने वाली, चौदह पूर्वों का आभूषण धारण करने वाली, प्रकीर्ण एवं कोदीर्ण रूपी सुन्दर पत्रांकुर जिनकी शोभा है।

**आप्तदृष्टप्रवाहौघद्रव्यभावाधिदेवताम् ।**
**परब्रह्मपथादृप्तां स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम्।।6।।**

**अर्थ:-** जिनेश्वर देव ने जिन सभी द्रव्यों को, सभी पर्यायों को देखा है उन सभी पर्यायों की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती देवी हैं अर्थात् इनके आश्रय से भी पदार्थों की सभी अवस्थाओं का ज्ञान होता है। यह परब्रह्म अर्थात् मोक्षमार्ग का अवलोकन करने तथा लोगों को स्याद्वाद का रहस्य बताने वाली सांसारिक सुख एवं मोक्ष को देने वाली हैं।

**सर्वदर्शनपाखंडदेवदैत्यखगार्चिताम्।**
**जगन्मातरमुद्धर्तुं जगदत्रावतारयेत्।।7।।**

**अर्थ:-** आप सभी दर्शनों अर्थात् मतान्तरों के लोगों, पाखण्डी, देव, दैत्य, विद्याधर आदि से पूजित विश्व की माता हैं। हमें जगन्माता की स्तुति करनी चाहिए।

## 2.3 श्रुतदेवी सरस्वती का स्वरूप—

जिनवाणी के साथ देवता और भगवती शब्दों का प्रयोग मात्र आदरसूचक है, सरस्वती (स + रस + वती) पद का प्रयोग मात्र जिनवाणी के रूप में हुआ है और उस जिनवाणी को रस से युक्त मानकर यह विशेषण दिया गया है।

मथुरा से उपलब्ध जैन स्तूप की पुरातात्विक सामग्री में विश्व की अभिलेखयुक्त प्राचीनतम जैन श्रुतदेवी सरस्वती की प्राप्ति हुई है। जैन परम्परा में बहुत ही सुन्दर सरस्वती प्रतिमाएँ पल्लू (बीकानेर) और लाडनूँ आदि से उपलब्ध हैं, जो 9वीं, 10वीं शती के बाद की हैं।

जैनागम में जैनाचार्यों ने सरस्वती देवी के स्वरूप की भगवान की वाणी से तुलना की है। यथार्थतः सरस्वती देवी की प्रतिमा द्वादशांग का ही प्रतीकात्मक चिह्न है। ग्रन्थ **प्रतिष्ठासारोद्धार** में जैन सरस्वती देवी के संबंध में निम्न श्लोक उपलब्ध हैं—

**वाग्वादिनी भगवति सरस्वती, ह्रीं नमः इत्यनेन मूलमन्त्रेणवेष्टयेत्।**
**ओं ह्रीं मयूरवाहिन्यै नमः, इति वाग्देवतां स्थापयेत्।।**

जैनाचार्य वीरसेन ने भी सरस्वती देवी को **जयदु सुददेवता** से सम्बोधन कर यह प्रमाणित कर दिया कि जो जैनागम में चार प्रकार के देव-देवियों वर्णन है, उसमें श्रुतदेवी कोई देवी नहीं हैं वरन् जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि स्वरूप श्रुतदेवी सरस्वती हैं। कहा भी है—

**जिनेश्वरस्वच्छसरःसरोजिनी, त्वमंगपूर्वादिसरोजराजिता।**
**गणेशहंसव्रजसेविता सदा, करोषि केषां न मुदं परामिह।।**

– (श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका, आचार्य पद्मनंदी, 15/21)

**अर्थः**–हे माता! हे सरस्वती! तुम जिनेश्वर रूपी निर्मल सरोवर की तो कमलिनी हो और ग्यारह अंग-चौदह पूर्व रूपी कमल से शोभित हो तथा गणधर रूपी हंसों के समूह से सेवित हो इसलिए तुम इस संसार में किसको उत्तम हर्ष की करने वाली नहीं हो ?

अध्यात्मयोगी आत्मस्वरूप के अमर गायक **आचार्य कुन्दकुन्ददेव** श्रुतभक्ति/ सरस्वती की स्तुति करते हुए अपने निज भावों को शब्दाक्षर द्वारा इस प्रकार लिपिबद्ध करते हैं—

**सिद्धवरसासणाणं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।**
**कादूण णमोक्कारं, भत्तीए णमामि अंगादिं।।**

**अर्थ**—जिनका अहिंसामय उत्कृष्ट जैनशासन लोक में प्रसिद्ध है तथा जो (घातिया और अघातिया रूप) अष्ट कर्मों के चक्र से मुक्त हो चुके हैं, ऐसे सिद्धों को नमस्कार कर भक्तिपूर्वक द्वादशांगरूप सरस्वती (बारह अंगों) को मैं आचार्य कुन्दकुन्द नमस्कार करता हूँ।

**इच्छामि भंते! सुदभत्ति काउस्सग्गो कदो तस्स आलोचेदुं, अंगोवंगपइण्णए-पाहुड-परिकम्म-सुत्त-पढमाणुओग-पुव्वगद-चूलिया चेव सुत्तत्थवथुदि धम्मकहादियं णिच्चकालं अञ्चेमि,पूजेमि, वंदामि, णमंसामि दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाओ सुगदिगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।।**

**अर्थः**-मैंने जो श्रुतभक्ति संबंधी कायोत्सर्ग किया है, उसकी (मैं) आलोचना करना चाहता हूँ। अंग, उपांग, प्रकीर्णक, प्राभृत, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका तथा सूत्र, स्तव, स्तुति तथा धर्मकथा आदि की नित्यकाल अर्चना करता हूँ, पूजा करता हूँ, उन्हें वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। इसके फलस्वरूप मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो, सुगति में गमन हो, समाधिमरण हो और मेरे लिए जिनेन्द्र भगवान के गुणों की संप्राप्ति हो।

इसी बात को आचार्य श्री नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक (पृष्ठ 361) में श्रुतदेवी सरस्वती का स्तवन करते हुए कहा है–

**निर्मूलमोहतिमिरक्षपणैकदक्षं**
**न्यक्षेण सर्वं जगदुज्ज्वलनैकतानम्।**
**सोषेस्व चिन्मयमहो जिनवाणि नूनं,**
**प्राचीमतो जयसि देवि तदल्प सूतिम्।**

**अर्थः**- हे जिनवाणी! निराधार मोहरूपी अंधकार के विनाश में निपुण, अंधकार से समस्त जगत को मुक्त कर

प्रकाशित करने में निपुण चिन्मय (ज्ञान) को अवश्य फैलाओ। हे देवी सरस्वती! इसीलिए अल्प प्रकाशित प्राची दिशा का (अपने ज्ञानालोक से ) विजय कर रही हो।

**आभवादपि दुरासदमेव, श्रायसं सुखमनन्तमचिंत्यं।**
**जायतेद्य सुलभं खलु पुंसां, त्वत्प्रसादत इहाम्ब नमस्ते।।2।।**

**अर्थः-** हे माँ सरस्वती! संसारी लोगों को आजन्म अत्यन्त दुर्लभ एवं अचिन्त्य अनन्त सुख आपकी प्रसन्नता से सुलभ हो जाते हैं अतः आपको नमस्कार है।

**चेतश्चमत्कारकरी जनानां, महोदयाश्चाभ्युदयाः समस्ताः।**
**हस्ते कृताः शस्तजनै प्रसादात्, तवैव लोकाम्ब नमोस्तु तुभ्यम्।।3।।**

**अर्थः-** हे माँ! लोगों के चित्त में चमत्कार पैदा करने वाले समस्त श्रेष्ठ अभ्युदय आपकी कृपा से भद्रपरिणामी लोग प्राप्त करते हैं, अतः आपको नमस्कार है।

**सकलयुवतिसृष्टेरम्बचूडामणिस्त्वं, त्वमसि गुणसुपुष्टे धर्मसृष्टेश्च मूलं।**
**त्वमसि च जिनवाणि स्वेष्टमुक्त्यङ्ग मुख्या, तदिह तव पदाब्जं भूरिभक्त्या नमामः।।4।।**

**अर्थः**–हे माँ! आप संसार की समस्त युवतियों में सर्वश्रेष्ठ हो, आप गुणों से परिपुष्ट हो, धर्मसृष्टि की मूल हो, आप जिनवाणी हो, कैवल्यबोध का मुख्य साधन हो अतः आपके चरण कमलों में अतिशय भक्ति के साथ प्रणाम करता हूँ।

**इति श्रुतदेवीस्तवनं पठित्वा प्रतिमोपरि पुष्पांजलिं क्षिपेत्।**

**अर्थः**—इस प्रकार देवी स्तवन का पाठ करके भगवती सरस्वती की प्रतिमा पर पुष्पांजलि समर्पित करें।

इस प्रकार द्वादशांग स्वरूप सरस्वती देवी का स्वरूप जिनागम में वर्णित है। सर्वत्र सरस्वती देवी की जो आराधना है, वह श्रुतपूजा है। पं. आशाधर सूरि विरचित **पूजापाठ प्रारम्भ** (पृष्ठ 153) में सरस्वती देवी की प्रतिष्ठा की विधि में सरस्वती की भक्ति करते हुए अपने निर्मल भावों को इस प्रकार प्रकट किया है—

**स्याद्वादकल्पतरुमूलविराजमानां, रत्नत्रयांबुजसरोवरराजहंसी।**
**अंगप्रकीर्णकचतुर्दशपूर्वकाया-मार्हत्यसद्गुणमयीं गिरमाह्वयामि।।**

**अर्थः**–स्याद्वाद रूपी कल्पवृक्ष के मूल में विराजमान रत्नत्रय रूपी कमलों के सरोवर की राजहंसी, **चतुर्दश अंग प्रकीर्णक** (द्वादशांग रूप सरस्वती ) शरीर वाली, अर्हद् के सद्गुणों से युक्त वाणी का मैं आह्वान करता हूँ।

**अभिधानराजेन्द्र कोश** में श्रुतदेवता के प्रसाद की चर्चा निम्न गाथा द्वारा उद्धृत की गई है—

**सुददेवता भगवदी,णाणावरणीय कम्मसंघायं।**
**तेसिखवेदु सययं जेसिं सुदसायरे भत्ति।।**

अर्थात् जिनकी श्रुतसागर (द्वादशांग) में भक्ति है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म के समूह को श्रुतदेवता सरस्वती सतत रूप से क्षीण करें।

उपर्युक्त विषय का आशय यह है कि प्रत्येक मंदिर में तीर्थंकरों की प्रतिमा, उनकी यक्ष-यक्षिणी एवं द्वादशांग की प्रतीकात्मक सरस्वती देवी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह कथन व्यक्तिवाचक नहीं वरन् आगम का कथन है जैसा कि यतिवृषभ आचार्य ने ग्रन्थराज तियोयपण्णत्ति में जिनमंदिर के स्वरूप का कथन किया है, यथा—

**सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाणं।**
**रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदी।।**

–(आचार्य नेमिचन्द्र, त्रिलोकसार, गाथा 988, पृष्ठ 753)

इस पर पंडितप्रवर टोडरमलजी का भावार्थ निम्नानुसार है—जिनप्रतिमा के निकट इन चारिनि (चारों) का प्रतिबिम्ब होइ है। यहाँ पर प्रश्न—'जो श्रीदेवी तो धनादिरूप है और सरस्वती जिनवाणी है, इनका प्रतिबिम्ब कैसे होय है ?' ताका समाधान—'श्री और सरस्वती-ये दोऊ लोक में उत्कृष्ट हैं, तातैं इनका देवांगना का आकार रूप प्रतिबिंब होइ है। बहुरि दोऊ यक्ष विशेष भक्त हैं। तातें तिनके आकार हो हैं। अरु **आठ मंगलद्रव्य** हो हैं।

(टीकानुवाद : पं. टोडरमल)

जिनमंदिर/ जैन मंदिर का स्वरूप और उसकी व्यवस्था को भी जैनाचार्यों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

**सिरिसुददेवीण तहा सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाणं।**
**रूवाणि पत्तेक्कं पडि वर रयणाइरइदाणिं।।**

(आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति 188)

प्रत्येक प्रतिमा के प्रति उत्तम रत्नादिकों से रचित श्रीदेवी की, श्रुतदेवी तथा सर्वाण्ह व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ रहती हैं।

सरस्वती देवी की आराधना, पूजा, विनय आदि यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की आराधना ही है। कहा भी है—

**ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।**
**न किञ्चदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः।।**

—(सागारधर्मामृत, पं आशाधरसूरि, 44)

**अर्थः**-जो श्रुतदेवी (सरस्वती) की पूजा करते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं क्योंकि केवली भगवान ने श्रुतदेवी में और जिनेन्द्र की पूजा में कुछ अन्तर नहीं कहा है।

आचार्य मनीषियों ने शास्त्रों की रचना करते समय मंगलाचरण आदि में सरस्वती, भारती, शारदा, वाग्देवी एवं ब्राह्मी आदि के नामों से जो स्तुति, वंदना, नमस्कार आदि किया है, वह वस्तुतः जिनोपदेश, श्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान की प्राप्तिस्वरूप किया गया है। नमस्कार का प्रयोजन अष्टकर्मों का क्षय रूप एवं अष्ट गुणों की प्राप्ति है। जैनाचार्यों, विद्वानों और कवियों द्वारा अनेक स्थानों में सरस्वती देवी के मंगलरूप एवं प्रार्थनापरक स्तुति की है। यथा—

**ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।**
**कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः।।**
**अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंकाः।**
**मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।**

**अर्थः**- बिन्दु संयुक्त (ॐ) को नित्य योगी ध्यान करते हैं। यह काम (सांसारिक सुख) को एवं मोक्ष (आध्यात्मिक सुख) को देने वाला है। भगवती सरस्वती ने निरन्तर बरसने वाले शब्दरूप जलधरों से समस्त संसार के मालिन्यरूप कलंक (दुर्लाच्छन) को प्रक्षालित कर दिया है। मुनियों ने इसी **वाग्देवता** द्वारा तीर्थों की उपासना की है। वह **सरस्वती देवी** हमारे पापों का हरण करें।

**अनंतधर्मणस्तत्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः।**
**अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्।।**

—(समयसार, आचार्य अमृतचन्द्र कलश, 1/2)

**अर्थः**- जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप को झलकाती है तथा जिसमें वस्तु के अनन्त धर्मों को बतलाया गया है, वह अनेकान्तमयी सरस्वती मूर्ति नित्य प्रकाश करे।

**सर्वज्ञं तमहं वन्दे परं ज्योतिस्तमोपहम्।**
**प्रवृत्ता यन्मुखादेवी सर्वभाषा सरस्वती।।**

–(कातन्त्र रूपमाला, आचार्य शर्ववर्म कृत, पृष्ठ 22)

**अर्थः**–उन सर्वज्ञ की वंदना करता हूँ कि जिनकी उत्कृष्ट ज्ञानरूपी ज्योति अज्ञानरूप अंधकार को नष्ट करती है, जिनके मुख से सर्वभाषात्मक सरस्वती देवी प्रवृत्त हुई।

**नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये।**
**विचित्रा लोकयात्रेयं यत्प्रसादात् प्रवर्तते।।**

(कातन्त्र रूपमाला, आचार्य शर्ववर्म, पृष्ठ 1)

**सरः प्रसरणं सर्वज्ञानमया मूर्त्तिरस्या अस्तीति सरस्वती तस्यै। विगतं मलं यस्मात्तद्विमलं। ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानं विमलं च तत् ज्ञानं च विमलज्ञानम्।विमलज्ञानमेव मूर्तिर्यस्याः सा विमलज्ञानमूर्तिः तस्यै।**

**अर्थः**- विमल (सम्यक्) ज्ञान की साक्षात् प्रतिमा उस भगवती सरस्वती को नमस्कार हो, जिसकी प्रसन्नता प्राप्त कर यह अद्भुत संसार यात्रा प्रवर्तित हो रही है।

**टीकार्थः**- सरः का अर्थ है प्रसरणशीलता और सभी प्रकार के ज्ञानस्वरूपमय जो मूर्ति है वही सरस्वती है जिसका मल अर्थात अज्ञान नष्ट हो गया हो उसे विमल कहते हैं, जिससे किसी वस्तु के बारे में जानकारी प्राप्त होती है, उसे ज्ञान कहते हैं और दोषरहित ज्ञान ही विमल या निर्मल ज्ञान कहा जाता है। विमलज्ञान ही जिसका स्वरूप है उसे ही विमलज्ञान मूर्ति कहा गया है और यही भगवती सरस्वती हैं, जिन्हें यहाँ नमस्कार किया गया है।

**चंचच्चंद्ररुचं कलापिगमनां यः पुंडरीकासनां,**
**संज्ञानाभयपुस्तकाक्षवलयप्रावाराराजोज्ज्वलां।**
**त्वामध्येति सरस्वति त्रिनय्यां ब्राह्मे मुहूर्ते मुदा।**
**व्याप्ताशाधरकीर्तिरस्तु च महाविद्यः सवन्द्यः सतां।।**

–(सरस्वती कल्पमन्त्र, आचार्य मल्लिषेण,9, पृष्ठ 40)

**अर्थः**–जिसकी कांति प्रकाशमान चन्द्रमा के समान है, मयूर पर जिसकी सवारी है, कमल जिसका आसन है, जिसके हाथ में ज्ञानमुद्रा है, एक हाथ में शास्त्र है, एक हाथ में अक्षमाला है, एक हाथ प्राणियों को अभयदान दे रहा है, जो श्रेष्ठ उत्तरांग (दुपट्टा चादर) पहने हुए हैं, सरस्वती का जो ब्रह्म मुहूर्त में ध्यान स्मरण करता है उसकी कीर्ति दशों दिशाओं में फैलती है। वह महान विद्वान हो जाता है और सज्जनों द्वारा अभिनन्दनीय होता है।

**प्रणम्य तां जगत्पूज्यां गुरुश्च देवीसरस्वतीम्।**
**यस्याः प्रसादमात्रेण स्याद् रुद्रोऽपि कवीश्वरः।।**
**सुप्रसादं चतुष्कस्य लिखितां ढुण्ढिकामिमाम्।**
**करोतु मे महायोगिध्यायां परमेश्वरी।।**

–(धनप्रभसूरिः चतुष्कव्यवहार ढुण्ढिका)

**अर्थः**–जगत्पूज्या और सरस्वती देवी को नमस्कार कर प्रसन्नमयी चतुष्क (कातन्त्र व्याकरण) की इस ढुण्ढिका टीका को मैंने लिखा है, जिसकी कृपामात्र से रुद्र भी कवीश्वर हो गया। वह परमेश्वरी ध्यान करने पर मुझे महायोगी बनाए।

**प्रणम्य शारदां देवीं ज्ञाननेत्रप्रबोधिनीम्।**
**शार्ववर्मिकसूत्राणां प्रक्रियां च क्रमाद् ब्रुवे।।**

–(मेरुतुंगसूरिः बालावबोध)

**अर्थः-** ज्ञान नेत्रों को खोलने वाली शारदा देवी को प्रणाम कर मैं आचार्य शर्ववर्म के सूत्रों की प्रक्रिया क्रम से कहता हूँ।

**सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्ति मानवाः।**
**तस्मान्निश्चलभावेन पूजनीया सरस्वती।।1।।**
**श्रीसर्वज्ञमुखोत्पन्ना, भारती बहुभाषिणी।**
**अज्ञानतिमिरं हन्ति, विद्या बहुविकासिनी।।2।।**

–(नित्य पाठावलि, सरस्वतीनामस्तोत्रम् )

**अर्थः**-सरस्वती देवी की कृपा से विद्वज्जन काव्यरचना में कुशल होते हैं इसलिए अटल भक्तिभाव से वह सरस्वती देवी सदा पूज्य है। जो सरस्वती देवी श्री वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मुखकमल से उत्पन्न हुई है, जो अनेक भाषा रूप है और जिससे विद्याओं का उदय हुआ है, वह सरस्वती देवी भव्य जीवों के अज्ञान अंधकार का नाश करती है।। 1-2।।

**सरस्वत्याः प्रसादेन रच्यतेऽमरकीर्तिना।**
**भाष्यं धनञ्जयस्येवं बालानां धीविवृद्धये।।**
**यद्यपि धनञ्जयो ( येनो ) क्तो भावो वक्तुं न शक्यते।**
**तथाऽप्यहं प्रवक्ष्यामि वाग्देव्याश्च प्रसादतः।।**

–(नाममाला, धनञ्जय कवि, अमरकीर्ति विरचित भाष्य, 2-3/ 1)

**अर्थः**–धनञ्जय द्वारा विरचित नाममाला का भाष्य बालकों की बुद्धि के विकास हेतु भगवती सरस्वती की कृपा से अमरकीर्ति द्वारा रचा जा रहा है। यद्यपि धनञ्जय के भावों को प्रकाशित नहीं किया जा सकता है, फिर भी वाग्देवी की प्रसन्नता से मैं कहूँगा।

**सरःप्रसरणमस्त्यास्याः सरस्वती।** -(नाममाला, 104)

**अर्थः**–सरः का अर्थ है प्रसरणशीलता और प्रसरण से युक्त होने के कारण ज्ञान की देवी को सरस्वती कहा गया है, क्योंकि जिस तरह जलवायु का प्रवाह होता है, उसी प्रकार ज्ञान का भी प्रवाह होता है।

**जहि संभव जिणवर-मुहकमल।**
**सत्तभंग-वाणी जसु अमल।।**
**आगम-छंद-तक्क वर वाणि।**
**सारद सद्द-अत्थ-पय खाणि।।1।।**
**गुणणिहि बहु विज्जागमसार।**
**पुठि मराल सहइ अविचार।।**
**छंद बहत्तरि-कला-भावती।**
**सुकइ 'रल्ह' पणवइ सरसुती।।2।।** (महाकवि रल्ह)

**अर्थः**- जो शारदा जिनेन्द्र भगवान के मुखरूपी कमल से प्रकट हुई है, जिसकी सप्तभंगमयी वाणी है, जो आगम, छंद एवं तक्र से युक्त है, -ऐसी शारदा शब्द, अर्थ एवं पद की खान है। जो गुणों की निधि एवं विद्या तथा आगम की सार-स्वरूपा है, जो स्वभावतः हंस की पीठ पर सुशोभित है, जिसे छंद एवं बहत्तर कलाएँ प्रिय हैं–ऐसी सरस्वती को 'रल्ह' कवि नमस्कार करता है।। 1।।

**यस्याः संस्मृतिमात्राद् भवन्ति मतयः सुदृष्टपरमार्थाः।**
**वाचश्च बोधिविकलाः सा जयतु सरस्वती देवी।।**

(अभिधान राजेन्द्र कोश, 7/33)

**अर्थः-** जिस सरस्वती के स्मरण मात्र से बुद्धि परमार्थ का दर्शन करने में समर्थ होती है और वाणी ज्ञानधारा से परिपूर्ण होती है, ऐसी उस सरस्वती देवी की जय हो।

**नमः श्री वर्द्धमानाय, श्री पार्श्वप्रभवे नमः।**
**नमः श्रीमत्सरस्वत्यै सहायेभ्यो नमो नमः।।**

–(अभिधान राजेन्द्र कोश, 7/33)

**अर्थः**–श्री वर्द्धमान भगवान की जय हो, श्री पार्श्वनाथ भगवान की जय हो। श्री सरस्वती देवी को नमस्कार है, अन्य सहायकों (आचार्यों, मुनियों, साधु-संतों) को बार-बार नमस्कार है।

जैनेतर मनीषियों ने भी सरस्वती देवी का वर्णन किया है। वह ऐसी सरस्वती देवी को नमस्कार करते हैं जो अज्ञान-तिमिरनाशक, ज्ञानसंवर्धिनी एवं दिव्य गुणों से पूर्ण है। यथा—

**भारतीले सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे।**
**न नश्चोदयत श्रिये।।** –( 1/24/ 188/8, (द्वि. अष्टक)

**सायणः- हे भारति!भरतः आदित्य तस्य संबंधिनी भारती। तादृशि द्युलोक-देवते! हे इले!भू देवि! हे सरस्वति! सरः वाक् उदकं वा।तद्वत्यंतरिक्षदेवते तादृशि देवि। एताः क्षित्यादिदेवताः। एतास्तिस्त्रः आदित्य प्रभावविशेषरूपा इत्याहुः। यास्तिस्त्रः सर्वाः वो युष्मान् उपब्रुवे उपेत्य स्तौमि ता यूयं नोऽस्माञ्छ्रये संपदे चोदयत, प्रेरयत।**

**अर्थः**-भरत अर्थात् अंतरिक्ष लोक के देव! भरत से सम्बद्ध होने के कारण इसे भारती कहा गया है अर्थात् हे अंतरिक्ष लोक में निवास करने वाली देवीरूपा सरस्वती! इला अर्थात् पृथ्वीदेवी, (सरः अर्थात् वाणी अथवा जल और उससे सम्बद्ध देवी अर्थात् वाग्देवी सरस्वती) मैं आप सबको बुलाता हूँ। तुम सब हमें ज्ञान-सम्पदा की ओर प्रेरित करो।

**नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।**
**पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्।।**

–(लघुसिद्धान्तकौमुदी, 1/1)

**अर्थः-** मैं वरदराजाचार्य स्फटिकमणि सदृश निर्मल प्रशस्त गुणों से युक्त देदीप्यमान अथवा दिव्य गुणों से युक्त, सरस्वती देवी को नमन अथवा वंदना करके पाणिनि मुनि विरचित व्याकरण शास्त्र में प्रवेश के लिए लघुसिद्धान्त कौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

**वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।**
**विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः।।**

–(महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म 12/11/ 15)

**अर्थः-** पूर्व में (पहले) ब्रह्मा के द्वारा चार वर्णों की स्थापना की गई थी और जिनके लिए ब्राह्मी लिपि तथा सरस्वती (विद्या) की रचना की थी, वे लोभ के कारण अज्ञानता को प्राप्त हो गये।

–(महाभारत, पूना, 1954, पृष्ठ 1025)

**सरस्वती धृतिर्मेधा ह्रीः श्रीर्लक्ष्मीस्मृतिर्मतिः।**
**पान्तु वो मातरः सौम्याः सिद्धिदाश्च भवन्तु वः।।**

–(भरतनाट्यशास्त्र, 3/87)

**अर्थः**-सरस्वती, धृति, मेधा, ह्री, श्री, लक्ष्मी, स्मृति एवं मति रूप सौम्य भाव रखने वाली माताएँ हमारी रक्षा करें और हमें सिद्धियाँ प्रदान करें।

**वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती।**
**हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः।।**

–(हर्षकीर्ति : शारदीय नाममाला 1/2)

**अर्थः**-वाग्देवी, शारदा, ब्राह्मी, भारती, गी, सरस्वती, हंसयाना ब्रह्मपुत्री नाम वाली (देवी) सदा आप लोगों को वर प्रदान करने वाली हों।

**जनयति मदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां।**
**हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीया।।**
**कृतनिखिलपदार्थ द्योतना भारतीया।**
**वितरतु धुतदोषा सार्हती भारती वः।।**

–(सुभाषित रत्नसन्दोह, 1)

**अर्थः**-जो भगवान भास्कर की किरणें मार्ग के वृक्षों में अन्तर्निहित होकर विशेष आनन्द पैदा करती हैं और अन्धकार समूह का विनाश करती हैं। वही सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने वाली प्रकाशित भारती जिनेश्वरों की वाणी हमारे दोषों को दूर करने वाली हमें ज्ञान प्रदान करे।

**नारायणं नमस्कृत्य, नरञ्चैव नरोत्तमम्।।**
**देवीं सरस्वतीञ्चैव, ततो जयमुदीरयेत्।।**

–(देवी पुराण, 1/1)

**अर्थः**-स्वयं नारायण और अन्य उत्तम मनुष्य भी देवी सरस्वती को नमस्कार करते हैं अतः उसकी जय बोलनी चाहिए।

**दधतीं दक्षिणे हस्ते कमलं सुमनोहरम्।**
**अक्षमालां तथान्यस्मिञ्चिततारकं वर्चसम्।।8।।**

**कमण्डलुं तथान्यस्मिन्दिव्यवारिप्रपूरितम्।**
**पुस्तकं च तथा वामे सर्वविद्यासमुद्भवम्।।9।।**

–(स्कन्दपुराण,46)

**अर्थः**- दाएँ हाथ में सुन्दर मनोहर कमल धारण करती हुई तथा दूसरे हाथ में अक्षमाला तथा बाएँ हाथ में ताराओं से अधिक तेजस्वी कमण्डलु और दूसरे बाएँ हाथ में सर्वविद्या के उद्गमभूत पुस्तक को धारण करती हुई सरस्वती का ध्यान करना चाहिए।

**त्वं सिद्धिस्त्वं स्वधा स्वाहा त्वं पवित्रं मतं महत्।**
**सन्ध्या रात्रि प्रभाः भूतिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती।।7।।**

–(पद्मपुराण, 5/27)

**अर्थः**-हे सरस्वती, तुम ही सिद्धि, स्वधा, स्वाहा हो। तुम ही पवित्र महान मत हो। तुम ही संध्या, रात्रि, प्रभा, भूति, मेधा, श्रद्धा हो।

**पुष्टिर्धृतिस्तथा कीर्तिः कान्ति क्षमा तथा।**
**स्वधा स्वाहा तथा वाणी तवायत्तमिदं जगत् ।।5।।**

**त्वमेव सर्वभूतेषु वाणीरूपेण संस्थिता।**
**एवं सरस्वती तेन स्तुता भगवती तदा।।6।।**

–(वामनपुराण, अध्याय 40)

**अर्थः-** तुम पुष्टि, धृति, कीर्ति, कांति, क्षमा, स्वधा, स्वाहा और वाणी हो। तुमने ही इस जगत को अपने वश में किया है। तुम ही सभी प्राणियों में वाणी रूप से विराजमान हो। इस प्रकार से भगवती सरस्वती की स्तुति की गई।

**वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनामिष्टदेवता।**
**शुद्धसत्त्वस्वरूपा च शान्तरूपा सरस्वती।।57।।**

-(संस्कृत साहित्य में सरस्वती, पृष्ठ 119)

**अर्थः-**शान्तरूप सरस्वती ही वाणी की अधिदेवता, कवियों की इष्ट देवता, शुद्ध सत्त्व वाली है।

**भारती भारतं गत्वा ब्राह्मी च ब्रह्मणः प्रिया।**
**वागधिष्ठातृदेवी सा तेन वाणी च कीर्त्तिता।।2।।**
**सर्वविश्वं परिव्याप्य स्त्रोतस्येव हि दृश्यते।**
**हरिः सरः सु तस्येयं तेन नाम्ना सरस्वती।।3।।**

-(ब्रह्मवै. पु. प्रकृतिखण्ड, अध्याय 7)

**अर्थः-** भारत में होने के कारण भारती, परब्रह्म अर्थात् परमात्मा को प्रिय होने के कारण ब्राह्मी, वाग् की अधिष्ठात्री देवी होने के कारण वाणी नामों से कही जाती हैं। सरस्वती देवी ने सम्पूर्ण विश्व को स्रोत के समान व्याप्त किया है। 'हरि' भगवान ही मूल स्वर हैं, उनसे निकलने के कारण इन्हें सरस्वती नाम से जाना जाता है।

**आदौ सरस्वती पूजा श्रीकृष्णेन विनिर्मिता।**
**यत्प्रसादान्मुनिश्रेष्ठ मूर्खो भवति पण्डितः।।1।।**

-(ब्रह्मवै. पु. अध्याय 3)

**अर्थः-**हे मुनिराज, जिनकी कृपा से मूर्ख पंडित हो जाते हैं, ऐसी सरस्वती की पूजा नारायण श्रीकृष्ण ने की।

**धातुश्चतुर्मुखीकण्ठश्रृङ्गटकविहारिणीम्।**
**नित्यं प्रगल्भवाचालामुपतिष्ठे सरस्वतीम्।।**

**अर्थः-**ब्रह्मा के चारों मुखों के कण्ठरूपी पर्वत पर विहार करने वाली प्रगल्भ वाणी से परिपूर्ण सरस्वती की मैं नित्यप्रति उपासना करता हूँ।

**शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे।**
**सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात्।।5।।**

**अर्थः-**शरत्कालीन कमल के समान मुख वाली शारदा, सभी कामनाओं को पूरा करने वाली मेरे मुखरूपी कमल में सर्वदा श्रेष्ठनिधि का सन्निधान करें।

**करबदरसदृशमखिलं भुवनतलं यत्प्रसादतः कवयः।**
**पश्चन्ति सूक्ष्मतयः सा जयति सरस्वती देवी।।6।।**

-(श्रीसुभाषितरत्न भाण्डागारम्, पृष्ठ 3)

**अर्थः-**सूक्ष्म मति वाले कविगण जिनकी कृपा से हाथ में रखे हुए बेर के फल के समान सम्पूर्ण विश्व को देखते हैं, ऐसी देवी सरस्वती की जय हो रही है।

**वचांसि वाचस्पतिमत्सरेण साराणि लब्धुं ग्रहमण्डलीव।**
**मुक्ताक्षरसूत्रमुपैति यस्याः सा सप्रसादास्तु सरस्वती वः।।9।।**

-(श्रीसुभाषितरत्न भाण्डागारम्, पृष्ठ 3)

**अर्थः-** वाणी के सार को प्राप्त करने की कामना से मानो सम्पूर्ण ग्रहमण्डली मुक्ताक्षर की माला का रूप धारण करता है। ऐसी वह सरस्वती आपके ऊपर कृपा करे।

जैन संस्कृति इतिहास में ही नहीं वरन् ऐतिहासिक भी है, पुस्तकों में ही नहीं वरन् प्राणों में भी दिखाई देती है। हमारी संस्कृति एवं कला का संरक्षण, संवर्द्धन न होने के कारण यह ऐतिहासिक धरोहर विलुप्त होती जा रही है। समय-समय पर ऐसे अनेक जैन राजा या जैनधर्म से प्रभावित राजाओं ने जैन संस्कृति एवं उसकी कला का संरक्षण-संवर्द्धन किया है।

भारत के इतिहास में अनेक प्रसिद्ध राजाओं ने जिनभक्ति और वाग्देवी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। मध्ययुग के विद्याप्रेमी और काव्यरसिक शासक राजा भोज भी जिनभक्त थे।'भूपालस्तोत्र' में उन्होंने कहा है कि जो व्यक्ति श्री तीर्थंकर जिनेन्द्र के चरणयुगल की प्रतिदिन प्रातःकाल स्तुति करता है, जिनदर्शन करता है उसे मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, वह इस पृथ्वी का राजा होता है और उसे प्रत्येक कार्य में विजय प्राप्त होती है। उसकी सब जगह कीर्ति फैल जाती है, वह सदा आनन्द में मग्न रहता है, उसे वाग्देवी प्रणीत सभी विद्याएँ प्राप्त होती हैं तथा अन्त में उस धर्मात्मा के भी पंचकल्याणक आदि महोत्सव होते हैं। यथा—

**श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदम्।**
**वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रीडानिधानं महत्।।**
**स स्यात्सर्वमहोत्सवैकभवनं यः प्रार्थितार्थप्रदम्।**
**प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनांघ्रिद्वयम्।।**

–(भूपाल स्तोत्र, जिनचतुर्विंशतिका)

कविवर भूधरदास ने 'चतुर्विंशतिका' में भी जिनदेव के दर्शन का माहात्म्य प्रकट करते हुए इसी भावना को व्यक्त किया है कि जिनदर्शन में लक्ष्मी-सुख का वास, सरस्वती का निवास और विजय की आधारभूमि है। यथा—

**श्री सुख-वास-महीकुल धाम, कीरति-हर्षण-थल अभिराम।**
**सुरसुति के रतिमहल महान, जय-जुवती को खेलन थान।।**
**अरुण वरण वांछित वरदाय, जगतपूज्य ऐसे जिन पाय।**
**दर्शन प्राप्त करै जो कोय, सब शिवनाथन को जन होय।।**

–(भूपाल चतुर्विंशतिका, कविवर भूधरदास, पृष्ठ 4 16)

भ-पाहुड़ की संस्कृत टीका में **उक्तं च श्री भोजराजमहाराजेन** (आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 15 1) में उल्लेख मिलता है। श्री श्रुतसागरसूरि ने भोजराज महाराज के "भूपाल चतुर्विंशति जिनस्तवनम्" के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए 'जिनदर्शन' के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

**सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय,**
**द्रष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु।**
**अन्येन किं तदिह नाथ! तवैव वक्त्रम्।**
**त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयम्।।19।।**

**सुप्तोत्थितेन**—हे वृषभनाथ! प्रातः सोकर उठे हुए सत्पुरुष श्रावक और श्राविका को यदि सुमंगल के लिए कोई मांगलिक वस्तु दर्शन करने योग्य है, तो वह दूसरी वस्तु क्या हो सकती है ? उसे तीन लोक के मंगलों का घर स्वरूप आपके श्रीमुख का ही दर्शन (पूजन) करना चाहिए। यथा—

**सोकर जागै जो धीमान, पंडित सुधी सुमुख गुणगान।**
**आपन मंगलहेत प्रशस्त, अवलोकन चाहैं कछु वस्तु।।**

**और वस्तु देखें किस काज, जो तुम मुख राजै जिनराज।**
**तीन लोक को मंगलथान, प्रेक्षणीय तिहुं जग कल्याण।।**

–(भूपाल चतुर्विंशतिका, कविवर भूधरदास, 18)

जिनदर्शन और सरस्वती आराधना के इस घनिष्ठ संबंध की साक्षी है—धारा नगरी से प्राप्त वाग्देवी की मनोज्ञ प्रतिमा। इस सरस्वती प्रतिमा में जिनेन्द्रबिम्ब, विद्याधर, ज्ञानांकुश, आगम-ताड़पत्र अक्षमाला, कमण्डलु, भक्त, भोजराजा एवं श्रीफल लिये हुए महाकुमार अंकित है। आचार्य सोमदेवसूरि ने सरस्वती और श्रमणमुनि के हाथ में सुशोभित कमण्डलु को अर्थशास्त्र का निदर्शन करने वाला कहा है; क्योंकि इसमें जल आने का द्वार बड़ा और खर्च करने का छिद्र छोटा होता है। आय अधिक और व्यय थोड़ा, यही सुखी जीवन का रहस्य है—

**आय-व्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुर्निदर्शनम्।**

–(नीतिवाक्यामृत, सोमदेवसूरि, 18-61)

जिनमुख दर्शन और सरस्वती-आराधना के भक्त राजा भोज ने सदैव विद्वत्ता का सम्मान किया है। उनकी घोषणा थी कि—

**चाण्डालोऽपि भवेद् विद्वान्, यः स तिष्ठतु मे पुरि।**
**विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः, स पुराद् बहिरस्तु मे।।**

–(भोजप्रबंध, बल्लभदेव कृत, 74)

चाण्डाल भी यदि विद्वान हो तो वह मेरे धारानगर में प्रतिष्ठित हो और यदि ब्राह्मण होते हुए भी वह मूर्ख हो तो मेरे धारानगर से वह बाहर हो जाये।

## 2.4 सरस्वती के प्रतीक—

सरस्वती ज्ञान की मूर्ति है,उसके अंग तथा वस्त्राभूषण अपने में प्रतीकात्मक अर्थ को छिपाए हुए हैं, इनका किंचित् विवेचन प्रस्तुत है—

**निर्मल शुभ्रमुख—**

निर्मल शुभ्रमुख ज्ञान के प्रकाशमान स्वरूप का प्रतीक है, उसके मुख को करोड़ों चन्द्रमाओं और सूर्यों से रचित बतलाया है। सूर्य दिन के अंधकार को दूर करता है तथा चन्द्रमा रात्रि के अंधकार को दूर करता है किन्तु ज्ञान के प्रकाश द्वारा करोड़ों जन्मों का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है अतः सरस्वती का मुख करोड़ों चन्द्रमाओं और सूर्यों से रचित बतलाया गया है।

**सिर पर अर्द्धचन्द्र—**

चन्द्रमा की किरणें जिस प्रकार शीतलता प्रदान करती हैं उसी प्रकार संसार रूपी दावाग्नि से जलते हुए प्राणियों को ज्ञानरूपी चन्द्रिका शीतलता प्रदान करती है।

**चार हाथ—**

सरस्वती के चार हाथ प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों के प्रतीक हैं। इन चार अनुयोगों का स्वरूप आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रकार बतलाया है—

**प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।**
**बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः।।**

–(रत्नकरण्डश्रावकाचार, 43)

प्रथमानुयोग में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों, पुराण पुरुषों (त्रेसठ शलाका पुरुषों) का चरित,

बोधि (सम्यग्ज्ञान) और समाधि का निधान है और पुण्य रूप है, ऐसे समीचीन ज्ञान का आगम बोध कराता है।

**लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।**
**आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।**

–(रत्नकरण्ड श्रावकाचार,44)

करणानुयोग लोक और अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को, चार गतियों के परिभ्रमण को ज्ञान दर्पण के समान कराता है।

**गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।**
**चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।**

–(रत्नकरण्ड श्रावकाचार,45)

सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा रूप चरणानुयोग के सिद्धान्त को जानता है।

**जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।**
**द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमाततनुते।।**

–(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 46)

द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव और अजीव से दो तत्व, पुण्य तथा पाप, बन्ध और मोक्ष के विषय में सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाश का विस्तार करता है।

**कमण्डलु —**

सरस्वती के एक हाथ में कमण्डलु है। कमण्डलु अपरिग्रह का प्रतीक है। आचार्य सोमदेव ने कहा है—

**आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुरेवनिदर्शनम्।**

आय-व्यय के विषय में मुख्य रूप से मुनि का कमण्डलु ही उदाहरण है।

जिस प्रकार मुनि का कमण्डलु अधिक संगृहीत करता है किन्तु टोंटी से थोड़ा ही छोड़ता है उसी प्रकार जो आय की अपेक्षा व्यय कम करता है, वह सुखी रहता है।

**अंकुश —**

सरस्वती के हाथ में जो अंकुश होता है, वह स्वच्छन्दाचरण को छोड़कर आत्मानुशासन की शिक्षा देता है।

**पुस्तक —**

सरस्वती के हाथ में जो पुस्तक है, वह ज्ञान की प्रतीक है। यह सकलकलुषविध्वंसक, श्रेय का परिवर्द्धक, धर्म से संबंधित, भव्य जीवों के मन का प्रतिबोधक, पुण्य का प्रकाशक और पापों का प्रणाशक है।

**अक्षमाला —**

सरस्वती के गले में शुभ्र अक्षमाला (हार) है। माला में 108 दाने होते हैं। प्रतिदिन हम 108 प्रकार से पाप करते हैं। जैसा कि आलोचना पाठ में पढ़ते हैं—

**समरंभ समारंभ आरंभ मन वच तन कीने प्रारम्भ।**
**कृत कारित मोदन करके क्रोधादि चतुष्टय धरिकै।।**
**शत आठजु इन भेदनि तैं अघ कीने परिछेदन तै।**

इन 108 प्रकार के पापों के प्रायश्चितस्वरूप प्रतिदिन 108 बार जाप करते हैं, कहा है—

**पुष्पकोटि समं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमं जपः।**

अर्थात् एक करोड़ पुष्प चढ़ाने के समान एक स्तोत्र का पाठ है और करोड़ों स्तोत्रों के पढ़ने के समान जप है। इस प्रकार जप की महत्ता स्पष्ट है। जप में दो अक्षर हैं—ज और प।

**जकारो जन्मविच्छेदः पकारो पापनाशनः।**

ज का अर्थ जन्मविच्छेद और प का अर्थ पापनाशन है। तात्पर्य यह है कि जप करने से पापों का नाश होता है, जिससे जन्म-मरण की परम्परा का विच्छेद होता है।

**वीणा—**

वीणा दिव्यध्वनि का प्रतीक है। कविवर भागचन्द्र ने महावीराष्टक में कहा है—

**यदीया वाग्गंगा विविधनयकल्लोलविमला।**
**वृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगतिजनतां या स्नपयति।।**
**इदानीमप्येषा बुधजनमरालैः परिचिता।**
**महावीरस्वामी नयन पथगामी भवतु मे।।**

जिनकी वाणी रूपी गंगा विविध प्रकार के नय की कल्लोलों से विमल है, जो विशाल ज्ञानरूपी मेघों से संसार के जनसमूह को स्नान कराती है। इस समय भी ज्ञानी ज्ञान रूपी हंसों से परिचित है। इस प्रकार के महावीर स्वामी मेरे नयनपथगामी हों।

दिव्यध्वनि का ही कुछ अंश अवधारण कर गणधर बारह अंगों की रचना करते हैं। इन अंगों के अंतर्गत विश्व के समस्त विषयों का ज्ञान समाहित होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी आप्तमीमांसा में कहते हैं—

**तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभाषणम्।**
**क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।।**

अर्थात् हे भगवन्! आपका तत्त्वज्ञान प्रमाण है;क्योंकि उसमें एक साथ सभी पदार्थों का प्रतिभास होता है। जो क्रमभावि ज्ञान होता है, वह स्याद्वाद नय से संस्कृत होता है।

श्री सरस्वती स्तोत्रम् में कहा है—

**श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ना भारती बहुभाषिणी।**
**अज्ञानतिमिरं हन्ति विद्याबहुविकासिनी।।2।।**

श्री सर्वज्ञ के मुख से उत्पन्न हुई बहुभाषिणी भारती जो कि बहुत-सी विद्याओं का विकास करने वाली है, वह अज्ञान का विनाश करती है।

**केयूर—**

जिस प्रकार केयूर से हाथ सुशोभित होता है, उसी प्रकार ज्ञान के उपकरण शास्त्रादि का दान करने से हाथ की शोभा होती है।

**मणिकुण्डल—**

जिस प्रकार मणिकुण्डल को धारण करने से कानों की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार श्रुत को धारण करने से कानों की शोभा अत्यधिक बढ़ती है। किसी नीतिज्ञ ने कहा है—

**श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन।**

कान की शोभा श्रुत से ही है, कुण्डल से नहीं।

**मुद्रिका—**

मुद्रिका भारतीय साहित्य में प्रेम की प्रतीक है। श्रीराम ने हनुमान के हाथ सीता को स्वनामांकित अंगूठी भेजी थी।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यंत प्रथम मिलन के अवसर पर शकुन्तला को अपने नाम से अंकित अँगूठी पहनाता है तथा कहता है कि प्रतिदन इस नाम का एक-एक अक्षर बाँचना। जब अंतिम अक्षर बाँचोगी तो तुम्हें ले जाने वाला व्यक्ति मैं तुम्हारे पास भेज दूँगा। राजा स्मृतिभंग के कारण शकुन्तला को पहचानने से मना कर देता हे, बाद में अँगूठी प्राप्त होने पर वह शकुन्तला को पहिचान लेता है। इसी प्रकार सरस्वती की मुद्रिका याद दिलाती है कि ज्ञान से सदा प्रेम करो।

**कांची —**

कांची मध्य में स्थित रहते हुए अधोवस्त्र और ऊपरी वस्त्रों को धारण करने में सहायिका होती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति वस्तु के प्रतिदान, उपादान की बुद्धि से ऊपर उठकर या उसे छोड़कर मध्यस्थ हो निर्विकल्प की भूमि में पहुँचता है, वह कैवल्य की लब्धि करता है अतः कांची माध्यस्थ भाव की द्योतक है।

**हंसवाहन —**

सरस्वती का वाहन हंस माना जाता है। हंस नीर-क्षीर विवेक के लिए प्रसिद्ध है। जिस प्रकार हंस नीर-क्षीर विवेक रखता है उसी प्रकार जिनवाणी रूपी सरस्वती को धारण करने वाला व्यक्ति भेदविज्ञानी हो जाता है। भेद विज्ञान की महिमा के विषय में कहा गया है —

**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।**
**तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धाः ये किल केचन।।**

जो भी सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं। जो भी बद्ध हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

कविवर बनारसीदास जी कहते हैं —

**भेदविज्ञान भयौ जिनके घट शीतलचित्त भयौ जिमि चन्दन।**
**केलि करें शिवमारग में जग माँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन।।**
**सत्यस्वरूप सदा प्रकट्यौ प्रकट्यौं अवदात मिथ्यात्व निकंदन।**
**शान्तदशा तिनकी पहिचानि करै कर जोड़ि बनारसि वंदन।।**

**-( नाटक समयसार )**

**शोभायमान मंजरी से रंजित चरण कमल —**

जिस प्रकार मंजरी निकट समय में ही फलप्राप्ति की सूचक होती है, उसी प्रकार सरस्वती के चरण जहाँ विराजमान होते हैं उस जीव को कैवल्य या मोक्षरूपी फल की प्राप्ति निकट समय में सुलभ होती है।

**काले घुँघराले बाल —**

जिस प्रकार काले बादल डराने वाले होते हैं उसी प्रकार सरस्वती के काले, घुँघराले बाल संसार से डराने वाले होते हैं। सरस्वती के काले, घुंघराले बाल देखकर संवेग की भावना विकसित होती है।

**हस्ति समानयान —**

जिस प्रकार हाथी मदमस्त चाल से चलता है, उसी प्रकार ज्ञान के पथ पर चलने वाले मदमस्त चाल से चलते हैं अतः सरस्वती को गजगामिनी या हस्ति समानयान कहा है।

**वागीश्वरी —**

सरस्वती को वागीश्वरी कहा है। वाणी के साथ अर्थ मिला हुआ होता है। कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में कहा है —

**वागार्थाविव संपृक्तौ।**

वाणी की महत्ता के विषय में जैनाचार्य ने कहा है–

**वाणी कर्मकृपाणी वेणी संसार जलधि संतरणे।**
**वेणी जितघनमाला जिनवदनाम्भोजभीसुरा जीयात्।।**

**मुकुट—**

जिस प्रकार मुकुट समस्त आभूषणों में प्रधान होता है, उसी प्रकार सरस्वती को धारण करना सभी के लिए मुकुट को धारण करने के समान प्रधान है और सर्वांग को विभूषित करने वाला है।

**मंजीरे, कंकण और किंकणियाँ—**

ये तीनों मनोहर ध्वनि करते हैं, इसी प्रकार सरस्वती का जहाँ वास है, उसकी वाणी मनोहर ध्वनि वाली होती है। उसे सभी जन अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

**समस्त कलाधिनाथ—**

किसी भी कार्य को कुशलता से करना कला है। जिसके हृदय में सरस्वती है वह व्यक्ति समस्त कलाओं का पारगामी हो जाता है।

**पूर्णेन्द्र बिम्बरुचिशोभित दिव्यगात्र—**

सरस्वती का शरीर पूर्णचन्द्र की कान्ति के समान शोभित है। जिसके शरीर में ज्ञानरूपी लक्ष्मी का वास होता है, उसका शरीर दिव्य हो जाता है, इसी कारण तीर्थंकरों का शरीर परमौदारिक होता है। कहा भी है—

**परमौदारिक दिव्यदेह पावन सही।**
**क्षुधा तृषा चिन्ता भय गद दूषण नहीं।।**
**जन्म, जरा, मृत्यु, अरति शोक विस्मय नशैं।**
**राग दोष निद्रा मद मोह सबै खसैं।।**

**मृगशावक ललाट नेत्र—**

जिस प्रकार मृग के शावक के नेत्र भोले-भाले और सजग होते हैं उसी प्रकार जिनवाणी के धारक का मस्तक ऊँचा और नेत्र भोले-भाले और सजग होते हैं।

**कामरूपिणी—**

जो ज्ञान का विकास कर लेता है उसमें अनेक ऋद्धियाँ स्वतः विकसित होती हैं। ऋद्धियों के प्रकट होने पर वह इच्छानुसार रूप बनाने में भी सक्षम होता है अथवा सरस्वती के प्रसाद से समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

**समस्तवृन्द पूजित—**

पूजा सत्कार को कहते हैं। वागीश्वरी की सभी पूजा करते हैं क्योंकि वह जगन्माता है।

**मयूरवाहन—**

सरस्वती का वाहन मयूर भी कहा जाता है। जिस प्रकार मयूर के आने पर समस्त सर्प अपने आप शिथिल हो जाते हैं उसी प्रकार सरस्वती की समीपता में दुष्टकर्म अपने आप शिथिल हो जाते हैं। कहा भी है—

**ह्यद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।**
**सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य।।**

-(आचार्य कुमुदचन्द्र, कल्याणमंदिर स्तोत्र, 8)

इस प्रकार सरस्वती के रूप में जिनवाणी की कल्पना कर हमारे आचार्यों ने प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात समझायी है। इन प्रतीकों में अर्थगाम्भीर्य है। हमारे यहाँ प्रतीक पूजा का पुराना रिवाज है। आयागपट्ट प्रतीक पूजा के उदाहरण हैं।

## 2.5 सरस्वती माता की स्तुति—

*-शेर छन्द-*

कमलासिनी श्रुतधारिणी माता सरस्वती। जिनशासनी अनुगामिनी माता सरस्वती।।
है द्वादशांग रूप से निर्मित तेरी काया। सम्यक्त्व तिलक माथे पे चारित्र की छाया।।
विद्वानों से भी पूज्य तुम माता सरस्वती। जिनशासनी अनुगामिनी माता सरस्वती।।1।।
जिनवर की मूर्ति तेरे मस्तक पे राजती। वन्दन करें जो उनकी ज्ञान शक्ति जागती।।
हे श्वेत वस्त्रधारिणी माता सरस्वती। जिनशासनी अनुगामिनी माता सरस्वती।।2।।
हे शारदा तू ज्ञान की गंगा बहाती है। वागीश्वरी तू ब्रह्मचारिणी कहाती है।।
कर में है वीणा पुस्तक माला सरस्वती। जिनशासनी अनुगामिनी माता सरस्वती।।3।।
जो भी तेरी आराधना में लीन होता है। मिथ्यात्वतिमिर हटा ज्ञान लीन होता है।।
है "चन्दना" तुम पद में नत माता सरस्वती। जिनशासनी अनुगामिनी माता सरस्वती।।4।।

इस सरस्वती स्तुति को प्रतिदिन पढ़ने से विद्यार्थी जीवन में ज्ञान का खूब विकास होता है।

## 2.6 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि का कर्त्ता कौन है ?

(क) चौबीस तीर्थंकर ☐ (ख) कोई नहीं ☐ (ग) ब्रह्मा जी ☐

**प्रश्न 2**-महाबंध के मंगल स्मरण में सरस्वती देवी का मुखमण्डल किसे माना है ?

(क) आचारांग ☐ (ख) प्रश्नव्याकरणांग ☐ (ग) सूत्रकृतांग ☐

**प्रश्न 3**-जैनदर्शन में सरस्वती देवी को कितने नामों से पुकारा गया है ?

(क) 16 ☐ (ख) 12 ☐ (ग) 8 ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-आचार्य मल्लिषेण कृत सरस्वती कल्पमंत्र के अनुसार सरस्वती देवी का वाहन कौन सा है ?

**प्रश्न 2**-भूपालस्तोत्र में जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए राजा भोज ने क्या कहा है ?

**प्रश्न 3**-धारानगरी से प्राप्त वाग्देवी की प्रतिमा में क्या-क्या अंकित है ?

**प्रश्न 4**-नीतिवाक्यामृत में आय-व्यय के बारे में उल्लिखित सूक्ति को अर्थ सहित बताइए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-जिनागम में सरस्वती के रूप में जिनवाणी की कल्पना आचार्यों ने जिन-जिन प्रतीकों के माध्यम से की है, उनका सविस्तार वर्णन कीजिए ?

## पाठ 3 – जैनशासन के प्रभावक आचार्य

**3.1** यह सुविदित तथ्य है कि जैन परम्परा के अनुसार ईसा पूर्व 527 में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के बाद सुखमा-दु:खमा संज्ञक चतुर्थकाल के 3 वर्ष 8 माह 15 दिन अवशिष्ट बचे थे। इसके बाद दु:खमा नामक यह पंचमकाल प्रारम्भ हुआ। सन्धिकाल प्राय: संघर्षों से परिपूर्ण होता है। भगवान् महावीर का काल भी इसका अपवाद नहीं है। आधिभौतिक विचारधारायें जहाँ इस पंचमकाल को सुसभ्यता का चरम विकसित रूप स्वीकार करती हैं, वहाँ जैन, बौद्ध एवं वैदिक सभी आध्यात्मिक भारतीय विचारधारायें इसे मानव-मूल्यों का ह्रासकाल मानती हैं।

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् 162 वर्षों तक श्रुतपरम्परा का एक व्यवस्थित क्रम चलता रहा। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार जिस दिन भगवान महावीर को निर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। महावीर स्वामी के निर्वाण के 12 वर्ष बाद गौतम गणधर को निर्वाण हुआ। गौतम गणधर के 12 वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी को निर्वाण तथा उनके 38 वर्ष बाद जम्बूस्वामी को निर्वाण हुआ। इस प्रकार वीर निर्वाण के 62 वर्ष तक केवलज्ञानियों का सान्निध्य बना रहा। फलत: श्रुत पूर्णतया विद्यमान रहा है। सामान्यतया जीव में पंचम काल में निर्वाण-प्राप्ति की सामर्थ्य नहीं मानी गयी है अत: उक्त तीनों केवलियों के पश्चात् किसी का निर्वाण नहीं हुआ। ये तीनों तो चतुर्थकाल के उत्पन्न जीव थे अत: पंचमकाल आ जाने पर भी उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ था।

उक्त तीनों अनुबद्ध केवलियों के बाद विष्णुनन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु नामक पाँच श्रुतकेवली हुए। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में इनका काल क्रमश: 14 वर्ष, 16 वर्ष, 22 वर्ष, 11 वर्ष और 21 वर्ष= कुल 100 वर्ष माना है। इस प्रकार 62+100=162 वर्षों तक अनुबद्ध केवलियों और श्रुतकेवलियों के रहने से श्रुतपरम्परा अविच्छिन्न एवं व्यवस्थित बनी रही। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार इसके बाद श्रुतकेवलियों का लोप माना गया है। अन्तिम श्रुतकेवली का समय ईसा पूर्व 365 है। श्रुतकेवलियों के बाद श्रुत का ह्रासकाल आया।

तदनन्तर 11 दश पूर्वधर आचार्य हुए, जिनका समय 184 वर्ष है—

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. विशाखाचार्य | 10 वर्ष | 2. प्रोष्ठिल | 19 वर्ष |
| 3. क्षत्रिय | 17 वर्ष | 4. जयसेन | 22 वर्ष |
| 5. नागसेन | 18 वर्ष | 6. सिद्धार्थ | 17 वर्ष |
| 7. धृतिषेण | 18 वर्ष | 8. विजय | 13 वर्ष |
| 9. बुद्धिल | 20 वर्ष | 10. गंगदेव | 14 वर्ष |
| 11. धर्मसेन | 16 वर्ष | | |

दश पूर्वधरों में सर्वप्रथम विशाखाचार्य नाम से प्रसिद्ध प्रथम चन्द्रगुप्त मुनि हैं। यही बाद में सर्वसंघ के अधिपति बने। इन दस पूर्वधारी आचार्यों के अनन्तर नक्षत्र, जसपाल (जयपाल), पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस नामक पाँच आचार्यों का निर्देश मिलता है। इनका काल 220 वर्ष माना गया है। ये पाँचों आचार्य दस पूर्वों के धारक तो नहीं थे किन्तु एकादश अंगों के ज्ञाता थे। बारहवें अंग का ज्ञान इनके समय त्रुटित हो चुका था अत: श्रुत की एकदेश सुरक्षा में इनका अप्रतिम योगदान रहा है। इन पाँच एकादशाङ्गधारी आचार्यों के बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य नामक चार आचाराङ्गधारी आचार्य हुए। इनका काल 118 वर्ष अङ्गीकृत किया गया है। इस प्रकार (3 अनुबद्धकेवली) 62 वर्ष + (5 श्रुतकेवली) 100 वर्ष + (12 दशश्रुतपूर्वधारी आचार्य) 184 वर्ष + (5 एकादशाङ्गधारी आचार्य) 220 वर्ष + (4 आचारांगधारी आचार्य) 118 वर्ष = कुल 684 वर्षों तक श्रुत की एकदेश हानि हो जाने पर भी अधिकांश श्रुत सुरक्षित बना रहा।

आगे चलकर श्रुतपरम्परा का ह्रास होता गया। तब धर्म की प्रभावना के लिए सर्वतोमुखी गतिविधियाँ की जाने लगी। दान, तपस्या, जिनपूजा, विद्यातिशय, राजसम्मान, शास्त्रार्थविजय एवं ऋद्धि-सिद्धि का धर्मप्रभावना में अप्रतिम महत्त्व बन गया। यद्यपि ऋद्धि-सिद्धि, राजसम्मान आदि वीतरागभाव की साधना करने वाली जैन परम्परा का लक्ष्य नहीं रहा है किन्तु जैनाचार्यों की परस्परोपग्रही प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर राजाओं ने जैनाचार्यों को बहुशः सम्मानित किया और इससे जिनशासन की महाप्रभावना हुई है। श्रेणिक, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति एवं सातवाहन आदि राजाओं के कथानक जैनाचार्यों के सम्मान द्वारा जिनशासन की प्रभावना से भरे पड़े हैं। इसी प्रकार जब जैनेतर सम्प्रदाय संस्कृत को आधार बनाकर अपने लाभ के लिए शास्त्रार्थ के लिए ललकारने लगे तब जैनाचार्यों ने भी समाज में अपने अस्तित्व एवं धर्मसुरक्षा के निमित्त वाद-विवाद एवँ शास्त्रार्थों में भाग लिया। समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानंद, वादिराज आदि आचार्यों की घटनाएं इन तथ्यों को उजागर करती हैं। जैनधर्म में ऋद्धि-सिद्धियों की अभीष्टता स्वीकार्य न होने पर भी जैनाचार्यों ने जैनसंघ एवं धर्म की प्रभावना के लिए उनका उपयोग किया है। भले ही सिद्धान्त की दृष्टि से यह समीचीन न माना जाए परन्तु ऋद्धि-सिद्धि की घटनाओं का उल्लेख बहुत अर्वाचीन नहीं है। ऐसे आचार्यों में वज्र, पादलिप्त सदृश अनालोचित आचार्यों तथा कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, मानतुंग एवं वादिराज सदृश बहुविख्यात आचार्यों की गणना है। सम्यग्दर्शन के प्रभावना अंग के उदाहरण में समन्तभद्राचार्य ने वज्रकुमार का नामोल्लेख किया है। कल्पसूत्र, हेमचन्द्राचार्यकृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रभावकचरित तथा प्रभाचन्द्रकृत कथाकोष एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका में इनका विस्तार से वर्णन आया है। जैनधर्म के प्रभावक के रूप में इनकी महती प्रसिद्धि रही है। लुप्त आचारांग का अन्वेषण करते समय इन्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध होने का उल्लेख मिलता है। इनके बाद एक रक्षित नामक आचार्य हुए। ये दशपुर (वर्तमान मन्दसौर, म. प्र.) के राजपुरोहित के पुत्र थे। पिता को मुनिचर्या में स्थिर कराने के लिए उन्होंने अनेक उपाय किये थे।

इसके बाद धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि नामक आचार्य आते हैं। धरसेन आचार्य ने पुष्पदन्त और भूतबलि की बुद्धिमत्ता की परीक्षा करके उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत का ज्ञान कराया था। गुरु से प्राप्त ज्ञान को पुष्पदन्त और भूतबलि ने लिपिबद्ध किया। यहीं से आगम लेखन का क्रमबद्ध इतिहास प्रारम्भ होता है। आचार्य पुष्पदंत ने सत्प्ररूपणा नामक प्रकरण की रचना की तथा भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की। षट्खण्डागम में छः खण्डों में क्रमशः जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छः विषयों का विवेचन किया गया है। बाद में चलकर षट्खण्डागम पर अनेक टीकायें-व्याख्यायें लिखी जाने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं किन्तु इनमें से वीरसेनाचार्य कृत धवला टीका को छोड़कर अन्य सभी टीकायें कालकवलित हो गई हैं। वे आज हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं हैं। धरसेन, पुष्पदन्त एवं भूतबलि ये तीनों जिनशासन की प्रभावना के भूमिका रूप हैं।

## 3.2 मुख्य प्रभावक आचार्यों के नाम—

जिनशासन के प्रभावक आचार्यों की ई. पू. प्रथम शताब्दी से लेकर ई. की बीसवीं शताब्दी तक एक सुदीर्घ परम्परा है। साहित्य के माध्यम से भी जैनाचार्यों ने जैनधर्म की पर्याप्त सेवा की है। इस विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ. एम. विन्टरनित्ज का कथन दृष्टव्य है—

"It was not able to do justice to the literary achievements of the Jainas. But I hope to have shown that the Jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India."

विद्वान् समालोचक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि जैनों ने साहित्य के माध्यम से भारत की अपूर्व सेवा की है। एक

लघु निबन्ध में सभी जैनाचार्यों का उल्लेख किया जाना सर्वथा असंभव है अतः क्षेत्र की सीमा बनाकर हम केवल विशिष्ट प्रभावक (1) आचार्य गुणधर (2) आचार्य कुन्दकुन्द, (3) आ. उमास्वाति, (4) आ. समन्तभद्र, (5) आ. पूज्यपाद, (6) आ. अकलंक, (7) आचार्य जिनसेन, (8) आचार्य विद्यानन्द और (9) वादिराजसूरि-दशवीं शती तक के इन नौ आचार्यों का ही यहाँ संक्षिप्त विवेचन कर रहे हैं।

**3.2.1 आचार्य गुणधर—**

षट्खण्डागम दि. जैन वाङ्मय की नींव के समान है। उसी के समान महत्त्वपूर्ण एक अन्य ग्रन्थ कषायपाहुड है। कषायपाहुड के रचयिता आचार्य गुणधर हैं। इस ग्रंथ में बन्ध, संक्रमण, उदय और उदीरणा के भी पृथक् अधिकार दिये गये हैं। यह 15 अधिकारों में विभक्त है। अन्तिम चारित्रमोह क्षपणाधिकार बहुत विस्तृत है। इसमें चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय का विस्तृत विवेचन हुआ है। आचार्य गुणधर का समय वि. सं. 16 (ई. पू. 41 वर्ष) मान्य है।

**3.2.2 आचार्य कुन्दकुन्द—**

**मंगलं भगवदो वीरो मंगलं गोदमो गणी।**
**मंगलं कोण्डकुन्दाइ जेण्ह धम्मोत्थु मंगलं।।**

मंगलाचरण के रूप में दिगम्बर जैन आम्नाय में पठनीय इस गाथा से स्पष्ट है कि द्वादशाङ्ग आगम के धारक गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द को प्रधानता दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य श्रमण संस्कृति के उन्नायक प्राकृत साहित्य के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान आध्यात्मिक शैली के युगप्रधान आचार्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'बारस अणुपेक्खा' में अपने नाम कुन्दकुन्द के उल्लेख के अतिरिक्त अन्य किञ्चित् भी परिचय नहीं दिया है। बोधपाहुड में उन्होंने अपने लिए भद्रबाहु का गमक शिष्य कहकर उनकी जयकार की है। आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकार जयसेनाचार्य एवं अमृतचन्द्राचार्य ने भी उनका लेशमात्र भी परिचय नहीं दिया है। हाँ, जयसेनाचार्य ने टीका के अन्य पद्य में समयसारकार का पद्मनन्दि नाम से उल्लेख किया है। इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में लिखा है कि पद्मनन्दि मुनि ने कुन्दकुन्दपुर में बारह हजार श्लोकप्रमाण षट्खण्डागम टीका लिखी थी। ऐसा लगता है कि उनका मूल नाम पद्मनन्दि था किन्तु ग्राम के नाम के कारण उनकी कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्धि हो गई। डा. हार्नले ने उनके पाँच नामों में पद्मनन्दि भी एक नाम माना है। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर कुन्दकुन्द का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ इस प्रकार हैं—पवयणसार, समयसार, पंचत्थिकाय, बारस अणुपेक्खा, दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिङ्गपाहुड, सिद्धभत्ति, सुदभत्ति, चारित्तभत्ति, जोइभत्ति, आयरियभत्ति, णिव्वाणभत्ति, पंचगुरुभत्ति और तित्थयरभत्ति।

कुन्दकुन्द के विषय में विदेहगमन और गिरनार विवाद की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। विदेहगमन का देवसेन (9 - 10वीं शताब्दी) ने तथा गिरनार विवाद का शुभचन्द्र (1516 - 1556 ई.) ने सर्वप्रथम उल्लेख किया है परन्तु दोनों की ही विश्वसनीयता संदिग्ध है।

**3.2.3 आचार्य उमास्वामी—**

तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वामी नाम से प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर परम्परा में उनका उल्लेख उमास्वाति नाम से हुआ है। पं. फूलचन्द्र शास्त्री तत्त्वार्थसूत्रकार का नाम गृद्धपिच्छ, श्री जुगलकिशोर मुख्तार उमास्वाति और गृद्धपिच्छ दोनों मानते हैं। 12वीं शताब्दी के पश्चाद्वर्ती अनेक शिलालेखों में उनका उल्लेख उमास्वाति अपरनाम गृद्धपिच्छ कहा गया है तथा उन्हें बलाकपिच्छ नामक आचार्य का गुरु कहा गया है। वादिराजसूरि ने इनका उल्लेख गृद्धपिच्छ नाम से ही किया है। एक अन्य शिलालेख में उमास्वाति के शिष्य बलाकपिच्छ का अपरनाम गृद्धपिच्छ कहा गया है। अन्यत्र वहीं गृद्धपिच्छ नामकरण का कारण बताते हुए कहा गया है कि प्राणी की रक्षा के लिए जब इन्होंने गृद्ध के पिच्छ को धारण

कर लिया तबसे इनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य प्रसिद्ध हुआ।

आचार्य उमास्वामी कुन्दकुन्द की परम्परा के थे। तत्त्वार्थसूत्र पर पंचत्थिकाय का प्रभाव देखा जा सकता है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इनका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी मानते हैं। उमास्वामी की एकमात्र कृति तत्त्वार्थसूत्र उपलब्ध है। सूत्रशैली में लिखा गया विविध विषयों का विवेचन करने वाला यह प्रथम ग्रंथ है। दिगम्बर परम्परा एवं श्वेताम्बर परम्परा दोनों में ही यह समान रूप से आदृत है किन्तु सूत्रसंख्या एवं सूत्ररचना के विषय में यत्किञ्चित् मतवैभिन्य दृष्टिगोचर होता है। दिगम्बर आम्नाय में इसके पाठ का एक उपवास के बराबर फल वर्णित किया गया है—

**दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।**
**फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः।।**

### 3.2.4 आचार्य समन्तभद्र—

समन्तभद्र श्रेष्ठ कवि और दर्शनशास्त्र के विलक्षण-प्रतिभासम्पन्न आचार्य हैं। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में, अजितसेन ने अलंकार-चिन्तामणि में, वादीभसिंह सूरि ने गद्यचिन्तामणि में, वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथचरित में इनका पुण्यस्मरण किया है।

खेद है कि समन्तभद्राचार्य का विस्तृत परिचय उपलब्ध नहीं होता है। हस्तिमल्ल ने अपने नाटक विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में इनका संक्षिप्त परिचय निर्दिष्ट किया है। उसके आधार पर ज्ञात होता है कि ये मूलसंघ के आचार्य थे। हस्तिमल्ल ने तो उन्हें आगामी तीर्थंकर के रूप में उल्लिखित किया है। इस उल्लेख के अनुसार समन्तभद्र को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त थी। शिवकोटि और शिवायन नामक उनके दो शास्त्रज्ञ शिष्य थे।

श्री जुगलकिशोर मुख्तार एवं डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने समन्तभद्र का समय ई. की द्वितीय शताब्दी माना है। पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य इनका समय ईसा की द्वितीय-तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं। डा. के. बी. पाठक ने इनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी स्वीकार किया है, जो सर्वथा अप्रामाणिक है। श्री मुख्तारजी ने इसका सयुक्तिक खण्डन किया है। पूज्यपाद (5वीं शताब्दी) कृत जैनेन्द्रव्याकरण में समन्तभद्र का उल्लेख ही डॉ. पाठक के मत का निरसन करने के लिए पर्याप्त है।

समन्तभद्र द्वारा रचित स्वयंभूस्तोत्र, जिनशतक, देवागम, युक्त्यनुशासन एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्राकृतव्याकरण, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभृतटीका एवं गन्धहस्तिमहाभाष्य का उल्लेख मिलता है।

### 3.2.5 आचार्य पूज्यपाद—

श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख में देवनन्दि के जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये दो नाम और बतलाये गये हैं। कहा गया है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था। बुद्धि की महत्ता के कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और उनके चरणों की पूजा देवों ने की अतएव वे पूज्यपाद नाम से प्रसिद्ध हुए। पूज्यपाद और देवनन्दि ये दो नाम तो सर्वत्र मिलते हैं किन्तु जिनेन्द्रबुद्धि भी इनका नाम रहा है, यह इस शिलालेख से जाना जाता है। जिनेन्द्रबुद्धि नामक एक प्रसिद्ध बौद्ध वैयाकरण भी हो चुके हैं किन्तु वे इनसे सर्वथा भिन्न हैं। उन्होंने काशिका पर न्यास की रचना की थी।

पूज्यपाद ने ईसवी की दूसरी-तीसरी शताब्दी में विद्यमान आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख किया है। दर्शनसार में कहा गया है कि आचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने 526 वि. सं. (469 ई.) में द्रविडसंघ की स्थापना की। इन आधारों पर इनका काल पाँचवीं शताब्दी के पूर्व तो है ही।

पूज्यपाद द्वारा विरचित अद्यावधि पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

1. जैनेन्द्रव्याकरण (सर्वप्रथम जैन व्याकरण)

2. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र पर प्रथम दिगम्बर टीका)

3. समाधितन्त्र (अध्यात्म का शतश्लोकात्मक गंभीर एवं तान्त्रिक ग्रन्थ)

4. इष्टोपदेश (51 श्लोक, उपदेशात्मक ग्रन्थ)

5. दशभक्ति (गंभीर शैली में सिद्ध आदि की भक्ति)

उनके अन्य अनेक ग्रन्थों की सूचना मात्र मिलती है।

**3.2.6 भट्ट अकलंक—**

अकलंक का भट्ट अकलंक के नाम से जैन न्याय के व्यवस्थापक के रूप में उल्लेख किया जाता है। भट्ट इनकी उपाधि थी और ये लघुहव्व नामक राजा के पुत्र थे। एक उल्लेखानुसार अकलंक का वि. सं. 700 (ई. सन् 643) में बौद्धों के साथ वाद-विवाद हुआ था। वादिराजसूरि कृत पार्श्वनाथचरित के उल्लेख से भी इस घटना का समर्थन होता है। इस आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी का प्रारंभ माना जा सकता है। पं. कैलाशचंद्र शास्त्री एवं पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य भी उनका यही समय मानते हैं। अकलंकदेव बड़े ही प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उत्तरकालीन समस्त जैन नैयायिकों ने इन्हीं का अनुसरण किया है। इनकी भाषा अर्थबहुल एवं सूत्रात्मक और शैली गूढ़ एवं संक्षिप्त है।

हुम्मच के शक सं. 1178 (1256 ईसा) के एक शिलालेख में अकलंक के सन्यासपूर्वक शरीरत्याग करने का उल्लेख पाया जाता है।

अकलंकदेव के निम्नांकित ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

1. **तत्त्वार्थवार्तिक**—न्यायवार्तिक की तरह तत्त्वार्थसूत्र पर वार्तिक एवं व्याख्या।

2. **अष्टशती**—देवागम (आप्तमीमांसा) की संक्षिप्त वृत्ति।

3. **लघीयस्त्रय**—प्रमाणप्रवेश, न्यायप्रवेश एवं प्रवचनप्रवेश इन तीन प्रकरणों पर कारिका एवं स्वोपज्ञ वृत्ति।

4. **न्यायविनिश्चय**—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम प्रमाणों पर प्रामाणिक विवेचन।

**3.2.7 आचार्य जिनसेन—**

आदिपुराणकार जिनसेन आर्यनन्दि के प्रशिष्य और वीरसेनाचार्य के शिष्य थे। दशरथ गुरु इनके सधर्मा थे। आचार्य गुणभद्र ने दशरथगुरु और जिनसेन को सूर्य एवं चन्द्र की तरह सधर्मा बताया है। वादिराजसूरि ने इनका शलाकापुरुषवर्णक के रूप में उल्लेख किया है। राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष इनका भक्त था। अन्त में अमोघवर्ष ने संभवतः जैनदीक्षा भी धारण की थी। विभिन्न शिलालेखों में जिनसेन की कीर्ति का विवेचन हुआ है। जिनसेन पंचस्तूपान्वय के आचार्य थे किन्तु गुणभद्र ने अपने को सेनान्वयी लिखा है। संभवतः पंचस्तूपान्वय ही आगे चलकर सेनान्वय कहा जाने लगा था। हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन (783 ईसा) ने इनका उल्लेख किया है अतः ये उनके पूर्वकालीन या समकालीन तो हैं हीं। फलतः इनका समय 8वीं शती ई. मानना समीचीन प्रतीत होता है।

आचार्य जिनसेन के तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं—

1. **पार्श्वाभ्युदय**—कालिदास कृत मेघदूत की समस्यापूर्ति।

2. **जयधवला**—कषायप्राभृत की वीरसेन की टीका के आगे चालीस हजार श्लोकप्रमाण टीका।

3. **आदिपुराण**—42 पर्वों तक आदिनाथ भगवान और भरत चक्रवर्ती तक का वर्णन। आगे के अवशिष्ट शलाकापुरुषों का वर्णन उनके शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया है।

**3.2.8 आचार्य विद्यानन्द—**

विद्यानन्द का उल्लेख वादिराज ने अलंकार (तत्त्वार्थवार्तिकालंकार) के रचयिता के रूप में किया है। विद्यानंद ने कहीं भी आत्मपरिचय नहीं दिया है। इनकी सिद्धिविनिश्चय टीका से ज्ञात होता है कि ये बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग,

धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि से सुपरिचित थे। डॉ. दरबारीलाल कोठिया इसी आधार पर इनका समय 775-840 ईसा निर्धारित करते हैं। डा. नेमिचन्द्र शास्त्री भी इनका समय ई. की 9वीं शताब्दी मानते हैं। वादिराजसूरि से पूर्व किसी ने विद्यानंद का स्मरण नहीं किया है तथा वादिराज ने भी इनका स्मरण अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर लिखी गई टीका के रचयिता अनन्तवीर्य के बाद किया है अतः इनका समय वादिराज (1025 ईसा) से पूर्व तथा अनन्तवीर्य (10वीं शताब्दी का प्रथम चरण) के बाद दसवीं शताब्दी मानना ही उचित होगा।

विद्यानंद द्वारा प्रणीत उपलब्ध ग्रन्थ आठ हैं—

1. आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञवृत्तिसहित
2. प्रमाणपरीक्षा
3. पत्रपरीक्षा
4. सत्यशासनपरीक्षा
5. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र
6. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्र की पद्यात्मक टीका)
7. अष्टसहस्री
8. युक्त्यनुशासन

स्याद्वादरत्नाकर में देवसूरि ने इनके ग्रन्थ 'विद्यानन्दमहोदय' की एक पंक्ति उद्धृत की है परन्तु यह ग्रंथ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

### 3.2.9 वादिराजसूरि—

जैनधर्म के विशिष्ट प्रभावक आचार्यों में वादिराजसूरि का नाम अन्यतम है। उनके सरस एकीभावस्तोत्र से धार्मिक समाज, न्यायविनिश्चय-विवरण एवं प्रमाणनिर्णय से तार्किक समाज तथा पार्श्वनाथचरित एवं यशोधरचरित से साहित्यसमाज सर्वथा सुपरिचित है। वे द्राविडसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के अरुंगल नामक अन्वय के आचार्य थे। एक नन्दिसंघ यापनीय सम्प्रदाय में भी था परन्तु उससे इनका सम्बन्ध नहीं था। वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित और न्यायविनिश्चयविवरण में प्रशस्ति दी है जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में की है। उनके गुरु का नाम मतिसागर था। एक शिलालेख के उल्लेखानुसार वादिराज शाकटायनव्याकरण पर रूपसिद्धि के प्रणेता दयापालमुनि के सतीर्थ थे।

अनेक शिलालेखों में वादिराज की अतीव प्रशंसा की गई है। 1128 ईसा में लिखित मल्लिषेणप्रशस्ति में तो यहाँ तक कहा गया है कि वे जिनेन्द्र भगवान के समान हैं—

**त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह।**
**जिनराजतः एकस्मादेकस्माद् वादिराजतः।।**
**सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्तिः, वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।**
**इति समयगुरूणामेकतः संगतानां, प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः।।**

वादिराज के विषय में कुष्ठरोगाक्रान्त होने एवं एकीभावस्तोत्र के प्रणयन से दूर हो जाने की किंवदन्ती प्रचलित है। इस किंवदन्ती का सर्वप्रथम उल्लेख चन्द्रकीर्ति भट्टारक (1624 ई.) ने एकीभावस्तोत्र के चतुर्थ पद्य "तत् किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि" की टीका करते हुए किया है। अन्यत्र मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि में कहीं भी इसका उल्लेख नही है।

## 3.3 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् कितने वर्षों तक श्रुतपरम्परा का व्यवस्थित क्रम चला ?

(क) 150 वर्ष ☐ (ख) 162 वर्ष ☐ (ग) 142 वर्ष ☐

**प्रश्न 2**-दश पूर्वधरों में सर्वप्रथम विशाखाचार्य नाम से प्रसिद्ध .....हैं।

(क) चन्द्रगुप्त मुनि ☐ (ख) जयसेन आचार्य ☐ (ग) गंगदेव ☐

**प्रश्न 3**-षट्खण्डागम के छः खण्डों में कितने विषयों का विवेचन किया गया है ?

(क) 8 ☐ (ख) 16 ☐ (ग) 6 ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-तीनों अनुबद्ध केवलियों के पश्चात् होने वाले श्रुतकेवली कितने और कौन-कौन से हैं ?

**प्रश्न 2**-आचार्य गुणधर रचित कृति का नाम बताते हुए यह भी बताइए कि वह कितने अधिकारों में विभक्त है ?

**प्रश्न 3**-आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी के कितने नाम प्रसिद्ध हैं तथा उनके द्वारा लिखित कितने ग्रंथ उपलब्ध हैं ?

**प्रश्न 4**-आचार्य श्री जिनसेन कृत आदिपुराण के 42 पर्वों में किस-विषयवस्तु का दिग्दर्शन कराया गया है ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी का परिचय बताते हुए उनके द्वारा रचित ग्रंथों का भी उल्लेख कीजिए ?

# पाठ 4 – आर्ष परम्परा के संवाहक बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज

## 4.1 जन्मकाल और बाल्यावस्था—

गौरवशाली प्रकाशपुंज आचार्य कुंदकुंद,स्वामी समंतभद्र, विद्यानंदी, जिनसेन इत्यादि आचार्यों की जन्मभूमि तथा उपदेश से पवित्र कर्नाटक प्रदेश में आचार्यश्री 108 शांतिसागर महाराज का जन्म हुआ।

बेलगाँव जिले में भोज ग्राम के भीमगौंडा पाटील की धर्मपत्नी सत्यवती थीं। सन् 1872 में आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन माता सत्यवती ने अपने पीहर येळगुळ में पुत्र को जन्म दिया। इस पुत्र का नाम 'सातगौंडा' रखा गया। ये ही आगे प्रथमाचार्य शांतिसागर जी हुए हैं।

'आचार्य शांतिसागर जी के माता-पिता भोजग्राम निवासी थे लेकिन आचार्य शांतिसागर जी का जन्म येळगुळ ग्राम में नाना के घर हुआ इसलिए दक्षिण में कुछ लोग येळगुळ को जन्मस्थान मान लेते हैं तथा कुछ लोग भोजग्राम को जन्मस्थान मान लेते हैं किन्तु आज भी देखा जाता है कि यदि किसी बालक का जन्म ननिहाल, अन्य शहर या हास्पीटल में हुआ होवे, तो भी जन्मभूमि पैतृक स्थान को ही माना जाता है। इस दृष्टि से भोजग्राम को ही आचार्य श्री का जन्मस्थान मानना ठीक है।'

बाल्यावस्था में भगवान की भक्तिपूजा करना, त्यागीगणों को आहारदान देना, उनकी वैयावृत्य करना, दीन-दुखियों को सहायता पहुँचाना आदि कार्यों में उनकी विशेष रुचि थी। छोटे-बड़े व्यसनों से दूर पिताजी ने सोलह वर्ष तक दिन में एक ही बार भोजन करने का व्रत लिया था। आचार्यश्री का बाल-जीवन इस प्रकार से सदाचार सम्पन्न माता-पिता की छत्र-छाया में व्यतीत हुआ। एक प्रकार से निसर्ग योजना में यह मणिकांचन संयोग ही था।

सातगौंडा की लौकिक शिक्षा बहुत कम हुई। वे पाठशाला में तीसरी कक्षा तक पढ़ पाये। शिक्षा के आदान-प्रदान की व्यवस्था भी आज की अपेक्षा देहातों में अपेक्षाकृत कम थी। संस्कारशील माता-पिता के द्वारा घर में जो कुछ धार्मिक संस्कार हुए, केवल वे ही जीवनाधार बन गये। पाठशाला में भी सातगौंडा ने एक बुद्धिमान विद्यार्थी के रूप में ही प्रसिद्धि पाई थी।

जब सातगौंडा जी 9 साल के हुए, ज्येष्ठ भाई देवगौंडा और आदगौंडा का विवाह सम्पन्न हो रहा था। सातगौंडा का भी विवाह जबरदस्ती कर दिया गया। "संसार विषये सद्यः स्वतो हि मनसो गतिः"। संसार के विषयों में संसारी जीवों की निसर्ग से प्रवृत्ति होती ही है। बच्चों के खेल जैसी प्रक्रिया हो गई। दैव को वह भी स्वीकार नहीं था। विवाह के पश्चात् छः माह के भीतर ही विवाहिता की इहलोक यात्रा समाप्त हो गई। सातगौंडा बाल्यावस्था में विवाहबद्ध होकर भी निसर्ग से बालब्रह्मचारी रहे। "लाभात् अलाभं बहुमन्यमानः।" लाभ से अलाभ को लाभप्रद मानने की बालक सातगौंडा की निसर्ग प्रवृत्ति रही है। अनंतर किये गये आग्रह को उन्होंने स्वीकार नहीं किया अर्थात् पुनः विवाह नहीं किया।

## 4.2 अध्यात्म जीवन का नैसर्गिक आकर्षण—

आत्मानुशासन, समयसार इन दो ग्रंथों का वाचन सातगौंडा प्रारंभ से ही करते थे। विशेष रूप से तत्त्वचिंतन मनन में काल व्यतीत होता था। आयु के 17वें, 18वें वर्ष में भरी युवावस्था में ही मन में दिगम्बरी दीक्षा लेने के सहज भाव होने लगे परन्तु माता-पिता के दबाववश उस समय वे अपने विचारों को अमल में न ला सके, व्यक्त भी न कर सके। कुछ काल तक उन्हें घर में ही रहना पड़ा परन्तु प्रवृत्ति जल से भिन्न कमल की तरह बनी रही।

शास्त्र-स्वाध्याय की तरह तीर्थक्षेत्रों की भक्ति का भी आचार्यश्री के जीवन में विशेष स्थान रहा। मोक्षमार्ग के पथिक साधक के जीवन में तीर्थयात्रा-दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता ही है। असंगभाव या वीतराग भावों की धारा प्रवाहित करने के लिए दृष्टिसम्पन्न साधु यात्रा को अच्छा निमित्त बना सकता है। सातगौंडा यह कर पाये इसी में परिमार्जित तत्त्वदृष्टि स्पष्ट होती है। विहार का उनका प्रत्येक कदम वीतरागता के लिए था अर्थात् वीतरागता की ओर था।

### 4.3 सहज संवेगभाव और वैराग्य—

इसी अवस्था में पाँच-छः साल और बीत गये। सातगौंडा के मन में निर्ग्रंथ दीक्षा लेने के विचार तीव्रता से आने लगे। इस बार साहस के साथ माता-पिता के समक्ष उन्होंने अपनी भावना व्यक्त भी की परन्तु पिता जी ने कहा, "हमारे ये अंतिम दिन हैं, दीक्षा लेकर हमारी मानसिक यातनाएँ बढ़ेंगी सो ठीक नहीं होगा, अच्छा नहीं होगा।" पिता की आज्ञा तथा पुत्र-कर्तव्य का विकल्प होने से सातगौंडा का दीक्षा लेने का विचार कुछ समय के लिए स्थगित हुआ।

ईसवी सन् 1912 में सातगौंडा की माताजी की इहलोक यात्रा समाप्त हुई। उसके कुछ साल पहले ही पिताजी का भी स्वर्गवास हुआ था। अब प्रकृतिसिद्ध त्यागमय जीवन और संयमशील बन गया। कोई लगाव भी न रहा। इसी काल में श्रवणबेलगोला-गोमटेश्वर इत्यादि पुण्यक्षेत्रों की दक्षिण यात्रा भी समाप्त कर सातगौंडा भोजग्राम में आये।

### 4.4 क्षुल्लक दीक्षा—

सातगौंडा ने जीवन के इकतालीस साल पूर्ण होने के उपरांत दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय कर्नाटक में दिगम्बर स्वामी श्री देवेंद्रकीर्ति विहार कर रहे थे। "कापशी" ग्राम के निकट "उत्तूर" नामक देहात है। वहाँ उनका आगमन होने पर सातगौंडा मुनिश्री के समीप पहुँचे और दिगम्बर दीक्षा देने की प्रार्थना की परन्तु श्री देवेन्द्रकीर्ति स्वामी ने प्रारंभ में क्षुल्लक पद की ही दीक्षा लेने को कहा। ठीक ही है "क्रमारम्भो हि सिद्धिकृत्" गुरु आज्ञा को प्रमाण माना। ई. सन् 1914 में ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी तिथि को "सातगौंडा" ने क्षुल्लक दीक्षा धारण की। इस प्रकार स्वतंत्र संयमी जीवन का शुभारंभ हो गया।

### 4.5 ऐलक पद-दीक्षा और पद-विहार करने की प्रतिज्ञा—

श्री गिरनार क्षेत्र का दर्शन करते समय महाराजजी का हृदय उठी हुई वैराग्य भावनाओं से गद्‌गद हो उठा। भगवान नेमिनाथ के चरणों के पुनः-पुनः दर्शन कर क्षुल्लकजी के वीतराग भावों में सहज वृद्धि हुई। सावधानी तो पूरी थी ही। उसी समय श्री नेमिनाथ भगवान के चरण साक्षी में स्वयं ऐलक पद को स्वीकार किया। एक कौपीन मात्र परिग्रह के बिना सब वस्त्रादि परिग्रहों को त्याग दिया। नूतन प्रतिमा की प्रतिष्ठा पूर्वप्रतिष्ठित प्रतिमा की साक्षी में होती है और नया व्रत विधान पूर्व में व्रती के साक्षी से ही होना चाहिए, ऐसी एक अच्छी प्राचीन परम्परा है। महाराजजी इस परम्परा को तोड़ना नहीं चाहते थे जैसा कि निर्ग्रन्थ दीक्षा के समय देखा गया। इस समय उनसे रहा नहीं गया। वैराग्य भावों की वेगवान गति को वे रोक नहीं सके। पूज्य स्वर्गीय अनुभवसमृद्ध वीरसागर जी महाराज ठीक कहते थे। "गुरु कहे सो करना गुरु करे सो नहीं करना।" अस्तु! इस समय वीतरागता का वैराग्यभाव से अपूर्व मिलन होना था, हो गया। श्री गिरनारजी से लौटते समय ऐलकजी ने श्री दक्षिण कुंडलक्षेत्र की वंदना की। श्री पार्श्वप्रभु भगवान की मूर्ति की साक्षी में ऐलकजी महाराज ने सब वाहनों का आजीवन के लिए परित्याग कर दिया। आगे के लिए विहार का रूप "पद-विहार" ही निश्चित हुआ। "याजं याजमटन्नवे तीर्थ-स्थानान्यपूजयत्।" शुद्ध निर्जंतुक रास्ते से चार हाथ आगे की जमीन को देखकर विहार करते हुए सूर्यप्रकाश में चलने की मुनि की प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहते हैं। गाड़ी, मोटर या रेल सवारी का त्याग त्यागी को इसीलिए होता है। श्री क्षेत्र कुण्डल से विहार करते-करते महाराज जिनमंदिर का दर्शन करते -करते नसलापुर, ऐनापुर, अथणी इस मार्ग से बीजापुर के पास अतिशय क्षेत्र "बाबानगर" को आये। पुण्यक्षेत्र के सहस्रफणी श्री पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन करते हुए लौटकर पुनः ऐनापुर आये। वहाँ वे 15 दिन तक ठहरे। यहाँ योगायोग से निर्ग्रंथ मुनिराज श्री आदिसागर जी महाराज का सत्समागम मिला।

## 4.6 भगवती निर्वाणरूपा जिनदीक्षा—

निपाणी संकेश्वर के समीप "यरनाळ" ग्राम में पंचकल्याणक महोत्सव के लिए मुनिराज श्री देवेन्द्रकीर्तिजी पधारे थे। ऐलक सातगौंडा महाराज भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने गुरु श्रीदेवेन्द्रकीर्ति स्वामी को दिगम्बर दीक्षा देने के लिए पुनः प्रार्थना की। एकत्रित जैन समाज को महाराजजी की योग्यता का पूरा परिचय था। वे महाराजजी से प्रभावित भी थे। मुनि दीक्षा के लिए समाज भर ने एक स्वर से अनुमोदना की।

निर्ग्रंथ दीक्षा लेने का विचार निश्चित हुआ। दीक्षा कल्याणक के दिन तीर्थंकर भगवान् का वन विहार का जुलूस दीक्षा वन में आया। इसी पवित्र समय में ऐलकजी ने भी दीक्षागुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति महाराज के पास दिगम्बरी जिनदीक्षा धारण की। 'नैर्ग्रंथ्य हि तपोऽन्यत्तु संसारस्थैव साधनम्।' यह दृढ़धारणा थी। भगवान् की दीक्षा विधि के साथ ऐलक महाराजजी की भी निर्ग्रंथ दीक्षा विधि सम्पन्न हुई, केशलोंच समारम्भ भी हुआ। ऐलक सातगौंडा मुनि हो गये, यथाजातरूपधारी हुए। मुनि पद का नाम श्री "शांतिसागर" रखा गया। ईसवी सन् 1920 में फाल्गुन शुक्ला 14 उनकी दीक्षातिथि है। इस पवित्र दिन से महाराज श्री का जीवनरथ अब संयम के राजमार्ग द्वारा मोक्षमहल की ओर अपनी विशिष्ट गति से सदा गतिशील ही रहा। अंतरंग में परिग्रहों से अलिप्तता का भाव सदा के लिए बना रहना और बाह्य में परिग्रह मात्र से स्वयं को दूर रखना यह मुनि की अलौकिक चर्या है। शुद्ध आत्मस्वरूप मग्नता यह उसका अन्तःस्वरूप होता है। देह के प्रति भी ममत्व का लेश नहीं होता, वे विदेही भावों के राजा होते हैं इसीलिए लोग उन्हें महाराज कहते हैं।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों के विषयों पर विजय, छह आवश्यक तथा सात शेष गुण इत्यादि 28 मूलगुणों के ये धारक होते हैं।

## 4.7 भारत-विहार—

यरनाळ में दीक्षा समारंभ समाप्त होने के अनंतर महाराज ने अनेक नगरों में विहार करके धर्मप्रभावना की। महाराज जी के विहार काल में कोण्णूर का चातुर्मास बड़ा महत्वपूर्ण रहा। यहाँ महाराज की जीवनी में अतिशय महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। कोण्णूर ग्राम में प्राचीन गुफाएं बहुसंख्या में हैं। नित्य की तरह गुफा में आचार्य श्री ध्यानस्थ बैठ गये। उसी समय एक नागराज—बड़ा सर्प वहाँ आकर महाराज जी के शरीर पर चढ़कर घूमने लगा। महाराज जी अपने आत्मध्यान में निमग्न थे। 'नागराज आया है और वह अपने शरीर पर घूम रहा है' इसका तनिक विकल्प भी महाराज जी को नहीं था। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की पालना किस प्रकार हो सकती है, इसका यह मूर्तिमान रूप दृष्टिगोचर हुआ। महाराज जी के दर्शनार्थ जो लोग वहाँ पहुँचे थे, उन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखी। वे साश्चर्य दिङ्मूढ़ हो बैठे रहे। वे सांप से डरते थे। सांप भी जनता से घबड़ाता था। महाराज का आश्रय इसीलिए उसने लिया था। महाराज जी का दिव्य आत्मबल देखकर वहाँ आये हुए यात्रियों में से प्रमुख श्रेष्ठी श्रीमान सेठ खुशालचंद जी पहाड़े और ब्र. हीरालाल जी बड़े प्रभावित हुए। दोनों सज्जन विचक्षण थे। दक्षिण यात्रा के लिए निकले हुए यात्री थे। मिरज पहुँचने के बाद पता चला कि निकट ही दिगम्बर साधु हैं। इसलिए परीक्षा के हेतु वे वहाँ पर पहुँचे थे। उनकी अपनी धारणा थी कि इस काल में साधक का होना असंभव है। भरी सभा में 'क्या आपको अवधिज्ञान है? या आपको ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त है?" आदि वैयक्तिक आचार विषयक प्रश्न भी पूछने लगे। कुछ उलाहना का अंश भी जरूर था। सम्मिलित भक्तगणों में कुछ ऐसे जरूर थे, जो इन सवालों का जवाब मुट्ठियों से देने के लिए तैयार हो गये। मुनि महाराज ने भक्तों को रोका। एक-एक सवाल का जवाब यथानाम "शांतिसागर जी" ने शांति से ही दिया। समागत दोनों परीक्षक अत्यधिक प्रभावित हुए, उसी समय दीक्षा के लिए तैयार भी हो गये। महाराज जी ने ही उन्हें रोककर यात्रा पूरी करने का और कुटुम्ब परिवार की सम्मति लेने को कहा। जब महाराज बाहुबली (कुम्भोज) आये, तब वहाँ आकर उक्त दोनों

सज्जनों ने महाराज जी के पास क्षुल्लक पद की दीक्षा धारण की। दीक्षा के बाद श्री सेठ खुशालचंद जी क्षुल्लक 'चन्द्रसागर' तथा श्री ब्र. हीरालाल जी का क्षुल्लक "वीरसागर" नामांकन हुआ। समडोली के चातुर्मास में आचार्यश्री के पास क्षुल्लक वीरसागर जी ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। यही महाराज के प्रथम निर्ग्रंथ शिष्य थे। आचार्यश्री ने आगे चलकर अपने समाधिकाल में श्री वीरसागर महाराज को ही उन्मुक्त भावों से आचार्यपद प्रदान किया। श्री वीरसागर जी की दीक्षा विधि हुई। कुछ ही समय बाद ऐलक नेमण्णा ने भी मुनिदीक्षा धारण की। नाम श्री 'नेमिसागर' रखा गया।

## 4.8 आचार्यपद की प्राप्ति व महत्वपूर्ण तीर्थरक्षा कार्य—

समडोली ग्राम में ही सर्वप्रथम आचार्यश्री का चतु:संघ स्थापन हुआ। अब तक केवल अकेले महाराज ही निर्ग्रंथ साधु स्वरूप में विहार करते थे। अब संघ सहित विहार होने लगा। संघ ने उनको 'आचार्य' घोषित किया। आचार्य महाराज का संघ पर वीतराग शासन बराबर चलता था। संघ सहित विहार करते-करते महाराज कुम्भोज से श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी आये। क्षेत्र पर श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिद्वय की चरण पादुकाओं का पावन दर्शन किया। विहारकाल का उपयोग महाराज श्री जाप्य तथा मंत्र स्मरण के लिए विशेष रूप से कर लेते थे।

## 4.9 श्री सम्मेदशिखर जी की ऐतिहासिक पावन यात्रा ( चलता फिरता वीतरागता और विज्ञानता का विश्वविद्यालय )—

ई. सन् 1927 के मार्गशीर्ष वदी प्रतिपदा के दिन श्री सम्मेदशिखर जी क्षेत्र की वंदना और धर्मप्रभावना के उद्देश्य से आचार्यश्री 108 शांतिसागर जी महाराज की विहार यात्रा संघ सहित बाहुबली (कुम्भोज) क्षेत्र से शुरू हुई।

नागपुर में संघ का अपूर्व स्वागत हुआ। जुलूस तीन मील लम्बा निकला था। शहर के बाहर इतवारी में स्वतंत्र 'शांतिनगर' की रचना की गयी थी। कांग्रेस के पंडाल से शांतिनगर का पंडाल कुछ छोटा नहीं था। जनता आज भी उस समय की अपूर्व घटनाओं की स्मृति से आनंद का अनुभव करती है और स्वयं को धन्य मानती है।

संघ की विदाई हृदयद्रावक थी। साश्रुनयनों से श्रावक-श्राविकाओं को अनिवार्यरूप से विदाई देनी पड़ी। दिनाँक 9 जनवरी 1928 को संघ का नागपुर छोड़कर भंडारा मार्ग से विहार शुरू हुआ। छत्तीसगढ़ के भयंकर जंगलमय विकट मार्ग से निर्बाध होते हुए संघ हजारीबाग आया। बाद में फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन तीर्थराज श्री सम्मेदशिखर जी सिद्धक्षेत्र को पहुँचा।

यहाँ पर श्री संघपति जी के द्वारा व्यापकरूप में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव द्वारा महती धर्मप्रभावना हुई। भीड़ की सीमा न थी। भारत के कोने-कोने से श्रावक-श्राविकाएँ अत्यधिक प्रमाण में पहुँचे।

पंडित आशाधरजी के शब्दों में कहना होगा, 'दलित कलिलीला-विलसितम्' यही पर्वतराज का सजीव मनोहारी दृश्य था। अनेक भाषा, अनेक वेशभूषा में व्यापक तत्त्व की एकता का होने वाला प्रत्यक्ष दर्शन अलौकिक ही था। निर्विकल्प वस्तु के अनुभव के समय विशेष का तिरोभाव और सामान्य का आविर्भाव होता ही है ठीक इसी तरह सांस्कृतिक एकता का यह सजीव स्वरूप प्रभावशाली बन गया।

श्री सम्मेदशिखर की वंदना करके वहां से मंदारगिरी, चम्पापुरी, पावापुरी, कुण्डलपुर, राजगृही, गुणावां आदि अनेक पवित्र तीर्थ क्षेत्रों की संघ ने यात्रा की।

स्वर्गीय 108 पायसागर जी महाराज आचार्य श्री को पारसमणि की उपमा देते थे। अपनी जीवनी के आधार से ही समादर की भावनाओं से वे अपने प्रवचनों में आचार्यश्री के विषय में गौरवगाथा गाते थे। स्व. आचार्यश्री कुंथुसागर महाराज जी आचार्यश्री के शिष्यों में से उद्भट संस्कृतज्ञ प्रवक्ता रहे, जिनके द्वारा गुजरात में विशेष प्रभावना हुई। आचार्यश्री वीरसागर जी की शिष्य परम्परा से जो जागरण का कार्य हुआ, वह अविस्मरणीय एवं सातिशय ही है।

### 4.10 आक्रमण से संघ ऐसे बच पाया—

दिनाँक 6 जनवरी 1930 में संघ धौलपुर स्टेट के राजाखेड़ा शहर में पहुँचा। तीन-चार दिन तक महती धर्मप्रभावना हुई। यह धर्मप्रभावना भी एक अजैन भाई को सहन नहीं हुई। एक संगठन बन गया। लाठी, काठी, तलवार आदि शस्त्रास्त्रों के साथ करीब 500 लोगों के आक्रमण की गुप्त योजना भी बन गई।

**मृगमीनसज्जनानां, तृणजल-संतोष-विहितवृत्तीनाम् ।**
**लुब्धक-धीवर-पिशुनः, निष्कारण वैरिणो जगति।।**

घासपत्ती पर अपना गुजारा करने वाले हिरन, जल में अपना निर्वाह करने वाली मछलियाँ और सन्तोषामृत का पान करने वाले साधु पुरुषों से भी शिकारी, मछलीमार और दुर्जन व्यर्थ ही शत्रुता करते हैं। यह सनातन दुष्टता की परंपरा संसार में चली ही आ रही है। इसका प्रत्युत्तर राजाखेड़ा में आया। छिद्दीलाल ब्राह्मण के नेतृत्व में आक्रमण की तैयारी हो गई थी। संघ का हत्याकाण्ड होने को ही था कि महाराज की अंतरंग स्वच्छता से अंतर्ज्ञान द्वारा जो कुछ भी संकेत मिला हो, उन्होंने संघस्थ त्यागियों से प्रतिदिन की अपेक्षा शीघ्र आहार करके लौटने को कहा। तदनुसार समस्त त्यागी चर्या करके 9 बजे के भीतर ही मंदिर जी में वापिस लौट आये। आक्रामक लोग नारे लगाते हुए मंदिर जी की ओर बढ़े। जैनियों ने इस प्राणांतिक आक्रमण का प्रतिकार भी किया। स्टेट की ओर से पुलिस सहायता भी दौड़ी हुई आयी। पुलिस दल ने आक्रामकों को गिरफ्तार कर लिया लेकिन महाराज जी ने करुणाभाव प्रदर्शित कर उनको छोड़ देने के लिए पुलिस अधिकारी मंडल को बाध्य किया।

### 4.11 सामंजस्यपूर्ण दूरदृष्टिता—

**जातिलिंगविकल्पेन, येषां च समयाग्रहः।**
**तेऽपि न प्राप्नुवंति, परमं पदमात्मनः।।**

अर्थात् जाति और वेष-परिवेष का विकल्प साधना में पूरा बाधक एवं हेय होता है। इसी प्रकार तेरहपंथ या बीसपंथ के विकल्पों से आत्म साधना अर्थात् परमार्थ-भूत धर्मसाधना अत्यन्त दूर होती है। धर्मदृष्टि के अभाव का ही परिणाम है। टंकोत्कीर्ण धर्म साधन लुप्त प्रायः होती जा रही है और तेरह-बीस पंथ के झगड़े दृढ़मूल बनाए जा रहे हैं और उन्हें धर्माचार का रूप दिया जा रहा है। समाज में आज भी जो भाई तेरह और बीस पंथ के नाम से समय-समय पर वितंडा उपस्थित करते हैं और समाज के स्वास्थ्य को ठेस पहुँचाते हैं, उनकी उस प्रवृत्ति को जो समाज के लिए महारोग के समान है, हम समझते हैं आचार्यश्री का सामंजस्यपूर्ण दूरदृष्टिता का व्यवहार एक अद्‌भुत कल्याणकारी अमृतोपम रसायन हो सकता है।

### 4.12 चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री—

संघ विहार करता हुआ गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर आया। यहाँ पर सम्मिलित सब जैन समाज ने आचार्यश्री को "चारित्र-चक्रवर्ती" पद से विभूषित किया। महाराजश्री की आत्मा निरंतर निरूपाधिक आत्मस्वरूप के अमृतोपम महास्वाद को सहज प्रवृत्ति से बराबर लेने में परमानंद का अनुभवन करती थी। उन्हें इस उपाधि से क्या? वे पूर्ववत् उपाधि-शून्य स्वभावमग्न ही थे। साधु परमेष्ठी या आचार्य परमेष्ठी के आंतरिक जीवन का यथार्थ दर्शन यह चक्षु का विषय नहीं होता। वह अपनी शान का अलौकिक ही होता है। जहाँ जीवनाधार श्वासोच्छ्वास की तरह इन परमेष्ठियों का श्वांस आत्मा को स्वात्मा में स्थिर बनाये रखने के लिए होता है, वहाँ उच्छ्वास विश्व में अपनी आदर्श प्रवृत्ति के द्वारा शांति स्थापना में और धर्मप्रभावना में उत्कृष्ट निमित्त के रूप में उपस्थित होने के लिए होता है। आचार्यश्री की लोकोत्तम, लोकोत्तर अलौकिकता और वैभवशाली विभूतिमत्ता इसी में थी। "चारित्र-चक्रवर्ती" उपाधि का महाराज को तो कोई

हर्ष-विषाद ही नहीं था। "चारित्र के चक्रवर्ती तो भगवान् ही हो सकते हैं। हम तो लास्ट नम्बर के मुनि हैं। हमें उपाधि से क्या? स्वभाव से निरूपाधिक आत्मा ही हमारी शरण है।" समाज ने उनकी गुणग्राहकता और त्याग-संयम के प्रति निष्ठा का जो औचित्यपूर्ण दर्शन किया, वह योग्य ही हुआ।

### 4.13 कुंथलगिरी क्षेत्र पर बृहज्जिनबिम्ब का विकल्प—

कुंथलगिरी दक्षिण का सीमावर्ती सुन्दर सिद्धक्षेत्र है। "यहाँ पर एक विशालकाय बाहुबली भगवान की मूर्ति हो तो अच्छा होगा।" यह भव्य आशय कमेटी के सभी सदस्यों को एकदम पसंद आया। पूज्य आचार्यश्री के समक्ष कार्य पूरा होना असंभव था। महाराज जी ने यम सल्लेखना का नियम कर ही लिया था। इसी अवसर पर एक समाचार विदित हुआ कि दक्षिण में म्हैसूर स्टेट के अंतर्गत "बस्ती हल्ली" देहात में एक 15 फुट ऊँची मनोज्ञ मूर्ति है और वह एक अजैन भाई के खेत में करीब अज्ञात अवस्था में पड़ी हुई है, उसी को लाकर खड़ी करने का विचार किया गया। स्व. श्रीमान् सेठ राव जी देवचंद शहा आदि सज्जन स्वयं वहाँ पहुँचे। काफी प्रयास किया गया परन्तु सफलता नहीं मिल पायी। केवल फोटो मात्र मिल पाया। उसे ही सिर पर रखकर आचार्यश्री ने धन्यता के भाव प्रगट किये। वीतरागता की साधना में परम वीतराग मूर्ति के दर्शन से अद्‌भुत आनन्द की और धर्मोल्लास की लहर होना सहज था। आचार्यश्री की चर्या पर वह दृष्टिगोचर हुई। आचार्य महाराज के भव्य भावों की पूर्ति होनी ही चाहिए, इस प्रकार का भव्य भाव समीपवर्ती सेवाभावी सरल प्रकृति श्रेष्ठीवर्य श्रीमान् नेमचन्द जी मियाचंद जी गांधी, नातेपुते के चित्त में आया। "यदि महाराज जी की आज्ञा हो, तो इसी क्षेत्र के ऊपर 18-20 फुट ऊँची बाहुबली भगवान् की मूर्ति विराजमान करने का मेरा भाव है" इसके पश्चात् सन् 1970 में 18 फीट ऊँची बाहुबली भगवान् की मूर्ति पहाड़ी के ऊपर पूर्वाभिमुख विराजमान होकर प्रतिष्ठा भी सम्पन्न हो गई। इस प्रकार एक तरह से महाराज के सम्पूर्ण काम सिद्ध हुए।

### 4.14 हीरक जयंती महोत्सव—

जैनियों की दक्षिणकाशी फलटण नगरी धर्मकार्यों को उत्साह तथा उल्लास के साथ करती ही आ रही है। सन् 1952 की घटना है। पूज्य श्री की जीवनी के 80 वर्ष पूरे हुए। इस प्रसंग से हीरक जयंती महोत्सव सम्पन्न करने का निर्णय एक स्वर से किया गया। आचार्यश्री को उत्सवों से कोई हर्ष-विषाद नहीं था। एक तरह से त्याग तपस्या का ही यह गौरव था। जून की दिनाँक 12, 13, 14 ये तीन दिन विशेष आनन्दोत्सव के रहे। सर्वत्र चहल-पहल रही। भारत के कोने-कोने से हजारों भाई फलटण पहुँचे। ताम्रपत्रों के ऊपर उत्कीर्ण धवलादि ग्रंथों का हाथियों के ऊपर जुलूस निकालकर वे ग्रंथ भक्ति-भावपूर्वक पूज्य आचार्यश्री को समारोह के साथ समर्पण किये गये। छोटे-मोटे सभी कार्यों में विशेष सातिशय सजीवता दिखलायी देती थी। स्वयं फलटण स्टेट के अधिपति श्रीमान् मालोजीवराव निंबालकर फलटण नगरी का यह अहोभाग्य समझते रहे।

**तिथिपर्वोत्सवा सर्वे, व्यक्ता येन महात्मना।**
**अतिथि तेऽवजानीयात् शेषमभ्यागतं विदुः।।**

सब ही तिथियाँ, पर्व और उत्सव संबंधी विकल्पों से ये महर्षि सदा ही दूर होते हैं इसीलिए इनका यथार्थ नाम 'अतिथि' होता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार करने पर आत्मा तो यही कहती है कि, महाराज वर्तमान युग के महान् सत्पात्र तो रहे ही हैं परन्तु उनके द्वारा जो ज्ञानदान और दृष्टिदान हुआ है, उससे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि महाराज श्रेष्ठ से श्रेष्ठ दानी भी रहे। पात्र समझकर जो चढ़ाया गया, वह थोड़ा था और दाता समझकर जो कुछ समाज के द्वारा लिया गया वह भी थोड़ा था, इस सत्य को स्वीकार करना होगा।

### 4.15 आदर्श सल्लेखना—

विचार और भावनाओं का समान संयोग आचार्यश्री के जीवन की एक विशेषता थी। भावनाओं में आकर शक्ति को व्यर्थ खोना या व्यर्थ खोने का विकल्प करना यह असंभव था। भविष्य की आशा में वर्तमान को गंवाना वे प्रकाश के बदले में अंधकार को खरीदना जैसा मानते थे। वर्षों से अखण्ड रूप से की गयी हजारों मीलों की पदयात्रा, यथासंभव अनुकूल-प्रतिकूल आहार का संयोग, उपवासों की धाराप्रवाहिता, वृद्धावस्था, अल्पनिद्रा आदि कारणों से दृष्टि में पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक मंदता का अनुभव होने लगा। वैद्य और डाक्टरों से समय-समय पर बराबर परामर्श होता था। शुद्ध उपचारों का विशुद्ध भावनाओं से अमल भी होता था। दृष्टि विनाश होने के बाद समितियों का पालन और प्राणस्वरूप मुनिचर्या असंभव है, इसलिए साधनों की सुरक्षा सावधानीपूर्वक अप्रमाद भाव से आचार्यश्री प्रारंभ से ही करते रहे। दिनाँक 14-8-1955 को महाराज जी द्वारा सल्लेखना का ज्यों ही निर्णय प्रगट हुआ, समाज भर को, देशभर को भूचाल जैसा धक्का लगा, जो स्वाभाविक ही था। अंततोगत्वा आचार्य महाराज की 36 दिवसीय सल्लेखना के साथ 18 सितम्बर 1955, भाद्र शुक्ला दूज, रविवार को प्रातःकाल 6.50 पर "ॐ सिद्धाय नमः" के साथ समाधि पूर्ण हुई।

### 4.16 ऐतिहासिक तपः साधना ( आचार्यश्री के साढ़े 25 वर्षों से भी अधिक दिन के उपवासों का विवरण )

| उपवासों की संख्या | कितनी बार | उपवास के कुल दिन |
|---|---|---|
| 1) 16 दिन का | 3 बार | 48 |
| 2) 10 दिन का | 1 बार | 10 |
| 3) 9 दिन का | 6 बार | 54 |
| 4) 8 दिन का | 7 बार | 56 |
| 5) 7 दिन का | 6 बार | 42 |
| 6) 6 दिन का | 6 बार | 36 |
| 7) 5 दिन का | 6 बार | 30 |
| 8) 4 दिन का | 6 बार | 24 |
| 9) अंतिम 36 दिन तक के उपवास में स्वर्गवास | 1 बार | 36 |
| | | योग-336 दिन |

| व्रत नाम | उपवासों की संख्या |
|---|---|
| 1. चारित्रशुद्धि व्रत | 1234 |
| 2. तीस चौबीसी व्रत | 720 |
| 3. कर्मदहन व्रत (तीन बार) | 468 |
| 4. सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत (तीन बार) | 270 |
| 5. सोलहकारण व्रत (16/16) | 256 |
| 6. श्रुतपंचमी व्रत | 36 |
| 7. विहरमान व्रत (20 तीर्थंकर व्रत) | 20 |
| 8. दशलक्षण पर्व | 10 |

| | |
|---|---|
| 9. सिद्धों के व्रत (8) | 8 |
| 10. अष्टाह्निका व्रत | 8 |
| 11. गणधरों के व्रत | 200 |
| गणधरों के 1452 उपवास होते हैं। | |
| आचार्य श्री 200 ही कर पाये थे। | |
| 12. अतिरिक्त व्रत | 6372 |
| | योग 9602 |

आचार्यश्री ने अपने जीवन में 336+9602=9938 उपवास किये हैं।

## 4.17 आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की ऐतिहासिक सल्लेखना के छत्तीस दिनों की बोलती जुबानी—

**समाधिमरण-सल्लेखना क्या और क्यों ?**

महाराज श्री के नेत्रों में काँच-बिन्दु का रोग हो जाने से नेत्रों की ज्योति मंद होती जा रही थी। तब उन्होंने विचार किया कि देखने की शक्ति नष्ट होने पर ईर्यासमिति नहीं बनेगी, भोजन की शुद्धता का पालन नहीं हो सकेगा, पूर्ण अहिंसा धर्म का रक्षण असंभव हो जायेगा। तब पूज्य श्री ने निर्णय ले लिया कि निर्वाणभूमि में जाकर समाधिमरण करूँगा और वे कुंथलगिरि पहुँच गये। सांसारिक प्रपंचों में फंसा मोही जीव समाधिमरण की महत्ता व शुद्धता की कल्पना भी नहीं कर सकता। वह तो समाधिमरण को आत्महत्या ही सोचता है। जबकि यह सोचना सर्वथा भ्रम है। आत्महत्या में कषाय होती है किन्तु समाधिमरण में महान निर्मलता, शक्ति एवं प्रसन्नता रहती है। उपसर्ग, बुढ़ापा या बीमारी के कारण जब मृत्यु का वरण अनिवार्य हो जाये, तब ज्ञानी व्यक्ति शरीर से समस्त मोह-ममता तोड़कर अपने धर्म की रक्षा करते हैं। जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर लोग उसमें से अपने प्रिय जनों तथा कीमती वस्तुओं आदि को निकाल लेते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी जन शरीर के नष्ट होने की संभावना होने पर अपने अनमोल धर्म की रक्षा करते हैं। जीवन भर पूजा पाठ करते रहे और अन्त समय में रोये दु:ख मनाया तो समझो कि धर्म का मर्म नहीं समझा। आत्मा में अपनत्व-बुद्धि होना और आत्मा के स्वरूप में स्थिर होना यही समाधि है। इसी को सल्लेखना अथवा पंडित मरण भी कहा है अर्थात् विवेकपूर्वक मरण।

अपने 36 दिन के उपवास में पूज्य श्री ने केवल आठ बार जल लिया। उपवास के 26वें दिन ता. 8 सितम्बर 1955 को सायंकाल के समय उन साधुराज ने 22 मिनट पर्यन्त लोककल्याण के लिए अपना अमर संदेश दिया, जिससे विश्व के प्रत्येक शांति प्रेमी को प्रकाश और प्रेरणा प्राप्त होती है। 32वें दिन भी वे इतने सजग थे कि लोगों के पूछने पर कि आप स्वस्थ हैं उन्होंने कहा कि मैं सिद्धों के समान अपनी आत्मा का ध्यान कर रहा हूँ और 18 सितम्बर भादों सुदी द्वितीया का दिन आया, वह दिन रविवार का था, अमृत सिद्धियोग था, नभोमण्डल में सूर्य का आगमन हुआ, घड़ी में 6 बजकर पचास मिनट हुए थे कि 84 वर्ष की आयु में चारित्रचक्रवर्ती साधुराज स्वर्ग को प्रयाण कर गये। छत्तीस गुण वाले आचार्य परमेष्ठी की छत्तीस दिवसीय समाधि अलौकिकतापूर्ण थी।

## 4.18 मानव कल्याण का आधार सत्य और अहिंसा ( आचार्य महाराज का अंतिम अमर संदेश )—

(परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने कुंथलगिरि तीर्थ पर आमरण अनशन के 26वें दिन ता. 8 सितम्बर को शाम के 5 बजे मराठी में मानव-कल्याण के लिए जो उपदेश दिया, वह रिकार्ड किया गया था। आचार्य श्री के उस अमर संदेश का हिन्दी में अनुवाद समाज की जानकारी के लिए यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः-3, पंचभरत, पंचऐरावत के भूत भविष्यत्काल संबंधी भगवानों को नमस्कार हो। तीस

चौबीसी भगवानों को, श्री सीमन्धर आदि बीस तीर्थंकर भगवानों को नमस्कार हो। भगवान ऋषभदेव से महावीर पर्यंत के 1452 गणधर देवों को नमस्कार, चारण ऋद्धिधारी मुनियों को नमस्कार,चौंसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वरों को नमस्कार। अन्तकृतकेवलियों को नमस्कार। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले 10-10 घोरोपसर्ग विजेता मुनीश्वरों को नमस्कार हो।

ग्यारह अंग चौदह पूर्व प्रमाण शास्त्र महासमुद्र है। उनका वर्णन करने वाले श्रुतकेवली नहीं हैं, उसके ज्ञाता केवली, श्रुतकेवली भी अब नहीं हैं। उसका वर्णन हमारे सदृश क्षुद्र मनुष्य क्या कर सकते हैं? जिनवाणी सरस्वती 'श्रुतदेवी' अनन्त समुद्र तुल्य है। उसमें कहे गये जिनधर्म को जो धारण करता है, उसका कल्याण होता है, उसको अनन्त सुख मिलता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा नियम है। एक अक्षर ॐ है। उस एक ॐ अक्षर को धारण करके जीवों का कल्याण हुआ है। दो बन्दर लड़ते-लड़ते सम्मेदशिखर से स्वर्ग गये। सेठ सुदर्शन तिर गया। सप्त व्यसनधारी अंजन चोर तिर गया। कुत्ता महानीच जाति का जीव जीवन्धरकुमार के णमोकार मंत्र के उपदेश से देव हुआ। इतनी महिमा जैनधर्म की है किन्तु (श्वांस लेते हुए) जैनियों को अपने धर्म में श्रद्धा नहीं है।

**जीव और पुद्गल पृथक्-पृथक् हैं—**

अनन्त काल से जीव पुद्गल से भिन्न है, यह सब लोग जानते हैं पर विश्वास नहीं करते। पुद्गल भिन्न है जीव अलग है। तुम जीव हो, पुद्गल जड़ है इसमें ज्ञान नहीं है, ज्ञान-दर्शन चैतन्य जीव में है। स्पर्श-रस-गंध-वर्ण पुद्गल में हैं, दोनों के गुण, धर्म अलग-अलग हैं। पुद्गल के पीछे पड़ने से जीव को हानि होती है। तुम जीव हो, मोहनीय कर्म जीव का घात करता है। जीव के पक्ष से पुद्गल का अहित है। पुद्गल से जीव का घात होता है। अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष जीव को ही होता है पुद्गल को नहीं, सब जग इसको भूला है। जीव पंच पापों में पड़ा है। दर्शन मोहनीय के उदय ने सम्यक्त्व का घात किया है। क्या करना चाहिए? सुख प्राप्ति की इच्छा है, तो दर्शन मोहनीय का घात करो, चारित्र मोह का नाश करो, आत्मा का कल्याण करो, यह हमारा आदेश व उपदेश है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव संसार में फिरता है। मिथ्यात्व का नाश करो, सम्यक्त्व को प्राप्त करो। सम्यक्त्व क्या है? सम्यक्त्व का वर्णन समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़, गोम्मटसार आदि बड़े-बड़े ग्रंथों में है, पर इन पर श्रद्धा कौन करता है? आत्म-कल्याण करने वाला ही श्रद्धा करता है। मिथ्यात्व को धारण मत करो, यह हमारा आदेश व उपदेश है। ॐ सिद्धाय नमः।

**कर्म की निर्जरा का साधन आत्म-चिंतन—**

तुम्हें क्या करना चाहिए ? दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करो, आत्मचिन्तन से दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय होता है, कर्मों की निर्जरा भी आत्मचिन्तन से होती है।

दान से, पूजा से, तीर्थ यात्रा से पुण्य-बंध होता है। हर धर्म कार्य से पुण्य का बंध होता है किन्तु कर्म की निर्जरा का साधन आत्म-चिंतन है। केवलज्ञान का साधन-आत्म-चिंतन है। अनन्त कर्मों की निर्जरा का साधन आत्म-चिन्तन है। आत्म-साधन के सिवा कर्म-निर्जरा नहीं होती है। कर्म निर्जरा बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता। क्या करें? शास्त्रों में आत्मा का ध्यान उत्कृष्ट 6 घड़ी, मध्यम 4 घड़ी और जघन्य 2 घड़ी कहा है। कम से कम 10-15 मिनट ध्यान करना चाहिए। हमारा कहना यह है कि कम से कम 5 मिनट तो आत्म-चिन्तन करो। इसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता है। सम्यक्त्व के पश्चात् संयम धारण करो। सम्यक्त्व होने पर 66 सागर यहाँ रहोगे। चारित्रमोहनीय का क्षय करने के लिए संयम धारण करना चाहिए, इसके बिना चारित्रमोहनीय का क्षय नहीं होता। संयम धारण किये बिना सातवाँ गुणस्थान नहीं होता और सातवें गुणस्थान के बिना उच्च आत्म-अनुभव नहीं होता। वस्त्रधारी को सातवाँ गुणस्थान नहीं होता है।

**सम्यक्त्व और संयम धारण के बिना समाधि संभव नहीं—**

ॐ सिद्धाय नमः। समाधि दो प्रकार की है—एक निर्विकल्प समाधि और दूसरी सविकल्प समाधि। गृहस्थ

सविकल्प समाधि धारण करता है। मुनि हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होगी अतएव निर्विकल्प समाधि पाने के लिए पहले मुनि पद धारण करो। इसके बिना निर्विकल्प समाधि कभी नहीं होगी। निर्विकल्प समाधि हो तो सम्यक्त्व होता है, ऐसा कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है। आत्म-अनुभव के सिवाय नहीं है। व्यवहार सम्यक्त्व खरा (परमार्थ) नहीं है। फूल जैसे फल का कारण है, व्यवहार सम्यक्त्व आत्म-अनुभव का कारण है। आत्म-अनुभव होने पर खरा (परमार्थ) सम्यक्त्व होता है। निर्विकल्प समाधि मुनि पद धारण करने पर होती है। सातवें गुण-स्थान से बारहवें पर्यंत निर्विकल्प समाधि होती है। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होता है, ऐसा शास्त्र में कहा है। यह विचार कर डरो मत कि क्या करें? संयम धारण करो। सम्यक्त्व धारण करो। इसके सिवाय कल्याण नहीं है, संयम और सम्यक्त्व के बिना कल्याण नहीं है। पुद्गल और आत्मा भिन्न हैं, यह ठीक-ठीक समझो। तुम सामान्य रूप से जानते हो, भाई, बन्धु, माता, पिता पुद्गल से संबंधित हैं, उनका जीव से कोई संबंध नहीं है। जीव अकेला है। बाबा (भाइयों)! जीव का कोई नहीं है। जीव भव-भव में अकेला जावेगा। देवपूजन, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, दान और तप ये धर्म कार्य हैं। असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या, वाणिज्य ये 6 कर्म कहे गये हैं। इनसे होने वाले पापों का क्षय करने को उक्त धर्म क्रिया कही है, इससे मोक्ष नहीं है। मोक्ष किससे मिलेगा? केवल आत्म-चिंतन से मोक्ष मिलेगा और किसी क्रिया से मोक्ष नहीं होता।

**जिनवाणी का अपूर्व माहात्म्य—**

भगवान की वाणी पर पूर्ण विश्वास करो, इसके एक-एक शब्द से मोक्ष पा जाओगे। इस पर विश्वास करो। सत्य वाणी यही है कि एक आत्म-चिंतन से सब साध्य है और कुछ नहीं है। बाबा (भाई)! राज्य, सुख, सम्पत्ति, संतति सब मिलते हैं, मोक्ष नहीं मिलता है। मोक्ष का कारण एक आत्म-चिंतन है। इसके बिना सद्गति नहीं होती है।

**सारांश—** "धर्मस्य मूलं दया" प्राणी का रक्षण दया है। जिन धर्म का मूल क्या है ? "सत्य और अहिंसा।" मुख से सब सत्य-अहिंसा बोलते हैं। मुख से भोजन कहने से क्या पेट भरता है ? भोजन किये बिना पेट नहीं भरता है, क्रिया करनी चाहिए। बाकी सब काम होंगे। सत्य अहिंसा पालो। सत्य से सम्यक्त्व है। अहिंसा से दया है। किसी को कष्ट नहीं दो। यह व्यवहार की बात है। सम्यक्त्व धारण करो, संयम धारण करो। इसके बिना कल्याण नहीं हो सकता।

## 4.19 आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की कतिपय अमूल्य शिक्षाएँ एवं विचार—

### 4.19.1 हाथी का स्नान—

मुनि श्री नेमिसागर जी जब गृहस्थ थे और व्यापार करते थे, तभी से आचार्यश्री के संपर्क में आ गये थे। गृहस्थी चलाते हुए ही उन्होंने कई कठोर नियम पाल रखे थे और विरक्ति मार्ग पर चलने के लिए अपने को तैयार कर रहे थे। उन्हें विश्वास था कि हमारा यह भक्ति-वैराग्य हमें सद्गति अवश्य प्रदान करेगा।

परन्तु आचार्य महाराज ने एक ही उपमा से उनकी सारी चित्तवृत्ति को नयी ही दिशा में मोड़ दिया। महाराज ने एक बार नेमिसागर जी से कहा, 'तुम्हारा यह भक्ति-वैराग्य हाथी के स्नान जैसा है'।

बस, इस एक वाक्य का प्रभाव इतना गहरा एवं इतना व्यापक हुआ कि नेमिसागर जी ने गृहस्थी को त्यागकर त्यागमार्ग अपना लिया।

पात्र जैसा हो, उपदेशक की बातों का स्वरूप और उनका लहजा भी वैसा ही होता है। नेमिसागर जी परिपक्व आत्मा थे, इस कारण आचार्यश्री ने उन्हें बहुत विस्तृत रूप से समझाना आवश्यक नहीं समझा।

महाराज के उपदेश का विस्तृत अर्थ यह था—"हाथी को जब नहलाया जाता है, तो उसके शरीर पर का मैल आसानी से छूटता नहीं। महावत ईंट से रगड़-रगड़ कर उसके मोटे चमड़े को धोता है, तब कहीं जाकर उसका मैल उतरता है। परन्तु इतनी कठिनाई एवं परिश्रम से हाथी को नहलाने का लाभ ही क्या ? क्योंकि किनारे पर चढ़ते ही वह मिट्टी उठा-उठा अपने मस्तक पर तथा सारे शरीर पर डाल लेता है और फिर थोड़ी ही देर में मैले का मैला हो जाता है।

"इसी प्रकार तुम भक्ति-वैराग्य करने के लिए मेरे पास आते हो और बड़े परिश्रम के साथ अपने मन का मैल धोते हो। फिर भी उससे लाभ क्या ? थोड़ी ही देर में तुम घर लौट जाते हो और फिर संसार भर के कर्ममलों से अपनी आत्मा को गंदा कर लेते हो। इस कारण तुम्हारा यह भक्ति-वैराग्य करना हाथी के स्नान जैसा है।"

आचार्यश्री की उपमा का यह सारा तात्पर्य गृहस्थी नेमण्णा (नेमिसागर) के मन में समा गया और आचार्यश्री की यह उक्ति सुनते ही उनके मन की विरक्त भावना और प्रबल हो उठी तथा उनका संकेत समझकर उन्होंने त्यागी जीवन अपना लिया।"

**4.19.2 फूल व फल की उपमा—**

आचार्यश्री ने तर्क करने वालों को समझाने के लिए एक सुन्दर उपमा से काम लिया। उन्होंने कहा कि देव की पूजा पुष्प के समान है और आत्मदर्शन फल के समान। मनुष्य देव-आराधना के बिना आत्म दर्शन का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ठीक उसी प्रकार, जैसे फूलों के बिना फल नहीं हो सकता। देव-आराधना मुक्ति मार्ग की प्रथम सीढ़ी है। जब वह पूर्ण रूप से विकसित हो जाये, तभी सत्संग एवं गुरु कृपा के प्रभाव से सम्यक् दर्शन सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे फूल के पूर्ण विकसित होकर पंखुड़ियाँ झड़ जाने के बाद ही फल होता है।

जब आचार्यश्री ने यह उपमा दी तो किसी ने पूछा, 'तो महाराज, आप अब तक देव-आराधना करते हैं। यह क्यों ?

आचार्य श्री ने कहा, "मनुष्य ऊपर की मंजिल पर पहुँचने के लिए सीढ़ियों का सहारा लेता है। ऊपर पहुँचने के बाद उसे सीढ़ियों की आवश्यकता भले ही न हो, फिर भी वह यह तो नहीं भूल सकता कि इन्हीं सीढ़ियों के सहारे मैं ऊपर पहुँचा हूँ? अगर कोई मंजिल पर पहुँचते ही सीढ़ियों को लात मारकर गिरा दे, तो उसका वह व्यवहार क्या उचित कहा जा सकता है ?

"और फिर हमारा काम केवल ऊपरी मंजिल पर स्वयं पहुँचना ही नहीं, बल्कि औरों को भी पहुँचाना है। यदि हम पूजा-विधि से विमुख हो जायें, तो और लोग कैसे समझ सकते हैं कि मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी क्या है ? इसीलिए मैंने देव आराधना को नहीं छोड़ा है। सर्वव्यापी भगवान की जिस रूप में जहाँ भी आराधना की जाये, वह अनुचित या अनावश्यक नहीं हो सकती।"

इन सुन्दर उपमायुक्त उक्तियों ने अधपढ़े तर्क-शिरोमणियों को अवाक् कर दिया और उन्होंने अपने विचार सुधार लिये।

**4.19.3 नंगी तलवार की उपमा—**

एक बार वकील साहब ने या किसी और सज्जन ने महाराज से पूछा—"महाराज! कई तीर्थंकर ऐसे हुए हैं जो भोगमार्ग में रहते हुए अचानक ही विरक्ति मार्ग अपना कर मुक्त हुए हैं और लोग भी ऐसा नहीं कर सकते क्या ?"

महाराज ने जवाब दिया, 'कल्पना कर लो दुधारू नंगी तलवारें मूठ के बल पर खड़ी की गई हैं, इन तलवारों की नोंक पर फल रखे हैं। एक तोता पास में है और लाखों चीटिंया भी हैं। तोता उड़ता हुआ आता है और झट एक फल को चोंच में लेकर खा जाता है। क्या, चीटिंयाँ भी ऐसा कर सकती है ?"

प्रश्नकर्ता ने कहा, 'यह कैसे हो सकता है ?"

आचार्यश्री ने पूछा, 'मान लो चूहा जैसा कोई भारी जानवर है। वह चिउंटियों की तरह तलवार की धार पर चलकर उस फल का रसास्वादन कर सकता है ?"

प्रश्नकर्ता ने जरा सोचकर कहा, 'नहीं। क्योंकि अपने ही भार के कारण चूहा कटकर मर जायेगा, तलवार की धार पर चलकर ऊपर चढ़ना चिउंटी जैसे हल्के जीवों के लिए संभव हो सकता है।"

आचार्यश्री ने कहा, 'बस तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। तीर्थंकर सम्राट लोग अवधिज्ञान-प्राप्त दिव्य जीव थे। भूत,

भविष्य एवं वर्तमान का विपुल ज्ञान उन्हें प्राप्त था। वे अतुल्यवीर्य युक्त भी थे। ऐसे असाधारण जीव अंतिम घड़ी तक भोग में बिताने के बाद अचानक मुनिव्रत धारण करके मुक्त हो गये, तो उसका अर्थ यह थोड़े ही हो सकता है कि सब ऐसा कर सकते हैं ?

'साधारण भोगी मनुष्य चूहे आदि भारी जानवरों के समान है। वह इस दुधारू तलवार की धार पर चलने की कल्पना तक नहीं कर सकता है। उसके लिए उसे त्यागमार्ग अपनाकर अपने कर्मों के बोझ को कठोर व्रत-नियमादि से अधिक से अधिक घटा लेना चाहिए। इस चींटी के समान हल्का हो जाने के बाद ही साधारण मनुष्य मुक्ति-पथ को तलवार की धार पर कदम रख सकता है, अन्यथा नहीं।

"तीर्थंकर लोग तोतों के समान हैं। साधारण गृहस्थ चूहों के समान हैं और साधु लोग चिउंटियों के समान हैं। समझ गये न ?"

प्रश्नकर्ता ने और अन्य सबने कहा, "हाँ महाराज! अच्छी तरह समझ गये।"

महाराज ने पूछा, "कोई बात कहने की रह तो नहीं गई है ?"

लोगों ने कहा, "नहीं तो महाराज!"

**4.19.4 प्रश्न का एक नया पहलू—**

महाराज ने कहा, तीर्थंकरों के विषय में एक बात रह गई है। भरत जैसे सार्वभौम सम्राट आये, अतुल्य सुख भोगे, अन्तिम घड़ी में विरक्त जीवन अपनाया और तत्काल मुक्त हो गये। परन्तु क्या, उनके साथ जो कुछ हुआ, वह इतना ही था ? उपरोक्त वर्णन तो उनके असंख्यात काल के जीवन का आखिरी पर्व मात्र था। उससे पहले कितने असंख्य जन्मों के सतत प्रयत्न के फलस्वरूप कर्मक्षय होकर वे सार्वभौम सम्राट् बनकर अवतरित हुए, यह भी तो हमें सोचना चाहिए। अंत में उनको जो भाग्योदय हुआ, उसी को उनका सारा जीवन समझने ही से यह भूल होती है कि वे कुछ ही घड़ी विरक्त रहकर मुक्त हो गये। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। ठीक है न ?"

प्रश्न के इस नये पहलू पर महाराज के प्रकाश डालने के बाद दूसरों का ध्यान गया। इस वार्तालाप के गहन एवं व्यापक अर्थ पर विचार करते हुए सब लोग लौट गये।

**4.19.5 दिगम्बर जैन साधु दिगम्बर क्यों ?—**

आजकल कुछ बुद्धिवादी लोग कहते हैं, "हम सब बातों को मानते हैं। पर साधु का दिगम्बर रहना हमें अनुचित एवं अनावश्यक प्रतीक होता है। दिगम्बरत्व तो केवल प्रतीकात्मक पारिभाषित शब्द है। उसका भावार्थ केवल इतना है कि पाँच महापापोंरूपी वस्त्रों के आवेष्टन से मुक्त हो जाना। इच्छा, द्वेष, लोभ, असत्यादि पापों को मन से दूर कर देना। वस्त्र पहनकर भी विरक्त लोग इन पापों से दूर रह सकते हैं। दिगम्बरत्व का वास्तविक अर्थ नग्नत्व नहीं है," इत्यादि।

परन्तु जरा व्यावहारिक दृष्टि से सोचा जाये, तो भी ऐसे तर्क का खोखलापन स्पष्ट हो जायेगा।

दिगम्बर जैन मुनि को हर प्रकार की आवश्यकताओं-अपेक्षाओं से मुक्त एवं रहित होना चाहिए अन्यथा वह सम्पूर्ण रूप से निस्पृह नहीं हो सकता। अपने खाने के लिए एक दाना भी वह रख नहीं सकता, न पीने के लिए जल। वह किसी भी प्रकार की याचना नहीं कर सकता, वह अयाचक होता है। जब वह आचारचर्या के लिए निकलता है तब मुँह से एक शब्द भी नहीं निकालता। सभी अन्तरायों से बचकर जब वह आहार ग्रहण नहीं करता है, तब भी वह स्वयं कह नहीं सकता कि अमुक वस्तु चाहिए, अमुक वस्तु नहीं। वह हर जगह पैदल ही चलता है। वाहनों का उपयोग उसके लिए निषिद्ध है।

**4.19.6 सत्य-निष्ठा के लिए दिगम्बरत्व आवश्यक-**

ऐसी स्थिति में यदि वस्त्र धारण की छूट दी जाये तो साधु की विशुद्ध तपश्चर्या में ऐसी बाधाएँ उत्पन्न हो जायेंगी,

जिनकी कि कल्पना नहीं की जा सकती। उसका त्यागी जीवन संग्रह जीवन में परिवर्तित ही जायेगा।

कल्पना करें, दिगम्बर जैन साधु को वस्त्र पहनने की आजादी दी जाती है। उसका अर्थ यह होगा कि गर्मियों में सूती कपड़ों और सर्दियों में गरम कपड़ों की प्राप्ति के लिए साधु तरह-तरह की चिन्ताएँ करने लगेगा। या तो उसे उसके लिए याचना करनी पड़ेगी या और तरह से संग्रह करना पड़ेगा। इससे जहाँ उसकी अयाचक वृत्ति नष्ट हो जायेगी, वहाँ उसमें अपरिग्रह भी नहीं रहेगा। साथ ही परीषह-सहन के कठोर नियम से भी वह मुक्त हो जायेगा।

जहाँ ये तीनों प्रतिबंध-अयाचन, अपरिग्रह एवं परीषह-सहन हट गये, वहीं पाखण्डों-ढोंगियों के लिए खुली छूट मिल जायेगी। ऐसे लोग भी बेहिचक साधु बनने लगेंगे, जिन्होंने इन्द्रियदमन नहीं किया हो और लोभ का परित्याग नहीं किया हो।

दिगम्बर जैन समाज की सबसे बड़ी महानता यही है कि धर्महानि के इस युग में भी उसमें ऐसे साधु हुए हैं और हो रहे हैं, जो कठोर तपस्या की अग्नि में स्वर्ण की भांति तपकर कुन्दन की तरह शुभ्रयश फैलाते हुए निकले और निकलते हैं। इसका एक मात्र कारण वही है जिसका मैं उत्तर विशद उल्लेख कर चुका हूँ अर्थात् दिगम्बर जैन साधु को ऐसे कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है और ऐसे दारूण परीषहों को सहन करना पड़ता है कि जिसने वासनाओं पर सम्पूर्ण विजय नहीं पायी हो और जो मन-वचन-कर्म से सम्पूर्ण विरक्त नहीं हो, वह दिगम्बर जैन साधु बनने का साहस ही नहीं कर सकता। यदि दिगम्बरत्व का एक नियम हट गया, तो दिगम्बर जैन साधुओं का यह निर्मल चरित तत्काल भ्रष्ट हो जायेगा।

जितने भी विचारकों से मैंने इस विषय पर गंभीर चर्चा की, उन सबका यही मत है कि दिगम्बरत्व ही वह बाँध है, जिसको लांघने का साहस पाखण्डियों में नहीं हो सकता। ज्यों ही यह बाँध टूटा, धर्म का वास्तविक निर्मल स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा।

### 4.19.7 ब्रह्मचर्य की आवश्यकता-

**प्रश्न**—मुक्तिमार्ग में ब्रह्मचर्य क्यों आवश्यक समझा गया है ? साधारण मनुष्य सीमित रूप में भी ब्रह्मचर्य के कठिन व्रत का पालन करना चाहें, तो उन्हें क्या करना चाहिए ?

**उत्तर**—स्त्री एवं धन धर्म के मार्ग में बाधक माने गये हैं। माता-पिता, भ्राता, पुत्र ये सब मुक्तिमार्ग में उस तरह बाधा नहीं डाल सकते, जिस तरह स्त्री बाधा डाल सकती है। इसी कारण जैनधर्म में मुक्तिमार्ग के लिए स्त्री का त्याग आवश्यक माना गया है। भोग का परित्याग एवं त्याग का अनुसरण मुक्तिमार्ग के लिए अनिवार्य है।

परन्तु गृहस्थ के लिए स्त्री का सम्पूर्ण त्याग न संभव है, न उचित ही। धर्मकार्य को निरन्तर चालू रखने के लिए सन्तान की आवश्यकता तो होती ही है। सभी ब्रह्मचारी रह जायें, तो धर्म का कार्य चले कैसे ? इस कारण गृहस्थ को सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से अपनी विवाहिता पत्नी के साथ संभोग करना चाहिए। आवश्यक संतानों के जन्म के बाद स्वस्त्री गमन भी छोड़ देना चाहिए। परस्त्री गमन तो गृहस्थ को किसी हालत में नहीं करना चाहिए। जो इस तरह नियम-निष्ठा का पालन करे, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के ही समान होता है।

### 4.19.8 नैतिक पतन के कारण-

**प्रश्न**—बहुत से लोगों का विश्वास है, संसार-विशेषकर भारत के लोगों का नैतिक स्तर इस समय इतना गिर गया है कि जितना पहले कभी नहीं था। क्या, आपका भी यही विश्वास है ? आपकी राय में इस पतन के क्या कारण हैं ?

**उत्तर**—मेरा भी विश्वास है कि लोगों का नैतिक स्तर अब बहुत गिर गया है। मेरे बचपन में लोगों में जितना चरित्रबल एवं सच्चाई पाई जाती थी, इसका लेशमात्र भी अब नहीं पाया जाता है।

इस नैतिक पतन का कारण यह है कि लोग सन्मार्ग को छोड़कर कुमार्ग पर चलने लग गये। सन्मार्ग क्या है ? पंच-महापापों का त्याग। पंच-महापाप ये हैं-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अतिलोभ। इन पाँचों पापों को न त्यागने से ही

लोग गिर गये।

**प्रश्न**—इस स्थिति को कैसे सुधारा जा सकता है ?

**उत्तर**—सन्मार्ग को पुनः अपनाने से। यह इने-गिने व्यक्तियों से नहीं हो सकता। स्वयं सरकार को इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। यथा राजा तथा प्रजा। यदि सरकार कानूनन पंच-महापापों का त्याग अनिवार्य कर दे और स्वयं शासकगण सन्मार्ग ग्रहण करें, तो साधारण जनता भी कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग में प्रवृत्त हो जायेगी। यदि सरकार ऐसा करे, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि देश के सभी कष्ट दूर हो जायेंगे। बरसात का न होना, अन्न की कमी, प्राकृतिक उत्पात आदि कोई भी संकट नहीं रहेगा और समस्त प्रजा का कल्याण होगा।

**4.19.9 स्त्री-शिक्षा का समर्थन**—

**प्रश्न**—स्त्री शिक्षा आवश्यक है कि नहीं ? स्त्रियां भी जीविकोपार्जन के कार्यों एवं राजकीय कार्यों में भाग ले सकती है ?

**उत्तर**—स्त्री को विद्याग्रहण करने का अधिकार है। स्त्री-शिक्षा आवश्यक है। पर वह शिक्षा मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ने में सहायक हो, इस उद्देश्य से स्त्री को विद्याध्ययन करना चाहिए।

अपने निर्वाह के लिए स्त्री, डाक्टरी, अध्यापिका जैसे कार्य कर सकती है। पर उस अवस्था में भी उसे अपने पति के आश्रय में रहना चाहिए।

**4.19.10 युद्ध का खतरा, कुविद्या का फल**—

**प्रश्न**—आधुनिक विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप ऐसे शस्त्रास्त्र बन गये हैं, जिनके प्रयोग से सारी मानव जाति को नष्ट किया जा सकता है। साथ ही हिंसावृत्ति भी लोगों में बढ़ती जा रही है। ऐसी दशा में मानव जाति की रक्षा एवं सुधार कैसे किया जा सकता है ?

**उत्तर**—यह सब कुविद्या है-चोर बुद्धि है। एक बम से अचानक हजारों लोगों के प्राण लेना कोई वीरता तो नहीं है, यह तो कायरता है। पहले भी हमारे राजा लोग युद्ध करते थे। पर उनमें कुछ नियमों का पालन किया जाता था। निश्चित समय पर, समान शक्ति के विपक्षियों के साथ आमने-सामने का युद्ध होता था। वह वीरों का ढंग था। आजकल की प्रणाली कायरों की प्रणाली है।

पंच-महापाप ही इस कुविद्या के मूल हैं अतः इन पांचों पापों का त्याग ही मानव जाति की रक्षा का एकमात्र मार्ग है। यदि कोई एक राष्ट्र इन पंच महापापों का त्याग कर दे, तो वह स्वयं इस कुविद्या के प्रपंच से बच जायेगा। इसके अलावा, संसार भर के बम भी उस पापहीन राष्ट्र को हानि नहीं पहुँचा सकते हैं।

**4.19.11 कर्म सिद्धान्त**—

**प्रश्न**—आपके मतानुसार कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या क्या है ? क्या, जीव स्वयत्न से कर्म से उन्मुक्त हो सकता है ?

**उत्तर**—हाँ, जीव स्वयत्न से कर्मबंधन से मुक्त हो सकता है।

कर्म मन-वचन-काय योग से आते हैं। कषाय से कर्म बंध पड़ता है। कषाय 25 प्रकार की होती हैं। कर्मबंध होने पर, आत्मध्यान से कर्म-निर्जरा होती है।

**4.19.12 विश्वधर्म**—

**प्रश्न**—इस समय संसार में कई धर्म प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने ही धर्म को सर्वोच्च मानता है और विशुद्ध सत्य भी। इससे पारस्परिक भेद-भाव बढ़ता है, जो कलह का कारण बनता है। ऐसी दशा में एक ऐसे धर्म का प्रचार उचित नहीं होगा, जिसमें सभी धर्मों का सारतत्व विद्यमान हो और जो सर्वमान्य हो सके ?

**उत्तर**—संसार में छः प्रधान धर्म और 363 उपधर्म प्रचलित हैं। यह बात सही है कि प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने ही

धर्म को सर्वोच्च मानता है। ऐसी दशा में सर्व-मान्य धर्म का प्रचार करने का यही उपाय है कि प्रत्येक धर्म को सच्चाई की कसौटी पर रखकर उसी तरह परखा जाये, जैसे सुनार चोखे सोने व नकली सोने को परखता है। प्रश्न यह है कि इस तरह परखने की कसौटी क्या हो सकती है ?

वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी, ये तीनों गुण जिसमें हो, वही भगवान है और उसी की वाणी सत्यवाणी है। ये तीनों गुण जिसमें हों, उसे चाहे अर्हन्त कहो चाहे शंकर, बुद्ध कहो चाहे विष्णु, वह पूज्य है, वन्दनीय है, वह भगवान है। इन गुणों की कसौटी पर जो भी धर्म खरा उतरे, वही सर्वमान्य विश्वधर्म हो सकता है। हमारे मतानुसार जैनधर्म ऐसा ही धर्म है।

**4.19.13 क्या समाज में यतियों का प्रवास उचित है ?—**

**प्रश्न**—क्या, यति को समाज से एकदम अलग हो जाना चाहिए ? यह संभव है और उचित है ?

**उत्तर**—यह आवश्यक नहीं कि यति बाह्य समाज को छोड़कर एकदम अलग हो जाये, समाज में श्रावकों के साथ रहना उसके लिए निषिद्ध नहीं। पर वह कहीं पर भी रहे, एकाकी नहीं रह सकता। कुछ अन्य साधुओं के साथ ही उसे रहना चाहिए। अन्यथा उसके ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का खतरा रहता है।

इसी प्रकार साध्वियाँ (आर्यिकाएं) भी अकेली नहीं रह सकतीं। उनको दो-तीन या अधिक का दल बनाकर साथ-साथ रहना चाहिए। समाज से अलग रहने की साधु या साध्वी को कोई आवश्यकता नहीं है। श्रावकों में धर्म की प्रभावना बढ़ाना साधु का कर्तव्य होता है।

**4.19.14 पापी पर उपदेश का प्रभाव—**

**प्रश्न**—उपदेशों से किसी पापी या पतित को सुधारना संभव हो सकता है ?

**उत्तर**—उसका भाग्योदय हो तो सुधारा जा सकता है, अन्यथा नहीं। यह बात उपदेशक की कुशलता या वाक्चातुरी पर निर्भर नहीं, बल्कि सुनने वाले के भाग्योदय पर निर्भर है। पानी तो समान रूप से बरसता है, पर सीप में पड़कर जहाँ वह मोती बन जाता है, साँप के मुँह में जाकर वही विष बन जाता है। यह जल का दोष तो नहीं।

**4.19.15 दूध निर्दोष है—**

एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के विद्वान् ने महाराज से पूछा था—"आप चमड़े के पात्र का पानी नहीं लेते ? चमड़े के बर्तन का घी नहीं लेते, तब दूध को क्यों लेते हैं ? उसमें भी तो माँस का दूषण है।"

महाराज ने कहा था-"आप लोग अनेक नदियों के जल को अत्यन्त पवित्र मानते हैं, किन्तु यह तो सोचिये कि वह जल कहाँ तक शुद्ध है, जिसमें कि जलचर जीव मल-मूत्र त्यागते हैं और जिसमें उनकी मृत्यु भी होती है ? अनेक दोषों के होते हुए भी यदि जल शुद्ध है तो, दूध क्यों नहीं ? एक बात और है, दूध की थैली गाय के शरीर में अलग होती है। जब गाय घास खाती है, तब पहिले उसका रस भाग बनता है। इसके बाद खून बनता है, इसलिए दूध में कोई दोष नहीं है।"

**4.19.16 व्रत करो, अवश्य पलेगा!—**

महाराज गृहस्थों से कहते थे—तुम्हारी भक्ति, पूजा, अर्चा आदि कार्य गज के स्नानतुल्य हैं। पूजा आदि सत्कार्यों के द्वारा तुमने निर्मलता प्राप्त की, यह तो स्नान हुआ। इसके पश्चात् तुमने अपने ऊपर फिर से मिट्टी डाल दी। ऐसा गृहस्थ का जीवन होता है। भविष्य का क्या भरोसा। यह जीव आगे दुःखी न हो, इससे प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ा-थोड़ा व्रत-उपवास करना ही चाहिए। व्रत करने से शक्ति बढ़ती है, प्रमाद कम होता है। व्रतिक बनकर देव पर्याय नियम से मिलेगी और तब तुम विदेह क्षेत्र में जाकर भगवान सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि सुन सकोगे तथा नन्दीश्वर द्वीप में बावन चैत्यालयों के अकृत्रिम जिनबिम्बों के दर्शन कर पाओगे। नरकों में सागरों पर्यन्त जीव को अन्न-जल कुछ भी सुलभ नहीं होता है, तब थोड़े से उपवास व्रत करने से भय क्यों ? व्रत करो, अवश्य पलेगा। व्रत में त्रुटि आवे तो प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए। महाराज ने 32 वर्ष की गृहस्थ अवस्था में ही श्री

सम्मेदशिखर जी वंदना के प्रसादस्वरूप घी व तेल का जीवन पर्यन्त त्याग कर दिया था। बाद में उन्होंने नमक, शक्कर, छाछ, फलों का रस भी छोड़ दिया।

**4.19.17 चिन्तामुक्त शांत मन—**

एक बार पं. सुमेरचंद जी दिवाकर ने महाराज से पूछा, "महाराज! आप निरंतर शास्त्र स्वाध्याय आदि कार्य करते हैं। क्या इसका लक्ष्य मनरूपी बंदर को बांधकर रखना है ? जिससे वह चंचलता न दिखावें ?"

महाराज बोले, "हमारा मन चंचल नहीं है।

लेकिन पूछा गया, "महाराज! मन की स्थिति कैसे स्थिर रह सकती है ? वह तो चंचलता उत्पन्न करती है ? महाराज ने कहा, "हमारे पास चंचलता के कारण नहीं है। जिसके पास परिग्रह की उपाधि रहती है, उनको चिंता होती है। उनके मन में चंचलता होती है। हमारे मन में चंचलता नहीं है। हमारा मन चंचल होकर कहाँ जाएगा ? एक तोता जहाज के ध्वज के भाले पर बैठ गया, जहाज मध्य समुद्र में चला गया। उस समय वह उड़कर तोता बाहर जाना चाहे तो कहाँ जायेगा ? उसके पास ठहरने का स्थल भी तो चाहिए। इसीलिए वह एक ही जगह पर बैठा रहता है। इसी प्रकार घर-परिवार का त्याग करने के कारण हमारा मन चंचल होकर कहाँ जायेगा। अन्यत्र आश्रय न होने से अपने आप आत्मा की ओर आकर टिकता है। हम तो कहीं भी आत्मा का ध्यान कर सकते हैं क्योंकि बाहर विश्राम करने का स्थान ही नहीं है।

## 4.20 शास्त्रशुद्ध व्यापक दृष्टिकोण (उचित चर्या के साथ उत्तम श्रावकों को संस्था संचालन की आज्ञा)—

ईसवी सन् 1933 का चातुर्मास आचार्य संघ का ब्यावर (राज.) में था।

महाराज जी का अपना दृष्टिकोण हर समस्या को सुलझाने के लिए मूल में व्यापक ही रहता था। योगायोग की घटना है इसी चौमासे में कारंजा गुरुकुल आदि संस्थाओं के संस्थापक और अधिकारी पूज्य ब्र. देवचंद जी दर्शनार्थ ब्यावर पहुँचे। पूज्य आचार्यश्री ने क्षुल्लक दीक्षा के लिए पुनः प्रेरणा की। ब्रह्मचारी जी का स्वयं विकल्प था ही। वे तो इसीलिए ब्यावर पहुँचे थे। साथ में और एक प्रशस्त विकल्प था कि "यदि संस्था-संचालन होते हुए क्षुल्लक प्रतिमा का दान आचार्यश्री देने को तैयार हों, तो हमारी लेने की तैयारी है।" इस प्रकार अपना हार्दिक आशय ब्रह्मचारी जी ने प्रगट किया। 5-6 दिन तक उपस्थित पंडितों में काफी बहस हुई। पंडितों का कहना था कि क्षुल्लक प्रतिमा के व्रतधारी संस्था संचालन नहीं कर सकते जबकि आचार्यश्री का कहना था कि पूर्व में मुनि संघ में ऐसे मुनि भी रहा करते थे जो जिम्मेवारी के साथ छात्रों का प्रबंध करते थे और ज्ञानदानादि देते थे। यह तो क्षुल्लक प्रतिमा के व्रत श्रावक के व्रत हैं। अंत में आचार्य महाराज जी ने शास्त्रों के आधार से अपना निर्णय सिद्ध किया। फलतः ब्र. श्री देवचंद जी ने क्षुल्लक पद के व्रतों को पूर्ण उत्साह के साथ स्वीकार किया। आचार्य श्री ने स्वयं अपनी आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करते हुए दीक्षा के समय "समंतभद्र" इस भव्य नाम से क्षुल्लकजी को नामांकित किया और **पूर्व के समंतभद्र आचार्य की तरह आपके द्वारा धर्म की व्यापक प्रभावना हो,** इस प्रकार के शुभाशीर्वादों की वर्षा की। कहाँ तो बाल की खाल निकालकर छोटी-छोटी सी बातों को जटिल समस्या बनाने की प्रवृत्ति और कहाँ आचार्यश्री की प्रहरी के समान सजग दिव्य दूरदृष्टिता ?

## 4.21 एक प्रशस्त विकल्प ("आवश्यकतानुरूप एक स्थान पर प्रवास कर तीर्थोद्धार करना उचित है")-

वर्षों से एक प्रशस्त संकल्प चित्त में था। जैसे माँ के पेट में बच्चा हो, वह करुणा कोमल चित्त की उद्भट चेतना थी। महाराष्ट्र की जैन जनता प्रायः किस्तकार (किसान) है। धर्मविषयक अज्ञान की भी उनमें बहुलता है। आचार्यश्री का समाज के मानस का गहरा अध्ययन तो अनुभूति पर आधारित था ही। 'शास्त्रज्ञान' और 'तत्त्वविचार' की ओर इनका मुड़ना बहुत ही कठिन है। प्रथमानुयोगी जनमानस के लिए एक भगवान का दर्शन ही अच्छा निमित्त हो सकता है। इसी

उद्देश्य को लेकर किसी अच्छे स्थान पर विशालकाय श्री बाहुबली भगवान की विशालमूर्ति कम से कम 25 फीट की खड़ी कराने का प्रशस्त विकल्प जहाँ कहीं भी आचार्यश्री पहुँचते थे, प्रकट करते थे परन्तु सिलसिला बैठा नहीं। 'भावावश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते' होनहार होकर ही रहती है। योगायोग से इसी समय अतिशयक्षेत्र बाहुबली (कुंभोज) में वार्षिकोत्सव होने वाला था। 'संभव है सत्य संकल्प की पूर्ति हो जाये' इसी सदाशय से आचार्यश्री के चरण बाहुबली की ओर यकायक बढ़े। 18 मील का विहार वृद्धावस्था में पूरा करते हुए नांद्रे से महाराज श्री क्षेत्र पर संध्या में पहुँचे। पवित्र आनन्दोल्लास का वातावरण पैदा हुआ। संस्था के मंत्री श्री सेठ बालचंद देवचंद जी और मुनि श्री समंतभद्र जी से संबोधन करते हुए भरी सभा में आचार्यश्री का निम्न प्रकार समयोचित और समुचित वक्तव्य हुआ। जो आचार्यश्री की पारगामी दृष्टि-सम्पन्नता का पूरा सूचक था।

'तुमची इच्छा येथे हजारो विद्यार्थ्यांनी राहावे शिकावे अशी पवित्र आहे हे मी ओळखतो, हा कल्पवृक्ष उभा करून जाते। भगवंताचे दिव्य अधिष्ठान सर्व घडवून आणील। मिळेल तितका मोठा पाषाण मिळवा व लवकर हे पूर्ण करा।मुनिश्री समंतभद्राकडे वळून म्हणाले, 'तुझी प्रकृति ओळखतो, हे तीर्थक्षेत्र आहे। मुनींनी विहार करावयास पाहिजे असा सर्वसामान्य नियम असला तरी विहार करूनही जे करावयाचे ते येथेच एके ठिकाणी राहून करणे। क्षेत्र आहे। एके ठिकाणी राहाण्यास काहीच हरकत नाही, विकल्प करू नको,काम लवकर पूर्ण करून घे। काम पूर्ण होईल! निश्चित होईल!! हा तुम्हा सर्वांना आशीर्वाद आहे।'

आपकी आंतरिक पवित्र इच्छा है कि यहाँ पर हजारों विद्यार्थी धर्माध्ययन करते रहें इसका मुझे परिचय है। यह कल्पवृक्ष खड़ा करके जा रहा हूँ। भगवान का दिव्य अधिष्ठान सब काम पूरा कराने में समर्थ है। यथासंभव बड़े पाषाण को प्राप्त कर इस कार्य को पूरा कर लीजिये।" मुनि श्री समंतभद्र जी की ओर दृष्टि कर संकेत किया — "आपकी प्रकृति (स्वभाव) को बराबर जानता हूँ। यह तीर्थभूमि है। मुनियों को विहार करते रहना चाहिए, इस प्रकार सर्वसामान्य नियम है। फिर भी विहार करते हुए जिस प्रयोजन की पूर्ति करनी है, उसे एक स्थान में यहीं पर रहकर कर लो। यह तीर्थक्षेत्र है एक जगह पर रहने के लिए कोई बाधा नहीं है। विकल्प की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार से कार्य शीघ्र पूरा हो सके पूरा प्रयत्न करना। कार्य अवश्य ही पूरा होगा। सुनिश्चित पूरा होगा। आप सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।"

पूर्णिमा का शुभ मंगल दिन था। शुभ संकेत के रूप में पच्चीस हजार रुपयों की स्वीकृति भी तत्काल हुई। काम लाखों का था। यथाकाल सब कामपूर्ण हुआ। "पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः।" पानी से कमल, कमल से पानी और दोनों से सरोवर की शोभा बढ़ती है। ठीक इस कहावत के अनुसार भगवान् की मूर्ति से संस्था का अध्यात्म वैभव बढ़ा ही है। अतिशय क्षेत्र की अतिशयता में अच्छी वृद्धि ही हुई। अब तो मूर्ति के प्रांगण में और सिद्धक्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ बनने से यथार्थ में अतिशयता या विशेषता आयी है। महाराज का आशीर्वाद ऐसे फलित हुआ।

## 4.22 साधु जीवन की उत्कृष्ट चर्या एवं आचार्यश्री के कतिपय बहुमूल्य गुण—

### 4.22.1 क्रांतिकारी नहीं, शास्त्र-पालक—

सुधारकों को प्रसन्न करने अथवा सनसनी फैलाने के लिए कुछ कह देना, पर उस पर स्वयं विश्वास या आचरण न करना, यही प्रायः आजकल के 'महात्माओं' में अक्सर देखा जाता है। पर आचार्यश्री की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह थी कि वह जो मन से सोचते थे वही वाणी से बोलते थे और जो कुछ कहते थे, उस पर पूर्णतया आचरण करते थे। मन-वचन-कर्म की यह एकरसता ही आचार्यश्री की महानता थी।

आचार्यश्री का यह दृढ़ विश्वास था कि जैनागमों में कथित आचार-नियमों का लोग यदि पूर्णतः पालन करें, तो संसार की सभी समस्याएं अपने आप हल हो जायेंगी और मानव मात्र सुखी रहेगा।

**4.22.2 अतिमानवीय संकल्प शक्ति—**

आचार्य शांतिसागर जी की अतिमानवीय संकल्प-शक्ति एवं इच्छाशक्ति पर प्रकाश डालने के लिए उनके अनन्यतम श्रावक शिष्य श्री तलकचंद शाह वकील ने उपरोक्त घटना का उल्लेख किया था। संकल्प की इसी दृढ़ता ने आचार्यश्री को तपस्या के शिखर पर पहुँचा दिया है और धर्म के दुरूह मर्मों को भी समझने-समझाने की अद्वितीय प्रतिभा उन्हें प्रदान की है।

आचार्य महाराज की इस संकल्प-शक्ति एवं शारीरिक बलिष्ठता पर प्रकाश डालने वाली कई और बातें उनमें आचार्यश्री की युवावस्था की दो घटनाएं उल्लेखनीय हैं।

सातगौंड़ा के पिता ने पहले उन्हें खेतीबाड़ी के काम में लगाया था। सातगौंडा बड़ा ही बलिष्ठ था। अटल ब्रह्मचर्य के कारण उसकी शारीरिक शक्ति अपने समवयस्कों से कहीं अधिक थी।

सातगौंड़ा के खेत की सिंचाई मोट द्वारा होती थी। चोड़े कुएँ से बैलों की सहायता से पानी खींच कर नालों के जरिये खेतों को सींचा जाता था।

एक दिन इस तरह पानी सींचते-सींचते सातगौंडा ने सोचा, ये बैल दोनों मिलकर पानी से भरे मोट को खींचते हैं। इसका मतलब यह है कि भरा हुआ मोट और बैल ये दोनों करीब-करीब समान शक्ति के हैं। अब यह देखना चाहिए कि मैं इन दोनों से अधिक शक्तिशाली हूँ या नहीं।

युवावस्था थी। शरीर में शक्ति थी और मन में साहस। जब भरे हुए मोट को बैल आधी दूर तक खींच चुके थे, तब सातगौंड़ा ने ठीक बीच में मोट की रस्सी व बैलों को बीच की तरफ खींचा। पूरी शक्ति से खींचने पर जहाँ एक तरफ मोट ऊपर आ गया, वहीं दूसरी ओर बैल भी पीछे की तरफ खिंचकर आ गये।

अब सातगौंड़ा को संतोष हुआ कि मैं बैलों व मोट की सम्मिलित शक्ति की समता कर सकता हूँ, बल्कि उनको मात कर सकता हूँ।

यद्यपि महाराज का शरीर युवावस्था में अत्यन्त बलिष्ठ था, फिर भी उनकी मन:शक्ति ही के कारण यह अति मानुषिक कार्य सुलभ साध्य हो सका।

आचार्यश्री युवावस्था में कितने बलिष्ठ थे, इसका एक और उदाहरण भी कईयों के मुँह से सुना।

बालकपन से ही सातगौंड़ा का मन धार्मिक विषयों में सहज ही प्रवृत्त हो जाता था। उत्साह के तो वह मूर्त्तस्वरूप ही थे। उन दिनों वे प्रसिद्ध जैन तीर्थों की यात्रा पर अन्य आस्तिक जनों के साथ जाया करते थे। एक बार प्रसिद्ध जैन तीर्थ सम्मेदाचल की यात्रा पर वह गये थे। स्वयं तो उस कठिन शिखर पर अनायास चढ़कर दर्शन किये ही, बाद में ऐसे यात्रियों को भी, जो कमजोरी के कारण ऊपर चढ़ने में कष्ट अनुभव कर रहे थे, एक-एक करके अपनी पीठ पर चढ़ाकर ऊपर ले गये और दर्शन कराके वापिस लिवा लाये।

ऐसे शारीरिक बल की कल्पना तक करना हमें कठिन प्रतीत हो रहा है। पर आचार्य महाराज की कई साधनाएँ ऐसी हैं, जो साधारण मानवों की पहुँच के क्या, कल्पना के भी बाहर है।

**4.22.3 ललितपुर का चातुर्मास एवं सिंहनिष्क्रीडित व्रत—**

महाराज की साधनाओं का उल्लेख करते ही उनके ललितपुर में किये गये चातुर्मास का अद्भुत विवरण सामने आ जाता है। इसका विवरण अत्यंत रोमांचकारी है और साथ ही महाराज की अनुपम मानसिक दृढ़ता एवं तपश्चर्या का द्योतक है, जो इस प्रकार है।

दिगम्बर जैन मुनि प्रत्येक चातुर्मास के समय कोई न कोई विशेष व्रत धारण करते हैं और उसे निर्विघ्नतापूर्वक पूरा करते हैं। इस प्रथा के अनुसार आचार्यश्री के ललितपुर के चातुर्मास से पूर्व षट्रसत्याग का संकल्प किया था। इसका

अर्थ यह था कि महाराज उस चातुर्मास भर में दूध, दही, घी, तेल आदि कोई भी रस से बने पदार्थ नहीं लेंगे।

**4.22.4 सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत—**

इस कठिन व्रत का संकल्प करने के बाद महाराज ने "सिंहनिष्क्रीड़ित" नामक व्रत का उल्लेख किसी ग्रंथ में पढ़ा। महाराज की प्रवृत्ति ऐसी है कि कोई कार्य जितना ही अधिक कठिन हो, उसे कर डालने की उनकी इच्छा भी उतनी ही प्रबल हुआ करती है। यह दम्भ अथव अभिमान के कारण नहीं, बल्कि आत्मपरीक्षा की भावना से। वे सदा अपने को तपस्या की परिक्षाओं में परखते रहते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने षट रस-त्याग के साथ-साथ सिंहनष्क्रीड़ित नाम के महाकठिन व्रत का भी पालन करने का संकल्प कर लिया।

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत क्या है, यह जाने बिना इस बात का बोध नहीं हो सकता कि महाराज ने अपने को कैसी कठोर तपस्याग्नि में तपाने का संकल्प किया था।

वनचरों के राजा सिंह की चाल विलक्षण ढंग की होती है। वह दो कदम आगे चलता है, फिर रुककर पीछे देखता है। फिर चार कदम आगे जाकर खड़ा हो जाता है और घूमकर देखता है। पीछे की ओर देखने की सिंह की इसी क्रिया को सिंहावलोकन कहा जाता है। सिंह की इस प्रकार की चाल सिंहनिष्क्रीड़ित कहलाती है।

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रतधारी भी इसी प्रकार व्रती चाल चल सकता है। उसका क्रम कुछ इस प्रकार होता है, एक दिन उपवास, अगले दिन भोजन, तीसरे-चौथे दिन उपवास, पाँचवें दिन भोजन, छठे, सातवें, आठवें दिन उपवास, नवमें दिन पुनः भोजन। इस आरोहणक्रम से उपवासों की संख्या बढ़ती जाती है। जब नौ उपवास के बाद एक दिन भोजन किया जाता है, तब अवरोहण क्रम शुरू हो जाता है अर्थात् नौ उपवास, एक भोजन, आठ उपवास, एक भोजन, सात उपवास, एक भोजन, छह उपवास, एक भोजन इत्यादि। जब यह क्रम एक उपवास और एक भोजन तक पहुँच जाता है, तो पुनः आरोहण-क्रम शुरू हो जाता है। इस तरह चातुर्मास की समाप्ति तक आरोहण और अवरोहण क्रम को पूर्णतया निभाते हुए व्रत रखना सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत कहलाता है।

एक तो षट्रसत्याग। ऊपर से सिंहनिष्क्रीड़ित जैसा कठोर व्रत। साधारण समय में भी दिगम्बर जैन मुनि दिन भर में एक बार भोजन करते हैं और एक ही बार भोजन के समय जल पीते हैं। उपवास के समय तो जल भी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में सिंहनिष्क्रीड़ित जैसा कठोर व्रत धारण करने के लिए मन में कितनी दृढ़ता होनी चाहिए, कितनी सम्पूर्ण विरक्ति की भावना चाहिए, इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं।

**4.22.5 एक और परीक्षा—**

महाराज इस अग्निपथ पर चल पड़े ही थे कि इतने में भाग्य ने उनके सामने और एक अतिकठोर परीक्षा लाकर खड़ी कर दी। एक दिन आहार के समय महाराज ने जो जल पिया था, उसमें न जाने क्या खराबी थी, महाराज के तपस्तप्त शरीर में मलेरिया जैसे असह्य रोग ने घर कर लिया।

महाराज उस समय करीब साठ वर्ष के थे। भारत जैसे देश में साठ वर्ष की आयु वृद्धावस्था ही होती है अतः महाराज के शिष्य एवं भक्तगण इससे पहले ही इस बात से चिंतित थे कि महाराज ने षट्रस-त्याग एवं सिंहनिष्क्रीड़ित जैसे दो कठोर व्रतों को एक साथ धारण कर रखा है, उनका वृद्ध शरीर इसको कैसे सह सकता है ? ऊपर से जब मलेरिया ने भी आ घेरा, तो भक्तों की चिंता का वार रहा न पार।

कठोर व्रत एवं रोग के कारण महाराज का शरीर सूख कर लकड़ी हो गया। मांस नामक वस्तु नाम मात्र के लिए भी शरीर में रह नहीं गयी थी। चमड़े से उढ़ा हुआ हाड़ का पंजर ही शेष रह गया था। देखकर भक्तों के आँसू छलक आते थे।

यदि किसी एक व्यक्ति ने इन बातों की तनिक भी परवाह न की और प्रसन्न रहे, तो वह केवल आचार्यश्री स्वयं

थे। उनकी दिनचर्या पूर्ववत् जारी रही। वह किसी भी अनुष्ठान में कोई भी कमी नहीं रहने देने थे। सब भक्तों ने मिलकर अश्रुमय विनती की कि महाराज इस समय षट्रस-त्याग अथवा सिंहनिष्क्रीड़ित किसी एक व्रत को त्याग दीजिए। आपकी वर्तमान दशा में कोई उसे अनुचित नहीं कह सकता। पर महाराज टस से मस न हुए। कहीं अचल भी हिला करते हैं ?

एक दिन सिंहनिष्क्रीड़ित के आरोहणक्रम में नौ दिन लगातार उपवास करने के बाद महाराज के भोजन करने की बारी आयी। महाराज का शरीर क्या था, केवल चमड़े से ढकी हुई ठठरी शेष रह गई थी। उसमें अब भी जान थी और वह चल फिर सकती थी, यही अविश्वसनीय आश्चर्य का विषय था।

**4.22.6 श्रावकों को चिंता—**

महाराज के आहार के लिए कितने ही चौके लगे हुए थे। नौ दिन के उपवास के बाद महाराज केवल एक दिन आहार ग्रहण कर रहे हैं। कहीं कोई भी अन्तराय हो गया, अनुष्ठान में जरा भी त्रुटि रह गई, तो वह भोजन नहीं करेंगे। उस दिन भी महाराज यदि निराहार रह गये, तो फिर सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत के कारण और आठ दिन उन्हें उपवास करना होता और इस तरह कुल अठारह दिनों का निरंतर उपवास हो जाता। उस रुग्ण अवस्था में उतना दीर्घ उपवास महाराज के वृद्ध शरीर से सहा कैसे जायेगा ? इसीलिए सभी श्रावकों को इस बात की विशेष चिंता थी।

इन विचारों से श्रावकगण एकदम घबड़ाये हुए थे। एक बहुत बड़ा दायित्व उनके कंधों पर था अत: उनकी घबराहट स्वाभाविक थी।

अत्यंत शुद्ध स्वच्छ भोजन तैयार हो गया। आखिर महान परीक्षा की घड़ी आ गई। आचार्य महाराज ज्वर के वेग से कांपते हुए शरीर के साथ चलकर आये।

पं. जगन्मोहन दम्पती ने विधिवत् उनको आहारार्थ पड़गाहन किया, अर्घ्य-पाद्यादि दी और महाराज करपात्र में आहार ग्रहण करने को तैयार हो गये।

अब पं.जगन्मोहन के कंपकंपी सी लग गई। न उनसे कुछ करते बनता था, न उनकी पत्नी ही कुछ कर सकती थी। दोनों के शरीर थर-थर काँप रहे थे।

उधर महाराज ज्वर-दग्ध दुर्बल शरीर के साथ खड़े हैं।

भाग्यवश, फलटण वाले वकील तलकचंद जी वहाँ थे। वह पण्डितजी के घनिष्ठ मित्र थे और आचार्यश्री के अनन्य भक्त। उन्होंने झट पण्डितजी से कहा, "यह क्या कर रहे हो ? आचार्यश्री कब तक खड़े रहेंगे ? जल्दी से कुछ खाद्य-पदार्थ लेकर उनके करपात्र में धरो, ताकि वह आहार प्रारंभ करें।'

वकील साहब की इस सामयिक चेतावनी ने दिव्यौषधि का काम किया। पं. जगन्मोहन जी और उनकी धर्मपत्नी जागरुक हो गये और आचार्यश्री को विधिवत् आहार कराना आरंभ किया।

एक महान् विपदा टल गई। आचार्यश्री की आहारविधि निर्विघ्न रूप से, बिना अन्तराय के समाप्त हुई। दिगम्बर जैन समाज की जान में जान आई।

इस तरह इस अत्यन्त कठिन परीक्षा में आचार्यश्री पूर्णत: सफल निकले और सभी व्रतों को नियमपूर्वक पूरा किया और साथ ही स्वस्थ भी हो उठे। ठीक उसी प्रकार जैसे सुवर्ण अग्नि में दीर्घकाल तक तपकर कुन्दन हो उठता है।

वह जन्मजात तपस्वी थे। मन-वचन-काय पर, पंचेन्द्रियों पर उन्हें सम्पूर्ण विजय प्राप्त थी अत: उनके लिए ये सब साधनाएँ अतीव सुलभ-साध्य थीं, यद्यपि हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के निकट वे कल्पनातीत हैं।

**4.22.7 जिनागम के प्रति मेरूसम श्रद्धा—**

महाराज कहते थे कि जिनागम के अनुसार विचार बनाना चाहिए। अपनी धारणा के अनुसार आगम को नहीं

बदलना चाहिए। उनकी आगम की श्रद्धा मेरु की तरह अविचलित थी। सागर के समान वही अथाह थी। आगम के विरुद्ध वे एक भी बात न कहते थे, न करते थे। उनका कहना था कि शास्त्र जलधि है, जीव मछली है, उसमें जीव जितना घूमे और अवगाहना करे उतना ही थोड़ा है। उनके आदेश के अनुसार जब धवला, जयधवला, महाबंध (महाधवल) सिद्धान्त ग्रंथ ताम्रपत्र में उत्कीर्ण हो गये तब महाराज ने शास्त्र भण्डार के व्यवस्थापकों से कहा था—ये शास्त्र हमारे प्राण हैं। हमारे प्राण इस शरीर में नहीं हैं, जिनेन्द्र भगवान की वाणी ही हमारा प्राण है।

**4.22.8 अद्‌भुत स्वाध्याय प्रवृत्ति—**

आचार्य महाराज प्रतिदिन कम से कम 40 या 50 पृष्ठों का स्वाध्याय करते थे। धवलादि सिद्धान्त ग्रंथों का बहुत सुन्दर अभ्यास महाराज ने किया था। अपनी असाधारण स्मृति तथा तर्कणा के बल पर वे अनेक शंकाओं को उत्पन्न करके उनका सुन्दर समाधान करते थे।

## 4.23 कतिपय गंभीर उपसर्ग ('जिन पर आचार्य महाराज ने सरलता से प्राप्त की विजय')—

* आचार्यश्री के अलौकिक आत्मध्यान निमग्नता की अनेकों अनमोल घटनाएँ हैं। कोगनोली में महाराज एक निर्जन स्थान में बनी हुई गुफा में रात्रि के समय ध्यान में लीन थे। नगर का एक पागल महाराज के पास गुफा में गया। उसने महाराज के पास रोटी मांगी—ऐ बाबा, रोटी दो। भूख लगी है। बाबा के पास क्या था, वे तो मौन ध्यान कर रहे थे। बाबा को शांत देख पागल का दिमाग उत्तेचित हो गया। उसके हाथ में एक लकड़ी थी जिसके अग्रभाग में नोकदार लोहे का कीला लगा था, उससे बैलों को मारने का काम लिया जाता था। पागल इस लकड़ी से महाराज के शरीर को मारने लगा। लोहे की नोक पीठ, छाती आदि में चुभ गयी। सारा शरीर रक्त से सन गया। बहुत देर तक उपद्रव करने के बाद पागल वहाँ से चला गया। सबेरा होने पर लोगों ने देखा तो बहुत दुःखी हुए। भक्तों ने उनकी वैयावृत्ति की किन्तु महाराज चुपचाप थे।

* एक समय गुफा में ध्यान में लवलीन महाराज की पुरुष इन्द्रिय पर एक मकोड़ा चिपट गया। वह मांस खाता था और रक्त की धारा बहती थी किन्तु महाराज का ध्यान स्थिर था। ध्यान हटने पर संघस्थ ब्र. बन्डू ने उस मकोड़े को अलग किया।

* एक अवसर पर गुफा में रखे दीपक का कुछ तेल दैवयोग से बिखर गया और असंख्य चीटियाँ वहाँ आ गईं। महाराज के शरीर पर भी चीढ़ियाँ चढ़ गईं और काटती रहीं। प्रातःकाल लोगों ने आकर यह उपसर्ग दूर किया। महाराज का यह नियम था कि प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास का नियम लेकर मौन रहकर वे आत्मा का ध्यान किया करते थे। वहाँ गिरि-कन्दराओं में अनेक बार व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु उनके पास आ जाया करते थे और कुछ समय पश्चात् उपद्रव किये बगैर चले जाते थे।

* एक बार कोगनोली की गुफा में लगभग 8 फुट लम्बा विषधर सर्प उनके शरीर में दो घंटे पर्यन्त लिपटा रहा। वह सर्प भीषण होने के साथ अधिक वजनदार भी था। विहार करते हुए भी उनके मार्ग में अनेक हिंसक पशु आये और फिर महाराज के तप के प्रभाव से चले गये।

* शिखरजी के रास्ते में 100-150 बैलों का झुंड मिला। चार मस्त बैल भागकर महाराज की तरफ आये और उनके मुख को देखकर शांत होकर प्रणाम करके वहाँ से चले गये। महाराज कहते थे कि भय किसका किया जाये। जब तक कोई पूर्व का बैरी न हो तब तक वह नहीं सताता है। महाराज ने कहा था—"हम बीच बाजार में भी बैठकर आत्मध्यान कर सकते हैं। आत्मचिंतन करते समय बाजार भला क्या करेगा ? भीतर शांति है तो बाह्य का हल्ला क्या करेगा ? जब मैं ध्यान करने बैठता हूँ, तब तुम चाकू से मेरी अंगुली आदि को काट करके देखो, उस समय मुझे पता नहीं चलेगा।"

## 4.24 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज का जन्म किस प्रदेश में हुआ ?

(क) कर्नाटक प्रदेश ☐
(ख) उत्तरप्रदेश ☐
(ग) महाराष्ट्र प्रदेश ☐

**प्रश्न 2**-सातगौंडा ने क्षुल्लक दीक्षा किस तिथि में प्राप्त की ?

(क) चैत्र शुक्ला द्वादशी ☐
(ख) ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी ☐
(ग) कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी ☐

**प्रश्न 3**-आचार्यश्री शांतिसागर महाराज को "चारित्रचक्रवर्ती" पदवी की प्राप्ति किस स्थान पर हुई ?

(क) समडोली ग्राम में ☐
(ख) गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर ☐
(ग) सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-ऐलक सातगौंडा जी ने किस सन्, किस तिथि और किस स्थान पर किनके करकमलों से मुनि दीक्षा की प्राप्ति की ?

**प्रश्न 2**-आचार्यश्री की प्रेरणा से किस क्षेत्र पर भगवान बाहुबली की कितने फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान की गई ?

**प्रश्न 3**-आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने अपने दीक्षित जीवन में कितने उपवास किए ?

**प्रश्न 4**-आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने श्रुतसेवा का कौन सा उपकारी इतिहास रचा ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के द्वारा दी गईं अमूल्य शिक्षाओं में से किन्हीं चार शिक्षाओं का वर्णन कीजिए ?

# इकाई–5 जैन संस्कृति एवं पुरातत्त्व

**इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-**

**(1) जैन संस्कृति की विशेषताएँ**

**(2) जैन पुरातत्त्व और मूर्तिकला**

**(3) जैनदर्शन लोकतांत्रिक दर्शन है**

**(4) देश-विदेश में जैन पुरातत्त्व की प्रतीक महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ**

## पाठ-1 – जैन संस्कृति की विशेषताएँ

### 1.1 जैन संस्कृति का वैशिष्ट्य–

विश्व की संस्कृतियों में जैन संस्कृति का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर सिन्धु सभ्यता से लेकर आज तक जैन संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। विश्व के अन्य राष्ट्र जब अज्ञानान्धकार में निमग्न थे उस समय जैन संस्कृति सम्पूर्ण कला कौशल के साथ उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित थी, यही कारण है कि विश्व के इतिहास में अनेक संस्कृतियों का उद्भव एवं अस्त हुआ परन्तु जैन संस्कृति आज भी जीवित है। आचार्यों द्वारा प्रणीत बहुविध समृद्ध जैन वाङ्मय से हम इसका अनुमान लगा सकते हैं। जैनाचार्यों की तर्क शक्ति, अभिव्यक्ति कुशलता, प्रतिपादन प्रवणता, व्याख्यान विदग्धता, विषय की विशदता, भाषा की स्पष्टता के द्वारा प्रतिपाद्य हमारी संस्कृति को जीवित रखने के स्थायी स्तम्भ हैं।

जैन संस्कृति के व्यापक तथा शाश्वत प्रभाव को लेकर भारतीय संस्कृति अपनी विजय यात्रा कर रही है। इसके तत्त्व इतने पुष्ट हैं कि वह विशाल जीवन यात्रा में कभी पथ भ्रष्ट नहीं हुई। इसकी प्राचीनता विश्व प्रसिद्ध है। "सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा" इसी संस्कृति के लिये कहा जाता है। गौरवपूर्ण तत्त्वों से अभिमण्डित होने के कारण जैन वाङ्मय में आगम, पुराण, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, न्याय, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि का पूर्ण निदर्शन हुआ है। इस प्रकार जैन संस्कृति जहां प्राचीन संस्कृतियों में अन्यतम है वहीं समग्र संस्कृति भी है।

साध्वाचार का अध्ययन और अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि जैन संस्कृति में विश्व बन्धुत्व की भावना का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का निदर्शन जैन धर्मानुयायियों में दृष्टिगोचर है। जिसका परिणाम प्राणिमात्र के प्रति स्नेह और दया भावना का संचार करता है। साधक अपने प्रतिदिन के पाठ में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों से जाने अनजाने में हुई भूलों की क्षमा याचना करता है।

**खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।**
**मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि।।**

सभी जीव मुझे क्षमा करें और मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ। सभी प्राणियों में मेरा मैत्री भाव हो, मेरा किसी से बैर विरोध न हो। विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व की उदात्त कमनीय भावना का निदर्शन इस गाथा में मिलता है।

### 1.2 अध्यात्मवाद–

साध्वाचार का अध्ययन अनुशीलन करने पर अध्यात्मवाद की भावना परिलक्षित होती है। अध्यात्मवाद, भोगवाद से दूर कर आत्मविषयक ज्ञान की ओर ले जाता है। "अहमिक्को खलु सुद्धो" की भावना इसका मूल मन्त्र है।

रागी कर्मों को बांधता है और विरागसम्पन्न जीव कर्मों से छूटता है। बन्ध और मोक्ष के विषय में यही जिनेन्द्र देव का उपदेश है। आत्मा अनन्त शक्ति व गुणों का पुंज है। इस संसार में अन्य कोई शरण नहीं है, केवल आत्मतत्त्व ही शरणभूत

है। इस जगत में जरा और मरण रूप का निवारण करने वाले ऐसे जिनशासन को छोड़कर अन्य कोई शरण नहीं है। आचार्यों ने प्राणियों के सम्बोधनार्थ जो अध्यात्मवाद की गंगा प्रवाहित की है, वह अपने आप में पूर्ण है। वह मानवों को संकेत करती है कि आप लोग जगत के समस्त विकल्पों से अपने आपको बचाओ और आत्मानन्द की अन्तिम सीमा तक पहुंच जाओ। वस्तुतः अध्यात्मवाद एक ऐसा अमोघमन्त्र है जिससे वासना रूपी विष उतरकर मानव महामानव बन सकता है।

### 1.3 त्यागभाव–

सांसारिक पदार्थों का उपभोग त्यागभाव से ही करना चाहिए। पदार्थों के उपभोग का इस संस्कृति में निषेध नहीं है अपितु भोगों में आसक्त हो जाने का निषेध है। अपरिग्रह व्रत या परिग्रह व्रत का सिद्धान्त जीवन जलयान के लिये प्रकाश स्तम्भ है, जिससे जीवन–जलयान भोगवादरूपी चट्टानों से चकनाचूर हो जाने से बच जाये।

संसार में भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़ने वाला सुखाभिलाषी प्राणी वास्तविक सुख एवं आनन्दामृत पान से वंचित रहता है और अन्त में वह इस लोक से विदा होते समय संग्रहीत सामग्रियों के वियोग व्यथा से सन्तप्त होता हुआ ममतावश अधोगति का पात्र हो जाता है। जब कि अपने पुण्योदय से प्राप्त वस्तुओं में सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति समता रूपी अमृत का रसास्वादन करते हुये उत्तम गति में जाकर परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक फैजी के शब्दों में "यदि मैं मोह ममता की मृगमरीचिका में फंस जाऊं तो उस समय कर्त्तव्य की पुकार होने पर मैं अपनी रक्षा त्याग भाव से कर सकता हूँ। यदि असमंजस के वात्याचक्र में कुछ निर्णय न होता हो तथा हमारे ज्ञान चक्षु सांसारिक कृत्रिम चाकचक्य से चमत्कृत हो गये हों उस समय त्याग भाव की प्रवृत्ति ही भौतिक भावनाओं के कर्दम से मेरा उद्धार करेगी, संकीर्णता से मेरा उद्धार होगा तथा उदारता का पल्लवन होगा। मानवता की यही परिभाषा है सात्विकता का यही मूलमन्त्र है। यही त्याग भाव अशान्ति से शान्ति की ओर ले जाने का यत्न करता है।"

### 1.४ कर्मवाद–

संसार की विचित्रता कर्म के अस्तित्व की साधक है। संसार रूपी रंगमंच पर कोई धनी दृष्टिगोचर होता है तो कोई निर्धन, किसी को अथक पुरुषार्थ करने पर भी सफलता नहीं मिलती है तो किसी को थोड़ा प्रयत्न करने पर भी अभीष्ट की उपलब्धि होती है। इसका मूल कारण स्वकृत कर्म परिणाम हैं। इसका फल भी जीव को स्वयं भोगना पड़ता है।

इस लोक में सभी जीव अपने द्वारा उपार्जित शुभ–अशुभ कर्मों के द्वारा निष्पन्न हुए ऐसे सुख–दुःख को भोगते रहते हैं। इस भयंकर अनन्तरूप महासंसार सागर में जन्म मरण का अनुभव करते हैं अर्थात् पुनः पुनः भव ग्रहण करते हैं। श्री बी. जी. गोखले के अनुसार–कर्म इस प्रकार दोनों दिशाओं में देखता है, वह अतीत पर दृष्टि डालता है तथा उज्जवल भविष्य की ओर निहारता है।

**कर्मसिद्धान्त जीवन और आचरण के लिए सर्वाधिक मूल्यवान हैं।** यह सिद्धान्त अकर्मण्यता तथा भाग्यवादिता को दूर करता है तथा भविष्य में आशा का संचार करता है।

### 1.5 आत्मविश्वास–

साध्वाचार का पर्यालोचन करने पर मानव मात्र में आत्मविश्वास की जागृति होती है। इस बौद्धिक एवं कर्म संघर्षरत युग में मानव की अशान्ति का मूल कारण आत्मविश्वास की उपेक्षा है। यदि मन में आत्मविश्वास की भावना का उदय हो जाय तो अनादिकाल से सम्पृक्त कर्म शत्रुओं से छुटकारा मिल सकता है।

विषय सुख का विरेचन कराने वाले और अमृतमय ये जिन वचन ही औषधि हैं। ये जरा–मरण और व्याधि से होने वाली वेदना को तथा सर्वदुःखों को नष्ट करने वाले हैं। संसार में जीव के लिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप एवं संयम को

छोड़कर अन्य कोई शरणभूत नहीं हैं।

**णाणं सरणं मे दंसणं च सरणं चरिय सरणं च।**
**तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो।।**

अर्थात् मुझे ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है। तपश्चरण और संयम शरण है तथा भगवान महावीर शरण हैं।

इस प्रकार के आत्मविश्वास के द्वारा आत्मानन्द की अनुभूति होती है। हृदय में एक दिव्य आलोक का आभास होने लगता है सद्प्रवृत्तियों का प्रस्फुरण होने लगता है। आत्मविश्वास से मानव कंटकाकीर्ण दुर्गम पथ को सहज साध्य बना देता है। आत्मविश्वास के बल पर ही भक्त साधक भगवान से साक्षात्कार कर लेता है।

## 1.6 पुनर्जन्मवाद–

पुनर्जन्म विश्व व्यापक तथा भारतीय चिन्तकों की प्रमुख विशेषता है। समस्त प्राणियों को स्वोपार्जित कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। कुछ कर्मों का फल मिल पाता है। उसे भोगने के लिये कर्म संयुक्त जीव पूर्ववर्ती स्थूल शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है। इस प्रकार पूर्व को छोड़कर उत्तरवर्ती शरीर धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है। यह पारलौकिक भावना ही मानव को शुभाचरण करने का उपदेश देती है। पुनर्जन्मवादी यह सोचता है "अयमेव लोकः न परःऽपि" इसका अर्थ यह होता है कि मानव सदाचार आदि का पालन करता हुआ आगामी जीवन को सुखद बनाने की चेष्टा करता है।

## 1.7 विश्व बन्धुत्व–

जैन साध्वाचार में विश्व बन्धुत्व की भावना का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। साध्वाचार से सर्वप्राणी समभाव ध्वनि सर्वतः मुखरित होती है। आ. अमितमति ने लिखा है–

**सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।**
**माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।**

हे देव मेरी आत्मा में सदा समस्त प्राणियों से मैत्री भाव रहे, गुणी जनों में प्रमोद भाव हो, दुःखी प्राणियों में दया भाव हो तथा जो विपरीत आचरण वाले हैं उनके प्रति मेरा माध्यस्थ भाव हो।

निःसन्देह जैन धर्म एक ऐसा मानव धर्म है जो प्राणी मात्र के अभ्युदय एवं कल्याण का पथ प्रशस्त करता है। इस धर्म के प्रभाव से दुर्जय शत्रु भी सुखदायी सेवक या मित्रवत् बन जाता है महाविषधर सर्प भी पुष्पहार बन जाता है। देवता भी दास हो जाता है और इसके प्रभाव से हलाहल विष अमृत बन जाता है। आशय यह है कि धर्म के प्रभाव से विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार साम्यवाद की उदात्त भावना का दर्शन साध्वाचार में मिलता है।

## 1.8 राष्ट्रीय एकात्मकता और सर्वोदय की भावना–

साध्वाचार में वर्ण, जाति, रूप, और समाज के विभाजन को कभी महत्त्व नहीं दिया है। आज के ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष के विष से दग्ध संसार को कल्याण की भावना से ओतप्रोत इस उपदेशामृत को आत्मसात् करने की महती आवश्यकता है। संसार में उदात्त भावना का सम्प्रेषण करने वाला जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से प्रवाहमान है। इसकी संस्कृति विशुद्ध भारतीय है। यह धर्म किसी जाति विशेष का नहीं, किन्तु प्राणि मात्र का आधार है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विश्वधर्म है अतः विश्व शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और समीकरण हेतु सार्वकालीन, सार्वयुगीन, सार्वभौमिक, सहिष्णुता, व्यवहारिक एवं विवेकपूर्ण जैन धर्म का उपस्थापन आज वांछनीय ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य भी है।

आचार में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रहवाद इन चार मणिस्तम्भों पर जैन साध्वाचार का सर्वोदयी प्रासाद अवस्थित है। युग-युग से तीर्थंकरों ने इसी प्रासाद का जीर्णोद्धार करके इसके

स्वरूप को संसार के सामने प्रस्तुत किया था। चिरकाल से आज तक अवस्थित और अविच्छिन्न रूप से सन्त परम्परा चली आ रही है। जैन वाङ्मय भी सन्तों की गौरवगाथा से अभिमण्डित है।

## 1.9 स्याद्वाद और अनेकान्त–

वर्तमान युग वैज्ञानिक व बौद्धिक उन्नति का युग है। इस युग में प्रत्येक बात तर्क की कसौटी पर कसी जाती है। विज्ञान के चक्षु से देखी जाती है, क्योंकि जो बात विज्ञान से सिद्ध है वह हर किसी को मान्य है। कहा भी है–"प्रत्यक्षे किम् प्रमाणम्"। प्रमाण और युक्ति के बिना पिता भी पुत्र की बात पर विश्वास नहीं करता है। इसी प्रकार अनेकान्त एवं स्याद्वाद भी वैज्ञानिक व तार्किक दृष्टि से खरे उतरते हैं।

जैन साधकों की आचार साधना का सुचिन्तित परिणाम स्याद्वाद है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। अनेकान्तात्मक वस्तु तत्व को स्याद्वाद के माध्यम से समझा जा सकता है। समन्वयवाद एवं विचार सहिष्णुता के द्वारा विश्व के समस्त दर्शनों को आत्मसात् करके अनेकान्त की प्रतिष्ठापना करता है। स्याद्वाद वह मिशाल है जिससे एकान्तवादी परमतों का खण्डन होकर जैनधर्म का मण्डन होता है। सत्य के विभिन्न खण्डों को जोड़कर एक अखण्ड सत्य का निर्माण करता है। मानवों के विचारों के भेद और बुराइयों को पारकर अभेद और अनाग्रह के पुल का निर्माण करता है। वैषम्य स्थापक, हिंसा, विधायक सर्वथा एकान्त प्रतिपादक उन सभी वादों और मतों का खण्डन करता है जो गिरिभित्तियों की भांति सन्मार्ग में बाधक बने हुए हैं। स्याद्वाद का हृदय विशाल है वह अपने में समता गुण के कारण प्रचलित 363 मतों को इस प्रकार समाहित किये हुये है, जैसे–कुम्हड़े का डंठल कुम्हड़े को।

वर्तमान में जैन सन्तों की समनव्यकारी व्यापक दृष्टि और अनेकान्त सिद्धान्त मानव समाज को एक नई दिशा बोध करा रहे हैं। जिससे मानव मूल्यों की पुनः स्थापना हो सकती है। भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ डॉ. रामधारी सिंह दिनकर का अभिमत है–"अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरमोत्कर्ष है। समस्त संसार इसे जितनी शीघ्र अपनायेगा विश्व में शान्ति उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।"

## 1.10 मनोवैज्ञानिकता–

मूलाचार में विवेचित पाप–पुण्य, कषाय, राग–द्वेष, संयम, सदाचार, लेश्याऐं तथा उनके सुपरिणाम तथा दुष्परिणामों को साध्वाचार के माध्यम से जानकर हेयोपादेय का ज्ञान होता है। लेश्याओं के माध्यम से व्यक्ति के अन्दर के परिणाम ज्ञात होते हैं। असत् कार्यों में अनुरक्त मानव अपनी अज्ञान जनित चेष्टा से चतुरशीति लक्ष योनियों में परिभ्रमण करता है। तथा सत् प्रवृत्तियों का आचरण करके संयम, सदाचार आदि के माध्यम से अपना मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

जिस समय मानव के मन में आचरण की भावना उद्भूत होती है उस समय उसके हृदय मंडल में पवित्रता और सदाचार का उदय होता है। उसके चारों ओर अनेक धर्म परिधियाँ विकसित हो जाती हैं। अर्हत् भक्ति से लेकर समत्व, सत्य, क्षमा, दया, संयम, तप, मानवता और नैतिकता आदि अनेक सद्गुणों का उदय होने पर आत्म शान्ति का रसास्वाद आने लगता है। आत्म उज्जवलता की पवित्र रोशनी में मानव अनादि कालीन कल्मषों को नष्ट करके संसार की भीषण ज्वाला से मुक्त होकर मुक्ति नगर का नाथ बन जाता है।

## 1.11 कलात्मकता–

स्तूपों, गुफाओं, मन्दिरों, मूर्तियों, आयागपट्टों तथा चित्रों आदि ललित कला की निर्मितियों द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र के विविध भागों को सौन्दर्य से अभिमण्डित किया है। कला का उदय मानव की सौन्दर्य भावना का परिचायक है। इस भावना की तृप्ति और विकास के लिये विभिन्न कलाओं का उदय प्राचीन काल में हुआ था। कला रूपों की निर्माण कत्री है। विश्वबन्धुत्व एवं पारस्परिक सद्भाव के लिये कला को सुरक्षित रखना आवश्यक है।

डॉ. मुखर्जी के अनुसार–"कला व्यक्ति की चिरस्थायी कीर्ति और संस्कृति की शाश्वत धरोहर ही नहीं अपितु उनकी प्रेरणा भी है। कला स्फूर्ति देती है, प्रोत्साहित और सुशिक्षित करती है। कला सबको एक सूत्र में बांधने वाली एक महान शक्ति है, जन जीवन पर उसका प्रभाव सर्वव्याप्त है। कला जीवन और आत्मा का प्रतिबिम्ब होती है। राष्ट्रीय अनुभूतियों और चेतना आदि के अध्ययन के लिये उस राष्ट्र की कला कृतियों का अध्ययन आवश्यक है।

## 1.12 विश्वशान्ति की कामना–

जैन सन्त या उपासक प्रतिदिनि विश्वशान्ति और राष्ट्र कल्याण की भावनाएं व्यक्त करते हैं। आज विश्व में जब स्वार्थ, द्वेष , वैमनस्य और छलछिद्र का ताण्डव प्रसारित हो रहा है, हिंसा की दुन्दुभि बज रही है, मानवता पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। आणविक अस्त्र शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है, विश्व पर्यावरण प्रदूषित हो चुका है, सिद्धान्त और आदर्श शशश्रृंग हो रहे हैं। ऐसे वातावरण में आत्मशान्ति, अहिंसा, करुणा, दया, सदाचार, प्रेम आदि मानवीय गुणों के साथ नैतिक उत्थान की विशेष आवश्यकता है। उक्त मानवीय गुणों की प्राप्ति के लिये जैन साध्वाचार का अध्ययन-अनुशीलन अनिवार्य है क्योंकि मूलाचार जैसे सारभूत ग्रंथ से मानवताविधायक भारतीय संस्कृति के अमर सन्देश "अहिंसापरमो धर्मः", "क्षमा वीरस्य भूषणम्", "खम्मामि सव्व जीवाणं", "नमः स्याद्वादाय अनेकान्ताय नमो नमः", "सर्वे भवन्तु सुखिनः" जैसे सिद्धान्त पल्लवित-पुष्पित और फलीभूत हुए हैं। मानव मन का कालुष्य दूर करके उसे आदर्श नागरिक तथा मुक्तिसाधक बनाने की अपूर्व क्षमता जैनाचार में सन्निविष्ट है।

## 1.13 प्रश्नावली–

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

**प्रश्न 1**–कर्मसिद्धान्त.....के लिए सर्वाधिक मूल्यवान हैं।

(क) जीवन और आचरण ☐
(ख) त्यागभाव और आत्मविश्वास ☐
(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

**प्रश्न 2**–संसार में जीव के लिए शरणभूत क्या है ?

(क) दर्शन ☐ (ख) ज्ञान ☐ (ग) दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप एवं संयम ☐

**प्रश्न 3**–"कला व्यक्ति की चिरस्थाई कीर्ति और संस्कृति की शाश्वत धरोहर ही नहीं अपितु उनकी प्रेरणा भी है।" किसने कहा ?

(क) बी.जी. गोखले ☐
(ख) डॉ. मुखर्जी ☐
(ग) डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न–

**प्रश्न 1**–जैन संस्कृति की विशेषताएँ बताइए ?

**प्रश्न 2**–"त्यागभाव" को संक्षेप में समझाइए ?

**प्रश्न 3**–श्री बी.जी. गोखले के अनुसार कर्मवाद की क्या परिभाषा है ? लिखिए।

**प्रश्न ४**–"पुनर्जन्मवाद" को संक्षेप में समझाइए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

**प्रश्न 1**–"स्याद्वाद और अनेकांत" पर प्रकाश डालिए ?

## पाठ-2 – जैन पुरातत्त्व और मूर्तिकला

**2.1** पुरातत्त्व प्राचीन तत्त्वों का आंकलन है जो भूगर्भ से प्राप्त होते हैं या शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि पर रहते हैं। साहित्यिक प्रमाणों के समर्थन में पुरातत्त्व की अहम् भूमिका रहती हैं। परम्परा, इतिहास, संस्कृति, मूर्तिकला, स्थापत्य आदि क्षेत्रों की यथार्थता के अन्वेषण से सम्बद्धक अनुशासन है। उसकी सीमा इतिहास से भी विस्तृत है जिसमें प्रागैतिहासिक काल भी सम्मिलित है। वह इतिहास की अपेक्षा निष्पक्षता को अधिक सहेजे हुए है।

### 2.2 जैन कला एवं स्थापत्य–

जैन संस्कृति मूलतः आत्मोत्कर्षवाद से सम्बद्ध है इसलिए उसकी कला एवं स्थापत्य का हर अंग अध्यात्म से जुड़ा हुआ है। जैन कला के इतिहास से पता चलता है कि उसने यथासमय प्रचलित विविध शैलियों का खूब प्रयोग किया है और उनके विकास में अपना महनीय योगदान भी दिया है। आत्मदर्शन और भक्ति भावना के वश मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण किया गया और उन्हें अश्लीलता तथा श्रङ्गारिक अभिनिवेशों से दूर रखा गया। वैराग्य भावना को सतत् जागरित रखने के लिए चित्रकला का भी उपयोग हुआ है।

यहाँ हम जैन पुरातत्त्व (कला) को पाँच भागों में विभाजित कर रहें हैं। मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, काष्ठशिल्प और अभिलेख तथा मुद्राशास्त्र। इन सभी कला-प्रकारों में अनासक्त भाव को मुख्य रूप से प्रतिबिम्बित किया गया है। इसी में उसका सौन्दर्यबोध और लालित्य छिपा हुआ है। यहाँ पुरातत्त्व पर पृथक् से भी विचार करने की आवश्यकता नहीं है। उसे हम जैन मूर्तिकला तक ही सीमित रखना चाहते हैं।

### 2.3 जैन मूर्तिकला उद्भव और विकास–

आध्यात्मिक भावना को पोषित करने की दृष्टि से इष्टदेव को साकार रूप देने के लिए मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है। मन को केन्द्रित कर भक्ति भाव में लीन होने के लिए भी मूर्ति एक सबल और सशक्त साधन है। यही कारण है कि लगभग सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में मूर्ति को महत्त्व दिया गया है और देवदर्शन को एक नैमित्तिक अंग मान लिया गया है। इतना ही नहीं, भक्ति काल में तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण को पंचकल्याणक मानकर मूर्ति प्रतिष्ठा बड़ी धूमधाम से होने लगी जो आज भी प्रचलित है। यह एक प्रभावना का अंग बन गया है।

दर्शन को ही कला में उत्कीर्ण किया जाता है। जैन संस्कृति में मूर्तिकला एक विशेष विकास के दौर से गुजरी है अतः सर्वप्रथम हम जैन मूर्तिकला के विकासक्रम की ओर दृष्टिपात कर लें।

### 2.4 जैन मूर्तिकला का विकास क्रम–

मूर्ति अथवा प्रतिमा मूल रूप की प्रतिकृति है जो अपने आपमें छायावत् उसका बिम्ब छिपाये रखती है। उसमें निर्गुण किंवा निराकार रूप अव्यक्त प्रकृति तथा सगुण किंवा साकार रूप व्यक्त विकृति अन्तर्भूत है। निर्गुण रूप निराधार होने के कारण पूजा और साधना में अधिक सहयोगी हो जाता है। यही तथ्य मूर्तिकला के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि है।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जैन कला तत्तद स्थानीय कला-शक्तियों और विधाओं पर निर्भर रही है और उसके दोष-गुणों का कोई सम्बन्ध जैन धर्म के साथ नहीं है।

जैन कला के सौन्दर्यबोध का आलोचनात्मक निर्णय हमें उसकी व्यापक शैली और प्रतिमा विधान सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करना चाहिए, जिससे कि वह समान शैली की हिन्दू कलाओं से भिन्न सिद्ध हो सके। क्षेत्र एवं इतिहास सम्बन्धी तथ्यों में विभेद करता हुआ पुरातात्त्विक ज्ञान जैन कला के सौन्दर्यबोध के मूल्यांकन में बहुत सहायक हो सकता है। बौद्ध कला की भाँति जैन कला रोमन, यूनानी या रैनेसान्स अथवा प्रतिहार, चालुक्य व

चोल कला की भाँति किसी एक शैली के विकास पर निर्भर नहीं रही वरन् एक विशिष्ट सांस्कृतिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण की विविध शैलियों में अभिव्यक्त होती रही है। पात्र नहीं, वरन् पात्र में भरा द्रव्य जैन कला के स्वरूप को प्रकट करता है।

इस प्रकार पुरातत्त्व और इतिहास किसी भी कलाकृति के जैन रूप का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है क्योंकि वह जैन रूप ऐतिहासिक प्रादेशिक शैली विशेष के माध्यम से ही यथार्थ रूप में जाना जा सकता है। अस्तु, जैन कला के जैन रूप का सौन्दर्य बोधात्मक मूल्यांकन करने के लिए एक सुनिश्चित विद्या का अनुसरण करना चाहिए। हमें उस स्थानीय अथवा ऐतिहासिक शैली का बोध होना चाहिए जिसकी कलाकृति एक विशेष उदाहरण है। दूसरे, हमें उक्त मूर्ति के प्रतिमा विधान एवं पूजा सम्बन्धी आवश्यकताओं का ज्ञान होना चाहिए।तीसरे, इन दोनों सीमाओं के भीतर उक्त मूर्ति के शिल्प कौशल तथा सौन्दर्य गुण का मूल्यांकन करना चाहिए। कलाकृति विशेष के सौन्दर्य प्रभाव के मूल्यांकन करने के लिए उस विशिष्ट गुण पर भी ध्यान देना चाहिए जो जैन कला की कुछ सर्वश्रेष्ठ कृतियों को एक अद्वितीय एवं प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करती है। विभिन्न शैलियों में विभिन्न उपादानों के प्रयोग से निर्मित जैन कलाकृतियों में जो एक समान तत्त्व दृष्टिगोचर होता है उसका कारण जैन दर्शन का अपना निरालापन ही हो सकता है। उदाहरणार्थ हलेबिड के प्रसिद्ध जिनमन्दिरों का उल्लेख किया जा सकता है जो होयसल कला का प्रतिनिधित्व करता है और जिसपर चालुक्य कला का भी प्रभाव है।इसी प्रकार विजयनगर के अनेक जिन मन्दिरों को उल्लेखित किया जा सकता है। भारतवर्ष में शुद्ध भावात्मक और सादे स्थापत्य शिल्प के ये श्रेष्ठ नमूने हैं, जबकि राजस्थान के रणकपुर का 15वीं शतीं का जिनमंदिर अपने अत्यन्त एवं विस्तृत अलंकरण के कारण उपरोक्त मन्दिरों से सर्वथा भिन्न शैली का है, तथापि विशेषतया जैन कला का नमूना है।

10वीं-11वीं शताब्दी में मध्य भारत के जैन मन्दिरों का मूल्यांकन भी अत्यधिक अलंकरण से पूरित है। जैनकला के विकास में चौमुखी प्रतिमाओं का भी उल्लेखनीय स्थान है जिनका एक सुन्दर मध्यकालीन उदाहरण मध्य प्रदेश में कडवाह के निकट इन्दौर में विद्यमान है।

## 2.5 मोहनजोदड़ो और हड़प्पा–

हड़प्पा में प्राप्त 13 प्रस्तर मूर्तियों में से दो मूर्तियों ने कला सम्बन्धी मान्यता में क्रांति ला दी है।ये मूर्तियाँ लगभग 4 इंच की हैं। सिर, हाथ, पैर विहीन, ग्रीवा और कंधों के स्थान पर पृथक् बने हुए शिर और बाहु धारणा करने के रन्ध्र बने हुए हैं। मूर्ति में सजीवता, आत्मशक्ति की तेजस्विता देखते ही बनती है। दूसरी मूर्ति बाह्य स्पंदन को प्रकाशित करती है। इसका समय लगभग दो हजार ई.पू. है। इसे जैन तीर्थंकर की मूर्ति कहने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए। इसकी तुलना में मोहन जोदड़ो ई.पू.तीसरी सहस्राब्दी की उस उत्कीर्ण मुहर का अध्ययन किया जा सकता है जिस पर गैंडा, भैंस, सिंह आदि मूर्तियों के मध्य ध्यानस्थ बैठे रुद्र-पशुपति-महादेव की मूर्ति ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा को व्यक्त करती है। हेनसांग (600-645 ई. सन्) का विवरण भी इसी तथ्य को स्पष्ट करता है जहाँ वह कहता है कि वहाँ बहुत से बुद्धेतर तीर्थंकर हैं जो क्षुन (शिश्न) देव की पूजा करते हैं जो कोई नग्न देवता की आराधना करता है उसकी अभिलाषायें पूरी हो जाती हैं। यहाँ अहिंसा संदेश देने वाले जैन तीर्थंकर की ओर संकेत है।

टी.एन.रामचन्द्रन् का विचार है कि ये उद्धरण और हड़प्पा की मूर्ति जैन तीर्थंकर से सम्बद्ध हैं। उसे वे कायोत्सर्ग मुद्रा में देखते हैं जो समस्त भौतिक चेतना के आन्तरिक व्युत्सर्ग का प्रतीक है। उनकी दृष्टि में तीर्थंकरों की कालगणना में भी इससे कोई बाधा नहीं आती। उन्होंने ऋषभदेव का काल ई. पू. की तीसरी सहस्राब्दि का अन्तिम चरण रखा है।

मूर्ति का विशेष सम्बन्ध आध्यात्मिक साधना से है। चित्त को एकाग्र करने का वह एक अद्भुत साधन है जो सम्यक् आचरण बिना सम्भव नहीं होता। धर्म उसका मूल है। धार्मिक भावनाओं के अंकन बिना कला कला नहीं

रहती। शायद इसीलिए डेलासेता ने अधिकांश राष्ट्रों की कला का सम्बन्ध धर्म से नियोजित किया है। जैन मूर्तिकला इसका अपवाद नहीं है। राग-द्वेषादि विकारों को दूर कर व्यक्ति अपनी सर्वोच्च विशुद्ध स्वरूप परमात्म अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जैन धर्म उस अवस्था को तीर्थंकर, अर्हन्त और सिद्ध की संज्ञा देता है। आत्मिक विकास की दृष्टि से उन अवस्थाओं को समवेत् रूप से "परमेष्ठी" भी कहा जाता है।

भारत की प्राचीनतम मूर्तिकला का इतिहास सिन्धु घाटी के उत्खनन से ज्ञात होता है। उसमें प्राप्त विविध मूर्तियाँ भारतीय संस्कृति को दिग्दर्शित करती हैं। मोहनजोदड़ो व हड़प्पा के अतिरिक्त चन्हदड़ो, झूकरदड़ो, अम्बाला, करांची, केला (बलूचिस्तान) आदि सैकड़ों स्थानों तक इस सिन्धु सभ्यता का प्रसार रहा है। विद्वानों ने इसकी प्राचीनता लगभग 4000 ई.पू.से लेकर 2500ई.पू.तक निर्धारित की है।

सिन्धु सभ्यता के मूल निवासी कौन थे, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। पर यह निश्चित है कि यह सभ्यता प्राग्वैदिक कालीन है। वैदिक धर्म में मूर्ति पूजा का कोई स्थान नहीं था। वहाँ तो गाय की पूजा होती थी। अग्निकुंड एक अनिवार्य तत्त्व था इसके विपरीत सिन्धु सभ्यता में मूर्तिपूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। तुलनात्मक अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि यह सिन्धु सभ्यता वैदिक विरोधी सभ्यता थी इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि यह सभ्यता तत्कालीन विद्याधर किंवा द्रविड़ जाति से सम्बद्ध रही हो। यह जाति ऋषभदेव (जैनधर्म के आदि तीर्थंकर) को पूज्य मानती थी और उन्हें योगी के रूप में स्वीकार करती थी। हड़प्पा और लोहानीपुर से प्राप्त मस्तकविहीन नग्नमूर्ति कायोत्सर्ग अवस्था में खड़ी है। मोहनजोदड़ो में प्राप्त पशुपति को यदि शैवधर्म का देव मानें तो हड़प्पा से प्राप्त नग्न धड़ को दिगम्बर मत की खण्डित मूर्ति मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उसकी आकृति और भाव ऋषभदेव की आकृति और भाव से शत-प्रतिशत मिलते हैं। रामचन्द्रन और काशीप्रसाद जायसवाल जैसे प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता उस मूर्ति को किसी जैन तीर्थंकर की मूर्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

इसी प्रकार की कुछ योगी मूर्तियों का और भी चित्रण सिन्धु सभ्यता की मुद्राओं में हुआ है जिन पर विशाल स्कन्धयुक्त ऋषभ का चित्र बना है। इससे पता चलता है कि ऐसे ऋषभ के साथ एक जटाजूटधारी का अंकन जैन तीर्थंकर आदिनाथ का स्मरण करा देता है। हड़प्पा 300, 317 एवं 318 में अंकित आजानुबाहुद्वययुक्त कायोत्सर्गी प्रतिमा का प्रमाण मोहनजोदड़ो में उपलब्ध होता है।

सिन्धु घाटी सभ्यता के बाद की ऋग्वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल की मूर्तिकला अन्धकाराच्छन्न है। इतने लम्बे अन्तराल में सांस्कृतिक और कलात्मक विच्छिन्नता का हो जाना एक ऐसा यक्ष प्रश्न है जिसका समाधान अभी तक सामने नहीं आ पाया। इसी तरह सिन्धु लिपि का अभी तक निर्विवाद रूप से पढ़ा न जा पाना तथा उसका ब्राह्मी लिपि से कोई सम्बन्ध स्थापित न हो पाना भी अध्येताओं के लिए एक समस्या बनी हुई है। सिन्धु सभ्यता एक सुसंस्कृत और विकसित सभ्यता थी जिसे विद्धानों ने अनार्य सभ्यता कह दिया। उसके प्रवर्तक शांति प्रकृति के महापुरुष थे। यह अनार्य सभ्यता जैन सभ्यता होनी चाहिए, द्रविड़ सभ्यता होनी चाहिए। कालान्तर में कदाचित् युद्धकर्मा आर्यों ने उन पर आक्रमण किया और अपनी विकसित युद्ध प्रणाली तथा अपने उच्चतर सैनिक संगठन के कारण उन्हें पराजित किया और उनकी सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इस प्रकार अनार्य सैन्धव सभ्यता के ऊपर आर्य सभ्यता की नींव डाली गई।

आर्य सभ्यता के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद अधिक सहायक सिद्ध होता है। सैन्धव सभ्यता और ऋग्वेदिक सभ्यता में बहुत अन्तर है। ऋग्वैदिक आर्यों को सैन्धव अनार्यों से भीषण युद्ध करना पड़ा। उनको उन्होंने दास-दस्यु की संज्ञा दी। देवपीयु, अदेवयु, अन्यव्रत, अयज्वन, अकर्मन् आदि जैसे निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग किया। इन शब्दों से सांस्कृतिक वैभिन्य का पता चलता है। ऋग्वैदिक और उत्तरवैदिक संस्कृति में ब्राह्मण संस्कृति का पल्लवन हुआ जबकि सैन्धव संस्कृति जो श्रमण संस्कृति मूलक थी, ऋषभदेव की परम्परा को समाहित

किये हुए थी, पार्श्वनाथ और महावीर तक चली आयी। इस बीच अनेक उतार-चढ़ाव आये, उपनिषद् परम्परा का जन्म किंवा विकास हुआ जिस पर श्रमण संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। इस ब्राह्मण संस्कृति की उपनिषदीय परम्परा के विकास की समूची पृष्ठभूमि और आधारशिला श्रमण संस्कृति है जिस पर गहराई से शोध—खोज होनी चाहिए।

वैदिक आर्यों में मूर्ति पूजा थी या नहीं, इस विषय में विद्धानों में मतैक्य नहीं। मैक्समूलर की दृष्टि में वैदिक धर्म प्रतिमाओं से परिचित नहीं रहा जबकि बोल्लेनसेन, वेंकटश्वर आदि विद्वान उनके इस मत को बिल्कुल अस्वीकार करते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि ग्रंथों में वर्णित इन्द्र, वरूण आदि की प्रतिमाओं का जो रूपज्ञान होता है उससे प्रतिमा पूजा का आभास तो निश्चित होता है। यास्क ने इसी तथ्य को "आकार चिन्तनं देवतानां" कहकर व्यक्त कर दिया है।

तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की अहिंसात्मक देशना के कारण वैदिक क्रियाकाण्ड हतप्रभ होने लगे और मोक्षप्राप्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वयात्मकता प्रस्थापित हो गई। यज्ञमय संस्कृति का रूप परिवर्तित हो गया, पुरुषार्थ संस्कृति का जन्म हुआ तथा श्रमणमूलक भक्ति तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। इसी दृष्टि से ध्यानयोग का विकास हुआ और योग मुद्राओं का प्रचार-प्रसार हुआ। स्मृतिकाल तक आते-आते प्रतिमापूजन पद्धति का भी विकास हो गया।

## 2.6 तीर्थंकरों की अवधारणा-

जैन परम्परा जैनधर्म को अनादि-अनन्त मानती है परन्तु पुरातात्त्विक प्रमाण के बिना इतिहास उसकी परम्परा को पूरी तरह स्वीकार नहीं करता। तीर्थंकरों की अवधारणा को समझने के पूर्व वैदिक और बौद्ध परम्परा पर दृष्टिपात कर लेना, आवश्यक है।

सभी धर्मों से प्रकृति की उपासना किसी न किसी रूप में की है। देवी-देवताओं की मान्यता भी उसी उपासना का फल है। वैदिक संस्कृति में प्रारम्भ में स्थानों के आधार पर तीन देवों की कल्पना आई-पृथ्वी के देवता अग्नि, वायुमण्डल के इन्द्र तथा स्वर्ग के सूर्य माने गये। इनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध 11-11 देवों से रहा। ब्राह्मण काल में इन देवों का रूप और नामकरण बदला। सभी आकाश स्थानीय देवता आदित्य के नाम से विख्यात हुए और उनकी संख्या 12 हो गई। अन्तरिक्ष स्थानीय देवता रुद्र के नाम से और पृथ्वी स्थानीय देवता वसु के नाम से प्रसिद्ध हुए जिनकी संख्या 14 हो गई। अन्तरिक्ष स्थानीय देवता रुद्र के नाम से और पृथ्वी स्थानीय देवता वसु के नाम से प्रसिद्ध हुए जिनकी संख्या क्रमशः 11 और 8 हो गई। इन 33 देवों (12 + 2 + 11 + 8) के स्थान पर बाद में कुल 31 देव रह गये। कभी-कभी द्यौस और पृथ्वी को मिलाकर 33 की संख्या भी बना ली जाती थी । पुराण काल में बारह आदित्यों में से केवल विष्णु,ग्यारह रुद्रों का समूहात्मक रूप शिव और आठ वसुओं के स्थान पर प्रजापति ब्राह्मण ये तीन देवता प्रतिष्ठित हुए। ये तीनों देव सर्वत्र एक साथ रहते हैं। कालान्तर में इन तीनों देवों के लक्षण और रूप निर्धारित हुए।

इसी तरह से वैदिक धर्म के अन्तर्गत देवियों के दो रूप प्राप्त होते हैं, वैष्णवी तथा शक्ति अर्थात् रौद्री। वैष्णवी देवियों में प्रमुख हैं—योगमाया, लक्ष्मी, सरस्वती और भू रौद्री रूप निम्न देवियों में देखा जा सकता है—पार्वती, भद्रकाली, नन्दा, दुर्गा, महिषासुर मर्दिनी, महाकाली तथा सप्तमातृकाएँ (ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी, कौकारी, बराही, इन्द्राणी, चामुण्डा)।

वैदिक धर्म का अवतारवाद भी यहाँ उल्लेखनीय है। साधारणतः विष्णु के दस अवतार माने गये हैं-मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम), भार्गव राम, दशरथी राम कृष्ण और बलराम, बुद्ध तथा कल्कि। श्रीमद्भागवत् में एक स्थल पर 22 अवतारों का वर्णन है जिनमें आठवें क्रम पर ऋषभदेव तथा तथा इक्कीसवें क्रम पर बुद्ध के नाम का उल्लेख है। दूसरे स्थल पर यही संख्या तेईस हो गई है। बाद में सूर्य तथा नवग्रह (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु) और अष्ट दिकपाल (इन्द्र, वरूण, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, नैऋत, ईशान) भी देवकुलों में सम्मिलित हो गये।

बौद्ध धर्म में तथागत बुद्ध के त्रिकायवाद का सिद्धान्त आया—धर्मकाय, संभोगकाय तथा निर्माणकाय, जिनकी तुलना हम क्रमशः ब्रह्म, ईश्वर तथा अवतार से कर सकते हैं, उनके 18 आवेणिक धर्म (वैशिष्ट्य धर्म) भी निश्चित हुए—दस बल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान और महाकरुणा। यही धर्म महायानिक बोधिसत्त्वभूमि में 140 हो गये। इनकी तुलना जैन तीर्थंकरों के लक्षणों से की जा सकती है। बाद में महासाधकों ने बुद्ध को लोकोत्तर बना दिया।

बुद्ध की भी संख्या कालान्तर में बढ़ने लगी। बोधिसत्व (भावी बुद्ध) के रूप में। प्राचीन पालि ग्रन्थों में सात बुद्धों के नाम आते हैं—विपस्सी, सिदिव, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोनागमन, कस्सप और गोतम। इन सभी बुद्धों की सारी जीवन घटनायें गौतम बुद्ध के समान बताई गईं जिन्हें 'धम्मता' की संज्ञा दी गई है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत बुद्धवंश में बाद में शाक्य मुनि बुद्ध के पूर्व चौबीस बुद्धों का वर्णन मिलता है। नये नाम इस प्रकार हैं—दीपंकर, कोण्डञ्च, अत्थदस्सी, धमदस्सी, सिद्धत्थ, तिस्स और फुस्स।

अशोक के पूर्व की कोई भी बौद्ध प्रस्तर कला निर्विवाद रूप से उपलब्ध नहीं है। स्तूप निर्माण मौर्यकाल की देन है। बाद में चैत्यगृह, बोधिवृक्ष आदि प्रतीकों का जन्म हुआ। फिर गन्धार में यवनों के आने पर बुद्ध मूर्ति का जन्म हुआ। इसका समय लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। लगभग इसी समय मथुरा में भी बुद्ध की मूर्ति का निर्माण हो चुका था। गुप्तकाल में उसका और भी विकास हुआ।अनन्तर देवी-देवताओं और पंचध्यानी बुद्धों की प्रतिमायें बनने लगीं।

इन दोनों परम्पराओं को देखने के बाद तीर्थंकरों की अवधारणा का प्रारूप किसी सीमा तक हमारे सामने खड़ा हो जाता है। परम्परागत चौबीस तीर्थंकरों का प्राचीनतम उल्लेख जैन ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

पालि साहित्य में तीर्थंकर ऋषभदेव, अरिष्टनेमि (अरनेमि), पार्श्वनाथ और महावीर के नामों का तो उल्लेख है पर शेष तीर्थंकरों का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यद्यपि उनके नामों को हमने जिस किसी तरह खोज निकाला है परन्तु उसे स्पष्टतः ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। इससे यह संभावना बलवती हो उठती है कि द्वितीय से इक्कीसवें तीर्थंकरों की क्रमिकता उत्तरकालीन विकास का परिणाम है। इन सभी तीर्थंकर की सारी जीवन घटनायें लगभग एक ही साँचे में ढली हैं उसी तरह जैसे बुद्धों की घटनायें। अवतारों की भी लगभग यही संख्या है अतः यह अधिक समीचीन दिखाई पड़ता है कि चौबीस तीर्थंकरों की पुरातात्त्विक अवधारणा लगभग द्वितीय-तृतीय ई.पू. में प्रारम्भ हुई होगी। यद्यपि साहित्यिक परम्परा इसे स्वीकार नहीं कर सकती। इनकी प्रारंभिक मूतियों भी इसी काल की हैं। इस काल मे अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ नहीं मिलती। ऋषभदेव की ध्यानमुद्रा में मथुरा और चौसा से प्राप्त कुषाणकालीन (प्र.श.ई.पू. से द्वितीय शताब्दी तक) मूर्तियाँ तथा मथुरा से प्राप्त अरिष्टनेमि तथा पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

इनमें भी ऋषभदेव की मूर्ति प्राचीनतम हो सकती है। सम्राट् कलिंग ने अपने हाथीगुम्फा शिलालेख में स्पष्ट लिखा है कि उसने अपने शासनकाल के बारहवें वर्ष में मगध पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की थी और कलिंग जिन (ऋषभदेव) की उस प्रतिमा को ससम्मान वापिस ले आया था जिसे नन्द राजा उठाकर ले गया था।

हम जानते हैं कि शिशुनागवंशीय राजा श्रेणिक बिम्बसार (छठी-पांचवी शती ई. पू.) और उसकी पत्नी रानी चेलना परम्परा से महावीर के भक्त थे। राजगृह उनके मगध की राजधानी थी। शिशुनागवंश का उत्तराधिकारी नन्दराजा हुआ और नन्दराजा का मंत्री शकटाल था अतः मगध और कलिंग को जैन केन्द्र के रूप में स्वीकार किया गया है। कलिंग खारवेल के इस शिलालेखीय प्रमाण को यदि हम स्वीकार कर लें तो फिर हमें यह कहने में संकोच नहीं होगा कि मूर्तिकला के क्षेत्र में हम इस जैनधर्म का प्राचीनतम प्रमाण कह सकते हैं। इस समय की मूर्ति की क्या विशेषतायें थी इसकी सही जानकारी अवश्य नहीं मिलती पर प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय बम्बई में सुरक्षित पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति को ऐसी मूर्ति की अनुकृति के रूप में देखा जा सकता है।

जैन मूर्तिकला के विकास के विषय में जानने के पहले हम गुहा और विहार के विषय में भी समझ लें। विहार पर्वतों को काटकर बनाये जाते थे। पर्वत की तलहटी में सर्वप्रथम बरामदा तैयार किया जाता। उसमें एक प्रवेश मार्ग होता जिससे आँगन में जाया जाता था। आँगन के चारों तरफ बरामदे और कमरे रहते थे। आँगन भी बंद रहता था। खिड़कियाँ प्राय: नहीं रहती थीं। इस प्रकार पर्वतों पर खोदी गई गुफायें ही विहार बन गईं। उदयगिरि-खण्डगिरि इसके उदाहरण हैं। उत्तरकाल में गृह के आहार पर विहारों का विकास होता रहा। उड़ीसा की ये जैन गुफायें पश्चिमी भारत के विहारों से भिन्न हैं। यहाँ आँगन खुले हैं। इसका विकसित रूप एलोरा की जैन गुफाओं में देखा जा सकता है। कला की दृष्टि से ये अलंकृत हैं और देवमन्दिर का रूप लिये हुए हैं। श्रमणों का निवास यहाँ नहीं था। इन गुफाओं ने आगे जैनेतर गुफाओं के निर्माण में भी अपना योगदान दिया।

## 2.7 मौर्यकाल-

इसके बाद जैन मूर्तिकला का विकास मौर्य एवं शुंग काल में हुआ। मौर्य राजाओं (ई.पू.317 से ई.पू.184) में जैन साहित्य के अनुसार चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणिक, सम्प्रति और दशरथ जैनधर्मानुयायी राजा थे। दुर्भिक्ष काल में भद्रबाहु कर्नाटक पहुँचे जहाँ जाकर चन्द्रगुप्त ने जिनदीक्षा ग्रहण की। आज भी उस पहाड़ी को 'चन्द्रगिरि' कहते हैं।दक्षिण में जैनधर्म का प्रचार प्रथमत: इसी समय हुआ। अशोक के पौत्र सम्प्रति को श्वेताम्बर जैन ग्रंथों में 'परम अर्हत्' कहा गया है। उसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया और उज्जैन में जैन उत्सवों को मनाने की परम्परा प्रारम्भ की (आवश्यकसूत्र, 435-36; परि. पर्वन् 9. 54)।

इन साहित्यिक प्रमाणों के अतिरिक्त पुरातात्त्विक प्रमाण के रूप में लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त मस्तक विहीन कायोत्सर्ग मुद्रा में नग्न मूर्ति को मौर्य युगीन माना जा सकता है। इस पर चमकदार आलेख है जो उसे लगभग तृतीय शती ई.पू. की सिद्ध करता है। वर्तमान में यह पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। इस मूर्ति का सौष्ठव और शरीर रचना का संतुलन उसे परमयोगी की मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित करता है यहीं एक और जिनप्रतिमा का धड़ मिला है। इस काल में तीर्थंकर की मूर्तियों पर साधारणत: चिह्न नहीं उकेरे जाते थे बल्कि उनकी पहचान उनकी पादपीठ में उट्टंकित शिलालेखों से होती थी। वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा हस्ततल या चरणतल पर धर्मचक्र अथवा उष्णीस के चिह्न अवश्य होते थे। ऋषभदेव के सिर पर जटाजूट, सुपार्श्वनाथ के सिर पर पाँच फण तथा पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर सप्तफण भी उकेरे जाते हैं ये विशेषतायें शुंगकाल में अधिक विकसित हुईं।

शुंगकाल वैदिक धर्म का पुनरुद्धारकाल कहा जा सकता है। इस वंश का संस्थापक पुष्यमित्र जैनों और बौद्धों से द्वेष करने वाला था। कलिंग नरेश खारवेल ने संभवत: इसीलिए मगध पर आक्रमण कर ऋषभदेव की प्रतिमा को वापिस प्राप्त किया था।

मूर्तिकला के साथ गुफाओं और वास्तुकला का भी संबंध जुड़ा है। अशोक द्वारा आजीविक सम्प्रदाय को भेंट किये गए प्राचीनतम तीन गुफा समूह गया, बाराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों के पास प्राप्त हुए हैं जिसकी पुरालिपि उसे ई.पू.तृतीय शती की सिद्ध करती है। हम जानते हैं कि आजीविक सम्प्रदाय का संबंध दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से अधिक रहा है।

वास्तविक रूप में प्राचीनतम गुफाओं के रूप में हम उदयगिरि और खंडगिरि गुफाओं का उल्लेख कर सकते हैं। कलिंग ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में इन पहाड़ियों पर जैन गुफायें, स्तूप, विहार और मन्दिरों का निर्माण कराया। हाथी गुफा शिलालेख में यह सब विस्तार से वर्णित है। इन गुफाओं को विहार के रूप में विकसित किया गया। ये गुफायें प्राय: दो मंजिलों की हैं। कोठरियाँ और बरामदे भी हैं। बिना स्तम्भ और बरामदें वाली गुफायें छोटी और अलंकृत हैं तथा स्तम्भयुक्त बरामदे वाली गुफायें बड़ी और अलंकृत हैं। इनमें रानी गुफा का शिल्प अधिक अलंकृत है। शिल्पांकित तोरण शासन देवियाँ, आयुध, वाहन और द्वारपाल भी अंकित हुए हैं। कलिंग जिनमूर्ति संभवत: इसी में

स्थापित रही होगी। शासन देवियों का अंकन कदाचित् यहाँ पहली बार हुआ है। यह इसकी विशेषता है।

जूनागढ़ (गिरनार) में लगभग बीस शैलोत्कीर्ण गुफायें हैं जो बाबा प्यारा मठ की गुफायें कहलाती हैं। ये तीन पंक्तियों में बनी हैं। इनमें मंगल कलश, स्वस्तिक, श्रीवत्स, भद्रासन, मीनयुगल आदि चिह्न मिलते हैं। इसका काल लगभग ई.पू.द्वितीय शती है। यह धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो सकती है। क्षत्रपकालीन ये गुफायें कुछ ऐसी ही विशेषतायें लिए हुए हैं। कालकाचार्य का सम्बन्ध भी गुजरात से इसी काल में रहा है।

राजगृह के समीप सोनभण्डार नाम का एक जैन गुफा समूह है जो प्रथम द्वितीय शती का होना चाहिए। इसका विशेष सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से है। इसके कक्ष विशाल आयताकार हैं और द्वारस्तम्भ ढलुवा हैं। यहाँ प्राप्त लेख के अनुसार ये गुफायें वैरदेव मुनि ने जैन साधुओं के आवास की दृष्टि से बनवाईं थीं। इसमें तीर्थंकर मूर्तियाँ भी स्थापित की गईं। विदिशा की उदयगिरि जैन गुफायें भी उल्लेखनीय हैं जिनका समय ई.पू. माना जाता है।

इसी काल में दक्षिणापथ में भी तमिलनाडु में प्राकृतिक जैन गुफाओं की संख्या अधिक है। यहाँ तमिल भाषा के प्राचीनतम अभिलेख तथा प्रस्तर-स्मारक मिले हैं। गुफाओं के भीतर शिलाओं को काटकर शय्यायें बनायी गईं और तकिये भी उठा दिये। ये ई.पू.द्वितीय शताब्दी की गुफायें है। मदुरै, रामनाथनुरम, तिरुच्चरप्पल्लि, कोयम्बतूर, अर्काट आदि जिलों में गुफाओं की संख्या बहुत अधिक है। सित्तन्नवासल नामक स्थान पर प्राप्त गुफा भी उल्लेखनीय है। आन्ध्रप्रदेश के चित्तूर जिले में कन्नकपुर और नगरी नामक स्थान हैं जहाँ पंच पाण्डव सहित कुछ जैन गुफायें हैं।

जैन कला की यथार्थ अभिव्यक्ति लगभग दूसरी शती ई.पू. में मथुरा में हुई।यहाँ के कंकाली टीले से जैन मूर्तियाँ, आयागपट्ट, स्तम्भ, तोरणखण्ड, वेदिकास्तम्भ, छत्र आदि उत्खनित हुए हैं। ईंटों से बना एक स्तूप भी मिला है जिसे देवनिर्मित की संज्ञा दी गई है। विविधतीर्थकल्प में इसका उल्लेख मिलता है। इस साहित्यिक परम्परा की पुष्टि कुषाणकालीन उस तीर्थंकर मूर्ति से होती है जिसके पादपीठ पर 167 ई. के लेख में लिखा है कि यह मूर्ति देव निर्मित स्तूप में स्थापित की गयी (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, जे 20)। यह स्तूप वस्तुतः देवों तीर्थंकरों को प्रतिष्ठित करने के लिए बनाया गया होगा, देवों द्वारा नहीं। जो भी हो, इससे जैन मूर्तिकला के द्वितीय विकासक्रम की रूपरेखा को समझा जा सकता है जिसकी पृष्ठभूमि में भक्तितत्त्व समाहित रहा है।

मथुरा की मूर्तियाँ चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर से निर्मित हुई हैं। ये मूर्तियाँ दिगम्बर हैं और विशेषतः आयागपट्टों पर उत्कीर्ण हैं। चिह्नों का प्रयोग इस समय तक नहीं हुआ था पर वहाँ नंद्यावर्त, धर्मचक्र, मीनयुगल, स्वस्तिक, कलश तथा विविध लता वृक्षों का सुन्दर अंकन अवश्य हुआ है। यहाँ चौमुखी मूर्तियाँ (सर्वतोभद्र) भी मिली हैं। इन कुषाणयुगीन मूर्तियों के शिलालेखों में कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के नाम भी मिलते हैं। नेमिनाथ और बलराज की भी मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों पर बोधिवृक्ष भी उत्कीर्ण हुए हैं। देवत्व और वीतरागता का भी मनोहारी अंकन इन मूर्तियों पर हुआ है। यहाँ एक ऐसी भी मूर्ति है जिसका शिर नहीं है। उसके बायें हाथ में पुस्तक है। इसे सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कहा गया है। ये मूर्तियाँ ई.पू. प्रथम द्वितीय शती की हैं। इस काल की मूर्तियों में कला-कौशल अधिक नहीं है। इनका नीचे का भाग प्रायः स्थूल है और स्कन्ध तथा वक्ष चौड़ा है। इसके बावजूद चेहरे पर शांति तथा आध्यामिकता के चिह्न स्पष्टतः दिखायी देते हैं। इस समय तक कदाचित् दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद नहीं हुआ था। सारी मूर्तियाँ दिगम्बर ही हैं।

मथुरा एक व्यापारिक केन्द्र था और शायद मूर्ति निर्माण की स्थली भी। यह केन्द्र अनेक राजमार्गों से जुड़ा था तथा वैदिक और बौद्ध संस्कृतियों का भी वह एक महत्त्वपूर्ण नगर था परंतु द्वितीय शती ई. के अंत तक कुषाणों का पतन हो जाने के बाद मूर्ति निर्माण कला पर आघात आया। वहाँ नागवंश का उदय हुआ जो जैन परम्परा से पोषित था। मथुरा वाचना भी यहीं हुई लगभग चतुर्थ शती में, फिर भी कला का ह्रास सा ही हुआ।

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अवशेष दूसरी शती ई.पू. से लेकर कुषाण काल के अंत तक के मिलते हैं जो जैन कला के विकास की सूचना देते हैं। इस काल में जैनों में स्तूप, चैत्यवृक्ष,धर्मचक्र, आयागपट्ट, अष्टमंगलद्रव्यपूजा, दिगम्बर मूर्ति (वस्त्रावरण चिह्न विरहित), सर्वतोभद्र प्रतिमा (चतुर्मुखी), सरस्वती प्रतिमा आदि का प्रचलन हो गया था।

इस समय तक किंवा पूर्व मध्यकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं में प्रदर्शित पूरा परिकर तब तक विकसित नहीं हुआ था और मात्र प्रभामण्डल, चैत्यवृक्ष, विद्याधर गन्धर्व ही अंकित पाये जाते हैं। कुषाणकालीन प्रतिमाओं में तीर्थंकर लांछन, करडोरा और सम्बद्ध यक्ष-यक्षिका का भी अंकन नहीं पाया जाता। चमरधारी यक्षों के स्थान पर दाता उपासक-उपासिका अथवा मुनि-आर्यिका के अंकन पाये जाते हैं। साथ ही सिंहासन पर दोनों ओर सिंह और धर्मचक्र अंकित होते थे, लांछन के अभाव में लेख में उल्लिखित तीर्थंकरों के नाम से तीर्थंकर मूर्ति जानी जाती थी। कुषाणकालीन प्रतिमाओं में बहुधा ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ मिलती हैं पर कुषाणकाल के अंत तक चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा आ चुकी थी, आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना (ल. 300 ई.पू.) के पूर्व ही।

कल्पसूत्र में तीर्थंकरों के लांछन का कोई उल्लेख नहीं है। अष्ट प्रातिहार्यों का अंकन अवश्य प्रारंभ हो चुका था जिसका अंतिम रूप गुप्तकाल के अंत तक स्थिर हो गया। गुप्तकाल के अंत तक ही लांछनों में भी स्थिरता आ पायी । चैत्यवृक्ष, नैगमेष, सरस्वती, यक्षपूजा आयागपट्ट, अम्बिका, वैरोटिया और चक्रेश्वरी का अंकन भी इस समय तक प्राप्त हो गया था। गन्धर्वों का उत्कीर्णन इस समय अधिक होता था।

यहाँ आयागपट्ट विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी स्थापना किसी प्रशस्तिपत्र अथवा गुणानुकीर्तन पत्र के रूप में की जाती थी। प्रारम्भ में इनमें कोई लांछन विशेष नहीं होता था। वह मात्र प्रस्तर का चक्र विशेष रहा करता था। बाद में उनमें प्रतिमायें उत्कीर्ण की जाने लगीं और चिह्न भी बनाये जाने लगे। साथ ही उन्हें अलंकृत भी किया जाने लगा।

मथुरा सरस्वती आन्दोलन का केन्द्र रहा है जहाँ से आगमिक ज्ञान का लिपि वर्धाकरण और जैन पुस्तक साहित्य का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। इस सन्दर्भ में इस आन्दोलन की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की आदमकद मूर्ति उदाहरणीय है। कुन्दकुन्द आदि दिगम्बराचार्यों का साहित्य सृजन तथा श्वेताम्बर साहित्य की आगमिक वाचनायें इसी का परिणाम थीं।

समवशरण के आधार पर विकसित सर्वतोभद्र (चन्द्रमुखी) प्रतिमा की स्थापना भी इसी काल से प्रारम्भ हुई। साधारण तौर पर इनमें ऋषभ, शांति, पार्श्व और महावीर की प्रतिमायें होती थीं पर बाद में चौबीसी प्रतिमाओं ने स्थान ले लिया। इसी समय स्वस्तिक, पूर्णघट, नन्द्यावर्त जैसे प्रतीकों का भी प्रचलन हो गया था। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि इस काल तक त्रेसठ शलाका पुरुषों की सूची तैयार हो चुकी थी जिसका सर्वप्रथम उल्लेख पउमचरिय (5.145-57) में हुआ है। सरस्वती, नैगमेषी, कृष्ण-बलराम की मूर्तियों का प्रचलन हो चुका था। ऋषभ के जटाजूट, पार्श्व के सप्तफण, अष्ट प्रातिहार्य, मांगलिक चिह्न, श्रीवत्स, धर्मचक्र, ध्यानमुद्रा, कायोत्सर्ग मुद्रा आदि जैसे तत्त्वों का अंकन इस युग की विशेषता रही है।

## 2.8 सातवाहनकाल ( 60 ई.पू.225 ई.तक )-

मौर्यवंश के पतन के बाद अनेक राजवंश खड़े हुए जिनमें सातवाहन एक था। इसका अस्तित्व ई.पू.प्रथम शती से ई. सन् तृतीय शती के आसपास तक रहा। शर्ववर्म का कातन्त्र व्याकरण और गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी काल की देन है। इस समय मथुरा और सौराष्ट्र जैनधर्म के केन्द्र थे। यापनीय संघ के अधिष्ठाता शिवार्य की साहित्य साधना भी सम्भवतः मथुरा से ही प्रारम्भ हुई होगी। मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से पता चलता है कि यह नगर लगभग दशवीं शताब्दी तक जैन केन्द्र रहा है। पंचस्तूपान्वय का प्रारम्भ भी यहीं से हुआ। इसी काल में सौराष्ट्र में महिमानगरी में एक जैन सम्मेलन भी बुलाया गया। पुष्पदंत और भूतबली द्वारा इसी के प्रारम्भिक काल में प्राकृत साहित्य का सर्वाधिक

सृजन हुआ। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के रूप में जैन संप्रदाय का विभाजन भी संभवतः इसी काल का परिणाम है।

## 2.9 कुषाण और कुषाणोत्तरकाल ( प्र.शती ई.पू.से द्वि.शती तक )-

इसके बाद कुषाणकाल (प्रथम शताब्दी ई.पू.से द्वितीय शताब्दी तक) में भी जैनधर्म फलता-फूलता रहा। गान्धारकला और मथुराकला इसी समय की देन है जिनका उपयोग जैन मूर्तिकला के क्षेत्र में बहुत अधिक किया गया। कुषाणों के बाद लगभग चतुर्थ शती तक के उत्तरी भारत में यौधेय, मद्र, मालव, नाग, वाकाटक आदि जातियों के गणराज्य अस्तित्व में आये। जैन संस्कृति उनमें भी अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाती रही। उज्जैन, मथुरा, अहिच्छत्र आदि नगरियाँ जैनधर्म के प्रभाव में थीं जहाँ जैन मूर्तिकला विकसित होती रही। उज्जैन के कालकाचार्य, मथुरा का जैन स्तूप और अर्धफलक संप्रदाय तथा यापनीय संघ, नागराजाओं की नागर शैली आदि विशेषतायें इसी समय हुईं। पादलिप्तसूरि आदि अनेक जैनाचार्यों का भी यह कार्यक्षेत्र रहा है। भद्रबाहु (लोहाचार्य), द्वितीय कुमारनन्दि, कुन्दकुन्द का भी यही समय रहा है। इसी समय 66 ई. में महिमा नगरी में अर्हतबली ने एक जैन सम्मेलन बुलाया था।

## 2.10 गुप्तकाल ( ई.चतुर्थ शताब्दी से सप्तम् शताब्दी तक )-

गुप्तवंश प्रायः वैदिक संस्कृति का अनुयायी रहा है परन्तु यह अन्य धर्मावलम्बियों के सांस्कृतिक और साहित्यिक केन्द्रों को विकसित करने में कभी पीछे नहीं रहा। हरिगुप्त, सिद्धसेन, हरिषेण, रविकीर्ति, पूज्यपाद, पात्रकेशरी, उद्योतनसूरि आदि जैनाचार्य इसी समय हुए हैं। मथुरा, हस्तिनापुर,भिन्नमाल, वाराणसी, वैशाली, राजगृह, पाटलिपुत्र आदि नगरियाँ जैनधर्म के केन्द्र के रूप में मान्य थीं। श्वेताम्बर आगम साहित्य का लेखन भी देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने लगभग पंचम शताब्दी में गुजरात में किया। सप्तम् शताब्दी में जिनभद्र क्षमाश्रमण एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं जिनका सम्बन्ध शीलादित्य से रहा है। जूनागढ़ के समीप बाबा प्यारामठ में कुछ जैन प्रतीक भी मिले हैं।

गुप्तकाल में चतुर्थ शती से ही मूर्ति निर्माण अधिक हुआ है। इस काल के प्रारम्भ में मथुरा में जैनधर्म उतना लोकप्रिय नहीं रहा जितना कुषाणकाल में था पर कला लालित्य अवश्य बढ़ा है। आसन में अलंकारिता और साज-सज्जा, धर्मचक्र के आधार में अल्पता, परमेष्ठियों का चित्रण, गंधर्व युगल व अंकन, नवग्रह तथा भूमण्डल का प्रतिरूपण इस काल की मूर्तियों की विशेषता है। प्रतिमाओं की हथेली पर चक्र-चिह्न तथा पैरों के तलुओं में चक्र और त्रिरत्न उकेरा जाता था। छत्रमय,छत्रावली तथा लांछन का अभाव इस समय की मूर्तियों पर स्पष्ट दिखायी देता है। मथुरा संग्रहालय में गुप्तयुग की मूर्तियों का अच्छा संकलन है। वेसनगर, बूढ़ी चन्देरी तथा देवगढ़ में भी गुप्तयुगीन मूर्तिकला के दर्शन होते हैं।

राजगिर, कुमराहर, वैशाली, चौसा, पहाड़पुर आदि से प्राप्त कांस्य, प्रस्तर तथा मृण्मूर्तियों के देखने से पता चलता है कि कलाकारों में सौन्दर्यबोध बढ़ चुका था। मूर्तियों के भावों में सरलता, सामंजस्य और आध्यात्मिकता का अंकन और अधिक स्पष्ट हो गया था, प्रतिमाओं पर कुछ चिह्न भी बनने लगे थे।

विदिशा के समीप दुर्जनपुर में उपलब्ध जैन मूर्तियों पर रामगुप्त का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन प्रतिमाओं पर कोई चिह्न नहीं हैं। चिह्नों की पूर्ण स्वीकृति गुप्तकाल के अंतिम समय तक हो सकी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। विदिशा के समीप ही उदयगिरि और वेसनमूर से भी जैन मूर्तियाँ मिली हैं। पन्ना जिले के नचना ग्राम के समीपवर्ती सीरा नामक पहाड़ी से भी मनोहारी तीर्थंकर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके इन्द्र और विद्याधर युगल गुप्तकाल के उत्तम प्रतिनिधि हैं पर यहाँ की मूर्तियों में अलंकरण उभरकर अधिक दिखाई देता है।

आकोटा समूह से उपलब्ध कुछ कांस्य मूर्तियाँ हैं जिनमें एक जीवन्त स्वामी की भी मूर्ति है। वह कायोत्सर्ग मुद्रा में है और मुकुट, कुण्डल, भुजबन्ध, कंगन तथा धोती पहने हुए है। एक अन्य मूर्ति का प्रभामण्डल दर्शनीय है। एकावली

युक्त अम्बिका का भी अंकन हुआ है। कंबू-ग्रीवा शैली यहाँ अधिक लोकप्रिय दिखाई दे रही है।

## 2.11 गुप्तोत्तरकाल ( 8 से 10 वीं शती तक )-

इस काल में भी मथुरा नगरी कला का केन्द्र बनी रही पर उसके कलाकेन्द्र नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। मथुरा के समीप कामन की चौंसठ खम्भा नामक प्राचीन मसजिद ऐसी ही है जिसमें दसवीं-ग्यारहवीं शती की जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। बयाना की उरवा मसजिद भी ऐसी ही है जो जैनमंदिर को नष्ट कर बनायी गयी है। अजमेर, दिल्ली आदि ऐसे और भी दर्जनों स्थान हैं जहाँ के जैन मंदिर, मसजिदों अथवा हिन्दू मंदिरों में परिवर्तित कर दिये गये।

पश्चिम भारत में 7 वीं से 10 वीं शताब्दी के बीच मूर्ति कला में कुछ विकास हुआ। ओसिया के महावीर मंदिर की पाषाण प्रतिमाएँ सामान्यतः आकोटा में उपलब्ध प्रतिमाओं के समान हैं पर उनमें कुछ विकसित शैली ही दिखायी देती है। इस समय तक लांछन, शासन देवी-देवता आदि सब कुछ निश्चित हो चुका था। यह भी ज्ञातव्य है कि भरत, बाहुबली, पंचपरमेष्ठी जिनों के माता-पिता, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि का भी अंकन होने लगा। श्वेताम्बर संप्रदाय में राजस्थान और गुजरात में जिनमूर्तियों के सिंहासन के बीच शान्तिदेवी की स्थापना भी होने लगी। लगभग 10-11वीं शती में शान्तिदेवी की दो भुजाओं में पद्म और पुस्तक का अंकन रहता है। इसी तरह ब्रह्म शान्तियक्ष, कपर्दी यक्ष और गणेश की मूर्तियाँ भी श्वेताम्बर संप्रदाय में ही लोकप्रिय हो सकती हैं, गणेश विशुद्ध रूप से वैदिक देवता है पर उसे जैन देवकुल में लगभग 10वी शती में सम्मिलित कर लिया गया। ओसिया, कुभारिया आदि स्थलों पर उसकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यह दृष्टव्य है कि इन देवी-देवताओं को दिगम्बर परम्परा ने बिलकुल भी स्वीकार नहीं किया।

दक्षिणापथ में 7वीं से 10वीं शताब्दी के बीच मूर्तियों की कलात्मक शैली में अधिक विकास हुआ। बादामी पहाड़ी, मेंगुटी पहाड़ी (ऐहोल), एलोरा, श्रवणबेलगोल आदि स्थानों पर उपलब्ध आदिनाथ, पार्श्वनाथ, शांतिनाथ आदि की मूर्तियाँ विशेष आकर्षक हैं और यहाँ मूर्तिकला के विकास में नये चरण संस्थापित होते हुए दिखाई देते हैं। तिरक्कोल, तिरुमलै, बलिमलै, चिट्टामूर, उत्तमवलैयम, कुलुगुमलै, चितराल, पालघाट, गोमट्टगिरि आदि ऐसे ही कलात्मक स्थान हैं। इनमें श्रवणबेलगोल की बाहुबली की मूर्ति विशेष दृष्टव्य है। इसे 140 मीटर ऊँची चोटी वाली ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है। अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित ओष्ठ, संवेदनशील नासिका और घुंघराले केश विशेष आकर्षक हैं। सभी अंगों का अंकन समन्वित और सन्तुलित ढंग से हुआ है।पालिश अभी भी नया सा चमक रहा है। कार्कल, वेणूर और गोमट्टगिरि में भी बाहुबली की मूर्तियाँ हैं पर इतनी सुन्दर और विशालाकार नहीं। 57 फीट ऊँची इस गोम्मटेश्वर की मूर्ति को गंगवंशीय राचमल्ल (974-984 ई.) के मंत्री चामुण्डराय ने 983 ई. में बनवाया। इस समय की मूर्ति शैलियों में पाण्डव, पल्लव और गंग शैलियों का उपयोग किया गया है। ये मूर्तियाँ कहीं शैलाश्रित हैं और कही निर्मित हैं। केरल में जैनधर्म नवीं शती में चेरवंश काल में पहुँचा। तलक्कवु (कन्नौर), चितराल आदि स्थानों पर जैन मूर्तियाँ बड़े परिमाण में उपलब्ध होती हैं। सभी का अंकन अलंकृत और आकर्षक है।

मध्यकाल में उड़ीसा की खण्डगिरि की गुफाओं को गुफा मंदिरों का रूप दिया गया। यहाँ शैली भित्तियों पर जैन प्रतिमाओं का अंकन किया गया। शासन देवी-देवताओं का भी निर्माण हुआ। वारभुजी गुफा में यह प्रक्रिया अधिक अपनायी गयी।

छठी शती से ग्यारहवीं शती के बीच दक्षिणापथ में स्थापत्य कला का पर्याप्त विकास हुआ है। वातापी, पल्लव, पाण्ड्या, चालुक्य, राष्ट्रकूट व गंग आदि राज्यों ने जैनधर्म को काफी प्रश्रय दिया। इनके राज्यकाल में गुफायें गुफा मंदिरों के रूप में परिणत हुईं। ऐहोल के समीप मेंगुटी पहाड़ी में वर्गाकार मण्डप की पार्श्व भित्तियों पर जैन मूर्तियाँ उट्टंकित हैं। राष्ट्रकूटकालीन एलोरा की भी शैलोत्कीर्ण गुफाओं में जैन मूर्तियाँ अलंकृत शैली में निर्मित हैं।

## 2.12 दशवीं शताब्दी के बाद की मूर्तिकला-

### 2.12.1 उत्तरभारत-

लगभग आठवीं शती से भारतीय संस्कृति में तांत्रिक प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा और 10वीं-11वीं शती तक उसका अच्छा खासा विकास हो गया। बौद्ध और वैदिक तन्त्रकाल में पंच मकारों का खुलकर प्रयोग हुआ पर जैन तांत्रिकता उससे पूर्णत: मुक्त रही। उसमें कहीं भी हिंसा और यौनाचार की स्वीकृति नहीं दिखती। आगम और आगमेतर ग्रन्थों में विद्याओं, पिशाचों और डाकिनियों के उल्लेख आते हैं तथा ज्वालामालिनी, प्रतिष्ठासारोद्धार भैरवपद्मावतीकल्प जैसे तांत्रिक ग्रन्थ भी लिखे गये परन्तु उनमें जैनाचार की सीमा का उल्लंघन कहीं भी नहीं हुआ। कला के क्षेत्र में भी यही स्थिति है। वहाँ कहीं भी देवों और शक्तियों को आलिंगनबद्ध नहीं दिखाया गया।

दसवीं शताब्दी में उत्तर भारत में इस दृष्टि से मूर्तिकला का विकास देखा जा सकता है। उसमें तांत्रिकता ने पूरी तरह प्रवेश कर लिया। वहाँ शासन देवी-देवताओं, क्षेत्रपालों, दिक्पालों, नवग्रहों और विद्याधरों को भी स्थान मिल गया। पंचकल्याणकों के दृश्य अधिक लोकप्रिय हुए। पद्मासनस्थ प्रतिमाओं में सिंहासन तथा अलंकृत परिकरों का अंकन किया गया। 11-12वीं शती में इस शैली में और भी लालित्य आया। इस काल में बलुए पत्थर का उपयोग अधिक हुआ, वैसे काले और सफेद पाषाण का भी प्रयोग मिलता है। इसी समय कांस्य प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ है। अलवर और जैसलमेर की ओर इन धातु प्रतिमाओं का निर्माण अधिक हुआ है। इस काल की प्राय: सभी मूर्तियों के चेहरे चौकोर और कपोल उठे हुए से हैं। अलंकृति के भार से कहीं-कहीं यह अंकन औपचारिकता लिये हुए सा लगता है।

चौदहवीं शताब्दी से मूर्तिकला का विकास रुक सा गया। उत्तर भारत में इस समय की मूर्तियों में अनेक शैलियों का समन्वित रूप दिखायी देता है। कला सौन्दर्यपरक अवश्य है पर वह पूर्व शैलियों की अनुकृति मात्र है।

### 2.12.2 पूर्वभारत-

कहा जाता है कि बंगाल मूलत: अनार्य देश था जिसे जैनों ने आर्य बनाया। उत्तरकाल में यहाँ बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार होने के कारण जैन कला को धक्का लगा अवश्य पर फिर भी जैन मूर्तियों का निर्माण रुका नहीं। यहाँ पालशैली का विकास हुआ जिसे गुप्तकला के आधार पर विकसित किया गया। शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अधिक मिलने लगीं। बलुए पत्थर का उपयोग अधिक हुआ है। एलोरा, सिंहभूमि, मानभूमि, मदनापुर, बांकुर आदि स्थानों पर प्राप्त ऋषभदेव आदि तीर्थंकराँ की मूर्तियाँ में इस शैली का प्रयोग हुआ है। उड़ीसा में वानपुर, सुरोहाट, पोंडासिंगिडी, चरंपा, खण्डगिरि आदि जैन कला के केन्द्र रहे हैं जहाँ विशाल जैन मूर्तियाँ मिली हैं। उन पर गुप्तकालीन मूर्तिकला का प्रभाव दिखाई देता है। बिहार में राजगिरि की वैभार पहाड़ी और उदयगिरि पहाड़ी में सुरक्षित कुछ जैन मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं जिसमें से कुछ के पादपीठ पर कमल का अंकन है। गुप्तकाल में कमल का अंकन है। गुप्तकाल में कमल का अंकन नहीं होता था।

तेरहवीं शताब्दी के बाद पूर्व भारत में जैनधर्म और कला वैदिक धर्म और कला में अन्तर्भूत होती सी प्रतीत होती है इसलिए जैन मूर्तिकला पर वैदिक मूर्तिकला का प्रभाव अधिक पड़ा है। इस समय की जैन मूर्तियों में सर्वतोभद्र मूर्तियों का परिमाण अधिक है। यक्ष-यक्षिणियों की भी मूर्तियाँ उकेरी गई हैं।

### 2.12.3 पश्चिम भारत-

11वीं से 13वीं शताब्दी के बीच पश्चिम भारत में मूर्तिकला का सर्वाधिक विकास हुआ है। चालुक्यों ने उसे संरक्षण दिया। लगभग 7वीं शताब्दी में तीर्थंकर प्रतिमा के पादपीठ पर या उसके समीप कुबेर और अंबिका के रूप में यक्ष-यक्षिणी का अंकन होता था पर दसवीं शताब्दी में हर तीर्थंकर के शासन देवी-देवता निश्चित किये जा चुके थे। दिक्पाल की भी आकृतियाँ उकेरी जाने लगीं। सप्तमातृकाओं का भी अंकन होने लगा। विद्यादेवियाँ और देवकुलिकायें

भी माउन्ट आबू के विमलवसही आदि मंदिरों में अंकित मिलती हैं। इतना ही नहीं, भित्तियों पर तीर्थंकर के जीवन से संबद्ध घटनाओं को भी उकेरा जाने लगा। इस समय संगमरमर का प्रयोग अधिक किया गया। वहाँ अलंकरण की सूक्ष्मता दर्शनीय है। इस काल में कांस्य मूर्तियाँ भी मिलने लगती हैं।

पश्चिम भारत में चौदहवीं शताब्दी से मुसलिम आक्रमण अधिक हुए हैं और फलत: कला का विकास अधिक नहीं हो पाया फिर भी मेवाड़ के राणा शासकों ने जैन मूर्तियों और मंदिरों का निर्माण सहृदयतापूर्वक किया। इस समय की नागर शैली को पश्चिम भारतीय रूप में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया गया। सुघड़ता और अलंकारिता इस काल की मूर्तिशैली की अन्यतम विशेषतायें हैं। चित्तौड़ रणकपुर, पालीताना आदि स्थानों में उपलब्ध मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जो भौंड़ी आकृति की हैं। कहा जाता है कि शाह जीवराज पापड़ीवाल ने सं. 1548 (1490 ई.) में लगभग एक लाख मूर्तियाँ बनवाकर सारे भारतवर्ष में वितरित करायी थीं, जो प्राय: भारत के हर दिगम्बर जैन मंदिर में मिलती हैं।

### 2.12.4 मध्यभारत-

मध्यभारत में गुप्तोत्तरकालीन मूर्तियों में कुण्डलपुर (दमोह) की पार्श्वनाथ प्रतिमा, पिथोरा (सतना) की पतियाना देवी के मंदिर की जैन मूर्तियाँ, तेवर (त्रिपुरी) की धर्मनाथ की मूर्ति, ग्वालियर किले की अंबिका तथा आदिनाथ की मूर्तियाँ, ग्यारसपुर (विदिशा) की यक्ष-यक्षियों तथा तीर्थंकर की मूर्तियाँ और देवगढ़ की शान्तिनाथ की मूर्तियाँ विशेष दृष्टव्य हैं। पश्चिम भारत में बलभी नगरी इस काल में भी जैनकला केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित बनी रही। यहाँ की मूर्तियाँ आकोटा की मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। बड़वानी (बावनगजा) की 13-14वीं शती की 84 फीट की खड्गासन प्रतिमा भी उल्लेखनीय है।

यहाँ खजुराहो की चन्देलकालीन कला प्रसिद्ध है। यहाँ की कुछ जैन मूर्तियाँ हैं जो उकेरकर बनायी गई हैं और रीतिबद्ध हैं। कुछ शासन देवी-देवताओं की मूतियाँ हैं जो मानव के समान अलंकृत हैं पर कौस्तुभ मणि या श्रीवत्स तथा लम्बी माला से पृथकता लिये हुए हैं। कुछ अप्सराओं और सुर सुन्दरियों की तारुण्य लिये मूर्तियाँ हैं जो अधिक लुभावने हावभाव से युक्त हैं और कुछ पशु-पक्षियों की प्रतीकात्मक मूर्तियाँ हैं जो कुछ अधिक वैशिष्ट्य लिये हुए हैं। यहाँ की मूर्तिकला में पूर्व की संवेदनशीलता तथा पश्चिम की अधीरतापूर्ण किन्तु मृदुलताहीन कला का सुखद संयोजन है।

मध्य भारत में इस काल में मूर्तियाँ परम्परा के अनुसार वृहत् परिमाण में बनीं। सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्रों को संवारा गया। सोनागिरी, द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, ग्वालियर, आहारजी, पपोरा, देवगढ़, बरहटा आदि स्थानों पर मंदिरों का निर्माण इसी अवधि में हुआ। इनमें नागर अथवा शिखर शैली का प्रयोग हुआ है। इसी काल में मूर्तियों का आकार विशाल बना। सौदर्न्य और भावाभिव्यक्ति में यद्यपि कमी नहीं आई फिर भी परिमाण का आधिक्य होने से समरसता का पालन नहीं किया जा सका। इनके निर्माण में ग्रेनाइट और बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया। चंदेरी, उज्जैन, भानपुरा (मन्दसौर), धार, बड़वानी, झाबुआ,थूबोन, कुण्डलपुर, बीना-बारहा, टीकमगढ़, अजयगढ़ आदि उल्लेखनीय स्थान हैं।

### 2.12.5 दक्षिण भारत-

इस काल में दक्षिण भारत में चालुक्यकालीन मूर्तिकला में अंबिका और कुबेर का अंकन तीर्थंकर के परिकर रूप में अधिक लोकप्रिय हुआ। साथ ही अन्य देवी-देवताओं का भी अंकन अलंकृत रूप में होने लगा। इस काल की अंबिका की प्रतिमाओं को चतुर्भुजी बना दिया गया। चौखटों, भ्रमतियों और कोष्ठों का अलंकरण इन्हीं प्रतिमाओं से होने लगा। विमलवसही का मंदिर इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। ब्राह्मण आख्यानों का भी उपयोग होने लगा। इन सभी आकारों में अंकन सूक्ष्म और मनोहारी है।

उत्तरकालीन चालुक्य, विजयनगर होयसल और यादव राजवंश में जैनधर्म को अधिक प्रश्रय नहीं मिल सका। शैव एवं वैष्णवधर्म से उसे जूझना पड़ा। फिर भी जैन कला का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। यहाँ के ग्रंथालयों की भित्तियों पर लोककला का शिल्पांकन हुआ जिनमें चेहरों पर रूक्षता तथा शिर पर आकुञ्चित केश और आँख की उभरी हुई पुतलियाँ अंकित हैं। कांस्य प्रतिमाओं के निर्माण में अधिक विकास हुआ। इस समय की मूर्तियाँ विशाल और पालिश युक्त हैं, सूक्ष्मांकन से हीन हैं तथा वैराग्य की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण हैं, परिकर के रूप में शिलाफलक पर सिंहललाट सहित मकर तोरण हैं तथ कंधों आदि का आकार यथोचित है। होयसलों और पश्चिमी चालुक्यों की मूर्तिशैली में शरीर को संपुष्ट और मांसल दिखाया गया है।

तमिलनाडु की मूर्तिकला में ग्रेनाइट पाषाण का प्रयोग अधिक हुआ है। यहाँ की शैलीगत विशेषताएँ यों देखी जा सकती हैं—त्रिछत्र और लताओं का संयोजन मस्तिष्क और शरीर की चतुष्कोणीय आकृति, मकरतोरण या चमरधारियों के अंकन में कमी तथा हाथ पैर निर्बल और मस्तक छोटा। शक्करमल्लूर, हम्पी आदि स्थानों पर यह कला देखी जा सकती है परन्तु दक्षिण विजयनगर और नायक वंशों के राज्यकाल में मूर्तिकला अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत और समन्वित रही है।

दक्षिणापथ में जैनधर्म चौदहवीं शताब्दी से वर्तमान काल तक भी अधिक जागृत रहा। अनेक शासक और सामन्त जैन धर्मावलम्बी थे। कार्कल, वेणूर, गोमट्टस्वामी की मनोहारी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। मालखेड़, सेलम, मूडबिद्री, हम्पी, हुम्मच आदि स्थान भी महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ की मूर्तियों में अनेक शैलियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। काकतीय शैली का भी प्रयोग हुआ है। मूर्तियाँ सुन्दर और आकर्षक हैं,भावाभिव्यक्ति पूर्ण हैं। इस काल में जैन मूर्तियों और मंदिरों का भयंकर विनाश किया गया।

## 2.13 जैन तीर्थंकरों की कतिपय महत्त्वपूर्ण मृण्मूर्तियाँ—

जैन परम्परा में मृण्मूर्तियाँ प्रचलित नहीं हो सकीं। यद्यपि ऐसी मूर्तियाँ लोकानुरंजन का प्रतिनिधित्व करती हैं पर पूज्यत्व की दृष्टि से उस पर प्रश्नचिह्न लग जाने के कारण जैन परम्परा ने उसमें कोई विशेष अभिरुचि नहीं दिखाई। यही कारण है कि यहाँ मृण्मूतियाँ अधिक उपलब्ध नहीं होतीं।

राज्य-संग्रहालय, लखनऊ में जैन तीर्थंकर की दो महत्त्वपूर्ण मृण्मूर्तियाँ संग्रहीत हैं। इनसे जैन कला एवं मूर्तिविद्या पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

(अ) संग्रहालय की एक मृण्मूर्ति अभिलिखित है जो खीरी जिले (उ.प्र.) के मोहम्मदी नामक स्थान से उपलब्ध हुई है। इस पर तीन अक्षरों का अभिलेख है जिसमें 'सुपार्श्व' शब्द उत्कीर्ण है।अभिलेख की लिपि प्रारम्भिक गुप्तकालीन ब्राह्मी हैं अत: अभिलेख के आधार पर मृण्मूर्ति की पहचान जैन तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ से की जा सकती है। इस मृण्मूर्ति में तीर्थंकर की आकृति एक युवक जैसी लगती है, उसका केश-विन्यास सीमन्त से लहरदार (तरंग युक्त) दिखलाया गया है। यह विशेषोल्लेखनीय है कि जैन तीर्थंकर की मूर्तियों में उन्हें प्राय: मुण्डित शिर दिखलाया जाता है पर इस मृण्मूर्ति में केश-विन्यास दिखाया गया हैं। उनके कानों में कुण्डल हैं। जैन तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का सिर सर्प फणों से आच्छादित दिखलाया जाता है। इस मृण्मूर्ति में सिर के चारों ओर जो प्रभामण्डल है उसकी आकृति एक फण के सदृश है अत: सम्भव है कि कलाकार का उद्देश्य प्रभामण्डल न दिखलाकर सर्प फण दिखलाना भी अभीष्ट रहा हो। उसके साथ ही इस मूर्ति में वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न नहीं है।

(ब) संग्रहालय की दूसरी जैन तीर्थंकर की मृण्मूर्ति के प्राप्ति-स्थान के विषय में जानकारी नहीं है। यह खण्डित मृण्मूर्ति है। इसमें सिर, भुजायें एवं अधोशरीर खण्डित है। तीर्थंकर की इस मूर्ति में श्रीवत्स चिह्न भी है। यह मृण्मूर्ति मूलत: ध्यानमुद्रा में रही होगी क्योंकि भुजायें वक्ष से सटी न होकर वक्ष से अलग दिखलाई गई हैं। शैली के आधार पर

यह मृण्मूर्ति गुप्तकालीन प्रतीत होती है।

## 2.14 निष्कर्ष—

जैन मूर्तिकला का सर्वेक्षण करने पर हम उसके विकास क्रम को साधारण तौर पर इस प्रकार अंकित कर सकते हैं—

1. मोहनजोदड़ो, हड़प्पा में प्राप्त योगी मूर्तियों को जैन मूर्तियों के रूप में यदि स्वीकार कर लिया जाये तो उन्हें प्राचीनतम जैन मूर्तियों के रूप में मान्यता मिल सकती है।

2. मूर्तिकला के क्षेत्र में जैनों का प्राचीनतम योगदान माना जा सकता है, यदि हम कलिंगजिन को नन्दकालीन मूर्ति के रूप में स्वीकार कर लें।

3. शुंग-कुषाणकाल में जिनमूर्तियों के वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न उत्कीर्ण होने लगा और कायोत्सर्ग और ध्यानमुद्रा में मूर्तियों का निर्माण होने लगा। चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा भी प्रचलित हो गई। कला-कौशल अधिक नहीं था।

4. गुप्तकाल में मूर्तिकला में लालित्य आया। नवग्रह और भामण्डल का प्रतिरूपण हुआ। कतिपय चिह्न भी उत्कीर्ण होने लगे। नवग्रह, भामण्डल का अंकन और चतुर्मुखी प्रतिमा का प्रचलन हुआ। पाँचवीं शती तक जिनों,शलाका पुरुषों, विद्याओं, यक्ष-यक्षिणियों आदि की धारणा स्पष्ट हो चुकी थी।

5.छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रभाव रहा। परिमाणत: देवकुल में और भी वृद्धि हुई। शलाका पुरुषों के लक्षण ग्रन्थ भी लिखे गये। आठवीं-नवीं शती तक तीर्थंकरों के चिह्न भी निश्चित हो गये। कला में तांत्रिकता जैनधर्म की आचार-परम्परा की परिधि में ही रही। सोलह महाविद्याओं की भी सूची तैयार हो गई। दिक्पालों का उत्कीर्णन भी प्रारम्भ हो गया।

6.दसवीं शताब्दी में नवग्रह का अंकन प्रारम्भ हुआ। क्षेत्रपाल का उत्कीर्णन लगभग ग्यारहवीं शती में हुआ। ग्यारह-बारहवीं शती में ही गणेश को भी देवकुल में सम्मिलित कर दिया गया पर उसकी लोकप्रियता श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही अधिक रही। ग्यारहवीं से तेरहवीं शती तक मूर्तिकला का सर्वाधिक विकास हुआ।

7.13-14वीं शताब्दी से मूर्तिकला का ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है।

8.वीतरागी मूर्तियों के आसपास सरागी शासन देव-देवियों का अंकन एक प्रश्न लिये हुए है। उनकी गणना कुलदेवों में की गई है। फिर भी उनका पूजन प्रारम्भ हो गया जो वैदिक और बौद्ध धर्म का प्रभाव है। क्रियाकाण्डी साहित्य का विस्तार लगभग 12-13वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है और 15वीं शताब्दी तक वह स्थापित हो जाता है। सोम, यम, वरुण और कुबेर में चार दिक्पालों की संख्या बढ़कर 10 तक पहुँच गई।

9.जैन तीर्थंकर की मृण्मूर्तियाँ भी बनने लगीं पर वे परिमाण में बहुत कम हैं।

कुल मिलाकर हम भारतीयता के परिप्रेक्ष्य में यह सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि जैन कला ने सतत् रूप से उसके विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मूर्तिकला का जो सौष्ठव और आध्यात्मिकनिष्ठ रूप यहाँ दिखाई देता है, वह अन्यत्र नहीं। अहिंसा और सदाचरण की पृष्ठभूमि में जैन मूर्तिकला का अवदान स्मरणीय है।

## 2.15 जैन मूर्ति विज्ञान का इतिहास—

जैन मूर्तिकला के विकासक्रम को देखने के बाद जैन मूर्ति विज्ञान के इतिहास को भी समझ लें। इसे भी हम उत्तर, पूर्व, पश्चिम, मध्य और दक्षिण भारत के रूप में विभाजित कर लें पर इसी क्रम में मूर्तिकला पर पुन: दृष्टिपात कर लें। पुनरावृत्ति सी होने के बावजूद वह उपयोगी होगी।

### 2.15.1 उत्तर भारत-

जैन मूर्ति विज्ञान के क्षेत्र में साधारणत: चौबीस तीर्थंकरों, शासन देवियों,यक्ष-यक्षिणियों तथा देवों की मूर्तियों का तक्षण हुआ है अत: सर्वप्रथम उनके विषय में जानकारी आवश्यक है।

चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता आगम काल से तो मिलती ही है, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा लोहानीपुर से प्राप्त मस्तक-विहीन नग्न योगी की मूर्तियों को यदि ऋषभदेव की मूर्तियों के रूप में मान्यता मिल जाये तो यह परम्परा और भी प्राचीन कही जा सकती है। इन तीर्थंकर की मूर्तियों पर प्रारम्भ में साधारणत: चिह्न नहीं उकेरे जाते थे बल्कि उनकी पहचान उनकी पादपीठ में उट्टंकित शिलालेखों से होती थी। वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा हस्ततल या चरणतल पर धर्मचक्र अथवा उष्णीस के चिह्न अवश्य होते थे। ऋषभदेव के शिर पर जटाजूट, सुपार्श्वनाथ के शिर पर पाँच फण तथा पार्श्वनाथ प्रतिमा पर सप्तफण भी उकेरे जाते थे। कलिंग से नन्द द्वारा लाई गई जिनमूर्ति और फिर आक्रमण कर खारवेल द्वारा उसकी पुन: प्राप्ति से पता चलता है कि नन्दकाल में जैन मूर्तियों का प्रचलन हो चुका था। वहाँ की मूर्तिकला उल्लेखनीय हैं।

मथुरा प्राचीनकाल से ही जैनकला का केन्द्र रहा है। यहाँ के कंकाली टीले से जैन मूर्तियाँ, आयागपट्ट, स्तम्भ, तोरण खण्ड, वेदिकास्तम्भ, छत्र आदि उत्खनित हुए हैं। ईंटों से बना एक स्तूप भी मिला है जिसे देवनिर्मित स्तूप की संज्ञा दी गई है, मूर्तियाँ प्राय: चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर की हैं। यह मूर्तियाँ दिगम्बर हैं और विशेषत: आयागपट्टों पर उत्कीर्ण हैं। चिह्नों का प्रयोग इस समय तक नहीं हुआ था। यहाँ चौमुखी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिन्हें "सर्वतोभद्रिका" प्रतिमा कहा गया है। इन कुषाणयुगीन मूर्तियों के शिलालेखों में कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव के नाम मिलते हैं। नेमिनाथ और बलराम की भी मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों पर बोधिवृक्ष भी उत्कीर्ण हुए हैं। यहाँ एक ऐसी भी मूर्ति है जिसका शिर नहीं है। उसके बायें हाथ में पुस्तक है। इसे सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कहा गया है। यह मूर्तियाँ प्रथम-द्वितीय ई. तक की मानी जा सकती हैं। इस काल की मूर्तियों में कला-कौशल अधिक नहीं है। इनका नीचे का भाग प्राय: स्थूल है और स्कन्ध तथा वक्ष चौड़े हैं। इसके बावजूद चेहरे पर शांति तथा आध्यात्मिकता के चिह्न स्पष्टता दिखाई देते हैं।

वसुदेव हिण्डी (भाग 1, पृष्ठ 61) में जीवन्त स्वामी (महावीर के जीवनकाल में निर्मित प्रतिमा) का उल्लेख मिलता है। आवश्यक चूर्णि (खण्ड 1, गाथा 774) से पता चलता है कि बीतयपत्तन के राजा उद्दायन की रानी चंदन काष्ठ निर्मित जीवन्त स्वामी की मूर्ति की पूजा किया करती थी। बाद में प्रद्योत उसे विदिशा उठा ले गया। इसके बाद की मूर्तिकला का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है।

महापुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में मथुरावर्ती शूरसेन देश का वर्णन है। शौरीपुर-बटेश्वर उसकी राजधानी थी। तीर्थंकर नेमिनाथ और भगवान् कृष्ण का सम्बन्ध यहीं से रहा है। यहीं से यदुवंशियों ने पश्चिम समुद्र तट पर द्वारिका बसायी थी। पार्श्वनाथ का भी सम्बन्ध मथुरा से रहा है। जम्बूस्वामी ने कैवल्य यहीं से पाया था, जैनागमों को लिपिबद्ध करने के लिए प्रसिद्ध सरस्वती आन्दोलन का सूत्रपात भी यहीं से हुआ। यहाँ की माथुरी वाचना भी प्रसिद्ध ही है। कंकाली टीले में प्राप्त जैन मूर्तियाँ, अभिलेख, देवनिर्मित स्तूप आदि अवशेष ई. पू. द्वि. शती से 12वीं शती तक की यशोगाथा गाते हैं। सरस्वती, नीलांजना अप्सरा, तोरण दृश्य, अर्धफलक दृश्य, ऋषभ प्रतिमा आदि ऐसे ज्वलंत प्रमाण हैं जो मथुरा के जैन इतिहास और पुरातत्त्व की समृद्धि की ओर संकेत करते हैं।

### 2.15.2 पूर्व भारत-

यहाँ उड़ीसा की उदयगिरि और खण्डगिरि में प्राप्त सम्राट् खारवेल द्वारा प्रतिष्ठित जैन मूर्तियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। बाद में पूर्व भारत में बंगाल और बिहार में पाल शैली का विकास हुआ। गुप्तकाल के आधार पर इसे कुछ और सशक्त बनाया गया। शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अधिक मिलने लगीं इसमें बलुए पत्थर का उपयोग अधिक हुआ है। इस संदर्भ में मायता (मिदनापुर) तथा सोनामुखीं (बांकुरा) से प्राप्त ऋषभदेव की प्रतिमायें उल्लेखनीय हैं।

एलोरा, सिंहभूमि और मानभूमि की प्रतिमाओं में भी यह शैली मिलती है। देउलिया और पुरुलिया (वर्दवान) में प्राप्त सर्वतोभद्र प्रतिमायें भी दर्शनीय हैं, उड़ीसा में वानपुर की जैन मूर्तियाँ भी पाल शैली पर ही आधारित हैं।

पालकालीन मूर्तियों से सुरोहर (दीनाजपुर) से प्राप्त ऋषभदेव व पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार सात देउलिया (वर्दवान) से प्राप्त ऋषभदेव, महावीर, पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की मूर्तियाँ तथा मिदनापुर, बांकुरा, अम्बिकानगर, चटनगर, पाकबीरा, बलरामपुर(पुरुलिया) आदि स्थानों से अन्य जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं जिसमें कला-प्रदर्शन हो सका है। उड़ीसा में पोडासिंगडी (क्योझर जिला), चरंपा (बालासोर जिला), वानपुर समूह, खण्डगिरि आदि जैन कला केन्द्र रहे जहाँ विशाल जैन मूतियाँ मिली हैं। उन पर गुप्तकालीन मूर्तिकला का प्रभाव दिखाई देता है। बिहार में राजगिरि की वैभार पहाड़ी और उदयगिरि पहाड़ी में सुरक्षित कुछ जैन मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं जिनमें से कुछ में पादपीठ पर कमल का अंकन हैं। गुप्तकाल में कमल का अंकन नहीं होता था।

तेरहवीं शताब्दी के बाद पूर्व भारत में जैनधर्म और कला वैदिक धर्म और कला में अन्तर्भूत होती सी प्रतीत होती है इसलिए कि जैनकला पर वैदिक मूर्तिकला का प्रभाव अधिक पड़ा है। इस समय की जैन मूर्तियों में सर्वतोभद्र मूर्तियों का परिमाण अधिक है। यक्ष-यक्षणियों की भी मूर्तियाँ उकेरी गई हैं।

### 2.15.3 पश्चिम भारत-

पश्चिम भारत जैन धर्म का प्रारंभ से ही केन्द्र रहा है। मौर्यशासन काल में सम्प्रति आदि राजाओं ने जैनधर्म को प्रश्रय तो दिया पर इसकी कोई कलात्मक कृति देखने को नहीं मिल सकी। वसुदेव हिण्डी (लगभग 5वीं शताब्दी) तथा आवश्यकचूर्णि (सातवीं शती) में महावीर के जीवनकाल में निर्मित 'जीवन्तस्वामी' की चन्दन काष्ठ प्रतिमा का उल्लेख अवश्य आता है पर अभी तक वह उपलब्ध नहीं हुई। कहा जाता है, इसी प्रतिमा को प्रद्योत उठा ले गया और इसे विदिशा में प्रतिष्ठित किया। हेमचन्द्र ने इसी प्रतिमा को कुमारपाल द्वारा पत्तन में प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख किया। (त्रिषष्टि शलाका, 10.11.604)।

कायोत्सर्ग मुद्रा में पार्श्वनाथ की कांस्य प्रतिमा जो प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में सुरक्षित है, लोहानीपुर और मोहनजोदड़ो से प्राप्त मूर्तियों के समकक्ष रखी जा सकती है। उमाकान्त शाह ने इसे पश्चिम भारत में निर्मित मूर्ति कहा है। पश्चिम भारत में ई.पू. और प्राथमिक शताब्दियों में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार होने के उल्लेख आदि तो अवश्य मिलते हैं पर कोई प्रतिमा अथवा मंदिर आदि प्रतीक नहीं मिले। प्राचीन जैन गुफायें अवश्य मिलती हैं।

चौथी शताब्दी से छठी शताब्दी के बीच भी कोई विशेष जैन अवशेष नहीं मिले। मूर्तियों के इतिहास में दिगम्बर मूर्तियों का निर्माण प्राचीनतम माना जा सकता है। गुप्तकालीन ऋषभनाथ की एक कांस्य मूर्ति आकोटा से प्राप्त हुई है पर वह खण्डित है अत: कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। बलभी से पाँच तीर्थंकरों की कांस्य मूर्तियाँ खड्गासन में मिली हैं। आकोटा में जीवंत स्वामी की भी एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है। ये सभी प्रतिमायें लगभग छठी शताब्दी की हैं। कंबु-ग्रीवा शैली यहाँ से अधिक लोकप्रिय दिखाई दे रही है।

सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी के बीच पश्चिम भारत की मूर्तिकला में कुछ विकास हुआ। आसिया के महावीर मंदिर की पाषाण प्रतिमायें सामान्यत: आकोटा में उपलब्ध प्रतिमाओं के समान हैं पर इनमें कुछ विकसित शैली के दर्शन होते हैं। साहित्य में अनहिलपाटन आदि में प्रतिष्ठापित मूर्तियों के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।

ग्याहरवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी के बीच पश्चिम भारत में मूर्तिकला आदि का सर्वाधिक विकास हुआ है। चालुक्यों ने उसे संरक्षण दिया। लगभग सातवीं शताब्दी में तीर्थंकर प्रतिमा के पादपीठ पर या उसके समीप कुबेर और अम्बिका के रूप में यक्ष-यक्षिणी का अंकन होता था पर दसवीं शताब्दी में हर तीर्थंकर के शासन देवी-देवता निश्चित किये जा चुके थे। दिक्पाल की आकृतियाँ भी उकेरी जाने लगीं। सप्त मातृकायें भी उट्टंकित होती दिखती हैं।

विद्यादेवियाँ और देवकुलिकायें भी माउन्ट आबू के विमलवसही आदि मंदिरों में अंकित मिलती हैं। इतना ही नहीं, भित्तियों पर तीर्थंकरों के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को भी उकेरा जाने लगा। इस समय संगमरमर का प्रयोग अधिक किया गया। यहाँ अलंकरण की सूक्ष्मता दर्शनीय है। कुंभारिका के महावीर मंदिर की मूर्तिकला भी उत्तम कोटि की है। इस समय की कांस्य मूर्तियों से उस काल की ढलाई कला का भी परिज्ञान होता है। लंदन के विक्टोरिया एण्ड अल्वर्ट म्यूजियम में सुरक्षित शांतिनाथ की कांस्य मूर्ति इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

पश्चिम भारत में चौदहवीं शताब्दी से मुसलिम आक्रमण अधिक हुये और फलतः कला का विकास अधिक नहीं हो पाया। फिर भी मेवाड़ के राणा शासकों ने जैन मूर्तियों और मंदिरों का निर्माण सहृदयतापूर्वक कराया। ठक्कर फेरू (1315 ई.) के वास्तुसार से पता चलता है कि इस समय नागर शैली को पश्चिम भारतीय रूप में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया गया। चित्तौड़ रणकपुर पालीताना, गिरनार आदि स्थानों में उपलब्ध मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं। सुघड़ता और अलंकारिता इस काल की मूर्तिशैली की अन्यतम विशेषताएँ हैं। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जो भौंडी आकृति की हैं, कहा जाता है कि शाह जीवराज पापड़ीवाल ने सं. 1548 (1490 ई.) में लगभग एक लाख मूर्तियाँ बनवाकर सारे भारतवर्ष में वितरित करायी थीं।

**2.15.4 दक्षिण भारत-**

दक्षिण भारत में सप्तम् शताब्दी से दशम् शताब्दी के बीच मूर्तियों की कलात्मक शैली में अधिक विकास हुआ है। बादामी पहाड़ी, मेंगुटी पहाड़ी (ऐहोल), एलोरा, श्रवणबेलगोल आदि स्थानों पर उपलब्ध आदिनाथ, पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ आदि की की मूर्तियाँ विशेष आकर्षक हैं अतः मूर्तिकला के विकास में नये चरण संस्थापित होते हुए दिखाई देते हैं। तिरक्कोल, तिरुमलै, वल्लिमलै, चिट्टामूरी, उत्तमवलैयम, कुलुगुमलै, चितराल,पालघाट, गोमट्टगिरि आदि ऐसे ही कलात्मक स्थान हैं। इनमें श्रवणबेलगोल की बाहुबली की मूर्ति विशेष दृष्टव्य है। इसे 140 मीटर ऊँची चोटी वाली ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है। अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित ओष्ठ, संवेदनशील नासिका और घुंघराले केश विशेष आकर्षक हैं। सभी अंगों का अंकन समन्वित और सन्तुलित ढंग से हुआ है। पालिश अभी भी नया सा चमक रहा है। कार्कल, वेणूर और गोमट्टगिरि में भी बाहुबली की मूर्तियाँ हैं पर इतनी सुन्दर और विशालाकार नहीं। गोम्मटेश्वर की मूर्ति को राचमल्ल (974-984 ई.) के मंत्री चामुण्डराय ने 983 ई. में बनवाया। इस समय की मूर्ति शैलियों में पाण्ड्य, पल्लव और गंग शैलियों का उपयोग किया गया है। ये मूर्तियाँ कहीं शैलाश्रित हैं और कहीं निर्मित हैं। केरल में जैनधर्म नवीं शती में चेरवंश काल में पहुँचा। तलक्कवु (कन्नानोर), चितराल तिरुच्चारणत्तुमलै, कल्लिल, पालघाट आदि स्थानों पर जैन मूर्तियाँ बड़े परिमाण में उपलब्ध होती हैं। सभी का अंकन अलंकृत और आकर्षक है।

चालुक्यकालीन मूर्तिकला में अम्बिका और कुबेर का अंकन तीर्थंकरों के परिकर रूप में अधिक लोकप्रिय हुआ। साथ ही अन्य देवी-देवताओं का भी अंकन अलंकृत रूप में होने लगा। इस काल की अम्बिका की प्रतिमाओं को चतुर्भुजी बना दिया गया। चौखटों, भ्रमतियों और कोष्ठों का अलंकरण इन्हीं प्रतिमाओं से होने लगा। विमलवसही का मंदिर इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। ब्राह्मण आख्यानों का भी उपयोग होने लगा। इन सभी आकारों में अंकन सूक्ष्म और मनोहारी हुआ है।

इस तरह यहाँ हमने पुरातत्त्व और इतिहास के आधार पर जैन मूर्तिकला का विवेचन किया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में उपलब्ध दिगम्बर मूर्तियों और प्रतीकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी प्राचीनता सैन्धव संस्कृति से भी पूर्वतर है जिसका समय लगभग 5000 ई.पू. तक निर्धारित किया जा सकता है। ऋग्वैदिक और औपनिषदिक काल में जैनधर्म की परम्परा का इतिवृत प्राप्त होता ही है। तीर्थंकर ऋषभदेव और उनकी परम्परा से जुड़े व्रात्य, अर्हत, केशी

आदि यज्ञविरोधी सांस्कृतिक समुदायों से परिचय हमें ऋग्वेद से उपलब्ध होता ही है। जीवन्तस्वामी और खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में उल्लिखित कलिंग जिन की परम्परा भी उसी से सम्बद्ध है। ये सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष पुरातात्त्विक और साहित्यिक प्रमाण जैनधर्म की ऐतिहासिक परम्परा और उसके दिगम्बरत्व वैशिष्ट्य को सहेजे हुए हैं। उसने यथासमय अपनी कलात्मकता और सजीवता का जैनेतर मूर्तिकला और स्थापत्य पर प्रभाव छोड़ा है और ग्रहण किया है। कला और स्थापत्य के क्षेत्र में इस आदान-प्रदान पर अभी गंभीर अध्ययन अपेक्षित है।

## 2.16 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-जैन पुरातत्त्व (कला) को कितने भागों में विभाजित किया गया है ?

(क) चार ☐ (ख) तीन ☐ (ग) पाँच ☐

**प्रश्न 2**-तीर्थंकर के पंचकल्याणकों में से तीसरा कल्याणक कौन सा है ?

(क) जन्म ☐ (ख) तप ☐ (ग) ज्ञान ☐

**प्रश्न 3**-वैदिक धर्म में विष्णु के कितने अवतार माने गए हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) दस ☐ (ग) आठ ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-उत्तर भारत में दशवीं शताब्दी में मूर्तिकला का विकास किस प्रकार का था ?

**प्रश्न 2**-जैन पुरातत्व (कला) को कितने भागों में बांटा गया है ? नाम भी बताइए ?

**प्रश्न 3**-वैदिक धर्म के अन्तर्गत देवियों के कितने रूप होते हैं ? सप्तमातृकाओं के नाम बताओ ?

**प्रश्न 4**-गुप्तोत्तरकाल को संक्षिप्त रूप में समझाइए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-तीर्थंकरों की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?

## पाठ-3 – जैनदर्शन लोकतांत्रिक दर्शन है

**3.1** आधुनिक युग की सर्वाधिक लोकप्रिय एवं अपेक्षाकृत सफल राजनैतिक व्यवस्था के रूप में जनतंत्र आज का युगधर्म बन गया है, जिसका उद्देश्य मनुष्य के लौकिक जीवन को समुन्नत बनाना है। एक राजनैतिक व्यवस्था के रूप में जनतांत्रिक सिद्धान्तों का विकास मुख्यत: पाश्चात्य जगत में हुआ माना जाता है किन्तु जनतांत्रिक मूल्यों के दर्शन हमें प्राचीन भारतवर्ष में उदित विभिन्न धर्मों एवं उनके धर्मग्रन्थों में होते हैं। जैनधर्म उन्हीं धर्मों में से एक है। जैनधर्म का मुख्य लक्ष्य मनुष्य को सांसारिक जीवन से मुक्ति का मार्ग दिखाना तो है ही, साथ ही इस धर्म के सिद्धान्त लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों को स्वयं में समाहित करने के कारण लौकिक जीवन को भी सुव्यवस्थित एवं सार्थक बनाने में सहायक हैं।

### 3.2 जनतंत्र–

'राज्य, जीवन की रक्षा के लिए अस्तित्व में आया और अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए यह विद्यमान है' प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तू के इस कथन के दृष्टिगत सभ्य मानव ने अनेक शासन व्यवस्थाओं की खोज की एवं उनकी स्थापना भी की। इनमें राजतंत्र, कुलीनतंत्र, निरंकुशतंत्र एवं प्रजातंत्र या जनतंत्र प्रमुख हैं। राजतंत्र सर्वाधिक प्राचीन शासन व्यवस्था है जिसमें एक व्यक्ति, जिसे राजा की उपाधि प्राप्त होती थी और जो वंश परम्परा के आधार पर पद ग्रहण करता था, अपनी इच्छानुसार शासन कार्य संपादित करता था। कालांतर में राजा द्वारा निजी स्वार्थ के सम्मुख जनहित की उपेक्षा किये जाने एवं निरंकुश प्रवृत्ति अपनाये जाने पर राजतंत्रीय व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह हुआ एवं समाज के कुछ सम्भ्रान्त व्यक्तियों का शासन स्थापित किया गया जिसे कुलीनतंत्र का नाम दिया गया। माना यह गया कि कुलीनों का सामूहिक विवेक एक राजा की व्यक्तिगत इच्छा की तुलना में अधिक प्रभावी एवं जनोन्मुख होगा। समय के साथ कुलीनतंत्र में भी बुराइयाँ हावी हुईं एवं उसके द्वारा भी सर्वजनहित के स्थान पर वर्गीय हितों को प्रोत्साहित किया जाने लगा। फलत: जन असंतोष बढ़ा और इस धारणा के साथ कि 'कुलीनों ने काफी समय तक शासन कर लिया, अब सामान्य जन शासन करेंगे', जनतंत्रीय आंदोलन की शुरुआत हुई। कुलीनतंत्रीय व्यवस्था के साथ दीर्घ अवधि तक कठिन संघर्ष के फलस्वरूप जनतंत्रीय शासन व्यवस्था अस्तित्व में आयी, जिसमें जाति, रंग, धर्म, लिंग, व्यवसाय आदि के भेद के बिना सामान्य जनों ने शासन करने की शक्ति प्राप्त की, जिसका प्रयोग सार्वजनिक हित में करने की अपेक्षा की गयी।

ऐतिहासिक दृष्टि से जनतंत्र का उदय पश्चिमी जगत् में एथेंस से हुआ माना जाता है। जनतंत्र के अंग्रेजी पर्यायवाची (Democracy) शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के `Demos' एवं `Kratos' शब्दों से हुई है, जिनका क्रमश: तात्पर्य है—नगर, राज्य में रहने वाले नागरिक एवं 'शक्ति या शासन' अत: `Democracy' का तात्पर्य है—लोगों का शासन या ऐसा शासन जिसमें शासक आमजन हो। प्राचीन यूनान में नागरिकों द्वारा सक्रिय राजनीति में भाग लिया जाता था एवं कानून बनाने तथा उन्हें लागू करने में जनसभा या 'एक्लेशिया' की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी जिसमें भागीदारी के लिए प्रत्येक नागरिक अहं था। दूसरे शब्दों में, वहाँ जनतंत्र का प्रत्यक्ष रूप प्रचलित था। एथेंस को भी लोकतंत्र स्थापित करने में कुलीनों से अत्यधिक संघर्ष करना पड़ा था। यहाँ तक कि प्लेटो एवं अरस्तू जैसे महान् यूनानी दार्शनिकों ने भी जनतांत्रिक विचारों की यह कहकर आलोचना की थी कि शासन करना एक कला है और यह कला साधारण लोगों में नहीं होती। विभिन्न बाधाओं को पारकर कठिन संघर्ष के बाद एथेंस ने जनतांत्रिक व्यवस्था प्राप्त की थी। कुलीनतंत्र से जनतंत्र में हुए परिवर्तन को यूरिपाइड्स ने अपने एक नाटक `The Suppliant Women' में एथेंस में दो राजाओं के मध्य हुए वार्तालाप में दर्शाया है । एथेंस के राजा जब यह पूछते हैं कि वे राजा क्रैयोन का संदेश किसे सुनायें, कौन राजा

हैं ? इन प्रश्न का उत्तर एथेंस के राजा इस प्रकार देते हैं—

`This state is not subject to one man's will, but is a free city. The king here is the people, who by yearly office govern in turn, we give no special power to wealth, the poor man's voice commands equal authority."

किन्तु कई कारणों से आज यूनानी लोकतंत्र को वास्तविक लोकतंत्र नहीं माना जाता। प्रथमतः, यूनान में नागरिकता के अधिकार अर्थात् शासनकार्य में भागीदारी के अधिकार जनसंख्या के अत्यन्त सीमित भाग को ही प्राप्त थे। स्त्रियाँ, दास, शिल्पी, कृषक आदि से गठित होने वाला समाज का एक बड़ा भाग इससे वंचित था और द्वितीयतः, यूनान के सीमित जनसंख्या एवं क्षेत्रफल वाले नगर, राज्यों में तो सभी नागरिकों द्वारा शासन कार्यों में प्रत्यक्ष भागीदारी संभव थी किन्तु वर्तमान में बढ़ी हुई जनसंख्या एवं वृहद् आकार वाले राष्ट्रीय राज्यों में प्रत्यक्ष जनतंत्र संभव नहीं है अतः वर्तमान में प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र को ही व्यावहारिक जनतंत्र के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसमें जनता मताधिकार का प्रयोग कर अपने प्रतिनिधियों को चुनती है एवं उनके माध्यम से शासन सत्ता का प्रयोग करती है ।

प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र हेतु आंदोलन आधुनिक युग में ग्रेट ब्रिटेन में 'प्रतिनिधित्व नहीं, तो कर नहीं' के नारे के साथ प्रारम्भ हुआ। संसद समर्थकों एवं राजतंत्र समर्थकों के मध्य लंबा संघर्ष चला जिसमें अंततः जनतंत्र समर्थकों को विजय प्राप्त हुई। 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति के माध्यम से शांतिपूर्ण ढंग से राजा द्वारा संसद को सत्ता का हस्तांतरण किया गया। 'मैग्नाकाटा', 'बिल ऑफ राइट्स' आदि जनतंत्रीय आंदोलन के मार्ग में मील का पत्थर साबित हुए। अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम एवं फ्रांसीसी क्रांति ने भी 'स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व' के नारे के साथ विश्व में जनतंत्रीय व्यवस्था को विकसित करने एवं उसे लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

### 3.2.1 जनतंत्र एक बहुआयामी व्यवस्था–

अपने ऐतिहासिक विकास क्रम के विविध पड़ावों पर जनतंत्र के साथ उसके विविध रूप एवं आयाम संबद्ध होते रहे हैं। आज जनतंत्र एक व्यापक व्यवस्था है, जिसके राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि विविध आयाम हैं, जिनका विवेचन निम्नवत् है—

### 3.2.2 राजनैतिक व्यवस्था के रूप में जनतंत्र–

अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अब तक जनतंत्र प्रमुखतया एक राजनैतिक व्यवस्था है। अपने इस रूप में लोकतंत्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है, जिसमें शासन सत्ता का निवास आम जन में होता है। एक निश्चित समयांतराल में निर्वाचन होते हैं, जिनमें जनता मताधिकार का प्रयोग कर अपने प्रतिनिधियों को चुनती है, जिनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे शासन सत्ता का प्रयोग जनमत के अनुसार करेंगे। जनप्रतिनिधि कानून निर्माण एवं क्रियान्वयन का कार्य आपसी विचार-विमर्श के आधार पर बहुमत के निर्णयानुसार करते हैं। जन सामान्य मत देने, निर्वाचित होने, सरकार की आलोचना करने जैसे महत्त्वपूर्ण राजनैतिक अधिकारों के साथ-साथ विचार-अभिव्यक्ति, धर्म, विश्वास एवं उपासना, संघ बनाने, सम्पत्ति की स्वतंत्रता, कार्य की स्वतंत्रता आदि नागरिक स्वतंत्रताओं का उपभोग करते हैं। पश्चिमी यूरोप एवं अमेरिका में जनतंत्र का यह रूप अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में देखने को मिलता है। जॉन स्टुअर्ट मिल, एडम स्मिथ, स्पेंसर, टी.एच. ग्रीन आदि विचारकों ने जनतंत्र के इस रूप की व्याख्या उदारवादी जनतंत्र के रूप में की है।

### 3.2.3 समाज व्यवस्था के रूप में जनतंत्र–

राजनैतिक व्यवस्था के रूप में उदारवादी जनतंत्र के सिद्धान्तों को जब नव स्वाधीन एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन

अमरीका के अल्प विकसित राज्यों में क्रियान्वित किया गया तो यह पाया गया कि इन समाजों में व्याप्त जाति, पंथ, रंग, लिंगजनित विषमताओं के कारण राजनैतिक अधिकारों का प्रयोग आम जनता स्वतंत्रतापूर्वक एवं सही रूप में नहीं कर पा रही है अतः राजनैतिक लोकतंत्र की सफलता के लिए सामाजिक लोकतंत्र स्थापित करने का पक्ष रखा गया। सामाजिक लोकतंत्र का तात्पर्य ऐसे समाज से है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का महत्व व्यक्ति के रूप में होता है, उसके वैयक्तिक गुणों के कारण उसे सम्मान मिलता है एवं जाति, रंग, पंथ, लिंग आदि के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध किया जाता है। भारत जैसे देशों में जहाँ राजनैतिक लोकतंत्र तो स्थापित कर दिया गया है किन्तु समाज अब भी सामंतशाही के अवशेषों में जकड़ा हुआ है, जाति, पंथ, लिंग संबंधी भेद राजनैतिक जीवन की दिशा तय कर रहे हैं, गरीबी एवं अशिक्षा जैसे तथ्यों ने जनतांत्रिक मूल्यों के प्रति चेतना उत्पन्न करने में बड़ी बाधा खड़ी की है, विभिन्न स्वतंत्रतायें एवं महत्त्वपूर्ण राजनैतिक अधिकार शक्तिशाली लोगों के विशेषाधिकार बनकर रह गये हैं और वास्तव में जनतंत्र में जिस जन को सत्तासम्पन्न होने की बात कही जाती है, वह अब भी सत्ता की पहुँच से परे है। ऐसे में राजनैतिक लोकतंत्र को प्राप्त करने के लिए सामाजिक लोकतंत्र की प्राप्ति आवश्यक हो जाती है।

### 3.2.4 आर्थिक व्यवस्था के रूप में जनतंत्र–

राजनैतिक लोकतंत्र के लिए आवश्यक नागरिक गुणों के विकास, सामाजिक समानता एवं राजनैतिक चेतना के विकास के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति भोजन, वस्त्र एवं आवास की न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं के प्रति निश्चिन्त हो। एक ओर विकसित समाजों की व्यापक आर्थिक स्वतंत्रता एवं दूसरी ओर विकासशील समाजों में निहित सामन्तवादी तत्त्वों ने राजनैतिक स्वतंत्रताओं को समाज के एक छोटे से शक्तिशाली वर्ग की थाती बना दिया एवं एक शोषणकारी समाज को जन्म दिया। जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स, ऐंजिल, लास्की आदि ने अपने दर्शन के माध्यम से यह विचार सुस्थापित किया कि राजनैतिक लोकतंत्र या नागरिक स्वतंत्रताओं की समाज के सभी लोगों द्वारा प्राप्ति तभी संभव है जब अमीर-गरीब, महलों एवं झोपड़ियों के फासले कम से कम करके पहले सबकी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाये, उसके बाद ही योग्यतानुसार विलासिता के अवसर प्रदान किये जायें ताकि कोई व्यक्ति अपने तन की भूख के लिए अपने सम्मान एवं स्वतंत्रताओं से कोई समझौता करने के लिए विवश न हो, अपने नागरिक गुणों का उन्मुक्त वातावरण में विकास कर सके एवं अपने अधिकारों का उपभोग कर सके। यह लोकतंत्र का आर्थिक रूप है, जिसकी प्राप्ति पर ही राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता निर्भर है।

### 3.2.5 लोकतंत्र—जीवन के प्रति एक विशिष्ट प्रकार के दृष्टिकोण के रूप में–

प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो के इस विचार को दृष्टिगत रखते हुए कि 'राज्य का निर्माण आक के वृक्षों या चट्टानों से नहीं होता बल्कि उसमें रहने वाले लोगों के चरित्र से होता है', जनतंत्र के स्वरूप को और ज्यादा व्यापक बनाने का प्रयास किया गया और यह माना गया कि अपने व्यापकतम रूप में जनतंत्र एक मूल्य व्यवस्था है, जीवन के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है, जिसके अन्तर्गत यह अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति के मन में दूसरे के प्रति आदरभाव, दया, शांति, सहयोग, सहिष्णुता, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, क्षमा, विरोधी के दृष्टिकोण का सम्मान जैसे गुण विकसित हों, एक जनतांत्रिक व्यक्तित्व का विकास हो तभी जनतंत्र के विविध आयामों की व्यवहार में प्राप्ति संभव हो सकती है। संक्षेप में स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व के आदर्शों से युक्त एवं लोककल्याण का उद्देश्य रखने वाली लोकसंप्रभुता पर आधारित व्यवस्था के रूप में लोकतंत्र वर्तमान में सर्वाधिक स्वीकार्य व्यवस्था है। इसके विविध रूपों के व्यावहारिक क्रियान्वयन में आने वाली बाधाओं को लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों को अपनाकर ही दूर किया जा सकता है।

### 3.3 जैनधर्म एवं उसमें निहित जनतांत्रिक मूल्य–

जनतंत्र की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि इस व्यवस्था का उदय एवं विकास मुख्यतः पश्चिमी जगत् में ईसा से चौथी–पाँचवीं शताब्दी पूर्व हुआ, वहाँ हुए विविध आंदोलनों के फलस्वरूप जनतंत्र के विविध सिद्धान्त विकसित हुए एवं पूर्वी देशों में यह व्यवस्था पश्चिम से आयातित है।

किन्तु पूर्व के देशों से, विशेषकर प्राचीन भारत के धर्मग्रंथों, साहित्य एवं धार्मिक आंदोलनों का अध्ययन करने पर उपर्युक्त धारणा बहुत सही नहीं प्रतीत होती है। यहाँ विकसित हुए विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों, उनकी शिक्षाओं में लोकतांत्रिक जीवन मूल्यों, प्रक्रियाओं एवं आदर्शों का सन्निवेश दिखायी देता है।

छठी शताब्दी ई. पूर्व में भारत में विकसित जैनधर्म उन्हीं धर्मों एवं धार्मिक आंदोलनों में से एक है। यद्यपि जैन धर्मावलम्बी अपने धर्म को अनादि मानते हैं किन्तु विभिन्न ऐतिहासिक ग्रंथों एवं जैन साहित्य जैसे — वेदों, उपनिषदों श्रीमद् भागवत्, उत्तराध्ययन सूत्र, आचारंगसूत्र, कल्पसूत्र, जैन आगम इत्यादि के अनुसार जैनधर्म का अभ्युदय वैदिक ब्राह्मण धर्म के याज्ञिक कर्मकाण्डों के विरुद्ध धार्मिक सुधारणा के उदय के साथ हुआ माना जाता है। 'निर्ग्रन्थ' (सांसारिक मोह, माया के बंधनों से मुक्त स्वतंत्र व्यक्तियों का सम्प्रदाय) नाम से प्रचलित इस धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे जो जम्बूद्वीप के सम्राट थे। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। जैकोबी ने जैनधर्म का वास्तविक संस्थापक पार्श्वनाथ को ही माना है परन्तु वैदिक एवं जैन पौराणिक साहित्य में ऋषभदेव के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि जैनधर्म की प्राचीनता असंदिग्ध है। जैनधर्म को और अधिक लोकप्रिय बनाने एवं उसके सिद्धांतों को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय जैनधर्म के 24वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर स्वामी को है। महावीर स्वामी के व्यक्तित्व एवं उनकी शिक्षाओं का विभिन्न वर्गों के लोगों के मन-मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव पड़ा। उन्होंने आम जन को न केवल मुक्ति का अर्थात् आत्मिक सुख को प्राप्त करने का लक्ष्य दिखाया बल्कि वास्तव में उसको प्राप्त करने के प्रभावी साधन भी बताये। मानव जीवन के उद्देश्य के प्रति गंभीरता, उनकी दैवीय शक्ति से युक्त वक्तृत्व क्षमता, अनूठे दार्शनिक एवं नैतिक सिद्धान्तों ने लोगों को इस प्रकार प्रभावित किया कि लोग बड़ी संख्या में जैनधर्म के अनुयायी एवं जैन भिक्षु बन गये। उनके व्यक्तित्व में निहित सहनशीलता एवं उद्देश्य के प्रति दृढ़ता को देखकर उन्हें 'जिन' (विजेता) की उपाधि दी गयी और इन्हीं जिनों से निर्गंथ सम्प्रदाय जैन सम्प्रदाय बना। जैन वह है, जिसने प्रेम-घृणा, सुख-दुःख, लगाव एवं वितृष्णा पर विजय प्राप्त कर ली है और ज्ञान, धारणा, सत्य एवं योग्यता के बल पर सांसारिक कर्मों से अपनी आत्मा को मुक्त कर लिया है। स्पष्ट है कि जैनधर्म न केवल सांसारिक मोह, माया एवं बंधनों से मुक्ति का मार्ग दिखाता है बल्कि जीवन को व्यवस्थित, समृद्ध एवं समुन्नत बनाने में भी अत्यन्त सहायक है। लोकतांत्रिक जीवन मूल्य एवं सिद्धान्त जिन रूपों में जैनधर्म के सिद्धान्तों एवं शिक्षाओं में समाहित हैं, उनकी विवेचना अग्रांकित रूपों में की जा सकती है ।

### 3.4 वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहन–

उदारवादी सिद्धान्तों पर आधारित लोकतंत्र व्यक्ति एवं उसकी स्वाधीनता को सर्वाधिक महत्त्व देता है। जैनधर्म का प्रारम्भ बिन्दु भी व्यक्ति ही है। यह ईश्वर में विश्वास नहीं करता बल्कि मानव आत्मा को ही सब कुछ मानता है और उसी की मुक्ति का उपदेश देता है। महावीर स्वामी कहा करते थे कि 'मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान् है और जो शक्ति तथा नैतिकता है, वही भगवान् है।' सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य नामक पंच महाव्रत-अणुव्रत आत्मिक उत्थान एवं मुक्ति के साधन हैं। जैनधर्म न केवल सांसारिक बंधनों से आत्मा की मुक्ति की बात करता है बल्कि लौकिक जीवन में भी ब्राह्मण वर्ग के वर्चस्व को तोड़कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति की पृथक् वैयक्तिक

पहचान बनाने में सहायक है।

उन्होंने ब्राह्मणों की बौद्धिक क्षमता की प्रशंसा की जिससे बहुत से ब्राह्मण जैनधर्म में दीक्षित हुए। महावीर स्वामी के प्रथम शिष्य (गणधर) इन्द्रभूति गौतम एक ब्राह्मण ही थे जिनके सहयोग से वे अपनी शिक्षाओं का प्रसार आम जनता के मध्य प्रभावी तरीके से करने में सफल रहे। जैनधर्म में निहित कर्म का सिद्धांत वैयक्तिक स्वतंत्रता की सबसे बड़ी मिशाल है जिसके अनुसार इस संसार में जो कुछ है, वह ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। वह जैसे कर्म करेगा, वैसे ही फल उसे आज नहीं तो कल अवश्य प्राप्त होंगे। महावीर स्वामी ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति भी उसके कर्मों के आधार पर निर्धारित होती है न कि केवल जन्म के आधार पर एवं प्रत्येक व्यक्ति अच्छे कर्म करके अपनी सामाजिक स्थिति में बदलाव ला सकता है। उल्लेखनीय है कि वैदिक ब्राह्मण धर्म के अनुसार मनुष्य की सामाजिक स्थिति जन्म के आधार पर निर्धारित होती थी एवं सामाजिक गतिशीलता में व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई योगदान स्वीकार नहीं किया जाता था। जैनधर्म ने इस व्यवस्था का विरोध कर व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व एवं उसकी कार्यगत स्वतंत्रता की प्रस्थापना की। आधुनिक जनतंत्र भी व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है।

## 3.5 जैनधर्म में निहित सामाजिक समानता–

स्वतंत्रता की भाँति समानता भी जनतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसके अनुसार सामाजिक जीवन में जाति, पंथ, रंग, लिंग के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए एवं व्यक्ति को उसके वैयक्तिक गुणों के आधार पर महत्त्व दिया जाना चाहिए। सामाजिक समानता की यह धारणा जैनदर्शन में आद्योपांत दिखायी देती है। जैनधर्म एक ऐसा धर्म है जिसके द्वार समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के लिये खुले हैं।

सामाजिक समानता का ही एक महत्वपूर्ण पहलू लैंगिक भेदभाव को समाप्त कर स्त्री-पुरुष की समानता स्थापित करना है। जैनधर्म इस क्षेत्र में भी एक उदाहरण स्थापित करता है। जैनधर्म की शिक्षायें स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों के लिए हैं। धार्मिक जीवन के विविध क्षेत्रों जैसे — धर्मग्रंथों के अध्ययन, धार्मिक कृत्यों के संपादन, व्रतों के अभ्यास, साधु जीवन में प्रवेश आदि स्त्री-पुरूष दोनों के लिए हैं। महावीर स्वामी द्वारा कथित धार्मिक व्यवस्था में गृहस्थ पुरुष श्रावक कहलाते हैं एवं गृहस्थ स्त्रियाँ श्राविकाएँ। गृहस्थों के समान ही साधु जीवन व्यतीत करने बाले पुरुषों को साधु एवं स्त्रियों को साध्वी कहते हैं। जैनधर्म द्वारा कथित इन अवसरों का स्त्रियों ने भरपूर उपयोग किया। ऐसा कहा जाता है महावीर स्वामी की धार्मिक व्यवस्था में करीब 14000 साधु एवं 36000 साध्वी थीं एवं 100000 श्रावक एवं 300000 श्राविकायें थीं अर्थात् साधु जीवन एवं गृहस्थ जीवन दोनों में जैन धर्मानुयायी स्त्रियों की संख्या अधिक थी। महावीर स्वामी की माता त्रिशला देवी की छोटी बहन चंदना ने साध्वियों में मुख्य साध्वी की स्थिति प्राप्त की एवं इन्होंने भी पुरुषों के समान आध्यात्मिक जीवन में आत्मिक मुक्ति की ओर प्रयास किया। धार्मिक जीवन में स्त्री-पुरुष को प्राप्त समान अवसर का प्रभाव सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष को अवसर की समानता तो तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से ही थी। ऋषभदेव ने अपनी दो पुत्रियों — ब्राह्मी एवं सुंदरी को शिक्षा दी थी कि शिक्षा के माध्यम से वे समाज में उच्च स्थिति प्राप्त कर सकती हैं। जैन परंपरानुसार स्त्रियों से 64 कलायें सीखने की अपेक्षा की जाती थी जिनमें नृत्य, संगीत, पेंटिंग, सौंदर्यशास्त्र, औषधि विज्ञान एवं गृह विज्ञान प्रमुख थीं। साहित्य के क्षेत्र में भी जैन धर्मानुयायी महिलाओं का विशिष्ट योगदान है। जैसे कन्नड़ साहित्य को समृद्ध बनाने में कांति नामक महिला का विशेष योगदान है । जिन्होंने अभिनवपम्मा की अधूरी कविता होयसल राजा बाला प्रथम (AD 1100-1106) (कर्नाटक) के दरबार में पूर्ण कर सबकी प्रशंसा प्राप्त की।

### 3.6 आर्थिक समानता एवं जैनधर्म–

जनतंत्र का समाजवादी रूप सामाजिक समानता के साथ-साथ आर्थिक समानता पर भी जोर देता है। आर्थिक लोकतंत्र का तात्पर्य है कि समाज में अमीर-गरीब की खाई इतनी चौड़ी न हो या आय की विषमता इतनी अधिक न हो कि अमीर व्यक्ति गरीब के जीवन, उसकी स्वतंत्रता पर अधिकार प्राप्त कर ले अर्थात् अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें हर व्यक्ति की भोजन, वस्त्र एवं आवास की न्यूनतम आर्थिक आवश्यकतायें पूर्ण हो सकें। जैनदर्शन में निहित अस्तेय एवं अपरिग्रह के सिद्धांत आर्थिक समानता स्थापित करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। अस्तेय का अर्थ है — चोरी न करना एवं अपरिग्रह का अर्थ है — आवश्यकता से अधिक वस्तुओं एवं धन का संचय न करना। इसमें केवल संचय न करना ही शामिल नहीं है बल्कि उनकी लालसा न करना भी शामिल है क्योंकि लालसा ही चोरी, बेइमानी, हिंसा, मिथ्याभाषण जैसी बुराइयों को जन्म देती है एवं समाज में शोषण को बढ़ावा देती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अस्तेय एवं अपरिग्रह का पालन करे, उपभोग परिमाण कि मैं निश्चित मात्रा से अधिक नहीं खाऊँगा, देशविरति — "किसी भी क्षेत्र में एक निश्चित सीमा से आगे नहीं जाऊँगा" का व्रत ले तो आज आर्थिक समृद्धि के लिए होने वाले संघर्षों को कम किया जा सकता है। साथ ही संपत्ति के केन्द्रीकरण के स्थान पर आय की समानता स्वतः ही स्थापित हो सकती है। जैनधर्म में उपदिष्ट चतुर्विध दान (आहार, अभय, भैषज्य, शास्त्र दान) भी समाज से गरीबी एवं शोषण को दूर करने में सहायक हैं, जिनके अनुसार प्रत्येक को अपने जीवन में भूखे को अन्नदान, रोगी को औषधि दान, अज्ञानी को विद्यादान एवं गरीब को भूख, वस्त्र एवं आवास की चिन्ता से मुक्ति अर्थात् अभयदान करना चाहिए। ये चतुर्विधदान आज के युग में उन युवाओं को जो अपने जीवन के प्रारंभ में भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करने के पश्चात् उनकी निरर्थकता का अनुभव कर रहे हैं जिसे शोधकर्ताओं ने 'क्वार्टर लाइफ क्राइसिस' का नाम दिया है, प्रेयमार्ग (क्षणिक आनंद) से श्रेय मार्ग (वास्तविक आनंद) की ओर ले जाकर गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा को कम करने में सहायक होंगे। स्पष्ट है कि जैनधर्म के सिद्धांत आर्थिक लोकतंत्र की प्राप्ति हेतु सर्वथा प्रासंगिक हैं।

### 3.7 सहिष्णुता पर आधारित लोकतांत्रिक जीवन मूल्य एवं जैनधर्म–

लोकतंत्र के विविध रूपों की व्यवहार में उपलब्धि सहिष्णुता पर आधारित जीवन दृष्टिकोण पर निर्भर करती है अर्थात् जनतंत्र में एक विशेष प्रकार के मानसिक दृष्टिकोण की अपेक्षा की जाती है, जिसमें हम अपने दृष्टिकोण के साथ दूसरों के विरोधी दृष्टिकोण का भी सम्मान करते हैं। जैनधर्म का अनेकान्तवादी दर्शन भी इसी वैचारिक स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता पर जोर देता है। यह दर्शन विचारों की भिन्नता के महत्व को स्वीकार करता है और यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी विचार या कार्य से सम्बन्धित कोई भी दृष्टिकोण पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। सत्य का विचार भी एक नहीं है, पूर्ण नहीं बहुल है, सापेक्ष है इसलिए किसी को अपने विचार दूसरे पर थोपने नहीं चाहिए और प्रत्येक को दूसरे के विचारों का सम्मान करना चाहिए। इससे विविध विरोधी विचारों, कथनों, व्यवस्थाओं एवं पंथों में सामंजस्य स्थापित करने का आधार मिलता है।

### 3.8 बंधुत्व, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एवं जैनधर्म–

अपने व्यापकतम रूप में जनतंत्र विश्वबंधुता एवं शांति के विचारों पर बल देता है एवं विविध मानवों, संस्कृतियों, राज्यों के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को आधार बनाकर युद्धों एवं संघर्षों को समाप्त कर विश्वशांति एवं कल्याण का लक्ष्य रखता है। जैनधर्म में निहित अहिंसा का विचार भी शांतिपूर्ण सहअस्तित्व पर आधारित है, जो न केवल मनुष्यों बल्कि संपूर्ण जीव जगत् एवं भौतिक जगत् के सहअस्तित्व पर बल देता है। अहिंसा का सिद्धान्त

जैनधर्म की आत्मा है जो जितना वैज्ञानिक एवं सावधानीपूर्वक मुख्य सिद्धान्त के साथ मिलाया गया है, उतना कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। अहिंसा का अर्थ है—किसी भी जीवित प्राणी या वस्तु की हिंसा न करना, अपने मन, वचन, कर्मों से उसे कष्ट न पहुँचाना।

**'परस्परोपग्रहो जीवनाम्'** इस जैन उक्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के विकास के पीछे अनेकों जीव तत्त्वों एवं भौतिक वस्तुओं का योगदान होता है, यहाँ तक कि मनुष्य की प्रतिभा एवं गुणों का विकास भी अकेले नहीं होता तथा प्रत्येक जीव को अपना जीवन प्रिय है ? इसलिए किसी की भी हत्या नहीं करनी चाहिए। जैनधर्म के अनुसार पंचभूत में भी जीवित तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश, अतः इन्हें भी नुकसान पहुँचाने से बचना चाहिए। पेड़-पौधे मनुष्य के जीवन का आधार हैं। प्राणवायु प्रदान करने के साथ-साथ अनेकों रूपों में उसके लिये उपयोगी हैं, आवश्यकता पूर्ति के साधन हैं। जीव जगत् में शामिल कीटाणु एवं बैक्टीरिया भी पर्यावरणीय संतुलन बनाये रखने में सहायक हैं। घरेलू पालतू जानवर मानव सभ्यताओं के विकास में भी सहायक रहे हैं। महावीर स्वामी कहा करते थे कि "यदि तुम किसी और को मारते हो तो इसका अर्थ है कि तुम स्वयं को मारते हो, यदि तुम किसी को शक्ति प्रदान करते हो तो तुम स्वयं को अधिक शक्तिशाली बना रहे हो। यदि तुम किसी को यातना देते हो तो स्वयं उत्पीड़ित होते हो, यदि तुम दूसरे को हानि पहुँचाते हो तो तुम स्वयं कष्ट सहते हो। एक बुद्धिमान मनुष्य यह सब जानता है अतः वह किसी को नहीं मारता, किसी को शक्तिहीन नहीं बनाता, न ही किसी को यातना देता है। अहिंसा की यह धारणा तार्किक चिन्तन एवं अनुभव के आधार पर विकसित हुई। यह धारणा 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त पर आधारित है। इस प्रकार युद्ध के विचारों का परित्याग कर विश्वशांति स्थापित करने की पक्षधर है। जैनधर्म दया, सार्वभौमिक प्रेम एवं बंधुत्व का धर्म है, जो विश्व के सभी जीवों के कल्याण की कामना करता है। भारतीय ऋषियों ने कहा है कि "एक शस्त्र दूसरे शस्त्र से अधिक शक्तिशाली हो सकता है लेकिन अहिंसा और शांति के रास्ते की कोई तुलना नहीं है। आग से आग को नहीं बुझाया जा सकता, कपड़े पर पड़े खून के धब्बे को खून से नहीं साफ किया जा सकता। विश्व शांति स्थापित करने के लिए शस्त्रों की होड़ समाप्त करनी होगी, अहिंसा के सम्यक्दर्शन में विश्वास उत्पन्न करना होगा।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि एक प्राचीन धर्म होते हुए भी जैनधर्म न केवल जनतंत्र जैसे आधुनिक मूल्यों को समाहित किये हुए है बल्कि पर्यावरण संरक्षण, नारीवाद एवं उत्तर आधुनिकता के तत्त्वों के बीज रूप भी हमें इस दर्शन में दिखायी देते हैं।

## 3.9 राष्ट्र एवं समाज हित में परिग्रहपरिमाण व्रत की उपादेयता–

धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति के मूल बिन्दु हैं, जिनके कारण विश्व में भारत की पहचान आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रभावी है। भारतीय संस्कृति में दो विचारधाराएँ प्रमुख हैं—(1) श्रमण संस्कृति (2) वैदिक संस्कृति। जहाँ श्रमण साधना आत्मा की अपरिमित सत्ता में विश्वास रखती है और मानती है कि जब आत्मा सभी कर्मों से मुक्त हो जाती है तो वह अवस्था मोक्ष की होती है—"सर्व कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।" आत्मा ही पूर्ण गुणात्मक विकास कर लेने पर परमात्मा बन जाती है जबकि वैदिक संस्कृति प्रत्येक आत्मा को परमात्मा का अंश मानती है। इसकी अवधारणा इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

**जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।**
**फूटा कुंभ जल जलहिं समाना, यहु तथ कह्यो ग्यानी।।**

वैदिक दृष्टि में ईश्वर या परमात्मा जगत् का कर्ता, नियन्ता एवं विनाशक है, जिसकी कल्पना वह ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के रूप में करता है। इसके विपरीत श्रमण संस्कृति अनादिनिधन स्वाभाविक व्यवस्था को अंगीकार करती है जिसमें गुणात्मक विकास सर्वोपरि है।

श्रमण संस्कृति के आधार स्तम्भ पंच अणुव्रत और पंच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इन पंच व्रतों के सम्यक् परिपालन से ही मानव मानवीय आचरण कर सकता है, संसार में रहता हुआ सुखी रह सकता है और संसार से मुक्त भी हो सकता है। यहाँ प्रकृत विषय अपरिग्रह है अतः अपरिग्रह की चर्चा करना ही इष्ट है, प्रयोज्य है।

कहा जाता है कि मनुष्य में संग्रह की प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। कर्म भी उसमें कारण होते हैं। यह संग्रह की प्रवृत्ति जब आवश्यकता से अधिक बढ़ने लगती है तो समाज में उथल–पुथल मच जाती है और अभाव की विभीषिका झेल रहे लोग हिंसक क्रान्ति पर उतारू हो जाते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील रूप पाप भी इसके कारण होते देखे जाते हैं। भगवान् महावीर का अपरिग्रह दर्शन इस दृष्टि से महान् है कि उसने विश्व को अहिंसक/अपरिग्रह संस्कृति दी जिसमें बताया गया कि मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक बनो और अपनी आवश्यकतानुसार ही सामग्री का संग्रह करो, शेष का विना किसी के दबाव के स्वैच्छिक रूप से त्याग करो।

जो सजीव एवं निर्जीव वस्तु का स्वयं संग्रह करता है और दूसरों के द्वारा भी ऐसा ही संग्रह करवाता है अथवा अन्य व्यक्ति को ऐसा संग्रह करने की सम्मति देता है, वह दुःख से मुक्त नहीं होता है। धनलिप्सा (परिग्रह) दुष्कर्मों को जन्म देती है। धन इस लोक और परलोक में शरण देने वाला नहीं है। अंधकार में जैसे दीपक बुझ जाये तो दिखा हुआ मार्ग भी अनदीखा हो जाता है उसी प्रकार पौद्गलिक वस्तुओं (धनादि) के अंधकार में न्यायमार्ग को देखना असंभव हो जाता है। इस स्थिति से बचाव का एक ही मार्ग है और वह है—अपरिग्रह। यह अपरिग्रह जैनधर्म-दर्शन की मौलिक विशेषता है।

### 3.10 परिग्रह का स्वरूप–

'बृहत् हिन्दी कोश' (पृ. 650) के अनुसार 'परिग्रह' शब्द का अर्थ लेना, ग्रहण करना, चारों ओर से घेरना, आवेष्टित करना, धारण करना, धन आदि का संचय, किसी दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, किसी स्त्री को भार्या रूप में ग्रहण करना, पत्नी, स्त्री, पति, घर, परिवार, अनुचर, सेना का पिछला भाग, राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा का ग्रसा जाना, शपथ, कसम, मूल आधार, विष्णु, जायदाद, स्वीकृति, मंजूरी, दावा, स्वागत सत्कार, आतिथ्य सत्कार करने वाला, आदर, सहायता, दमन, दण्ड, राज्य, सम्बन्ध, योग, संकलन, शाप बताया गया है। इसमें एक ओर जहाँ परिग्रह को संचय के अर्थ में लिया है, वहीं शाप के अर्थ में भी रखा है जिससे परिग्रह की शोचनीय दशा प्रकट होती है। जैनाचार्यों की धारणा मे परिग्रह **'परितो गृह्यति आत्मानमिति परिग्रहः'** अर्थात् जो सब ओर से आत्मा को जकड़े, वह परिग्रह है।

आचार्य उमास्वामी (तत्त्वार्थसूत्र 7/17) के अनुसार मूर्च्छा परिग्रह है—**''मूर्च्छा परिग्रहः।''** इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि (7/17/695) में लिखा है कि—''गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।'' आचार्य पूज्यपाद की ही दृष्टि में **''ममेदं बुद्धिलक्षणः परिग्रहः''** (सर्वार्थसिद्धि 6/15/638) अर्थात् यह वस्तु मेरी है; इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। राजवार्तिक (4/21/3/236) के अनुसार ''लोभकषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं''। **''ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमान**

**संकल्प परिग्रह इत्युच्यते**'' (राजवार्तिक 6/15/3/525) अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममत्व-परिणाम परिग्रह है।

'धवला' पुस्तक (12/4,2, 8, 6/282/9) के अनुसार—''**परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः' बाह्यार्थग्रहणं हेतुरत्र परिणामः। परिगृह्यते इति परिग्रहः**'' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है, इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है तथा '**परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः**' जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है। इस निरुक्ति के अनुसार यहाँ बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।

समयसार आत्मख्याति (210) के अनुसार 'इच्छा परिग्रह' अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है।

**परिग्रह के भेद—**

परिग्रह के दो भेद हैं—(1) अभ्यन्तर, (2) बाह्य

इनमें अभ्यन्तर के चौदह भेद हैं—

(1) मिथ्यात्व, (2) क्रोध कषाय, (3) मान कषाय, (4) माया कषाय, (5) लोभ कषाय, (6) हास्य नोकषाय, (7) रति नोकषाय, (8) अरति नोकषाय, (9) शोक नोकषाय, (10) भय नोकषाय, (11) जुगुप्सा नोकषाय, (12) स्त्री वेद नोकषाय (13) पुंवेद नोकषाय, (14) नपुंसक वेद नोकषाय।

बाह्य परिग्रह के 10 भेद हैं—(1) क्षेत्र (खेत), (2) वास्तु (मकान), (3) चाँदी, (4) सोना, (5) धन, (6) धान्य, (7) दासी, (8) दास, (9) वस्त्र, (10 बर्तन)।

**परिग्रह पाप है—**

जैनागम में पाँच पाप माने गये हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इसके अनुसार परिग्रह भी पाप है। परिग्रह बनाम मूर्च्छा—पाँचों प्रकार के पापों का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्द्धन एवं संरक्षण के प्रति जो सचेत है, वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म से बच नहीं सकता। सर्वार्थसिद्धि (7/17/695) के अनुसार—''सब दोष परिग्रहमूलक हैं।' 'यह मेरा है', इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं और इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है,. चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादि में जितने दुःख हैं, वे सब इसमें उत्पन्न होते हैं।

परिग्रह कम करने के लिए चार चरण जैनों ने मान्य किए—

1. लोभ मत करो, दान करो ।

2. चार प्रकार का पात्रदान बताया गया है—

(1) आहारदान, (2) औषधिदान, (3) शास्त्रदान, (4) अभयदान।

दान के लिए सात क्षेत्र बताए गए हैं—

**जिनबिम्ब जिनागारं जिनयात्रा प्रतिष्ठितम्।**
**दानपूजा च सिद्धान्त लेखनं क्षेत्र सप्तकम्।।**

अर्थात् जिनबिम्ब की स्थापना, जिनमंदिर का निर्माण, जिनयात्रा (तीर्थयात्रा), पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, चार प्रकार का दान, जिनेन्द्र पूजा और जिनवाणी-शास्त्र लेखन; ये दान के सात क्षेत्र बताये गये हैं।

3. त्याग (परपदार्थों का पूरी तरह त्याग करना)।

4. अपरिग्रह—पदार्थों के प्रति ममत्व भाव पूरी तरह छोड़ते हुए अपनी आत्मा में ही चित्त का लगाना अपरिग्रह है। परिग्रह परिमाण अणुव्रत इस दिशा में प्रथम कदम है, जो गृहस्थी के परिग्रह की ओर बढ़ते कदमों को सर्वप्रथम रोकता है और अपरिग्रह महाव्रत अंतिम कदम है, जिसमें व्यक्ति स्वाधीन होता है।

## 3.11 प्रश्नावली-

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान पार्श्वनाथ कौन से नं. के तीर्थंकर थे ?

(क) 2 ☐ (ख) 23 ☐ (ग) 24 ☐

**प्रश्न 2**-चौबीसवें तीर्थंकर का क्या नाम था ?

(क) भगवान ऋषभदेव ☐ (ख) भगवान पार्श्वनाथ ☐ (ग) भगवान महावीर ☐

**प्रश्न 3**-"मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान है, और जो शक्ति तथा नैतिकता है, वही भगवान है।" ऐसा किसने कहा ?

(क) महावीर स्वामी ☐ (ख) भगवान आदिनाथ ☐ (ग) भगवान शांतिनाथ ☐

**लघु उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान पार्श्वनाथ का जन्म कहाँ हुआ एवं उनके माता-पिता का क्या नाम था ?

**प्रश्न 2**-अणुव्रत कितने हैं ? नाम लिखो।

**प्रश्न 3**-परिग्रह किसे कहते हैं ? अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह के भेद बताइए ?

**प्रश्न 4**-दान कितने प्रकार का होता है ? दान के लिए सात क्षेत्र कौन से बताए हैं ?

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-**

**प्रश्न 1**-भगवान महावीर स्वामी के व्यक्तित्व एवं उनकी शिक्षाओं का विभिन्न लोगों के मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ा ?

## पाठ-4 – देश-विदेश में जैन पुरातत्त्व की प्रतीक महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ

**4.1** केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर की स्थापना तत्कालीन होलकर नरेश यशवन्तराव होलकर द्वितीय ने अक्टूबर 1929 में नवरत्न मंदिर में की गयी। होलकर रियासत के केन्द्रीय संग्रहालय नामकरण को मध्य भारत एवं मध्य प्रदेश सरकार ने भी यथावत् रखा। ईस्वी सन् 1965 में नवीन भवन का निर्माण कार्य रुपये 8,89,000 की लागत से 10,804 वर्गफीट क्षेत्रफल में पूर्ण हुआ। यह दो मंजिला भवन आगरा–बम्बई मार्ग पर स्थित है। जहाँ 1965 में संग्रहालय स्थानान्तरित हुआ। संग्रहालय में बड़े पैमाने पर पूरी सामग्री का संकलन हुआ और वर्तमान में दोनों मंजिलों पर आठ दीर्घाएँ प्रदर्शित हैं। संग्रहालय में पश्चिमी मालवा से प्राप्त महत्वपूर्ण जैन प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं, जिनमें कुछ अभिलिखित महत्त्वपूर्ण जैन मूर्तियों का विवरण इस प्रकार है—

### 4.2 नेमिनाथ–

तीर्थंकर नेमिनाथ की यह प्रतिमा ऊन जिला पश्चिमी निमाड़ (खरगोन) से प्राप्त हुई है। पद्मासन पर अंकित अरिहंत परमेष्ठी नेमिनाथ की इस प्रतिमा का सिर व बायीं भुजा भग्न है। वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा आसन पर ध्वज लांछन शंख का आलेखन कलापूर्ण है। हल्के हरे रंग के पत्थर पर निर्मित प्रतिमा है। पादपीठ पर विक्रम संवत् 1227 (ईस्वी सन् 1170) का तीन पंक्तियों का एक स्थापना लेख अंकित है। क्षरण के कारण उसके कुछ अक्षर अस्पष्ट हो चुके हैं। इस लेख में 'श' के स्थान पर 'स' तथा अनुनासिक 'न' के स्थान में 'अनुस्वार' का प्रयोग हुआ है। लेख के आदि में दो अनुष्टुप छन्द में निर्मित श्लोक हैं, इनके बाद गद्य भाग है, जिसमें प्रतिष्ठाकारक का नामोल्लेख है। लेख में देशीगण में बुद्धिसम्पन्न महामुनि, रत्नत्रय रूपी प्रवर्द्धमान लक्ष्मी से उदधि स्वरूप पण्डिताचार्य गुणचन्द्र के शिष्य महादानी, ज्ञानियों में विचक्षण, चन्द्र स्वरूप संघ के आचार्य, संघ में शास्त्रों के ज्ञाता तीव्रचन्द्र हुए, सम्भवतः प्रतिमा–प्रतिष्ठा कार्य में प्रतिष्ठाचार्य का कार्य उन्होंने ही सम्पन्न किया था। गुर्जरान्वय में हुए शाह तीकम का पौत्र और पुत्र वीन (वीनू) संवत् 1277 में इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराकर नित्य वन्दना करता है, लेख का पाठ इस प्रकार है—

1. संवत् 1227। श्री मदेसी (शी) गणाधीस (श) गुणचंद्रो महामुनि (:।) श्री वद्धित पंडिताचार्य श्रव्य (सर्व) रत्नत्रयो ।घि:।। तस्यणि (शि) स्य महो।
2. दान.....(ज्ञान) चंद्र विचक्षणा:।। तीव्रचंद्र संघाचार्य्य संघे सा (शा) स्त्र–विसा
3. तत्पुत्रो बीन प्रणमति नित्यं।

### 4.3 पार्श्वनाथ–

यह तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा बूढ़ा जिला मन्दसौर से प्राप्त हुई है। कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित यह प्रतिमा किसी मूल प्रतिमा के पार्श्व में अंकित रही होगी। इसमें बांयी ओर परिकर के रूप में गज एवं सिंह व्यालाकृतियाँ तथा चामरधारी का आलेखन है। संगमरमर पत्थर पर निर्मित प्रतिमा है। आसन पर दो पंक्तियों में विक्रम संवत् 1342 (ईस्वी सन् 1285) का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है, इसमें संवत् 1342 वैशाख सुदी द्वितीया शनिवार के दिन परीक्षि और जशवीर ने पार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कराई। लेख का पाठ इस प्रकार है–

**1. संवत् 1342 वर्षे वैशाख (ख) सुदि 2 शनौ**

**2. रीक्षिज (स) (प्रतीष्ठित) वीर श्री श्री पार्श्वनाथ बिंब।**

**पार्श्वनाथ**–यह तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा बूढ़ा जिला मन्दसौर से प्राप्त हुई है। (सं. क्र. 381 ब) यह कायोत्सर्ग रूप में अंकित तीर्थकर का दाहिना हाथ अंशतः भग्न है। यह कलाकृति मूल प्रतिमा के दाहिनी ओर की 'का उस्सग्ग' प्रतिमा होगी क्योंकि परिकर का निर्माण करने वाले सिंह, व्याल तथा चामरधारी का आलेखन भी स्थानक मूर्ति

के दाहिनी ओर ही किया हुआ है। संगमरमर पत्थर पर निर्मित प्रतिमा 51×25=10 सेमी आकार की है। पादपीठ पर तीन पंक्तियों में विक्रम संवत् 1342 (ईस्वी सन् 1285) का स्थापना लेख उत्कीर्ण है। जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख में संवत् 1342, वैशाख सुदी द्वितीया शनिवार के दिन परीक्षि और जसवीर भक्त ने पार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई। लेख का पाठ इस प्रकार है–

1. संवत् 1242 वर्षे बैशाष (ख) सुदि 2 शनौ
2. परीक्षि जसवीर समक्त श्री पार्श्वनाथ बिंबस्य।।

**पार्श्वनाथ प्रतिमा पादपीठ**——तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रतिमा का पादपीठ बूढ़ा जिला मन्दसौर से प्राप्त हुआ है। (सं. क्र. 381 स) शास्त्रोक्त पद्धति के अनुरूप निर्मित यह प्रतिमा पादपीठ तीर्थंकर पार्श्वनाथ से संबंधित होना चाहिए। सिंहासन के कोनों पर पार्श्व यक्ष एवं यक्षिणी पद्मावती का आलेखन है। मध्य में धर्मचक्र एवं मृगयुगल तथा चतुर्भुजी देवी प्रतिमा का अंकन है। शासन देवताओं और धर्मचक्र के मध्य गज तथा सिंह की प्रभावोत्पादक आकृतियाँ बनी हैं। संगमरमर पत्थर पर निर्मित प्रतिमा पादपीठ 127×40=35 से. मी. आकार का है। पादपीठ पर दो पंक्ति में विक्रम संवत् 1342 वें वर्षे के वैशाख सुदि द्वितीया शनिवार को सम्मेदाचल विहार में माथुरगच्छ धर्कट वंश के परीक्षि, रत्नाचार्य माल्हणि के पुत्र नासल तथा कुंवरपाल सिंह और अट्ट सिंह तथा उसकी पत्नी जसदेवी तथा पुत्र अभय सिंह कुमार पौत्र पद्म सिंह जाटव आदि समुदाय द्वारा श्री पार्श्वनाथ प्रतिमा का निर्माण कराया गया तथा श्री शालिसूरि द्वारा प्रतिष्ठा कराई गई। लेख का वाचन इस प्रकार है–

**1. श्री संवत् 1342 वर्षे वैशाष (ख) सुदि 2 शनौ श्री काशोदभव ग्रप्ततिबद्ध प्रासादे श्री संमेद विहारे श्री माथुर गच्छे श्री द्यर्कटवंशे परीक्षि रत्नाचार्य माल्हणि पुत्र नासल कुवर पालसी।**

**2. ह अट्टसीह भार्या चांद पुत्र परीक्षि जसवीर भार्या जसदेवि पुत्र अभय सिंह कुमार पुत्र पद्मसिंह जाटव समुदायेन श्री पार्श्वनाथ बिंव कारितं प्रतिष्ठित श्री शालिसूरिभिः।।**

**जैन प्रतिमा पादपीठ**——यह प्रतिमा पादपीठ ऊन जिला पश्चिमी निमाड़ (खरगोन) से प्राप्त हुआ है। (सं. क्र. 420) इस विशालकाय प्रतिमा पादपीठ पर सामने मध्य में धर्मचक्र तथा उसके दोनों ओर गज एवं सिंहाकृतियाँ बनी हुई हैं। वैसे तो धर्मचक्र प्रायः आदिनाथ की प्रतिमाओं से सम्बद्ध माना जाता है किन्तु मालवा में अन्य तीर्थकरों के आसनों पर भी उसे अंकित किया गया है अतः निश्चितपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह आसन किस तीर्थंकर से संबंधित रहा होगा। बलुआ पत्थर पर निर्मित पादपीठ 120×50=35 से. मी. आकार का है। पादपीठ पर विक्रम संवत् 1332 (ईस्वी सन् 1275) का प्रतिष्ठा लेख भी अंकित है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। इसमें पादपीठ के दायीं ओर लेख में माघ वदी सप्तमी सोमवार को मूल संघ बलात्कारगण के पण्डिताचार्य सम्भवतः टुमनदेव के प्रशिष्य और सागरचन्द्र के शिष्य पंडिताचार्य श्री रत्नकीर्ति संभवतः प्रतिष्ठाचार्य के रूप में प्रतिष्ठा कराकर नित्य प्रणाम करते हैं। पादपीठ पर बायीं ओर के लेख में प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराने वाले दो परिवार थे। प्रथम परिवार में शाह कदम्ब का पौत्र तथा शाह माहण का पुत्र शाह खाऊल और उसकी पत्नी जोजे प्रतिष्ठा कराकर प्रतिमा को नित्य प्रणाम करते हैं, दूसरे परिवार में उदयादित्य देव के राज्य में तीकव की माता उसका पुत्र शाह बहिण तथा उसकी पत्नी और पुत्र मंगलमहा श्री की कामना से नित्य प्रणाम करते हैं। लेख का पाठ इस प्रकार है–

**पादपीठ की दायीं ओर अंकित**

**संवत 1332 वर्षे माघ्य वदि सोमे।।.....अघे (मूलसंघे) हलः करगणधम (बलात्कार गणमान्ये) पडिताचार्य (र्य्य) श्री उमान दिड (टुमन देव).....(तस्य सिस्य स्त्री सागर चन्द्र तास्तस्य) पंडिताचार्य (र्य्य) श्री रतनकीर्तिः प्रणमति नित्यं।**

**पादपीठ की बायीं ओर अंकित**

**झंडरीलाल साधु.....कदम्ब तस्य सुत साधु माहण तस्य सुत साधु साउल प्रतस्य स्पर्धा ( भार्या ) जोज ( जोजे ) प्रथलज्य ( प्रतिष्ठाय्य ) प्रणम ( मं ) ति नित्यं।। साहु तीकव भ्रातृ.....( उदयादित्य देव ) राज्य ( ये ) तस्य श्रुत ( सुत ) सा, ( साहु ) वहिण तस्य भार्या.....लतायाः : पुं .....( पुत्र ) प्रणम ( मं ) ति नित्यं।। मंगल महा श्री।।**

**अम्बिका**——यक्षी अम्बिका की यह प्रतिमा पुरागिलाना जिला मन्दसौर से प्राप्त हुई है। ऊँचे स्थण्डिल पर सव्य ललितासन में बैठी हुई अम्बिका का सिर एवं चारों हाथ भग्न हैं। चतुर्भुजी होने के कारण सामान्यतया इसे दिगम्बर सम्प्रदाय से संबंधित माना जा सकता है। यक्षी के दाहिनी ओर आसन के समीप बैठे हुए पुत्र शुभकर का अंकन है। वे अपने बायें हाथ से देवी का स्पर्श कर रहे हैं। अम्बिका की गोद में प्रियकर का भी आलेखन था किन्तु वह टूट चुका है। आसन पर सिंह का आलेखन है। बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा है। पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है। लेख में पार लगाने वाली महान देवी का सर्पिणी नित्य प्रणाम करती है। आर. एस. गर्ग ने इसे रूपिणी पढ़ा है, जबकि डॉ. कस्तूरचन्द जैन सुमन इसे सर्पिणी पढ़ा है, लेख वाचन इस प्रकार है–

**महान्तारिका सर्पिणी प्रणमति नित्यं-अम्बिका**——यक्षी अम्बिका की यह प्रतिमा पुरागिलाना जिला मन्दसौर से प्राप्त हुई है। सव्य ललितासन में बैठी यक्षी अम्बिका के पैरों के समीप फल लिए लघुकाय, नग्न रूप में स्थानक शुभकर का अंकन बड़ा भावपूर्ण है। बायीं ओर गोद में प्रियकर का आलेखन था किन्तु वह टूट चुका है। यक्षी के चारों हाथ भग्न हैं और चतुर्भुजी होने के कारण इसे दिगम्बर सम्प्रदाय की अम्बिका कहा जा सकता है। यक्षी अम्बिका का अलंकरण 12वीं शती के अनुरूप बोझिल है। चौड़ी मेखला का आलेखन अत्यन्त सादा है। पैरों में कड़े और हाथों की चूड़ियाँ भी सामान्य स्तर की है, आसन अनुपात से अधिक ऊँचा है। बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा 90×55=20 सेमी. आकार की है। पादपीठ पर लगभग 12वीं शती ईस्वी का लेख उत्कीर्ण है, जिसकी लिपि नागरी भाषा संस्कृत है, इसमें पार लगाने वाली महान देवी को रूणिणी नित्य प्रणाम करती है, लेख का पाठ इस प्रकार है–

**महान्तारिका रूपिणी प्रणमति नित्यं-विद्या देवी अच्छुप्ता**——विद्या देवी अच्छुप्ता की यह प्रतिमा हिगलाजगढ़ जिला मन्दसौर से प्राप्त हुई है। दिगम्बर परम्परा में चौदहवीं परम्परा में अच्छुप्ता है। श्वेताम्बर परम्परा में अच्छुप्ता है। वर्ण, वाहन तथा आयुध खड्ग के संबंध में दोनों परम्पराओं के वर्णन में समानता है। श्वेताम्बर परम्परा में भी अच्युता नाम की देवी अवश्य है परन्तु वहाँ वह छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की यक्षिणी मानी जाती है। प्रवचनसारोद्धार में नेमिचन्द्र सूरि ने उसे सत्रहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ की यक्षिणी लिखा है। यह प्रतिमा निश्चितरूपेण श्वेताम्बर सम्प्रदाय की विद्या है क्योंकि इसके स्थापना लेख में इसे स्पष्ट रूप से 'अच्छुप्त देव्या' लिखा गया है। विद्या देवी अच्छुप्ता का सिर, हाथ तथा आयुध भग्न है किन्तु अवशिष्ट आलेखन से स्पष्ट है कि वह चतुर्भुजी रही होगी। पादलिप्ताचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ निर्वाणकलिका में कहा है——इस विद्या देवी के आयुध क्रम था, इसे स्पष्ट नहीं बतलाया जा सकता है। देवी के आसन पर दोनों ओर दो चामरधारिणी परिचारिकाएं तथा सामने पूजक पुरुष व स्त्री प्रतिमाएं बनी हुई हैं। यह प्रतिमा जैन कला का बहुत की सुन्दर तथा महत्वपूर्ण उदाहरण है। उन्नत उरोज और उन पर पड़ी हुई हारावली, स्तन सूत्र, कटिबंध, उरूद्दाम तथा अधोवस्त्र का आलेखन मनोहारी है, देवी का वाहन अश्व भी बना हुआ है।

## 4.4 गोपाचल दुर्ग का जैन विद्यापीठ एवं मंदिर पुरावशेष-

ई. सन् 75 तथा ई. 1108 के चतुर्भज विष्णु मंदिर प्रवेश द्वार पर स्थित शिलालेख जैन पुरातत्व और विरासत को प्राचीनतम इतिहास से जोड़ते हैं। इन शिलालेखों का वाचन पुराविद् कनिंघम ने 1862 ई. में किया फिर पुनः वाचन भी

कुछ समय बाद किया, पुनर्वाचन में आपने लिखा कि सास बहू मंदिर के उत्तर की ओर सामने वाली भूमि पर जहां अभी गरुड़ स्तंभ है, जैन विद्यापीठ संघालय था, इसका विस्तार 70×35 था, पास में एक विशालकाय जैन मंदिर था। लगभग 20 अभिलेख अलग-अलग कालावधि के इस तथ्य की पुष्टि करते हैं, ये सभी 1440 से 1485 ई. के हैं।

विशालकाय जिनालय के भग्नावशेष, जो वर्धमान मंदिर के नाम से सुविख्यात था, वर्तमान में सिक्खों के गुरुद्वारे में पीछे वाली सड़क से जाकर सिंधिया स्कूल के खेल मैदान के भीतर स्थित है। चारों ओर दीवार होने से यह स्थल स्पष्ट नहीं दिखाई देता है। यह मंदिर तीन मंजिल का है तेली के मंदिर जैसा दिखता है। पहली मंजिल के गर्भगृह में जाकर देखने से पता चलता है कि इसके द्वारशीश पर भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति है। दूसरी मंजिल पर भगवान महावीर की मूर्ति द्वार पर शीशमय है तथा यह मंजिल कलापूर्ण है। तीसरी मंजिल अत्यन्त कलापूर्ण है। खम्बे मेहराब सभी बारीक नक्काशी लिए हुए हैं। तीन मंजिल की ऊँचाई 60 फुट के लगभग है। यदि तीसरी मंजिल के ऊपर शिखर का भी अनुमान किया जाए तो धरातल से 100 फुट हो सकती है। मंदिर की स्थापत्य, वास्तुकला और नाप-जोख देखने से पता चलता है कि यह मन्दिर 400 फुट आगे तक रहा होगा। नीचे की मंजिल बिना चूने आदि के सिर्फ शिलाओं को एक के ऊपर एक रखकर बनायी गई है। मंदिर का सिर्फ गर्भगृह ही शेष बचा है। तीसरी मंजिल को देखना संभव नहीं, क्योंकि ऊँचाई बहुत है। दूसरी मंजिल से तीसरी मंजिल तक सीढ़ियां हैं, जो टूट गई हैं। इस मंदिर की मरम्मत बाद में की गई जो संभव है गर्दे साहब ने कराई हो। गर्भगृह की मूर्तियाँ कहाँ गईं ? बिना मूर्तियों का तो मन्दिर संभव नहीं। इस मंदिर का उल्लेख जैसलमेर तथा पाटण की हस्तलिखित पोथियों में भी मिलता है। महाकवि रइधू ने इनका उल्लेख अपने साहित्य में किया है।

ग्वालियर दुर्ग के स्थापत्य को सुन्दर बनाने के प्रयोजन से मध्ययुग में किसी मूर्तिविहीन प्रासाद या मंदिर की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इतनी अधिक और इतने प्रकार की मूर्तियाँ उत्तर भारत के ग्वालियर अंचल में बनाई गईं कि अनेक शताब्दियों तक निरन्तर तोड़े जाने के उपरान्त भी लगभग प्रत्येक शताब्दी की मूर्तियाँ कहीं न कहीं टूटी, अधटूटी या बिना टूटी मिल जाती हैं। काल और मनुष्य दोनों के प्रहार से उनका कुछ अंश बच ही निकला है। अलवर और मथुरा के जैन चौरासी मन्दिर में तोमर राजाओं के उल्लेखयुक्त मूर्तियाँ अभी भी हैं।

गोपाचल गढ़ और गोपाचल नगर (ग्वालियर) दो भिन्न स्थल हैं, गढ़ के नीचे विशाल गोपाचल नगर बसा हुआ है। यह अत्यन्त विचित्र बात है कि गोपाचल गढ़ पर या गोपाचल नगर में आज कोई भी तोमरकालीन हिन्दू या जैन मंदिर अस्तित्व में नहीं है। जैन मंन्दिरों का एक वर्ग गुहा मन्दिर अवश्य गोपाचल गढ़ पर बसा हुआ है तथापि अन्य सभी मन्दिर नष्ट कर दिये गये हैं। गोपाचल नगर के जैन मन्दिरों का वर्णन बाबर ने अपनी आत्मकथा में किया है, उसने लिखा है कि इन मन्दिरों में दो-दो और कुछ में तीन-तीन मंजिलें भी। प्रत्येक मंजिल प्राचीन प्रथा के अनुसार नीची-नीची थीं, कुछ मन्दिर मदरसों के समान थे। परन्तु प्रश्न उठता है कि वे अनेक मंजिलों के जैन मंदिर कहाँ गये ? बाबर ने तो उन्हें तुड़वाया नहीं था। उन मंदिरों का स्वरूप अब खबर की आत्मकथा से ही जाना जा सकता है।

डॉ. हरिहर निवास द्विवेदी अपने ग्रंथ 'ग्वालियर के तोमर' में लिखते हैं कि मान मन्दिर के सामने बायीं ओर कोई बहुत बड़ा जैन मन्दिर था। बाबर के गोपाचल गढ़ के सूबेदार रहीमदाद खां ने बिना बादशाह की आज्ञा के उसका अग्रभाग तुड़वा कर वहां मेहराबदार द्वार बना दिया और उसका नाम 'रहीमदाद का मदरसा' रख दिया। यह मन्दिर डूगरेन्द्रसिंह तोमर के समय में बना था। गढ़ के दक्षिणी भाग की ओर एक विशालकाय बहुमंजिला जैन मन्दिर और था जो तोमरों के पूर्व ही बन चुका था, इसका उल्लेख कच्छपघात राजाओं के समय का प्राप्त होता है।

गोपाचल गढ़ के चंदेल यशोवर्मन के शिलालेख विक्रम सम्वत् 1011 (सन् 954 ई.) में विस्मयैक निलयगिरि कहा गया है। एपीग्राफिका इंडिका के अनुसार गोपाचल गढ़ को कन्नौज (उ.प्र.) के प्रतापी राजा यशोवर्धन के पुत्र

आमदेव ने अपनी राजधानी बनाया था। इस आमदेव ने वप्पभट्टसूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया और गोपगिरि पर एक सौ हाथ लम्बा मंदिर बनवाया और उसमें वर्धमान महावीर की विशाल मूर्ति स्थापित की। वप्पभट्टचरित तथा प्रभावक चरित से भी इस अनुश्रुति की पुष्टि होती है। आमदेव के पुत्र का नाम प्रभावक चरित में दुरंक लिखा है। प्रबन्धककोष में गोपाचल का नाम गोपगिरि भी दिया गया है।

आमदेव और उसके वंशजों का जैन ग्रंथों का यह विवरण सत्य है या नहीं, इसकी परीक्षा करने का अभी कोई साधन नहीं है। डा. एस एस.पी. पंडित ने अपनी पुस्तक 'गौडवहो' की प्रस्तावना में लिखा है कि आमदेव यशोवर्मन का पुत्र था। डॉ. आर. एस त्रिपाठी के मत से आमदेव प्रतिहार वंश के नागाभलोक (नागभट्ट–।।) या वत्सराज से भिन्न नहीं हैं। आमदेव यदि यशोवर्मन का पुत्र है तब उसका समय 750 ई. होगा और यदि उसे प्रतिहार वत्सराज या नागभट्ट का अभिन्न माना जाय तब उसका समय 780 ई. या 830 ई. के लगभग बैठता है।

इस प्राचीन तीन मंजिले जैन मन्दिर के गर्भगृह के मिलने से तथा इसकी पुरातात्विक/ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्थापित करने से शोध के जैन स्रोतों को और अधिक प्रकाश में लाया जा सकता है। हो सकता है ऊपर की मंजिल में कुछ शिलालेख भी हों जिनसे अतीत पर कुछ प्रभाव पड़े। हमारी विरासत को जैन संस्कृति के पोषक क्षत्रिय राजाओं ने हजारों वर्षों तक सरंक्षण–संवर्धन किया, वहीं हमें बड़े खेद के साथ लिखना पड़ रहा हे कि हम इन अधबचे हुए अवशेषों का सूचीकरण / प्रशस्तियों / शिलालेखों का वाचन / संग्रहीकरण भी करने में असमर्थ दिखाई देते हैं। गोपाचल की जैन विरासत को संजोने के लिये पर्याप्त शोध की आवश्यकता है।

## 4.5 विदेशी संग्रहालय में महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ–

जैनधर्म भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस धर्म के अनुयायी भारत के प्राय: सभी भागों में पाये जाते हैं। ये अनुयायी मुख्यत: दो प्रमुख सम्प्रदायों—दिगम्बर एवं श्वेताम्बर में विभक्त हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी अपनी देवमूर्तियों को बिना किसी साज–सज्जा के पूजते हैं जबकि श्वेताम्बरी अपनी पूज्य प्रतिमाओं को सुन्दर मुकुट एवं विभिन्न आभूषणों से सजाकर उनकी पूजा आराधना करते हैं। भारत में पाई गयी प्राचीनतम प्रतिमायें नग्न हैं क्योंकि उस समय केवल दिगम्बर सम्प्रदाय का ही प्राबल्य था परन्तु शताब्दियों पश्चात् श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित जैन प्रतिमाओं का भी निर्माण होने लगा और इस प्रकार अब दोनों प्रकार की प्रतिमायें आज भी भारत के विभिन्न भागों में उनके अनुयाइयों द्वारा पूजी जाती हैं।

प्रारम्भ में अनेक जैन विद्वानों का विचार था कि उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म अब से हजारों साल पूर्व भी विद्यमान था और जब सन् 1912 में हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ों की खुदाई में नग्न मानव धड़ एवं ऐसी अन्य पुरातत्वीय महत्त्व की वस्तुएँ प्राप्त हुईं, तो उन विद्वानों ने उनको भी जैनधर्म से सम्बन्धित ठहराया परन्तु अनेक आधुनिक विद्वानों ने शोध के आधार पर इस प्रचलित धारणा का खण्डन करते हुए उन्हें प्राचीनतम यक्ष प्रतिमाओं का प्रतिरूप बतलाया है।

यद्यपि जैन साहित्य से यह प्रमाणित है कि स्वयं भगवान महावीर के समय छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में ही उनकी चन्दन की प्रतिमा का निर्माण हो चुका था परन्तु पुरातात्त्विक खोजों के आधार पर अब तक सबसे प्राचीन जैन प्रतिमा मौर्य काल की, लगभग तीसरी शती ई. पूर्व की ही मानी जाती है। पटना के समीप लोहानीपुर के इस काल का एक नग्न धड़ प्राप्त हुआ है जो अब पटना संग्रहालय में प्रदर्शित है। यह अपनी तरह का एक बेजोड़ उदाहरण है। बलुआ पत्थर के बने इस धड़ पर मौर्यकालीन चमकदार पालिस आज भी विद्यमान है जिसका कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वज्र लेप के नाम से उल्लेख किया है। इस नग्न धड़ में 'जिनको स्पष्ट रूप से कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है, इसी से काफी साम्यता रखता परन्तु पालिस रहित एक अन्य धड़ शुंगकाल का

माना जाता है, पटना संग्रहालय में प्रदर्शित है। शुंगकाल के पश्चात् कुषाणकाल में जैन आयागपट्टों एवं स्वतंत्र प्रतिमाओं का निर्माण अधिकाधिक रूप से होने लगा। मथुरा के विभिन्न भागों से प्राप्त अनेक कुषाण एवं गुप्तकालीन प्रस्तर मूर्तियाँ स्थानीय राजकीय संग्रहालय तथा राज्य संग्रहालय लखनऊ में विद्यमान हैं जिनसे जैन देवप्रतिमाओं के विकास की पूर्ण श्रृंखला का आभास सरलता से हो जाता है।

विदेशों में रहने वाले कलाप्रेमियों का ध्यान जब जैन मूर्तिकला की ओर आकर्षित हुआ तो धीरे–धीरे उन्होंने भी भारत से मूर्ति सम्पदा को अपने-अपने देशों में ले जाकर संग्रहालयों में प्रदर्शित किया। भारत की भाँति प्रायः सभी विदेशी संग्रहालय में जैन कला सम्बन्धी एक से एक सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं। आठ प्रमुख पाश्चात्य देशों में स्थित पन्द्रह प्रमुख संग्रहालयों में जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिमायें सुरक्षित हैं, उनका संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है—ये संग्रहालय मुख्यतः ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बुलगारिया, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, डेनमार्क एवं अमेरिका में स्थित हैं।

**4.5.1 ब्रिटेन : (अ) ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन–**

लन्दन स्थित इस विख्यात संग्रहालय में मथुरा से प्राप्त कई जिनशीर्षों के अतिरिक्त उड़ीसा से मिली एक पाषाण मूर्ति भी है जिसमें आदिनाथ एवं महावीर को साथ-साथ कायोत्सर्ग मुद्रा में दर्शाया गया है। पीठिका पर आदिनाथ और महावीर के लांछन वृषभ तथा सिंहों का अंकन है। इसके साथ ही उपासिकाओं की मूर्तियाँ भी बनी हुई हैं। कला की दृष्टि से यह मूर्ति ग्यारहवीं शती में बनी प्रतीत होती है।

उड़ीसा से ही प्राप्त नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका की लगभग उपर्युक्त प्रतिमा की समकालीन मूर्ति भी यहाँ विद्यमान हैं जिसमें वह आम्रवृक्ष के नीचे खड़ी है। इनका छोटा पुत्र प्रभंकर गोद में व बड़ा पुत्र शुभंकर दाहिनी ओर खड़ा हुआ है। मूर्ति के ऊपरी भाग में नेमिनाथ की लघु मूर्ति ध्यान मुद्रा में है तथा पीठिका पर देवी का वाहन सिंह बैठा दिखाया गया है।

इस संग्रहालय में मध्य प्रदेश से प्राप्त सुलोचना, धृति, पद्मावती, सरस्वती तथा यक्ष एवं यक्षी की सुन्दर प्रस्तर मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। अन्तिम मूर्ति की पीठिका पर अनन्तवीर्य उत्खनित है।

**(ब) विक्टोरिया एवं एलर्बट संग्रहालय, लन्दन–**

इस संग्रहालय में कुषाण एवं गुप्त कालों की भगवान ऋषभ की दो मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। साथ ही, मध्य प्रदेश में ग्यारसपुर नामक स्थान से लाई गयी पार्श्वनाथ की एक अद्वितीय मूर्ति भी विद्यमान है जो सातवीं शती की प्रतीत होती है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं और मेघकुमार एक बड़े तूफान के रूप में उन पर आक्रमण करता दिखाया गया है। साथ ही नागराज धरणेन्द्र अपने विशाल फण फैलाकर उनकी पूर्ण सुरक्षा करता दर्शाया गया है और उसकी पत्नी एक नागिनी के रूप में तीर्थंकर के ऊपर अपना छत उठाये हुए हैं। मूर्ति के ऊपरी भाग में जिन की कैवल्य प्राप्ति पर दिव्य नामक नगाड़ा बजाता भी दिखाया गया है। प्रस्तुत मूर्ति चालुक्य कला के समय (नवमीं–दसवीं शती) की बनी प्रतीत होती है। यहाँ राजस्थान के पूर्वी भाग से प्राप्त एक पाषाण सिरदल भी है जो कला का सुन्दर उदाहरण है। इसके नीचे वाली ताख में ध्यानी जिन की मूर्ति निर्मित है और उनके दोनों ओर अन्य दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण किये मिलते हैं। यह तेरहवीं–चौदहवीं शती की मूर्ति है।

**4.5.2 डेनमार्क : राष्ट्रीय संग्रहालय, कोपेनहेगन–**

इस संग्रहालय में मुख्यतः आंध्रप्रदेश व कर्नाटक से प्राप्त जैन मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। ये सभी मूर्तियां 11वीं- 12वीं शती की हो सकती हैं। इस संग्रह में कई चालुक्ययुगीन महावीर स्वामी की नग्न प्रतिमाएँ हैं, जिनमें उन्हें कायोत्सर्ग–मुद्रा में दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त ऋषभनाथ की एक चौबीसी भी है जिसमें मूलप्रतिमा के

दोनों ओर तथा ऊपरी भाग में अन्य तेईस तीर्थंकरों की लघु आकृतियाँ भी उत्कीर्ण की गई मिलती हैं। ये सभी मूर्तियाँ ध्यान मुद्रा में हैं।

**4.5.3 इटली : राष्ट्रीय संग्रहालय, रोम-**

इन संग्रहालय में गुजरात में सन् 1450 ई. में बनी भगवान नेमिनाथ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी मूर्ति मुख्य आकर्षण है। इनके दोनों ओर अन्य दो–दो तीर्थंकर खड़े व बैठे दिखाये गये हैं। मुख्य मूर्ति के पैरों के समीप उनके यक्ष एवं यक्षी गोमेध एवं अम्बिका भी बैठे दिखाये गये हैं। कला की दृष्टि से भी यह मूर्ति पर्याप्त रूप से सुन्दर है।

**4.5.4 बुलगारिया : रज्ग्रेड संग्रहालय, रज्ग्रेड-**

राजस्थान में लगभग 11 वीं शती ई. में निर्मित परन्तु उत्तर पूर्वी बुलगारिया में सन् 1929 में पाई गई इस मूर्ति में तीर्थंकर को एक कलात्मक सिंहासन पर बैठे दिखाया गया है। अन्य प्रतिमाओं की भाँति इसके वक्ष पर भी कमल की पंखुड़ियों के समान श्रीवत्स चिन्ह अंकित है।

**4.5.5 स्विट्जरलैन्ड : रिटवर्ग संग्रहालय, ज्यूरिक-**

ज्यूरिक के इस सुप्रसिद्ध संग्रहालय में राजस्थान में चन्द्रावती नामक स्थान से प्राप्त भगवान आदिनाथ की लगभग आदमकद प्रतिमा विद्यमान है, जो श्वेत संगमरमर की बनी है। इसमें उनको दो कलात्मक स्तम्भों के बीच कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है। इसके ऊपरी भाग में त्रि–छत्र बना है। इन्होंने सुन्दर धोती धारण कर रखी है जिससे स्पष्ट है कि उसकी प्रतिष्ठापना श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनियों द्वारा की गयी थी। पीठिका पर बने वृषभ के अतिरिक्त उनके चरणों के पास दानकर्ता एवं उनकी पत्नी तथा अन्य उपासकों की लघु मूर्तियाँ बनी हैं। कला की दृष्टि ये मूर्ति परमार काल की लगभग बारहवीं शती की बनी प्रतीत होती है।

**4.5.6 जर्मनी : (अ) म्यूजियम फॉर वोल्कुर कुण्डे, बर्लिन-**

इस संग्रहालय में मथुरा क्षेत्र से प्राप्त कुषाणकाल (2–3 शती) के कई जिनशीर्ष विद्यमान हैं। इस प्रकार के कई अन्य शीर्ष स्थानीय राजकीय संग्रहालय में भी देखने को मिलते हैं।

उपर्युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त दक्षिण भारत में मध्यकाल में निर्मित कई जैन प्रतिमायें भी यहाँ पर प्रदर्शित हैं। इन सभी मूर्तियों में जिनको कायोत्सर्ग मुद्रा में नग्न खड़े दिखाया गया है, इनके पैरों के समीप प्रत्येक तीर्थंकर के सेवकों तथा उपासकों की लघु मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई मिलती हैं।

**(ब) म्यूजियम फॉर वोल्कुर कुण्डे, म्यूनिख :**

इस संग्रहालय में यक्षी अम्बिका की एक अत्यन्त भव्य प्रतिमा प्रदर्शित है जिसे पट्टिका पर दुर्गा बताया गया है। मध्य प्रदेश से प्राप्त लगभग अठारहवीं शती की इस मूर्ति में देवी अपने आसन पर ललितासन में विराजमान हैं। इनके दाहिने हाथ में गुच्छा था जो अब टूट गया है और दूसरे हाथ से वह अपने पुत्र प्रियंकर को गोदी में पकड़े हुए हैं। इनका दूसरा पुत्र पैरों के समीप खड़ा है। देवी के शीश के पीछे बने प्रभामण्डल की दाहिनी ओर गजारूढ़ इन्द्राणी और बाँई ओर गरूड़ारूढ़ चक्रेश्वरी की मूर्तियाँ हैं जिनके मध्य ऊपरी भाग में भगवान नेमिनाथ की ध्यान मुद्रा में लघु मूर्ति उत्कीर्ण है। मूर्ति के नीचे भाग में कई उपासक बैठे हैं जिनके हाथ अंजली मुद्रा में दिखाये गये हैं।

**4.5.7 अमेरिका : (अ) क्लीवलैण्ड कला संग्रहालय, क्लीवलैण्ड, ओहायो-**

इस संग्रहालय में प्रदर्शित जैन मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मूर्ति पार्श्वनाथ की है जिसका निर्माण मालवा क्षेत्र में लगभग दसवीं शती में हुआ था। लगभग आदमकद इस मूर्ति में पार्श्वनाथ सर्प के साथ फणों के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं और कमठ अपने साथियों सहित उन पर आक्रमण करता दिखाया गया है। जैन साहित्य से ज्ञात होता है कि जब पार्श्वनाथ अपनी घोर तपस्या में लीन थे, तब दुराचारी कमठ ने उसमें विघ्न–बाधायें डालीं जिससे वे तपस्या न

कर सकें और उनके लिये उसने उन पर घोर वर्षा की, पाषाण शिलाओं से प्रहार किया तथा अनेक जंगली जंतुओं से भय दिलाने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु इतना सब सहते हुये पार्श्वनाथ अपने पुनीत कार्य से जरा भी विचलित नहीं हुए और अपनी तपस्या पूर्ण कर ज्ञान प्राप्त करने में सफल रहे। परिणामस्वरूप कमठ को लज्जित होकर उनसे क्षमा माँगना पड़ी। प्रस्तुत मूर्ति में सम्पूर्ण दृश्य को बड़ी सजीवता से दर्शाया गया है। यद्यपि इस आशय की अन्य प्रस्तर प्रतिमाएँ भारत के अन्य कई भागों से भी प्राप्त हुई हैं परन्तु फिर भी यह मूर्ति अपनी प्रकार का अद्वितीय उदाहरण है।

**(ब) बोस्टन कला संग्रहालय, बोस्टन, मैसाचुसैहस**

इस संग्रहालय में मध्य प्रदेश से प्राप्त जैन मूर्तियों का काफी अच्छा संग्रह है। इनमें अधिकतर तो प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्तियाँ हैं जिनमें से कुछ में वह ध्यान मुद्रा में तथा कुछ में कायोत्सर्ग मुद्रा में दर्शाये गये हैं। उन प्रतिमाओं के अतिरिक्त यहाँ एक अत्यन्त कलात्मक तीर्थंकर वक्ष भी है, जिसे संग्रहालय की पट्टिका में महावीर बताया गया है परन्तु यहाँ यह उल्लेख है कि प्रस्तुत मूर्ति में केश ऊपर को बँधे हैं और जटाएँ दोनों ओर कंधों पर लटक रहीं हैं। इससे प्रतिमा की आदिनाथ के होने की ही सम्भावना प्रतीत होती है। इनके शीश के दोनों ओर बादलों में उड़ते हुए आकाशचारी गन्धर्व और "त्रिछत्र" के ऊपर आदिनाथ की ज्ञान-प्राप्ति की घोषणा करता हुआ एक दिव्य वादक बना हुआ है। यह सुन्दर मूर्ति दसवीं शती की बनी प्रतीत होती है।

**(स) फिलाडेल्फिया कला संग्रहालय, फिलाडेल्फिया**

इस संग्रहालय में सबसे उल्लेखनीय जैन मूर्तियाँ जबलपुर क्षेत्र से प्राप्त कल्चुरिकालीन दसवीं शती की हैं। इसमें से एक भगवान महावीर की है जिसमें उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है। द्वितीय प्रतिमा में पार्श्वनाथ तथा नेमिनाथ को इसी प्रकार खड़े दिखाया गया है। पार्श्वनाथ की पहचान उनके शीश के ऊपर बने सर्प फणों से तथा नेमिनाथ की पहचान पीठिका पर उत्कीर्ण शंख से की जा सकती है।

**(द) सियाटल कला संग्रहालय, सियाटल**

इस संग्रहालय में भी मध्य प्रदेश से प्राप्त कई मध्यकालीन जैन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ गुजरात से मिली भगवान कुन्थुनाथ की एक पंचतीर्थी है जिसकी पीठिका पर सन् 1447 ई. का लघु लेख उत्कीर्ण है। साथ ही, यहाँ आबू क्षेत्र से प्राप्त नर्तकी नीलांजना की भी सुन्दर मूर्ति प्रदर्शित है जिसका प्राचीनतम अंकन हमें मथुरा की कुषाण कला में देखने को मिलता है।

**(य) एसियन कला संग्रहालय, सेन फ्रांसिसको, कैलिफोर्निया**

इस संग्रहालय में भी देवगढ़ क्षेत्र से प्राप्त कई जैन मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं जिनमें उनके माता-पिता की प्रतिमा काफी महत्त्व की है। यहीं पर अंबिका की भी एक सुन्दर मूर्ति विद्यमान है, जिसमें वह आम के वृक्ष के नीचे त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं और पैरों के निकट उनका वाहन सिंह अंकित है।

**(र) बर्जीनिया कला संग्रहालय, रिचमोन्ड, बर्जीनिया-**

इस संग्रहालय में सबसे महत्त्वपूर्ण भगवान पार्श्वनाथ की त्रितीर्थक है जो राजस्थान में नवमी शती में बनी प्रतीत होती है। इसमें मध्य में पार्श्वनाथ ध्यान मुद्रा में विराजमान हैं। सर्प के फणों की छाया में और उनके दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर खड़ा दिखाया गया है। सिंहासन की दाहिनी ओर सर्वाण्ह यक्ष की मूर्ति तथा बाँई ओर अम्बिका दर्शाये गये हैं। सामने दो मृगों के मध्य धर्मचक्र तथा अष्ट ग्रहों के सुन्दर अंकन हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से विदित होता है कि जैनधर्म ने भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट योगदान दिया है। सम्पूर्ण भारत के विभिन्न भागों में निर्मित देवालयों के अतिरिक्त देश-विदेश के अनेक संग्रहालयों में भी जैनधर्म से संबंधित असंख्यकला मूर्तियाँ सुरक्षित हैं जिनका वैज्ञानिक एवं पुरातात्विक दृष्टि से अध्ययन होना परमावश्यक है।

## 4.6 प्रश्नावली-

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

**प्रश्न 1**-केन्द्रीय संग्रहालय इंदौर की स्थापना कब की गई ?

(क) अक्टूबर 1929 ☐ (ख) अक्टूबर 1921 ☐ (ग) सितम्बर 1929 ☐

**प्रश्न 2**-चालुक्ययुगीन महावीर स्वामी की प्रतिमाएँ कहाँ हैं ?

(क) इटली ☐ (ख) डेनमार्क ☐ (ग) बुलगारिया ☐

**प्रश्न 3**-भगवान नेमिनाथ के यक्ष एवं यक्षी का नाम ?

(क) गोमेध-अम्बिका ☐ (ख) धरणेन्द्र-पद्मावती ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

### लघु उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-लंदन स्थित ब्रिटिश संग्रहालय में कौन-कौन सी प्रतिमाएँ हैं ?

**प्रश्न 2**-पार्श्वनाथ प्रतिमा पादपीठ कहाँ से प्राप्त हुआ ? भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी का नाम बताओ ?

**प्रश्न 3**-जैनधर्म के अनुयायी प्रमुख रूप से कितने भागों में विभक्त हैं ? वे अपनी मूर्तियों को किस तरह पूजते हैं ?

**प्रश्न 4**-इटली : राष्ट्रीय संग्रहालय, रोम में क्या है ? बताइए ?

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

**प्रश्न 1**-गोपाचल दुर्ग के बारे में सविस्तार वर्णन करें ?

# प्रथम पत्र

# जैनधर्म एवं संस्कृति का इतिहास

## -संदर्भ ग्रंथ-


1. आचार्य धर्मसागर अभिवंदन ग्रंथ -प्रकाशक-दिगम्बर जैन नवयुवक मंडल, कलकत्ता
2. वात्सल्य रत्नाकर ( खण्ड-2 ) -प्रकाशक-भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, सम्मेदशिखर
3. वात्सल्य रत्नाकर ( भाग-3 ) -प्रकाशक-भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, सम्मेदशिखर
4. विश्वविद्या ( आचार्यरत्न बाहुबली महाराज स्मृति ग्रंथ ) -प्रकाशक-श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर समिति, कविनगर, गाजियाबाद (उ.प्र.)
5. महापुराण सार -गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
6. जैन भारती -गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
7. चौबीस तीर्थंकर -गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
8. दिगम्बर मुनि -गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
9. तीर्थंकर जन्मभूमि परिचय -आर्यिका श्री चंदनामती माताजी
10. प्राकृत विद्या ( अक्टूबर-दिसम्बर 1995 ) -प्रकाशक-श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
11. प्राकृत विद्या ( जुलाई-सितम्बर 1995 ) -प्रकाशक-श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ला
12. प्राकृत विद्या ( अक्टूबर-दिसम्बर 1996 ) -प्रकाशक-श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ला
13. जैन तीर्थ वंदना ( अक्टूबर 2010 ) -प्रकाशक-भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, मुम्बई
14. सम्यग्ज्ञान ( जून 2011 ) -प्रकाशक-दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर
15. पं. कैलाशचंद अभिनंदन ग्रंथ -प्रकाशक-सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंद शास्त्री अभिनंदन समिति, रीवा (म.प्र.)
16. तीर्थंकर महावीर की अर्थनीति -डॉ. निर्मल जैन जस्टिस
17. जैन तीर्थ दर्शन -डॉ. अनुपम जैन, इंदौर
18. मूलाचार में प्रतिपादित दिगम्बर जैन साध्वाचार -ब्र. रेखा जैन 'शास्त्री'
19. www.encyclopediaofjainism.com

## प्रश्नावली (Questions Bank)

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न

**प्रश्न 1-** णमोकार मंत्र में कितने अक्षर हैं ?

(क) 45 ☐ (ख) 25 ☐ (ग) 35 ☐

**प्रश्न 2-** अरिहंत परमेष्ठी के कितने मूलगुण हैं?

(क) 46 ☐ (ख) 56 ☐ (ग) 36 ☐

**प्रश्न 3-** साधु परमेष्ठी के कितने मूलगुण होते हैं ?

(क) 38 ☐ (ख) 28 ☐ (ग) 18 ☐

**प्रश्न 4-** आदिपुराण के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य श्री जिनसेन स्वामी ☐

(ख) आचार्य श्री गुणभद्र स्वामी ☐

(ग) आचार्य श्री रविषेण ☐

**प्रश्न 5-** अनुयोग कितने हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) चार ☐ (ग) आठ ☐

**प्रश्न 6-** भगवान आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र कौन थे ?

(क) बाहुबली ☐ (ख) अनंतवीर्य ☐ (ग) भरत ☐

**प्रश्न 7-** द्रव्य कितने प्रकार के हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) छः ☐

**प्रश्न 8-** जैनधर्म के अनुसार आत्मा का अस्तित्व कब से माना है ?

(क) प्रथम काल से ☐ (ख) पंचम काल से ☐ (ग) अनादिकाल से ☐

**प्रश्न 9-** जैनधर्म के मूल सिद्धान्त कितने हैं ?

(क) चार ☐ (ख) आठ ☐ (ग) पाँच ☐

**प्रश्न 10-** हिंसा के मूल कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) तीन ☐ (ग) दो ☐

**प्रश्न 11-** जैन आगम एवं पुराणों के अनुसार सृष्टि कितने प्रकार की है ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) दो ☐

**प्रश्न 12-** प्रत्येक कर्मयुग में कितने तीर्थंकर होते हैं ?

(क) बीस ☐ (ख) चौबीस ☐ (ग) अनंत ☐

**प्रश्न 13-** भगवान ऋषभदेव के दस भव पूर्व उनका क्या नाम था ?

(क) शतमति ☐ (ख) राजा महाबल ☐ (ग) महामति ☐

**प्रश्न 14-** भगवान ऋषभदेव का जन्म किस स्थान पर हुआ था ?

(क) बनारस ☐ (ख) सारनाथ ☐ (ग) अयोध्या ☐

**प्रश्न 15**- कृतयुग का प्रारंभ करने से वे भगवान.....कहलाये थे ?

(क) प्रजापति ☐ (ख) ब्रह्मा ☐ (ग) विधाता ☐

**प्रश्न 16**- दरवाजे पर बंधे हुए हाथी की दशा को सुनने से भगवान.....को वैराग्य हुआ था ?

(क) पद्मप्रभ ☐ (ख) अजितनाथ ☐ (ग) अभिनंदननाथ ☐

**प्रश्न 17**- चन्द्रप्रभु भगवान को प्रथम आहार किसने दिया था ?

(क) राजा महेन्द्रदत्त ☐ (ख) राजा पुष्पमित्र ☐ (ग) राजा सोमदत्त ☐

**प्रश्न 18**- 'कदम्ब वृक्ष' के नीचे किनको केवलज्ञान हुआ था ?

(क) वासुपूज्य ☐ (ख) श्रेयांसनाथ ☐ (ग) विमलनाथ ☐

**प्रश्न 19**- भगवान श्री शांति, कुंथु, अरनाथ.....पद के धारी थे।

(क) तीन ☐ (ख) चार ☐ (ग) छह ☐

**प्रश्न 20**- ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के मात-पिता कौन थे ?

(क) राजा विश्वसेन-रानी ऐरादेवी ☐

(ख) राजा विजय-रानी प्रभाकरी ☐

(ग) राजा सिंहध्वज-रानी वप्रादेवी ☐

**प्रश्न 21**- दर्पण में मुख देखने से वैराग्य किनको हुआ ?

(क) शांतिनाथ चक्रवर्ती ☐ (ख) अरहनाथ चक्रवर्ती ☐ (ग) सुभौम चक्रवर्ती ☐

**प्रश्न 22**- प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का क्या नाम था ?

(क) भरत चक्रवर्ती ☐ (ख) बाहुबली ☐ (ग) राक शव ☐

**प्रश्न 23**- सम्राट भरत की परम्परा को प्रदर्शित करने वाली एक सील कहाँ से प्राप्त हुई ?

(क) मोहन जोदड़ो ☐ (ख) एलोरा ☐ (ग) इरिंगालकुंडा ☐

**प्रश्न 24**- भरत को किसकी संज्ञा दी गई है ?

(क) मनु ☐ (ख) कोई नहीं ☐ (ग) ब्रह्मा ☐

**प्रश्न 25**- बलभद्र के.....रत्न तथा नारायण के महारत्न.....होते हैं।

(क) 3, 7 ☐ (ख) 8, 9 ☐ (ग) 14, 6 ☐

**प्रश्न 26**- विमलनाथ भगवान के समय कौन से बलभद्र हुए हैं ?

(क) सुप्रभ ☐ (ख) सुधर्म ☐ (ग) अचल ☐

**प्रश्न 27**- प्रतिनारायण की मृत्यु किनके द्वारा होती है ?

(क) बलभद्र ☐ (ख) नारायण ☐ (ग) कोई नहीं ☐

**प्रश्न 28**- आत्मा के परमशुद्ध परिणाम को.....कहते हैं ?

(क) द्रव्य तीर्थ ☐ (ख) भावतीर्थ ☐ (ग) सिद्धक्षेत्र ☐

**प्रश्न 29**- इनमें से कौन सा सिद्धक्षेत्र है ?

(क) महावीर जी ☐ (ख) तिजारा जी ☐ (ग) सम्मेदशिखर ☐

**प्रश्न 30**- भगवान महावीर का जन्म कहाँ हुआ ?

(क) कुण्डलपुर ☐ (ख) पावापुर ☐ (ग) कौशाम्बी ☐

**प्रश्न 31**- वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकरों की कितनी जन्मभूमियाँ हैं ?

(क) चौबीस ☐ (ख) बीस ☐ (ग) सोलह ☐

**प्रश्न 32**- भगवान ऋषभदेव द्वारा जिन षट्कर्मों का उपदेश प्रजा को दिया गया, उसमें से चौथा कर्म—

(क) मसि ☐ (ख) कृषि ☐ (ग) विद्या ☐

**प्रश्न 33**- भगवान महावीर के समवसरण में कितनी आर्यिकाएँ थीं ?

(क) 36000 ☐ (ख) 25000 ☐ (ग) 35000 ☐

**प्रश्न 34**- अंतिम केवली श्री जम्बूस्वामी किस पवित्र स्थल से मोक्ष पधारे ?

(क) मथुरा चौरासी ☐ (ख) महलका जी ☐ (ग) ललितपुर ☐

**प्रश्न 35**- त्रिलोकपुर अतिशयक्षेत्र में कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा विराजमान है ?

(क) पार्श्वनाथ ☐ (ख) नेमिनाथ ☐ (ग) महावीर स्वामी ☐

**प्रश्न 36**- मुनि सुदर्शन कुमार ने कहाँ से निर्वाण पद प्राप्त किया ?

(क) गुणांवा जी ☐ (ख) कमलदह (पटना) ☐ (ग) मंदारगिरि ☐

**प्रश्न 37**- षट्खण्डागम नामक सिद्धान्त ग्रंथ के रचयिता थे ?

(क) आचार्य पुष्पदंत, आचार्य भूतबलि ☐

(ख) आचार्य धरसेन ☐

(ग) आचार्य उमास्वामी ☐

**प्रश्न 38**- तीर्थंकर के कितने कल्याणक होते हैं ?

(क) 3 ☐ (ख) 5 ☐ (ग) 4 ☐

**प्रश्न 39**- भगवान महावीर को निर्वाण कब हुआ ?

(क) कार्तिक शुक्ला अमावस्या ☐

(ख) वैशाख शु. पंचमी ☐

(ग) कार्तिक कृष्णा अमावस्या ☐

**प्रश्न 40**- श्री गौतम स्वामी कितने वर्ष तक केवली रहे ?

(क) बाईस वर्ष ☐ (ख) बारह वर्ष ☐ (ग) दस वर्ष ☐

**प्रश्न 41**- श्री कुन्दकुन्द स्वामी के पाँच नामों में से एक-

(क) श्री माघनन्दि ☐ (ख) श्री देवनन्दि ☐ (ग) श्री पद्मनन्दि ☐

**प्रश्न 42**- श्री यतिवृषभाचार्य ने इस.....ग्रंथ की गाथा पर चूर्णिसूत्र रचे हैं।

(क) कषायप्राभृत ☐ (ख) षट्खण्डागम ☐ (ग) अष्टपाहुड़ ☐

**प्रश्न 43**- जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि का कर्त्ता कौन है ?

(क) चौबीस तीर्थंकर ☐ (ख) कोई नहीं ☐ (ग) ब्रह्मा जी ☐

**प्रश्न 44**- महाबंध के मंगल स्मरण में सरस्वती देवी का मुखमण्डल किसे माना है ?

(क) आचारांग ☐ (ख) प्रश्नव्याकरणांग ☐ (ग) सूत्रकृतांग ☐

**प्रश्न 45**- जैनदर्शन में सरस्वती देवी को कितने नामों से पुकारा गया है ?

(क) 16 ☐ (ख) 12 ☐ (ग) 8 ☐

**प्रश्न 46**- तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् कितने वर्षों तक श्रुतपरम्परा का व्यवस्थित क्रम चला ?

(क) 150 वर्ष ☐ (ख) 162 वर्ष ☐ (ग) 142 वर्ष ☐

**प्रश्न 47**- दश पूर्वधरों में सर्वप्रथम विशाखाचार्य नाम से प्रसिद्ध .....हैं।

(क) चन्द्रगुप्त मुनि ☐ (ख) जयसेन आचार्य ☐ (ग) गंगदेव ☐

**प्रश्न 48**- षट्खण्डागम के छः खण्डों में कितने विषयों का विवेचन किया गया है ?

(क) 8 ☐ (ख) 16 ☐ (ग) 6 ☐

**प्रश्न 49**- चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज का जन्म किस प्रदेश में हुआ ?

(क) कर्नाटक प्रदेश ☐ (ख) उत्तरप्रदेश ☐ (ग) महाराष्ट्र प्रदेश ☐

**प्रश्न 50**- सातगौंडा ने क्षुल्लक दीक्षा किस तिथि में प्राप्त की ?

(क) चैत्र शुक्ला द्वादशी ☐

(ख) ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी ☐

(ग) कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी ☐

**प्रश्न 51**- आचार्यश्री शांतिसागर महाराज को "चारित्रचक्रवर्ती" पदवी की प्राप्ति किस स्थान पर हुई ?

(क) समडोली ग्राम में ☐

(ख) गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर ☐

(ग) सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र पर ☐

**प्रश्न 52**- कर्मसिद्धान्त.....के लिए सर्वाधिक मूल्यवान हैं।

(क) जीवन और आचरण ☐

(ख) त्यागभाव और आत्मविश्वास ☐

(ग) इनमें से कोई नहीं ☐

**प्रश्न 53**- संसार में जीव के लिए शरणभूत क्या है ?

(क) दर्शन ☐

(ख) ज्ञान ☐

(ग) दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप एवं संयम ☐

**प्रश्न 54**- "कला व्यक्ति की चिरस्थाई कीर्ति और संस्कृति की शाश्वत धरोहर ही नहीं अपितु उनकी प्रेरणा भी है।" किसने कहा ?

(क) बी.जी. गोखले ☐

(ख) डॉ. मुखर्जी ☐

(ग) डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ☐

**प्रश्न 55**-जैन पुरातत्त्व (कला) को कितने भागों में विभाजित किया गया है ?

(क) चार ☐ (ख) तीन ☐ (ग) पाँच ☐

**प्रश्न 56**-तीर्थंकर के पंचकल्याणकों में से तीसरा कल्याणक कौन सा है ?

(क) जन्म ☐ (ख) तप ☐ (ग) ज्ञान ☐

**प्रश्न 57**-वैदिक धर्म में विष्णु के कितने अवतार माने गए हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) दस ☐ (ग) आठ ☐

**प्रश्न 58**-भगवान पार्श्वनाथ कौन से नं. के तीर्थंकर थे ?

(क) 2 ☐ (ख) 23 ☐ (ग) 24 ☐

**प्रश्न 59**-चौबीसवें तीर्थंकर का क्या नाम था ?

(क) भगवान ऋषभदेव ☐ (ख) भगवान पार्श्वनाथ ☐ (ग) भगवान महावीर ☐

**प्रश्न 60**-"मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान है, और जो शक्ति तथा नैतिकता है, वही भगवान है।" ऐसा किसने कहा ?

(क) महावीर स्वामी ☐ (ख) भगवान आदिनाथ ☐ (ग) भगवान शांतिनाथ ☐

**प्रश्न 61**-केन्द्रीय संग्रहालय इंदौर की स्थापना कब की गई ?

(क) अक्टूबर 1929 ☐ (ख) अक्टूबर 1921 ☐ (ग) सितम्बर 1929 ☐

**प्रश्न 62**-चालुक्ययुगीन महावीर स्वामी की प्रतिमाएँ कहाँ हैं ?

(क) इटली ☐ (ख) डेनमार्क ☐ (ग) बुलगारिया ☐

**प्रश्न 63**-भगवान नेमिनाथ के यक्ष एवं यक्षी का नाम ?

(क) गोमेध-अम्बिका ☐ (ख) धरणेन्द्र-पद्मावती ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

## लघु उत्तरीय प्रश्न

**प्रश्न 1-** महामंत्र णमोकार में अरिहंत परमेष्ठी को पहले नमस्कार क्यों किया है ?

**प्रश्न 2-** णमोकार मंत्र को और किन-किन नामों से जाना जाता है ?

**प्रश्न 3-** णमोकार मंत्र का माहात्म्य बताइये ?

**प्रश्न 4-** परमेष्ठी किसे कहते हैं?

**प्रश्न 5-** अरबी भाषा के 'नवी' शब्द से क्या तात्पर्य है ?

**प्रश्न 6-** कल्पकाल के कितने विभाग होते हैं ? अवसर्पिणी काल के नाम लिखो ?

**प्रश्न 7-** इस समय कौन सा काल चल रहा है ? यह कितने वर्ष का है ?

**प्रश्न 8-** कुलकर कितने होते हैं ? नाम बताइए ?

**प्रश्न 9-** जैनधर्म आस्तिक धर्म कैसे है ?

**प्रश्न 10**-अहिंसा का लक्षण क्या है ?

**प्रश्न 11**-आत्मा के विकास की कितनी श्रेणियाँ मानी हैं ? जैनदर्शन में उन्हें क्या कहा है ?

**प्रश्न 12**-वैदिक दर्शन में पाँच महाभूत कौन से हैं ?

**प्रश्न 13**-हिंसा का लक्षण क्या है ?

**प्रश्न 14**- शुभोपयोग किसे कहते हैं ?

**प्रश्न 15**- तीर्थ एवं तीर्थंकर किसे कहते हैं ?

**प्रश्न 16**- भगवान के 34 अतिशयों के नाम लिखिए ?

**प्रश्न 17**- षट्कर्म के नाम व परिभाषा क्या हैं, इनका उपदेश किसने दिया था ?

**प्रश्न 18**- भगवान ऋषभदेव ने ब्राह्मी-सुन्दरी को विद्याध्ययन किस विधि से कराया तथा अपने पुत्रों को कौन-कौन से शास्त्रादि पढ़ाए ?

**प्रश्न 19**- 'इसे मत काटो' इसमें जीव है, इससे संबंधित सम्पूर्ण घटना का वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 20**- भगवान महावीर के पाँच नाम कैसे पड़े ? स्पष्टीकरण कीजिए ?

**प्रश्न 21**- धर्म की व्युच्छित्ति कहाँ और किस समय तक हुई थी ?

**प्रश्न 22**- बारह चक्रवर्ती के नाम एवं सनतकुमार चक्रवर्ती का वैराग्यवर्धक कथानक लिखिए ?

**प्रश्न 23**- चक्रवर्ती का वैभव कैसा था ?

**प्रश्न 24**- महापद्म चक्रवर्ती कहाँ के राजा थे, वहाँ कौन सी विशेष घटना घटी थी ?

**प्रश्न 25**- पुरातात्त्विक दृष्टि से भारतवर्ष का उल्लेख किस शिलालेख में मिलता है तथा यह कितने वर्ष प्राचीन है ?

**प्रश्न 26**- भरत शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न विद्वानों ने किस प्रकार की है ?

**प्रश्न 27**- भरत चक्रवर्ती की राजसी वेश में कहाँ-कहाँ पर मूर्तियाँ हैं ?

**प्रश्न 28**- बलभद्र, नारायण एवं प्रतिनारायण कितने होते हैं, नाम लिखिए ?

**प्रश्न 29**- 'इन्हें मत मारो' इस वाक्य के माध्यम से इस कथा को पूर्ण कीजिए ? यह कथा किस नारायण से संबंधित है ?

**प्रश्न 30**- सीता की अग्निपरीक्षा कैसे और क्यों हुई, स्पष्ट कीजिए ?

**प्रश्न 31**- तीर्थ किसे कहते हैं ? इसके कितने भेद हैं एवं तीर्थ को कितने भागों में विभक्त किया गया है ?

**प्रश्न 32**- वर्तमान युग किस काल के नाम से जाना जाता है ? इस काल में होने वाले अनहोने कार्यों में से किन्हीं दो को समझाइए ?

**प्रश्न 33**- भगवान ऋषभदेव के कितने पुत्र और पुत्रियाँ थे ? उनमें से कामदेव, चक्रवर्ती एवं गणधर का नाम बताइए ?

**प्रश्न 34**- तीर्थंकर कितने होते हैं ? उनके नाम चिन्ह सहित लिखो ?

**प्रश्न 35**- अक्षय तृतीया पर्व कब से और क्यों मनाया जाता है ? संक्षिप्त कथानक बताइए ?

**प्रश्न 36**- भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा कहाँ ली थी एवं केवलज्ञान की प्राप्ति कहाँ की, उस स्थान का परिचय लिखें ? उसका पुनर्निर्माण कब हुआ ?

**प्रश्न 37**- भगवान पार्श्वनाथ को दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे और कहाँ हुई ? उसके पीछे छिपे कथानक का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 38**- चौबीसों तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, केवलज्ञानभूमि एवं निर्वाणभूमियों के नाम बताइए ?

**प्रश्न 39**- मूडबिद्री तीर्थ कहाँ अवस्थित है ? यहाँ की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

**प्रश्न 40**- आंध्रप्रदेश में स्थित तीर्थों के नाम बताते हुए किन्हीं दो का परिचय बताइए ?

**प्रश्न 41**- सिरपुर स्थित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ का परिचय एवं कथानक का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 42**- गिरनार सिद्धक्षेत्र किस प्रान्त में है, यहाँ से किन तीर्थंकर भगवान एवं मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया, संक्षिप्त परिचय बताइए ?

**प्रश्न 43**- पर्यूषण पर्व का शाब्दिक अर्थ बताइए ?

**प्रश्न 44**-जैन परम्परा के अनुसार दीपावली पर्व क्यों मनाया जाता है ?

**प्रश्न 45**-अक्षय तृतीया पर्व किस तिथि को और क्यों मनाया जाता है ?

**प्रश्न 46**-श्रुत पंचमी पर्व का महत्त्व बताइए ?

**प्रश्न 47**-सारस्वताचार्य की संज्ञा किन्हें दी गई है, उनमें से किन्हीं चार आचार्यों के नाम बताइए ?

**प्रश्न 48**-श्री कुन्दकुन्द आचार्य का जन्मस्थान एवं उनके माता-पिता का नाम बताते हुए उनके द्वारा रचित आठ रचनाओं के नाम बताइए ?

**प्रश्न 49**-नंदिसंघ की पट्टावली में देवनन्दि आचार्य का क्या क्रम है ? ये किस सं. में आचार्य पट्ट पर विराजित हुए ?

**प्रश्न 50**-आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कितने टीका ग्रंथों की रचना की ?

**प्रश्न 51**-आचार्य मल्लिषेण कृत सरस्वती कल्पमंत्र के अनुसार सरस्वती देवी का वाहन कौन सा है ?

**प्रश्न 52**-भूपालस्तोत्र में जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए राजा भोज ने क्या कहा है ?

**प्रश्न 53**-धारानगरी से प्राप्त वाग्देवी की प्रतिमा में क्या-क्या अंकित है ?

**प्रश्न 54**-नीतिवाक्यामृत में आय-व्यय के बारे में उल्लिखित सूक्ति को अर्थ सहित बताइए ?

**प्रश्न 55**-तीनों अनुबद्ध केवलियों के पश्चात् होने वाले श्रुतकेवली कितने और कौन-कौन से हैं ?

**प्रश्न 56**-आचार्य गुणधर रचित कृति का नाम बताते हुए यह भी बताइए कि वह कितने अधिकारों में विभक्त है ?

**प्रश्न 57**-आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी के कितने नाम प्रसिद्ध हैं तथा उनके द्वारा लिखित कितने ग्रंथ उपलब्ध हैं ?

**प्रश्न 58**-आचार्य श्री जिनसेन कृत आदिपुराण के 42 पर्वों में किस-विषयवस्तु का दिग्दर्शन कराया गया है ?

**प्रश्न 59**-ऐलक सातगौंडा जी ने किस सन्, किस तिथि और किस स्थान पर किनके करकमलों से मुनि दीक्षा की प्राप्ति की ?

**प्रश्न 60**-आचार्यश्री की प्रेरणा से किस क्षेत्र पर भगवान बाहुबली की कितने फुट ऊँची प्रतिमा विराजमान की गई ?

**प्रश्न 61**-आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने अपने दीक्षित जीवन में कितने उपवास किए ?

**प्रश्न 62**-आचार्यश्री शांतिसागर महाराज ने श्रुतसेवा का कौन सा उपकारी इतिहास रचा ?

**प्रश्न 63**-जैन संस्कृति की विशेषताएँ बताइए ?

**प्रश्न 64**-"त्यागभाव" को संक्षेप में समझाइए ?

**प्रश्न 65**-श्री बी.जी. गोखले के अनुसार कर्मवाद की क्या परिभाषा है ? लिखिए।

**प्रश्न 66**-"पुनर्जन्मवाद" को संक्षेप में समझाइए ?

**प्रश्न 67**-उत्तर भारत में दशवीं शताब्दी में मूर्तिकला का विकास किस प्रकार का था ?

**प्रश्न 68**-जैन पुरातत्व (कला) को कितने भागों में बांटा गया है ? नाम भी बताइए ?

**प्रश्न 69**-वैदिक धर्म के अन्तर्गत देवियों के कितने रूप होते हैं ? सप्तमातृकाओं के नाम बताओ ?

**प्रश्न 70**-गुप्तोत्तरकाल को संक्षिप्त रूप में समझाइए ?

**प्रश्न 71**-भगवान पार्श्वनाथ का जन्म कहाँ हुआ एवं उनके माता-पिता का क्या नाम था ?

**प्रश्न 72**-अणुव्रत कितने हैं ? नाम लिखो।

**प्रश्न 73**-परिग्रह किसे कहते हैं ? अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह के भेद बताइए ?

**प्रश्न 74**-दान कितने प्रकार का होता है ? दान के लिए सात क्षेत्र कौन से बताए हैं ?

**प्रश्न 75**-लंदन स्थित ब्रिटिश संग्रहालय में कौन-कौन सी प्रतिमाएँ हैं ?

**प्रश्न 76**-पार्श्वनाथ प्रतिमा पादपीठ कहाँ से प्राप्त हुआ ? भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी का नाम बताओ ?

**प्रश्न 77**- जैनधर्म के अनुयायी प्रमुख रूप से कितने भागों में विभक्त हैं ? वे अपनी मूर्तियों को किस तरह पूजते हैं ?

**प्रश्न 78**- इटली : राष्ट्रीय संग्रहालय, रोम में क्या है ? बताइए ?

## दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

**प्रश्न 1**- पंचपरमेष्ठी का संक्षिप्त रूप बताते हुए उसे बनाने की प्रक्रिया बताइये ?

**प्रश्न 2**- "जैन इतिहास" के अर्थ को स्पष्ट कीजिए ?

**प्रश्न 3**- जैनदर्शन और ईश्वर के विषय में विचार व्यक्त करें ?

**प्रश्न 4**- आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ऐतिहासिकता सिद्ध कीजिए ?

**प्रश्न 5**- भगवान के पंचकल्याणक का विस्तार से वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 6**- नेमिनाथ भगवान के वैराग्य से लेकर मोक्ष जाने तक सम्पूर्ण घटना का वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 7**- भरत चक्रवर्ती-बाहुबली के बीच क्या हुआ था ? युद्ध से लेकर केवलज्ञान तक विवरण बताइए ?

**प्रश्न 8**- हमारे देश का नाम भारतवर्ष कब, क्यों और कैसे पड़ा ? जैनधर्म विषयक ग्रंथों में से किन्हीं दो ग्रंथ एवं वैदिक ग्रंथों में से किन्हीं चार ग्रंथों के आधार से इसकी पुष्टि कीजिए ?

**प्रश्न 9**- बलदेव एवं श्रीकृष्ण किनके पुत्र थे? इनकी कथा का सम्पूर्ण विवरण बताइए ?

**प्रश्न 10**- तीर्थंकर की प्रतिमा पर चिन्ह क्यों आवश्यक है ? इस पर प्रकाश डालिए।

**प्रश्न 11**- दिगम्बर जैन ग्रन्थानुसार शाश्वत-अनादि सिद्धक्षेत्र कौन सा है, उसका विस्तृत परिचय बताइए ?

**प्रश्न 12**- राजस्थान एवं मध्यप्रदेश में स्थित तीर्थों के नाम बताते हुए दोनों प्रांतों के तीर्थों में से 5-5 का परिचय दीजिए ?

**प्रश्न 13**- उत्तम क्षमादि दश धर्मों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कीजिए ?

**प्रश्न 14**- स्वामी समन्तभद्राचार्य के जीवन का विस्तृत वर्णन करते हुए उनके द्वारा रचित रचनाओं पर भी प्रकाश डालिए ?

**प्रश्न 15**- जिनागम में सरस्वती के रूप में जिनवाणी की कल्पना आचार्यों ने जिन-जिन प्रतीकों के माध्यम से की है, उनका सविस्तार वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 16**- आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी का परिचय बताते हुए उनके द्वारा रचित ग्रंथों का भी उल्लेख कीजिए ?

**प्रश्न 17**- चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर महाराज के द्वारा दी गईं अमूल्य शिक्षाओं में से किन्हीं चार शिक्षाओं का वर्णन कीजिए ?

**प्रश्न 18**- "स्याद्वाद और अनेकांत" पर प्रकाश डालिए ?

**प्रश्न 19**- तीर्थंकरों की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?

**प्रश्न 20**- भगवान महावीर स्वामी के व्यक्तित्व एवं उनकी शिक्षाओं का विभिन्न लोगों के मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ा ?

**प्रश्न 21**- गोपाचल दुर्ग के बारे में सविस्तार वर्णन करें ?

नोट्स